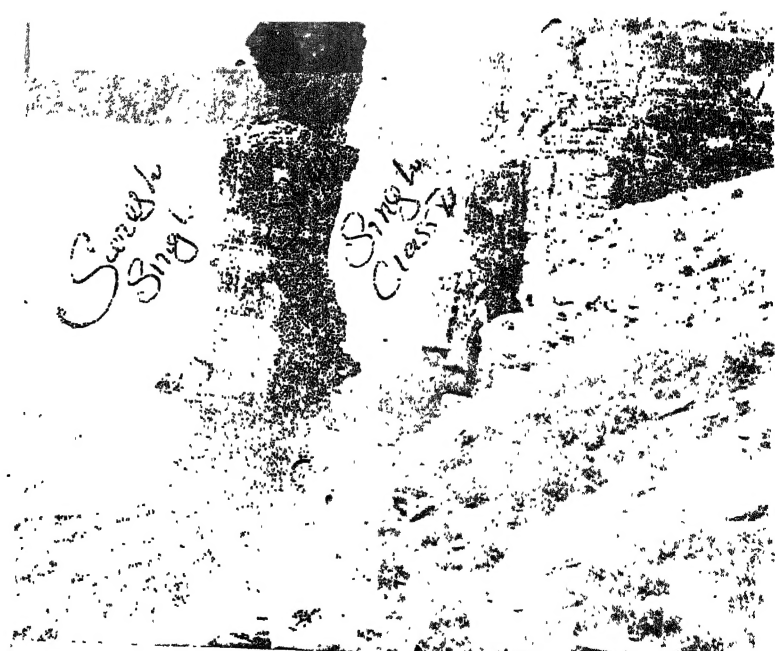


डंकनसबी हेड, कैथनेस के निकट प्राचीन लाल रेत के पत्थर का ढेर तथा कगार।

भौतिक भूगोल

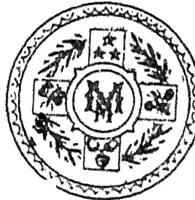
लेखक

फिलिप लेक

जे० ए० स्टीयर्स के सम्पादकत्व में
जे० ए० स्टीयर्स, जी० मेनले तथा डब्ल्यू० वी० लेविस
द्वारा संशोधित एवं परिवर्धित

भारतीय विद्यार्थियों के लिये
विशेष संस्करण

डा० एस० सी० चटर्जी, डी० एस-सी०, पी० आर० एस०, एफ० एन० आई०
अध्यक्ष, भूतत्व विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, भोपाल
भूतपूर्व भूतत्व विज्ञान के जे० एन० टाटा प्रोफेसर, पटना विश्वविद्यालय
तथा भूगोल के प्रोफेसर, पटना कालेज
द्वारा अनुकूलित



मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
कलकत्ता बम्बई मद्रास लन्दन
१९६३

This edition is adapted from the original work by arrangement with the Cambridge University Press, whose kindness in this matter is gratefully acknowledged.

MACMILLAN AND COMPANY LIMITED
LONDON BOMBAY CALCUTTA MADRAS MELBOURNE
THE MACMILLAN COMPANY OF CANADA LIMITED
TORONTO
ST MARTIN'S PRESS INC
NEW YORK

MADE IN INDIA
PRINTED BY GYANENDRA SHARMA
AT JANABANI PRINTERS AND PUBLISHERS PRIVATE LIMITED
36, BARANASHI GHOSH STREET, CALCUTTA-7

भारतीय विद्यार्थियों के संस्करण का प्राक्कथन

प्राकृतिक भूगोल और भूतत्त्व शास्त्र के उच्च स्तर के विद्यार्थियों के लिये "लेक" का प्राकृतिक भूगोल बहुत समय से एक प्रामाणिक पाठ्यपुस्तक है। द्वितीय और तृतीय संस्करण में प्रोफेसर स्टीयर्स और उनके साथियों द्वारा पाठ्यवस्तु के बढ़ाये जाने से इसकी उपयोगिता बढ़ गई और वर्तमान समय में होनेवाले परिवर्तन के साथ यह सामंजस्य रखती है। भूगोल के प्राथमिक नियमों को सुबोध, विषद और सरल प्रदर्शन के कारण यह भारतीय विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिये बहुत ही मूल्यवान है, पर अधिकतर उदाहरण और आकृतियाँ इसमें ब्रिटिश और यूरोपीय हैं, जो उनके लिये कम सहायक हैं। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि एक ऐसा संस्करण निकाला जाय जिसमें भारतीय पृष्ठभूमि और आकृतियों के साथ भारतीय उदाहरणों का प्राधान्य हो।

पुस्तक अधिक बड़ी न हो जाय इस कारण द्वितीय भाग में ब्रिटिश समुद्रों में ज्वार-भाटा और साउथैम्पटन के ज्वारभाटा का विवरण देने वाले भाग एवं तृतीय और चतुर्थ भाग के अनेक और विभिन्न प्रकार के ब्रिटिश द्वीप के तटों के उदाहरण हटा दिये गये हैं। मुख्यतः सम्मिलित किये गये अंश ये हैं: भाग १ अध्याय ६ में मानसून के साथ भारतीय मौसम की दशायें; भाग २ अध्याय १ में हिन्द महासागर और पार्श्ववर्ती समुद्रों का तल; और भाग ३ के कई अध्यायों में भी कुछ अंश सम्मिलित किये गये हैं। भारतीय उदाहरणों में भूम्याकृति पर चट्टानों का प्रभाव, भू-संचलन, प्रवाह-क्रम के प्रकार, हिमनदी और हवा के कार्य और झीलें हैं।

डायरेक्टर, जियालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया को लोनार झील का विशाल दृश्य, बियाफो हिमनदी, शिकारपुर का कैटरलेट, सोन साकेसर झील, राजस्थान के इदार ग्रेनाइट की भूम्याकृति और हिमालय की बनावट की आकृतियों की प्लेटों को छापने देने का अधिकार देने के लिये, नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंस को भारतीय मौसम संबंधी आकृतियों को छापने देने की अनुमति के लिये और मेसर्स स्टीफेन आस्टेन ऐंड संस लिमिटेड, इंगलैंड को हिन्द महासागर की गहराई दर्शक चार्ट और नैनीताल बेसिन की आकृति छापने देने का अधिकार देने के लिये, धन्यवाद दिया जाता है। सूची बनाने के कार्य के लिये डा० आर० पी० सिंह को भी धन्यवाद दिया जाता है।

इस पुस्तक में मौलिक पुस्तक का स्तर एवं शैली बनाये रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है। सम्पादक अपने इस प्रयत्न को सफल अनुभव करेगा अगर यह पुस्तक अपने नूतन परिवेश में भारतीय भूगोलवेत्ताओं और विद्यार्थियों की मनोनीत हो सके।

पटना विश्वविद्यालय
जुलाई, १९५९

एस० सी० चटर्जी

हिन्दी संस्करण का प्राक्कथन

हिन्दी भाषा में भौतिक भूगोल की मान्य पुस्तकों के अत्यन्त अभाव को ध्यान में रख कर नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने यह सुझाव दिया कि लेक द्वारा रचित भौतिक भूगोल का, जो कि कई वर्षों से एक विषद और मान्य पुस्तक है, हिन्दी में अनुवाद किया जाय। इसके पूर्व यह आवश्यक था कि पुस्तक में भारतीय छात्रों की आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन किया जाय जो कि बाह्य (यूरोपीय) उदाहरणों को हटाकर और भारतीय उदाहरणों को पुस्तक में सम्मिलित करके किया गया। लेखक को इस कार्य का भार सौंपा गया था।

यह पुस्तक उपरोक्त भारतीय संस्करण का हिन्दी रूप है। अनुवाद का कार्य श्री एच० डी० सिंह, एम० ए० ने स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, के प्रत्यक्ष तत्वावधान में किया। अनुवाद के कार्य में हिन्दी के बहुत से नवीन शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी वैज्ञानिक शब्दों के लिये किया गया है। पुस्तक में हिन्दी भाषा का बहुत ऊँचा स्तर रखने की कोशिश की गई है जो कि पाठकों को आरंभ में थोड़ी क्लिष्ट प्रतीत होगी। पर यह आशा की जाती है कि यह पुस्तक उपयोगी होने के साथ-साथ हमारे देश में, हिन्दी भाषा में, भौगोलिक शिक्षा का स्तर ऊँचा करने में सहायक होगी।

पुस्तक की भाषा में उन्नति अथवा भूल के सुधार हेतु सुझावों को अगले संस्करण में अधिक से अधिक अपनाने की कोशिश की जायेगी।

श्री एच० डी० सिंह और स्वर्गीय श्री नलिन विलोचन शर्मा का कार्य प्रशंसनीय है। लेखक, प्रूफ के सुधार कार्य के लिये श्री अशोक लाहिड़ी, बी० एस-सी०, एम० टेक० और अनुक्रमणिका बनाने के कार्य के लिये डॉ० के० एन० वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी० (क्लार्क), अध्यक्ष भूगोल विभाग, हमीदिया कालेज भोपाल के कृतज्ञ है।

अंत में मेरे कर्त्तव्य में त्रुटि रह जायगी यदि मैं मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड के मेजर क्लीमेन्स के नियमित सुव्यवहार एवं धैर्य की प्रशंसा न करूँ।

विक्रम विश्वविद्यालय
भोपाल
१९६३

एस० सी० चटर्जी

सूची

पहला भाग : वायुमंडल

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दूसरा भाग : महासागर

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

तीसरा भाग : स्थल

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

| सूची

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय.

प्लेटों की सूची

(इस सूची में संक्षिप्त नाम ही दिये गये हैं)

चित्रों की सूची

नकशे

(पुस्तक के अन्त में)

पहला भाग

वायुमंडल

पहला अध्याय

विषय प्रवेश : वायुमंडल की रचना

विषय प्रवेश :—वह ग्रह, जिस पर हम लोग रहते हैं, एक विशाल आन्तरक वाला (Core) है, जो दो पतले आवरणों एवं ढक्कन से घिरा हुआ है। बाहरी आवरण गैसीय है और इसे वायुमंडल कहा जाता है। भीतरी आवरण तरलावस्था में है; इसे जलमंडल कहते हैं। यह महासागरों से बना है, लेकिन वायुमंडल के विपरीत यह अपूर्ण है और पूरे भूमंडल को आवेष्ठित नहीं करता। इसका भीतरी भाग कम-से-कम बाहर से ठोस है और इसे बहुधा स्थलमंडल कहा जाता है।

सम्पूर्ण पृथ्वी का आपेक्षिक गुरुत्व ५·६७ है लेकिन उन चट्टानों का आपेक्षिक गुरुत्व, जिनसे स्थलमंडल बना है, औसतन ३ से कम है। अतः भीतरी भाग बाहरी भाग की अपेक्षा निश्चित रूप से बहुत ज्यादा घना होगा। साथ ही यह निश्चित है कि भीतरी भाग में दाब बहुत ज्यादा होगा और इस बात का प्रमाण है कि ताप भी बहुत ऊँचा है। तदनुसार भीतरी भाग बाहरी भाग से अवश्य ही भिन्न होगा और अनेक लेखक स्थलमंडल शब्द का प्रयोग पृथ्वी के बाहरी भाग के लिए सीमित रखते हैं, जहाँ चट्टानें प्रायः वैसी ही हैं जैसी भूपटल पर दीख पड़ती हैं और भीतरी भाग परिमाणमंडल या कठोरमंडल (Bathysphere), केन्द्रमंडल (Centrosphere), परिमाणमंडल (Barysphere) के नाम द्वारा बाहरी भाग से अलग करते हैं।

परिमाणमंडल में भौतिक द्रव्य सघन हैं; दाब अधिक है और सम्भवतः ताप भी ज्यादा है। इसके अतिरिक्त हमें इसकी प्रकृति के बारे में बहुत कम मालूम है। यही कारण है कि इसके संघटन के सम्बन्ध में नितान्त भिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि यह ठोस है; कुछ इसे तरल मानते हैं और कुछ का यह भी मत है कि यह गैसीय हो सकता है, यद्यपि अत्यधिक दाब के कारण यह भूपटल पर गैस की तरह नहीं दीख पड़ता। परिमाणमंडल की जो भी अवस्था हो, ज्वारभाटा सम्बन्धी प्रेक्षणों से यह प्रकट होता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी समान आकार वाली लोहे की गेंद के समान कड़ी है।

जो भी हो, भूगोलवेत्ता का विषय भूपटल है, उसका भीतरी भाग नहीं। और साधारणतः उसे केवल वायुमण्डल, जलमण्डल और स्थलमण्डल के दृश्य भागों, या दूसरे शब्दों में वायुमंडल, महासागर और भूमि पर विचार करना रहता है।

पर्यवस्थिति (Perspective) के प्रभावों के कारण खड़ी ऊँचाइयाँ भूमि पर मापित समान दूरियों की अपेक्षा हमें कहीं अधिक मालूम पड़ती हैं। अंशतः इस कारण से और अंशतः इसलिए कि हम किसी एक समय में भूपटल के बहुत छोटे भाग को देखते हैं, कम ही लोग यह अनुमान कर पाते हैं कि सम्पूर्ण पृथ्वी के परिमाण की तुलना में, महासागर और वायुमण्डल कितने छोटे हैं।

अगर पृथ्वी को एक फुट व्यास वाली गेंद के बराबर मान लें तो उसकी आनुपातिक माप के आधार पर महासागर कहीं भी $\frac{1}{100}$ इंच से अधिक गहरा नहीं होगा। वायुमण्डल की कोई सुनिश्चित सीमा नहीं है, किन्तु इसके फैलाव को २०० मील ऊँचा मान लेने से, उसी आनुपातिक माप पर, इसकी मोटाई लगभग $\frac{3}{10}$ इंच होगी।

वायुमंडल की रचना—धरातल के निकट वायुमण्डल की रचना, उसमें वर्त्तमान जल-वाष्प को छोड़कर सारे भूमण्डल में एक रूप है। उदाहरणार्थ, हम जहाँ कहीं का भी नमूना लें, यदि वायु को जल-वाष्प से मुक्त कर दिया जाता है तो उसका संघटन लगभग निम्नलिखित प्रकार रहता है—

नाइट्रोजन	७८·०३	प्रतिशत	परिमाण में
आक्सिजन	२०·९९	"	"
आर्गन	०·९४	"	"
कार्बन डाइऑक्साइड	०·०३	"	"
हाइड्रोजन	०·०१	"	"

केवल समावृत्त (Enclosed) स्थानों, अथवा ज्वालामुखीय छिद्र या कारखाने की चिमनी के सन्निकट, अथवा ऐसी अन्य जगहों में ही जहाँ विभिन्न प्रकार की गैसें उँड़ेल दी जाती हैं शुष्क वायु की रचना में विशेष महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। यह एकरूपता कुछ तो हवाओं के कारण है और कुछ गैसों के फैलने और एक दूसरे से मिश्रित होने की द्रुतता पर निर्भर करती है।

प्रायः २०,००० फुट की ऊँचाई तक रचना वस्तुतः समान ही रहती है। सैद्धान्तिक आधारों पर यह अनुमान किया जाता है कि इससे अधिक ऊँचाई पर इसमें अन्तर होना अनिवार्य है, और यह भी सिद्ध ही है कि कार्बन डाइऑक्साइड का वहाँ सर्वथा अभाव-सा है। इसके अतिरिक्त वायुमण्डलीय सीमा के ऊपर वस्तुतः किसी रूप में जल-वाष्प या जल नहीं पाया जाता है। इस वायुमण्डलीय सीमा को उत्परिवर्त-मण्डल (Tropopause) कहते हैं। (अगले अनुच्छेद में परिभाषित), जो ध्रुव-प्रदेशों में २५,००० फुट की औसत् ऊँचाई पर होती है, और विषुवत् रेखा पर ५५,००० फुट ऊँची हो जाती है। फिर भी, इन ऊँचाइयों पर भी आक्सिजन और नाइट्रोजन—दोनों प्रायः उसी अनुपात में पायी जाती हैं जिस अनुपात में भूपटल पर।

यह देखा जाता है कि जब एक वायुयान (aircraft), उदाहरण के लिए एक गुब्बारा (Balloon), यंत्रों के साथ भूपटल से ऊपर उठता है, तब ताप स्वल्प बाधा के साथ नीचे गिरता है। ताप के इस नीचे गिरने की गति अनेक आरोहणों (Ascents) का औसत् लेने पर ४ मील से ११ मील की ऊँचाई तक (२१,००० फुट से ५८,००० फुट) प्रत्येक ३०० फुट के लिए लगभग १° फारेनहाइट है। यदि बैलून फिर भी ऊपर उठता जाता है तो ताप स्थिर बना रहता है या उसमें फिर ऊपर उठने की स्वल्प प्रवृत्ति दीख पड़ती है। यह स्तर, जहाँ ऊँचाई के साथ ताप का गिरना रुक जाता है उत्परिवर्त-मण्डल (Tropopause) कहा जाता है। इसके नीचे का वायुमण्डलीय भाग परिवर्त-मण्डल (Troposphere) कहलाता है और इसके ऊपर वाला भाग समताप-मण्डल (Stratosphere)। इस बात

पर आगे प्रकाश डाला जायगा कि मेघ और वर्षण (Precipitation) के निर्माण और लोप से संबद्ध सभी ज्ञात ऋतु-परिवर्तन परिवर्त-मण्डल तक ही सीमित हैं।

यद्यपि भूपटल पर शुष्क वायु की रचना प्रायः अपरिवर्तनशील है, तथापि उसमें वर्त्तमान जल-वाष्प की मात्रा में अत्यधिक अन्तर रहता है। एक स्थान से दूसरे स्थान में दाब और एक समय से दूसरे समय में दाब और ताप में भी बहुत भिन्नता रहती है। इसलिए भौगोलिक दृष्टिकोण से वायुमण्डल के अध्ययन में दाब, ताप और आर्द्रता, ये तीन तत्व विचारणीय हैं।

दूसरा अध्याय

वायुमंडलीय दाब और हवाओं पर इसका प्रभाव

(Atmospheric Pressure & Its Influence on Winds)

वायुदाबमापीय दाब (Barometric Pressure)—ग्वेरिक के समय से ही यह ज्ञात है कि वायु में वजन है। साधारण अवस्थाओं में एक घन फुट वायु का भार (तौल) सवा औंस होता है।

वायु में वजन है, अतः पृथ्वी की सतह पर वायुमण्डल का दाब पड़ना अनिवार्य है; और किसी स्थान का दाब उसके ऊपर की वायु की मात्रा पर निर्भर करेगा। यह पर्वत शिखर पर गिरिपाद की अपेक्षा कम होगा। लेकिन समुद्र की सतह पर भी प्रत्येक दिन वायु-दाब एक-सा नहीं रहता है।

वायुमण्डलीय वायु-दाब वायुदाबमापी से नापा जाता है। वायु-दाब जितना ही अधिक रहेगा वायुदाबमापी का पारा उतना ही ऊपर रहेगा। वायु-मण्डल का दाब वास्तव में उतना ही रहेगा जितना दाब पारद-स्तम्भ द्वारा पड़ेगा और वह वायुदाबमापी में पारद-स्तम्भ की ऊँचाई के बराबर होगा। उदाहरणार्थ, वायुदाबमापी में जब पारद-स्तम्भ ३० इञ्च पर रहता है तब वायुमण्डलीय दाब पारे के ३० इंच के बराबर गहरा होगा। अतः वायुमण्डलीय दाब को पारदीय इंच अथवा मिलीमीटर्स के रूप में प्रदर्शित करने का सामान्य नियम-सा बन गया है। पारे (पारद) के घनत्व के मालूम रहने से इसे प्रति वर्ग इंच पौण्ड के रूप में परिवर्तित करने में सुविधा होती है। समुद्र की सतह पर औसत दाब २९.९ इंच रहता है जो लगभग १४.७ पौण्ड प्रति वर्ग इंच के बराबर है। सन् १९१० ई० के बाद से मिलीबार धीरे-धीरे वायुमण्डलीय दाब की एक सुविधाजनक इकाई के रूप में व्यवहृत होने लगा है। यह एक वर्ग सेंटीमीटर पर क्रियाशील १००० डाइन्स शक्ति के बराबर है, या करीब-करीब उतने क्षेत्र पर तौल में एक ग्राम के बराबर है। वायुमण्डलीय दाब १००० मिलीबार से कभी कम या कभी अधिक होता रहता है जो मानक परिस्थितियों में २९.५३ इंच पारद के तुल्य है।

वायुदाबमापी के सहारे ऊँचाई नापना (Measurement of Heights by means of the Barometer)—वायुदाबमापी को किसी पहाड़ी की चोटी पर ले जाने पर यह बात सदैव पायी जायगी कि उसके निम्न भाग की अपेक्षा शीर्ष भाग पर दाब कम है। चूँकि ऊपर में वायु की मात्रा कम है, अतः दाब कम रहता है। फलतः वायुदाबमापी का व्यवहार ऊँचाई की माप के लिए हो सकता है। समुद्र की सतह के निकट वायु की ९ फुट मोटी पर्त तौल में पारद की लगभग $\frac{१}{१००}$ इंच मोटी पर्त की तौल के बराबर होती है। अतः जब प्रत्येक ९ फुट के लिए वायुदाबमापी के पारे का स्तम्भ $\frac{१}{१००}$ इंच ऊपर उठता है, तब वायुदावमापी का वायुभार $\frac{१}{१००}$ इंच कम होगा। इस प्रकार हमें ऊँचाई मापने के लिए एक सामान्य मापदण्ड मिल जाता है। वायुदाबमापी का अध्ययन पहाड़ी की चोटी और निम्न भाग दोनों स्थानों पर कीजिए; एक इंच शतांश के अन्तर को लेकर उसे ९ से गुणा कर दीजिए। गुणनफल निम्न भाग के ऊपरवाली चोटी की ऊँचाई फुट में ज्ञात होगी।

उपर्युक्त नियम में यह मान लिया गया है कि वायु का घनत्व सर्वत्र एक-सा है। किन्तु वास्तव में यह अनुमान ठीक नहीं है। वायु शीघ्र ही दबकर संकुचित हो जाती है और जब यह छोटे स्थान में संकुचित होती है तब स्वभावतः इसका घनत्व बढ़ जाता है। समुद्र की सतह पर वायु पर इसके ऊपर के वायुमण्डल का सम्पूर्ण दाब रहता है। १०,००० फुट की ऊँचाई पर वायुदाब बहुत कम रहता है। अतः १०,००० फुट की ऊँचाई पर समुद्र की सतह की अपेक्षा घनत्व बहुत कम रहता है और ऐसी हालत में ९ फुट वायु $\frac{१}{१००}$ इंच पारे के बराबर नहीं रह जाती है और तब यह नियम नितान्त निराधार हो जाता है। इसके अतिरिक्त वायु का घनत्व ताप से भी प्रभावित होता है। ठीक-ठीक ऊँचाई निर्धारित करने के लिए दो स्थानों के बीच की वायु का मध्यमान दाब और मध्यमान ताप जान लेना आवश्यक है। जेबी (जेब में रखे जानेवाले) निर्द्रव वायु-दाबमापी के डब्बे के अन्दर रखने लायक अत्यन्त संक्षिप्त निम्नांकित सारणी से ऐसे परिणाम निकल सकते हैं जो एक प्रतिशत के भीतर तक ठीक निकलेंगे :—

मध्यमान ताप फारेनहाइट	३०°	४०°	५०°	६०°	७०°
मध्यमान दाब २७ इंच	९·७	९·९	१०·१	१०·३	१०·६
,, ,, २८ ,,	९·३	९·५	९·८	१०·०	१०·२
,, ,, २९ ,,	९·०	९·२	९·४	९·६	९·८
,, ,, ३० ,,	८·७	८·९	९·१	९·३	९·५

जी० जे० सीमॉन्स के जेबी ऊँचाई प्रदर्शक सारणी से दाबमापी और तापमापी—दोनों का अध्ययन दोनों स्थानों पर कीजिए। दाब मापकीय प्रेक्षणों के मध्यमान को माध्यमिक वायु का माध्यमान् वायुदाब माना जा सकता है और तापमापी के प्रेक्षणों के मध्यमान को मध्यमान ताप। सारणी में मध्यमान दाब और माध्यमान ताप से सम्बद्ध तदनुरूप संख्या को देखिए तथा पूर्ववत् निर्दिष्ट नियम के ९ के बदले इस संख्या का व्यवहार कीजिए।

उदाहरण :—

	दाब	ताप
ऊपरी स्थान	२८·०० इंच	४५°
निम्न स्थान	३०·०० इंच	५५°
मध्यमान	२९·०० इंच	५०°
अन्तर	२·०० इंच	

कारक : मध्यमान दाब २९ इंच और मध्यमान ताप ५०°=९·४।
२०० × ९·४ = १८८० ऊँचाई का अन्तर फुट के रूप में।

वायुयान में प्रयुक्त होनेवाले ऊँचाई प्रदर्शक यंत्र शीघ्रातिशीघ्र प्रभावित होनेवाले निर्द्रव वायुदाबमापी हैं जो प्रेक्षण के लिए समुचित रूप से अंशांकित होते हैं। मिलीबार की इकाइयों में ३० फुट की ऊँचाई पर जाने से भार में एक मिलीबार का अन्तर होता है। यह नियम ५,००० फुट या लगभग इतनी ऊँचाइयों तक काम करने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। लेकिन १५,००० और २०,००० फुट के बीच के स्तरों पर ऊँचाई के कारण दाब के अन्तर की गति पृथ्वीतल पर की गति के केवल आधे के लगभग है। ६० फुट के लिए एक मिलीबार काम चलाने के लिए अनुमानतः मानदण्ड माना जा सकता है।

वायुयान चालक के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि हवा के जिस स्तर पर वह उड़ रहा है उसके घनत्व की न्यूनाधिकता के कारण जमीन से ऊपर उसकी प्रत्यक्ष (Apparent) ऊँचाई गलत हो सकती है। ऊपरवाली सारणी पर थोड़ा विचार करने से हम तुरत इस निष्कर्ष पर पहुँच जाएँगे कि यदि कोई वायुयान चालक बहुत सर्द दिन में उड़ रहा है तो उससे जानना चाहिए कि ऊँचाई का प्रेक्षण बहुत अधिक होगा।

वायुमंडल की ऊँचाई (Height of the Atmosphere)—यदि वायुमण्डल का घनत्व सर्वत्र एक-सा रहता तो उसकी ऊँचाई की गणना सरल होती। २९.९ इंच पारद हवा के २६,९१० फुट के बराबर या पाँच मील से अधिक होगा, क्योंकि $\frac{१}{१००}$ इंच पारद (mercury) लगभग ९ फुट वायु का द्योतक होता है। किन्तु उसके ऊपर दाब के घटने से घनत्व भी घट जाता है और वायु का समान भार अधिक स्थान लेता है। लगभग ३$\frac{१}{२}$ मील की ऊँचाई पर दाब समुद्र-सतह की अपेक्षा आधा रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि (वजन द्वारा मापित, परिमाण द्वारा नहीं) आधा वायुमण्डल नीचे है और आधा ऊपर। ७ मील की ऊँचाई पर दाब समुद्र-सतह की अपेक्षा एक चौथाई है, १०$\frac{१}{२}$ मील पर $\frac{१}{८}$ भाग और इसी प्रकार। यदि हम यह मान लें कि वायुमण्डल समतल पर्तों में विभक्त है तो हमें मानना पड़ेगा कि सबसे नीचे वाली लगभग ३$\frac{१}{२}$ मील मोटी पर्त आधे वायुमण्डल के बराबर है (वजन के विचार से), दूसरी एक चौथाई, तीसरी $\frac{१}{८}$ भाग, चौथी $\frac{१}{१६}$ भाग इत्यादि। अगर यह सिद्धान्त, जो पृथ्वी की सतह के निकट के लिए करीब-करीब सही है, और यह सभी ऊँचाइयों के लिए लागू हो तो वायुमण्डल की कोई निश्चित सीमा नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में यह ऊपर की ओर अत्यन्त सूक्ष्म रूप में पाया जायगा, जबतक पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अन्य

आकाश-मण्डलीय ग्रह द्वारा पराभूत न हो जाय। लेकिन इस बिन्दु तक पहुँचने के बहुत पहले ही वायुदाब व्यावहारिक रूप से प्राप्त दाब से बहुत कम हो जाता है और तब ऐसे निम्न दाब पर गैसों की गतिविधि ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होती।

लेकिन फिर भी वायुमण्डल के १०० मील से ऊपर वर्त्तमान रहने का निश्चित प्रमाण मिलता है। पुच्छल तारे छोटे ठोस पिंड हैं जो बड़े तीव्र वेग से अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं। अन्तरिक्ष में ये शीतल रहते हैं और हमें दिखाई नहीं देते। लेकिन उनका वेग इतना अधिक रहता है कि जब वे वायुमण्डल में प्रवेश करते हैं तो वायु के साथ संघर्ष और दबाव के कारण वे उज्ज्वल और गर्म हो जाते हैं तथा दृश्य भी। यह बात कभी-कभी १०० मील से अधिक ऊँचाई पर देखी गई है, यहाँ तक कि १८८ मील की ऊँचाई पर तक।

वायुदाबमापीय विभिन्नताएँ (Barometric Variations)—यद्यपि समुद्र की सतह पर औसत् दाब लगभग २९·९ इंच या १०१२ मिलीबार है तथापि दैनिक दाब में बहुत विभिन्नताएँ पायी जाती हैं और इसलिए इंगलैंड में वायुदाबमापी का पारद शायद ही कभी एक-सा रहता है। ऐसा बहुत पहले प्रेक्षण किया गया है कि वायुदाबमापी के पारद की न्यूनाधिकता और मौसम के परिवर्त्तन के बीच कुछ सम्बन्ध है; लेकिन यह सम्बन्ध उतना साधारण नहीं है जितना बहुधा समझा जाता है। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि वायुदाबमापी का पारद स्तम्भ जब ऊँचा रहता है तब मौसम सुन्दर होता है और जब यह नीचा रहता है तब मौसम आर्द्र रहता है और इसीलिए बहुत से वायुदाबमापियों पर सुन्दर, परिवर्त्तन, वर्षा आदि शब्द लिखे रहते हैं, लेकिन फिर भी इन संकेतों पर भरोसा नहीं किया जा सकता।

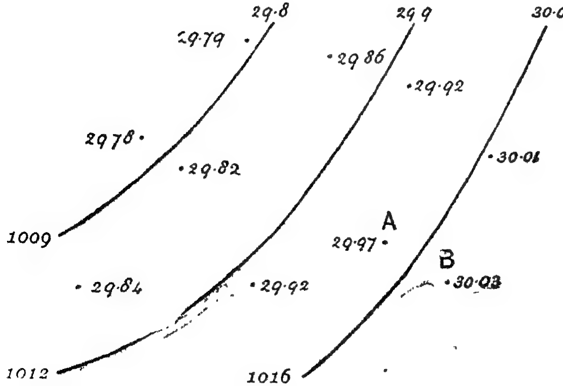
दूसरा साधारण विश्वास जो अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि ऊपर उठते हुए पारद स्तम्भ वाला वायुदाबमापी अच्छे मौसम का द्योतक है और गिरनेवाला आर्द्र का। लेकिन इस नियम के भी कई अपवाद हैं।

मौसम और वायुदाब के बीच वास्तव में गहरा सम्बन्ध है। लेकिन यदि, उदाहरणार्थ, हम लन्दन को लें तो हमें पता चलेगा कि लन्दन के वास्तविक दाब से मौसम निर्धारित नहीं होता, बल्कि उसके आसपास के समस्त स्थानों के दाब के वितरण से निर्धारित होता है। वायुदाबमापी का पारद स्तम्भ २९·५ इंच ऊँचा रहने पर मौसम अच्छा भी हो सकता है और आर्द्र भी। यह बात तो बहुत हद तक उसके आसपास की जगहों के दाब पर निर्भर होगी।

समदाब रेखाएँ—दाब का वितरण एक ही बार कई स्थानों में वायुदाबमापी के प्रेक्षणों से निर्धारित होता है। ये प्रेक्षण टेलीफोन द्वारा केन्द्रीय कार्यालय में भेजे जाते हैं। ये इंगलैंड में मौसम विज्ञान सम्बन्धी (Meteorological) कार्यालय में तथा भारत में पूना में अवस्थित मौसम विज्ञान सम्बन्धी कार्यालय में भेजे जाते हैं और कुछ संशोधनों के बाद चार्ट पर अंकित कर लिए जाते हैं। दाब के वितरण को साफ-साफ दिखाने के लिए समदाब रेखाएँ समान दाबवाली जगहों को मिलाती हुई खींची जाती हैं।

समदाब रेखाओं के खींचने का नियम चित्र १ में प्रदर्शित किया गया है।

इस चित्र में विभिन्न स्थानों के वायुदाबमापी के प्रेक्षण दिखाए गये हैं। एक इंच के प्रत्येक दशांश के लिए समदाब रेखाएँ खींची जाती हैं और इस चित्र में



चित्र १—समदाब रेखाओं के खींचने का नियम
(मिलीबार तुल्य अनुमानतः)

२९·८, २९·९ और ३०·० के लिए (जैसा कि दिखाया गया है) समदाब रेखाएँ खींची जायँगी। प्रेक्षण के स्थानों में ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ ये हों। किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि छोटी दूरियों में दाब का अन्तर क्रमबद्ध होता है और साथ ही खूब व्यवस्थित भी। इसलिए यदि A पर २९·९७" और B पर ३०·०३" दाब हो तो ३०·०" वाली समदाब रेखा इन दो स्थानों के बीच से गुजरेगी। इस तरह हम समदाब रेखाएँ खींचते हैं जैसा कि दिखलाया गया है। ध्यान देने की बात है कि ३०·०" वाली समदाब रेखा के दाहिनी ओर की सभी संख्याएँ ३०·०" से अधिक होंगी और इसके बाईं ओर वाली संख्याएँ ३०·०" से कम। दूसरी समदाब रेखाओं के साथ भी यही नियम लागू होगा।

लेकिन एक शहर में दो वायुदाबमापी रह सकते हैं जिनमें एक पहाड़ी की चोटी पर रहेगा और दूसरा उसके नीचे। पहाड़ी की चोटी वाले यंत्र का मान उसके निम्न भाग वाले यंत्र की अपेक्षा सर्वदा कम होगा और इसका कोई कारण नहीं है कि क्यों एक ही पाठ्यांक (Reading) को इस शहर का वायुदाब मान लेना चाहिए और दूसरे पाठ्यांक को नहीं। अतः स्पष्ट है कि वायुदाबमापियों की तुलना करते समय ऊँचाई का कुछ विचार अवश्य करना चाहिए। बेन नेविस के शिखर पर दाब लन्दन की अपेक्षा हमेशा कम होगा और इस बात से मौसम सम्बन्धी कोई विशेषानुमान नहीं किया जा सकता।

इसलिए चार्ट पर अंकित किये गये दाब वास्तविक प्राप्त पाठ्यांक नहीं हैं। हर हालत में वे समुद्र की सतह के अनुरूप परिवर्तित किये गये हैं। कहने का

तात्पर्य यह है कि स्थान की ऊँचाई का ध्यान अवश्य किया जाता है और अंकित संख्या वह दाब है जो उस स्थान पर की सतह पर स्थित गड्ढे के तल पर होगा।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मौसम सम्बन्धी साधारण चार्ट की समदाब रेखाएँ ऐसे विभिन्न स्थानों से खींची जाती हैं जहाँ [illegible] पाठ्यांक समुद्र-तल के अनुरूप परिवर्तनों के सहित सभी आवश्यक शुद्धियाँ करने के बाद एक ही हों (या बराबर हों)।

समदाब रेखा सम्बन्धी चार्ट इंगलैंड और दूसरे देशों में बहुत वर्षों से प्रतिदिन तैयार किये गये हैं और प्रतिदिन के मौसम के तुलनात्मक अध्ययन से क्रमशः यह पता चलता है कि समदाब रेखा की विशेष आकृतियाँ प्रायः विशेष प्रकार के मौसम से सम्बद्ध रहती हैं। मौसम सम्बन्धी पूर्वानुमान बहुत दिनों तक इसी साधारण सिद्धान्त पर होता था। आगे चलकर किसी चार्ट पर अंकित क्षेत्र में पड़ने वाली विभिन्न प्रकार की वायु अथवा वायु-खण्डों (Air-masses) के लक्षणों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।

वायु का समदाब रेखाओं से सम्बन्ध—मौसम की सभी हालतों में अत्यधिक महत्वपूर्ण वस्तु वायु है जो नितान्त स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूप से वायुदाब के वितरण पर आधारित है और इसका कारण सरल है। अतः यदि एक स्थान म वायुदाब उच्च है और उसके चारों ओर निम्न तो उच्च दाब वाले स्थान से आने के कारण वायु बाहर की ओर चली जायगी और निम्न दाब प्रदेश की ओर बहेगी। यही कारण है कि हम वायु को सर्वदा उच्च दाब वाले प्रदेश से निम्न दाब वाले प्रदेश की ओर बहते पाते हैं।

अगर सिर्फ यही बात रहती तो वायु सीधे उच्च दाब से निम्न दाब की ओर बहती और समदाब रेखाओं पर लम्ब होती। लेकिन दैनिक गति के कारण इसकी दिशा परिवर्तित हो जाती है। यदि पृथ्वी स्थिर रहती तो उत्तरी गोलार्द्ध में प्रत्येक वायु जिस दिशा की ओर चलती वह उसके दाहिनी ओर मुड़कर विक्षेपित हो जाती, और दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर। विक्षेप (Deflection) के कारण पर आगे प्रकाश डाला जायगा। इसका परिणाम यह होता है कि हवाएँ समदाब रेखाओं पर लम्बरूप से नहीं बहतीं बल्कि वे अभिनत (inclined) रहती हैं जैसा चित्र 2a और 2b में दिखलाया गया है।

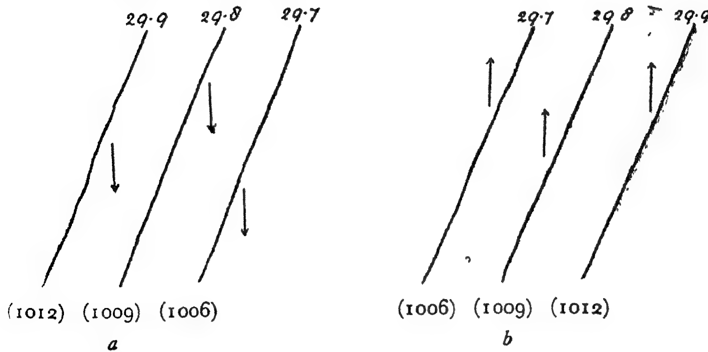
अतएव हम निम्नलिखित नियम बना सकते हैं :—

अपनी पीठ वायु की ओर करके खड़े हो जाइये। अगर आप उत्तरी गोलार्द्ध में हैं तो उच्च दाब आपकी दाहिनी ओर होगा और निम्न दाब बाईं ओर। और यदि आप दक्षिणी गोलार्द्ध में हैं तो उच्च दाब आपके बाईं ओर रहेगा तथा निम्न दाब दाईं ओर।

इसे बाइ बैलॉट का नियम कहते हैं। फिर भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उच्चत्तम दाब का वास्तविक केन्द्र आपके ठीक दाईं या बाईं ओर रहेगा, बल्कि उसके थोड़ा पीछे की ओर रहने की अधिक सम्भावना है।

वायु ज्ञात रहने पर बाइ बैलॉट के नियम से उच्च दाब की सन्निकट दिशा का शीघ्रता से अनुमान करने में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, यदि इंगलैंड में वायु उत्तरी बहती हो तो पश्चिम अथवा उत्तर-पश्चिम दिशा में अटलांटिक

में उच्च दाब रहेगा; और यदि वायु दक्षिण से बहती हो तो पूर्व या दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर महादेश में उच्च दाब रहेगा।



चित्र २—उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलीय हवाओं का समदाब रेखाओं के साथ सम्बन्ध (मिलीबार तुल्य अनुमानतः शक्तियाँ)

जब वायु प्रायः शान्त रहती है और मृदु, मन्द तथा धीर समीर बहता है तब साधारण मौसम रेखाचित्रों पर समदाब रेखाओं के साथ इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। इनकी उत्पत्ति दाब की स्थानीय भिन्नताओं के कारण होती है, किन्तु ये भिन्नताएँ इतनी अल्प होती हैं कि ये मौसम रेखाचित्रों में प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं। पार्वत्य प्रदेशीय घाटियों अथवा शहर की गलियों में वायु की दिशा घाटियों या गलियों से प्रभावित होती है, यह दाब से पूर्णतः निर्धारित नहीं होता। लेकिन जब ऐसे स्थानीय कारण बाधक नहीं होते, तब बाइ बैलॉट के नियम के अनुसार वायु सर्वत्र बहती है।

वायु की दिशा का विक्षेप सदा एक-सा नहीं रहता है। कभी-कभी यह इतना अधिक हो जाता है कि स्थलीय हवाएँ प्रायः समभार रेखाओं के समानान्तर हो जाती हैं। सामान्यतः साधारण नियम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समुद्र की सतह पर समदाब रेखाओं से औसत् दिशा का विक्षेप लगभग १०° और स्थल पर ३०° रहता है। पूर्ण समतल पृथ्वी पर वायु को समदाब रेखाओं का अनुसरण करना चाहिए और औसत् विक्षेप का उपर्युक्त कारण यही है कि समुद्री सतह पर वायु की गति में स्थल की अपेक्षा कम बाधा होती है। इन बातों पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

वायुदाबमापीय प्रवणता (Barometric Gradient)—हवाएँ दाब के अन्तर के कारण उत्पन्न होती हैं, अतः वायु की सामर्थ्य दाब के अन्तर पर निर्भर करेगी। इसे संख्यात्मक रूप से प्रदर्शित करने के लिए वायुमापीय प्रवणता अथवा दाब-प्रवणता (Pressure Gradient) शब्द प्रयुक्त होता है। वायुमापीय प्रवणता वायुदाब के गिरने की गति को कहते हैं, जिसकी माप समदाब रेखाओं से समकोणात्मक दिशा में होती है। (वायुदाबमापीय

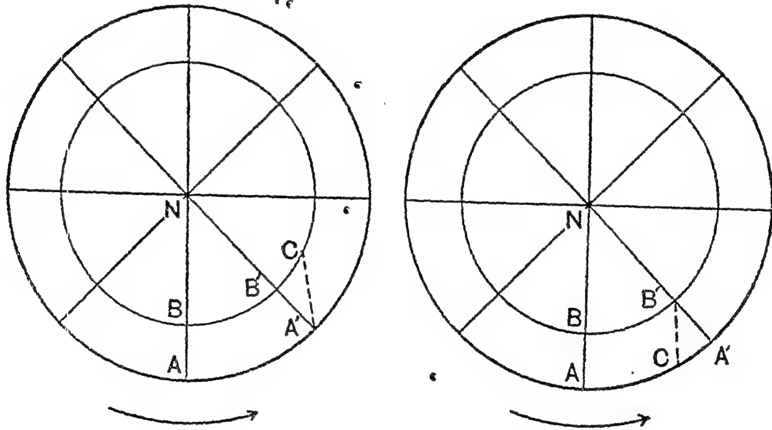
प्रवणता की इकाई प्रति १५ नॉटिकल मील में $\frac{१}{१००}$ इंच के गिराव के रूप में थी) उदाहरणार्थ, ३० मील में $\frac{१}{१०}$ इंच दाब प्रवणता अथवा १०० मील में १० मिलीबार दाब-प्रवणता जो समदाब रेखाओं से समकोणात्मक दिशा में मापी गयी हो, औसत् (प्रवणता) से कहीं ज्यादा है तथा इसे प्रबल (Steep) कहा जायगा।

किसी मौसम-चार्ट में यह साधारणतः देखा जाता है कि जहाँ समभार रेखाएँ सन्निविष्ट रहती हैं जिससे प्रवणता ज्यादा रहती है, वहाँ हवाएँ बहुत प्रबल होती हैं, और जहाँ समदाब रेखाएँ परस्पर एक दूसरी से दूर रहती हैं तथा प्रवणता कम रहती है, वहाँ हवाएँ मन्द रहती हैं। साधारणतः प्रवणता जितनी अधिक रहेगी, हवाएँ उतनी ही प्रबल होंगी।

हवाओं का विक्षेप (झुकाव) : हेडली की व्याख्या—हवाओं की दिशा पर पृथ्वी की दैनिक गति का प्रभाव पड़ता है, इसकी सबसे पहली युक्ति-पूर्ण व्याख्या हेडली ने की है।

पृथ्वी पर भूमध्य रेखा के निकट प्रत्येक वस्तु जो स्थिर दिखाई पड़ती है, वह वास्तव में पृथ्वी के साथ ही घंटे में लगभग १००० मील की गति से पूर्व दिशा की ओर घूम रही है। विषुवत् रेखा से ६०° की दूरी पर पूर्व दिशा की ओर चलनेवाली किसी वस्तु की गति घंटे में केवल ५०० मील रहती है।

चित्र ३ में उत्तरी ध्रुव पर देखने से पता चलता है कि पृथ्वी का प्रत्येक भाग तीर की दिशा में जा रहा है, और एक दिन में एक वृत्त पूरा करता है। ३ घंटे



चित्र ३—हेडले की दक्षिणी वायु के विक्षेप की व्याख्या

चित्र ४—हेडले की उत्तरी वायु के अपवर्तन की व्याख्या

या दिन के $\frac{१}{८}$ वें भाग में A पर स्थिर रहनेवाली प्रत्येक वस्तु A′ पर चली जायगी और इसी तरह B पर स्थिर रहनेवाली प्रत्येक वस्तु B′ पर चली जायगी। इस गति के अतिरिक्त यदि हम A पर स्थित कण को N ध्रुव की ओर धक्का दें तो

वह ३ घंटे में B पर चला जायगा, अर्थात् वह ध्रुव की ओर A B के बराबर दूरी तय करेगा। परन्तु इसके साथ ही इसमें पूर्व के A बिन्दु पर उतने ही समय में अपने को ले जाने की पूरी शक्ति भी रहेगी। फलतः, वह उत्तर की ओर AB दूरी और पूरब की ओर AA′ दूरी जो BC के बराबर है, तय करता है। अतः वह B पर पहुँचने के बदले C पर पहुँच जाता है और उसकी वास्तविक गति A से C की ओर रहती है।

लेकिन इस अवधि में भूपटल का A बिन्दु A′ पर चला जाता है और B बिन्दु B′ पर। फलतः प्रस्थान बिन्दु, जिस बिन्दु की ओर कण प्रेरित किया गया था, वह कण स्वयं तीनों के अन्त्य स्थान A′, B′ और C हो जाते हैं। कण की प्रत्यक्ष गति A′ और C की ओर रहती है, और उसकी अभिप्रेरित दिशा, ध्रुव की ओर होने के बदले, पृथ्वी पर उत्तर-पूर्व की ओर रहती है।

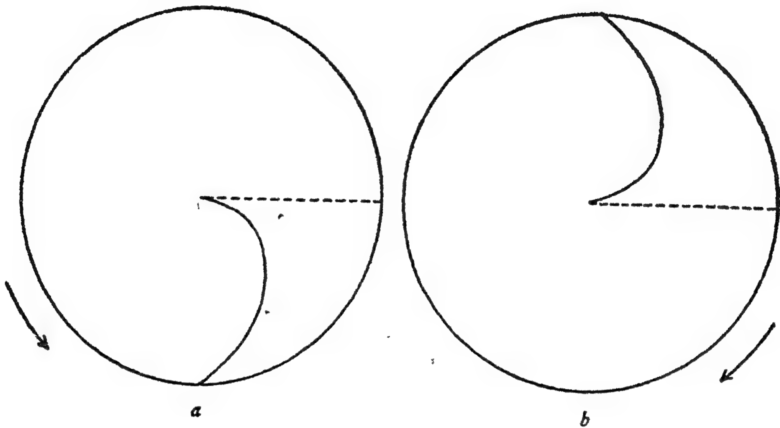
इसके विपरीत यदि हम B पर स्थित (चित्र ४) कण को धक्का दें जो उसे दक्षिणस्थ A पर ३ घंटे में ले जायगा, तो वह उस दिशा में BA दूरी और पूर्व दिशा में BB′ दूरी तय करेगा। अतः वह C बिन्दु पर पहुँचता है, तथा AC BB′ के बराबर है। लेकिन ३ घंटे में B, B′ पर चला गया है और A, A′ बिन्दु पर, और प्रस्थान बिन्दु जिस बिन्दु की ओर कण प्रेरित किया गया था वह तथा कण, तीनों के अन्त्य स्थान B′, A′ और C हो जाते हैं। पृथ्वी पर कण की गति BA की ओर रहने के बदले दक्षिण-पश्चिम दिशा B′ C की ओर रहती है।

दोनों दशाओं (अवस्थाओं) में कण का विक्षेप उसके अभीष्ट मार्ग से दाहिनी ओर होता है। इसी तरह यह भी प्रदर्शित किया जा सकता है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में विक्षेप बाईं ओर रहेगा।

प्रयोगात्मक निदर्शन—ध्रुव से विषुवत् रेखा की ओर जाते हुए कण के पथ के प्रत्यक्ष विक्षेप का प्रयोगात्मक रूप से निर्दर्शन करना सरल है। कूट के एक वृत्ताकार टुकड़े को मेज पर एक ऐसी पिन के सहारे स्थापित कर दीजिए जो कूट के टुकड़े के केन्द्र से गुजरती है। यह उस दृश्य का द्योतक मान लिया जा सकता है जो नीचे ध्रुव पर देखने से भूमण्डल का हो जायगा। कूट को पिन से बनी हुई धुरी के चारों ओर घुमाइए और साथ ही मेज पर किसी निश्चित बिन्दु की सीध में पेंसिल द्वारा पिन के निकट से कूट पर चिह्न बनाइए, जैसा कि चित्र ५ में भग्न रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। कूट पर अंकित रेखा से चित्र में दिखाई गई वक्रता के समान ही वक्रतायें बनेंगी। अतः यदि कूट को, जैसा कि चित्र ५ में दिखाया गया है, घुमाया जाता है तब यह उत्तरी ध्रुव की ओर अभिमुख भूमण्डल का प्रतिनिधित्व करता है और तब वक्रता दाहिनी ओर झुकेगी; और यदि कूट को विपरीत दिशा में घुमाया जाता है (चित्र ५b) तब यह दक्षिणी ध्रुव की ओर अभिमुख भूमण्डल का निरूपण करेगा और विचलन (Deviation) बाईं ओर रहता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि यह पद्धति विषुवत् रेखा से ध्रुव की ओर जानेवाले कण के विक्षेप के निदर्शन के लिए लागू नहीं होगी। पृथ्वी पर ऐसे कण की गति, ध्रुव की ओर जानेवाली गति के अतिरिक्त, पृथ्वी की दैनिक गति के कारण, पूर्व की ओर रहती है। यदि हम प्रयोग में घूमते हुए कूट की परिधि से

उसके केन्द्र की ओर पेंसिल से एक रेखा बनाते हैं, तो पेंसिल का पृथ्वी के परिभ्रमण के [illegible] बनती है जो पृथ्वी पर किसी वायु-संचार का निरूपण नहीं करती।



चित्र ५

हेडली की व्याख्या की अपूर्णता :—हेडली की व्याख्या पूरी नहीं है। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार पूर्व या पश्चिम की ओर बहती हुई वायु पर प्रायः विक्षेप का कम प्रभाव पड़ेगा। उनकी मूल दिशा जो भी हो, लेकिन वे एक रूप से प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त उनका विक्षेप भी अपेक्षाकृत उस विक्षेप से अधिक होगा, जिसकी हेडली की व्याख्या के आधार पर हम कल्पना करते हैं।

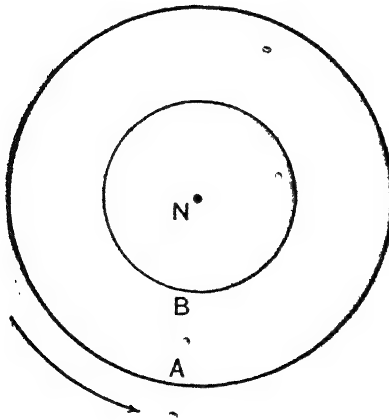
पृथ्वी की दैनिक गति के प्रभाव का अनुसंधान बाद के गणितज्ञों द्वारा और अधिक पूर्णता के साथ हुआ है। यह अपकेन्द्रीय बल (Centrifugal Force) के नियमों पर निर्भर करता है और महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का निदर्शन अत्यन्त सामान्य प्रयोगों द्वारा किया जा सकता है।

अपकेन्द्रीय बल—किसी छोटी वस्तु को एक धागे के छोर पर बाँधकर वृत्त में चारों ओर जब घुमाया जाता है तब उस वस्तु में सदा दूर भागने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है; फलतः वह धागे पर अभ्याकर्षण डालती है। इस अभ्याकर्षण को अपकेन्द्रीय बल (Centrifugal Force) कहते हैं। अतः जितनी तेजी से उस भार को घुमाया जायगा अभ्याकर्षण उतना ही अधिक होता जायगा, जब तक कि वेग के अधिक होने पर धागे के टूटने से वह भार भाग नहीं जाता है। साधारण नियम के रूप में यह कहा जा सकता है कि भार और धागे की लम्बाई (घुमाव के अर्द्ध व्यास) के बराबर न रहने पर अपकेन्द्रीय बल वेग के वर्ग के बराबर बढ़ता ही जाता है।

धागे के एक छोर को एक नली के छोटे टुकड़े के अन्दर से ले जाइये। नली का किनारा गोल होना चाहिए, जिससे वह धागे को न काट सके। धागे के खुले छोर को बाएँ हाथ में और नली को दाएँ हाथ में रखकर भार को चारों ओर घुमाइए। यह भार नली के छोर को केन्द्र बनाकर चारों ओर घूमता है।

जब भार में स्थायी गति आ जाय तो दाएँ हाथ को एक क्षण के लिए स्थिर करके बाएँ हाथ से धागे को खींचिए जिससे उसका घूमनेवाला भाग छोटा हो जाय। अब भार अन्दर की ओर खिंच जाता है और घुमाव के केन्द्र के निकट आने पर उसका वेग बढ़ जाता है। यह भी पता चलेगा कि यह बाहर की ओर ज्यादा जोर से खींचता है। यह खिंचाव वास्तव में इतना अधिक होता है कि जब धागा बहुत छोटा हो जाता है तब हाथ को स्थिर रखना असम्भव हो जाता है क्योंकि अपकेन्द्री बल बढ़ जाता है। धागे को भीतर की ओर खींचने के बदले प्रयोग की पुनरावृत्ति कीजिए; इसे नली के मध्य से थोड़ा और बढ़ा दीजिए, जिससे घूमनेवाला भाग बड़ा हो जाय। तब भार बाहर भाग जाता है और घुमाव के केन्द्र से दूर हटते ही इसका वेग कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी पता चलेगा कि धागे पर से अभ्याकर्षण कम हो जाता है, अर्थात् केन्द्रापसारी बल कम हो जाता है।

प्रयोगों से यह प्रकट होता है कि जब कोई पदार्थ एक गति से केन्द्र के चारों ओर घूम रहा हो और (१) यदि इसे केन्द्र की ओर ठेल देने पर इसका वेग बढ़ जाता है और साथ ही अपकेन्द्रीय बल भी बढ़ जाता है, और (२) यदि यह अभिप्रेरित किया जाता है अथवा केन्द्र से हटने के लिए छोड़ दिया जाता है, तो वेग कम हो जाता है तथा साथ ही अपकेन्द्रीय बल भी घट जाता है।



चित्र ६

फेरेल की व्याख्या—भूमण्डल उत्तरी ध्रुव से जैसा दृष्टिगोचर होता है, चित्र ६ उसी का निदर्शन है। परिधि भूमध्य रेखा है और केन्द्रस्थित N बिन्दु ध्रुव, जैसा कि धागे के छोटा होने पर हुआ था। कोई वस्तु जो विषवत् रेखा से

ध्रुव की ओर जाती है, वह परिभ्रमण की धुरी के निकट पहुँच जाती है, जैसा कि भार के छोटा करने पर भार परिभ्रमण-केन्द्र के निकट चला गया था। कोई वस्तु जो ध्रुव से विषुवत् रेखा की ओर जाती है, वह परिभ्रमण की धुरी से हटती जाती है जैसा कि धागे के बड़ा करने पर भार हट गया था।

पृथ्वी के A बिन्दु पर स्थित कण (Particle) वास्तव में धुरी के चारों ओर प्रति घंटा १००० मील की चाल से घूम रहा है। यदि हम इसे सीधे B की ओर ठेलने का प्रयत्न करते हैं तो यह परिभ्रमण की धुरी के निकट आता जाता है और इसका पूर्वीय वेग प्रति घंटा १००० मील से अधिक हो जाता है। लेकिन B में पूरब की ओर का वेग प्रति घंटा १००० मील से कम है; अतः जब वह कण B के अक्षांश पर पहुँचता है तब वह B से आगे रहता है जिससे वह दाहिनी ओर विक्षेपित हो गया है।

इसके विपरीत ६०° उत्तर अक्षांश पर स्थित कण का वेग धुरी के चारों ओर प्रति घंटा लगभग ५०० मील रहता है। यदि हम इसे A की सीध में ठेलने का प्रयत्न करते हैं तब यह परिभ्रमण की धुरी से दूर हटता जाता है और इसका पूरब की ओर का वेग कम हो जाता है। लेकिन A का पूरब की ओर का वेग प्रतिघंटा ५०० मील से अधिक रहता है और इसलिए कण A के अक्षांश पर पहुँचने पर A से पीछे रहता है जिससे यह दाहिनी ओर मुड़ गया है।

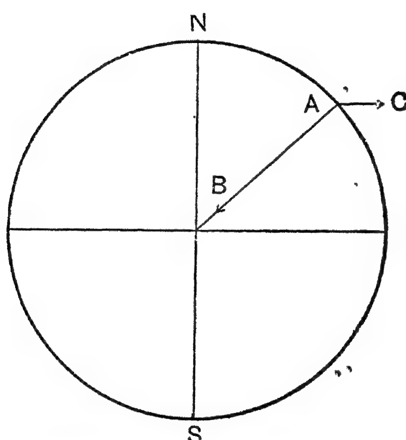
ये सिद्धान्त हेडली की व्याख्या के सिद्धान्त जैसे ही हैं, लेकिन गणना से पता चलता है कि विक्षेप परिमाण हेडली के अनुमान से अधिक है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि किसी कण के पूरब या पश्चिम की ओर ठेलने पर क्या परिणाम होता है। ६०° अक्षांश के B बिन्दु पर स्थित कोई कण पूर्व दिशा की ओर धुरी के चारों ओर प्रति घंटा ५०० मील की चाल से घूम रहा है। इसे पूरब की ओर उत्प्रेरित कीजिए तो इसकी पूरब की ओर जानेवाली गति बढ़ जाती है और इसके परिभ्रमण की चाल प्रति घंटा ५०० मील से अधिक हो जाती है। अतः, इसका अपकेन्द्रीय बल भी बढ़ जाता है और यह परिभ्रमण की धुरी से विषुवत् रेखा की ओर चला जाता है। इसलिए यह पूरब की ओर जाने के बदले दक्षिण-पूर्व की ओर चला जाता है। यह अपने अभीष्ट मार्ग से दाहिनी ओर मुड़ जाता है।

कण को पूरब की ओर बढ़ाने के बदले पश्चिम की ओर उत्प्रेरित कीजिए। यह इसकी स्थिरावस्था में रहने की गति के विपरीत है; फलतः इसके परिभ्रमण की चाल प्रतिघंटा ५०० मील से कम हो जाती है। इसके परिभ्रमण की चाल कम होने पर इसका अपकेन्द्रीय बल भी कम हो जाता है, जिसके फलस्वरूप यह धुरी की ओर, अर्थात् ध्रुव की ओर, चला जाता है। पश्चिम की ओर जाने के बदले यह उत्तर-पश्चिम दिशा में जाता है और विक्षेप फिर दाहिनी ओर हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि उत्तरी गोलार्द्ध में सभी स्थितियों में पृथ्वी के स्थिर रहने पर एक गतिशील कण का जो गन्तव्य पथ होता, उससे वह दाहिनी ओर मुड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार यह भी प्रदर्शित किया जा सकता है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में घुमाव बाईं ओर हो जाता है।

पृथ्वी के परिभ्रमण का प्रभाव पूरब अथवा पश्चिम की ओर अभिमुख गतियों पर पड़ता है। नीचे फेरेल द्वारा इसकी व्याख्या का अधिक विस्तृत वर्णन दिया जाता है। अगर यह परिभ्रमणशील पृथ्वी एक गोल पिण्ड (Sphere) होती और इसकी सतह चिकनी और घर्षण रहित है, तो एक भी अबद्ध कण ध्रुवों या भूमध्य रेखा के अलावा कहीं स्थिर नहीं रहता। चित्र ७ पृथ्वी का ध्रुवों के बीच से कटा हुआ एक भाग है, और NS दैनिक अक्ष है। सतह पर प्रत्येक कण, जैसे A जो पृथ्वी के साथ चल रहा है, दो शक्तियों से प्रभावित होता है। पहली शक्ति अभ्याकर्षण की है जो AB की दिशा में केन्द्र की ओर जाती है और दूसरी अपकेन्द्रीय बल है जो A



चित्र ७—गोलाकार पृथ्वी पर अपकेन्द्रीय बल का प्रभाव

की दिशा में परिभ्रमण -अक्ष पर लम्ब रहता है। तुलना में दूसरी शक्ति पहली की की अपेक्षा बहुत अल्प है। पृथ्वी के एक ठीक गोल पिण्ड रहने पर AB सतह पर लम्ब होगा और उसमें कण को किसी दिशा में गतिशील करने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन AC शक्ति सतह पर तिरछी पड़ती है। यह कण को ऊपर उठाने के लिए पर्याप्त नहीं है। परन्तु यह स्पष्ट है कि घर्षण नहीं रहने पर यह कण को भूमध्य रेखा की ओर खिसकाने का कारण होगी।

ध्रुव पर अपकेन्द्रीय बल नहीं है। परन्तु भूमध्य रेखा पर केन्द्रप्रसारी बल सतह पर लम्ब रहता है और साथ ही अभ्याकर्षण शक्ति की ठीक विपरीत दिशा में होता है। इसलिये इसमें सतह पर कण को गतिशील करने की प्रवृत्ति नहीं रहती तथा अभ्याकर्षण शक्ति की अपेक्षा अति अल्प होने के कारण इसका एकमात्र प्रभाव यह होता है कि यह कर्ण के भार को कम कर देती है।

लेकिन पृथ्वी पूर्णतः गोल नहीं है। ध्रुवों के बीच से काटा गया इसका भाग वृत्त नहीं है, जैसा चित्र ७ में है, बल्कि यह अण्डाकार है जैसा चित्र ८ में दिखाया गया है जो कि अण्डाकृति में बहुत अतिरंजित दिखाई गयी है। अण्डाकार पृथ्वी पर अभ्याकर्षण शक्ति साधारण तथा ठीक केन्द्रोन्मुख नहीं रहती, लेकिन यह बहुत हद

तक वैसा ही रहती है, तथा ध्रुवों और भूमध्य रेखा के अलावा यह धरातल पर कहीं भी लम्ब नहीं रहती। अन्य स्थानों में इसे दो संघटकों (Components) में विभक्त माना जा सकता है जिनमें AD सतह पर लम्ब है और दूसरा AE इसकी सतह पर सम्पात् (Tangential) होती है। इनमें पहला कण को सतह के विरुद्ध दबाता है और दूसरे में इसे ध्रुव की ओर गतिशील करने की प्रवृत्ति रहती है।

अपकेन्द्रीय बल अक्ष पर AC की दिशा में लम्ब रहता है। इसे दो संघटकों में विभक्त मान सकते हैं जिनमें एक AF सतह पर लम्ब है और दूसरा AG सतह पर सम्पात होता है। इनमें पहला कण को दूसरी अवस्था में वह जितना हल्का हो

चित्र ८—अण्डाकार पृथ्वी पर अपकेन्द्रीय बल का प्रभाव दोनों दशाओं में विक्षेप दाहिनी ओर रहता है। इसके विपरीत दक्षिण गोलार्द्ध में विक्षेप बाईं ओर होगा।

सकता था, [illegible], और दूसरे में भूमध्य रेखा की ओर जाने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है।

जब कण परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी पर स्थिर रहता है तब AE और AG शक्तियाँ आपस में संतुलित रहेंगी। यदि हम इसे पृथ्वी की गति की अपेक्षाकृत पूर्व दिशा की ओर गतिशील करते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि हम इस वेग को बढ़ा रहे हैं जो इसमें पहले से था। अपकेन्द्रीय बल AC बढ़ता है, अतः AG भी बढ़कर AF से अधिक हो जाता है। इसलिए कण भूमध्य रेखा की ओर खिसकता है और पूर्व दिशा की ओर जाने के बदले एक ऐसे बिन्दु की ओर जाता है जो पूरब से कुछ दक्षिण हटा रहता है। किन्तु यदि हम कण को पश्चिम की ओर गतिशील करते हैं तो यह परिभ्रमण की दिशा के विपरीत होता है। इसका वेग धुरी के चारों ओर कम होता जाता है। अपकेन्द्रीय बल भी कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप AG भी घटकर AF से कम हो जाता है। इसलिये कण ध्रुव की ओर खिसकता है और पश्चिम की ओर जाने के बदले पश्चिम से कुछ उत्तर की दिशा में जाता है।

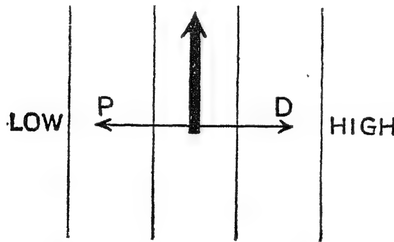
भूपटल पर गतिशील पिण्डों (Bodies) के विक्षेप के नियम को फेरेल का नियम कहते हैं, क्योंकि वे ऐसे लेखकों में से एक थे, जिन्होंने इसका पूर्णतः विकास

किया था, विशेषकर जब हवाओं के सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है। परन्तु वे वास्तव में प्रथम व्यक्ति न थे, जिन्होंने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

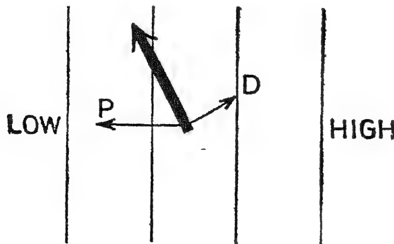
विक्षेप उत्पन्न करनेवाला बल को जो गति की प्रारम्भिक दिशा को एक ओर या दूसरी ओर उग्र करता है, कुछ लेखकों ने कोरिओलिश का बल (Corioli's force) कहा है।

संतुलित शक्तियों के अधीन वायु की गति (Motion of Air under balanced Forces):—वायु की कोई छोटी राशि चल पड़ने पर अपने मार्ग से दाईं अथवा बाईं ओर विक्षेपित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है; यह प्रवृत्ति विक्षेप उत्पन्न करनेवाले बल की क्रिया फलस्वरूप उत्पन्न होती है, जो हमेशा गति की दिशा पर लम्बवत पड़ती है।

इस प्रकार कोई भी छोटा वायु-राशि (Airmass) दाब की शक्ति के प्रभाव में रहती है, जो इससे न्यून दाब की ओर, अर्थात् समदाब रेखाओं पर, लम्ब रूप से बहने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, किन्तु जब यह बहती है तो यह विक्षेप उत्पन्न करनेवाले



चित्र ९—नियमित गति के लिए विक्षेप उत्पन्न करनेवाला बल D को, गति की दिशा पर लम्ब रूप से क्रियाशील रहते हुए दाब की शक्ति P के बराबर और विपरीत दिशा में अवश्य होना चाहिए, हवा को समदाब रेखाओं के समानान्तर चलना चाहिए। समदाब रेखाएँ जितनी सही रहेंगी, हवा उतनी ही प्रबल रहेगी।



चित्र १०—भूपटल पर संघर्षण के कारण हवा की गति कम हो जाती है। ऐसी दशा में विक्षेप उत्पन्न करनेवाला बल D पर्याप्त नहीं रहता जिससे वह दाब की शक्ति को कम कर सके। इसके फलस्वरूप वायु समदाब रेखाओं को पार कर भीतर की ओर चलने लगती है।

बल के प्रभाव में आ जाती है जो कण को उसकी प्रारम्भिक गति से लम्बवत् दिशा में अविराम उग्र वेगवत् करने का प्रयत्न करती है।

थोड़ा विचार करने से पता चलेगा कि जबतक दाब शक्ति (P) तथा विक्षेप उत्पन्न करनेवाले बल (D) सर्वदा समान रूप से विपरीत दिशाओं की ओर क्रियाशील रहती है, तबतक ही कोई छोटी वायु राशि स्थिरता से चल सकती है।

D को हमेशा गति की दिशा पर लम्ब रहना आवश्यक है। इसलिए वायु के लिए केवल समदाब रेखाओं की दिशा के मार्ग का ही अनुसरण करना होगा, जैसा कि मोटे तौर से दिखाया गया है। विक्षेप उत्पन्न करनेवाले बल को, गति के वेग के वर्ग तथा अक्षांश के ज्या (Sine) के तुल्य मान सकते हैं। अतः यदि दाब की शक्ति अधिक रहती है, अर्थात् यदि प्रवणता (Gradient) खड़ी रहती है, जैसा पृष्ठ १२ पर परिभाषित है, तो विक्षेप के बल को इसे संतुलित करने के लिए अधिक होना आवश्यक है। लेकिन विक्षेप का बल वेग के अधिक रहने पर ही बड़ी हो सकती है। इसलिए दाब की प्रवणता के खड़ी रहने पर, जो बहुत सही हुई समदाब रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है, हवा प्रबल होगी जो और भूपटल पर, साधारण उँचाई पर, समदाब रेखाओं की दिशा का करीब-करीब अनुसरण करेगी। आगे यह प्रकट होगा कि बाई बैलॉट का नियम (Buys Ballot's law) इसका (पृष्ठ ११) अनुगमन करता है।

किन्तु यह स्मरणीय है कि भूपटल ऊबड़-खाबड़ है; अर्थात् उसकी सतह में संघर्षण है। जंगल, मकान तथा अन्य बाधाएँ वायु के निम्नस्तरों के प्रवाह में प्रतिरोध उत्पन्न करती है, अर्थात् गति को कम कर देती है। इसके परिणामस्वरूप विक्षेप उत्पन्न करनेवाली शक्ति (D) कम हो जाती है, किन्तु दाब की शक्ति (P) ज्यों की त्यों बनी रहती है। अतः सतह पर छोटी वायु राशि में समदाब रेखाओं को एक कोण को पार कर चलने की प्रवृत्ति बनी रहती है, यहाँ तक कि समुद्र की सतह पर भी पर्याप्त संघर्षण रहता है। जिसकी माप साधारणतया १०° होती है, और भूमि पर खुले समतल प्रदेश में यह करीब ३०° की होती है। फिर भी २००० फुट की उँचाई पर समुद्र की सतह पर या समतल भूप्रदेश में वायु का प्रवाह व्यावहारिकता के विचार से समदाब रेखाओं की दिशा में रहता है, जैसा कि ऊपर के प्रथम चित्र में दिखाया गया है।

तीसरा अध्याय

(वायु) दाब का वितरण तथा वायुमंडल का संचार

(Distribution of Pressure and the Circulation of the Atmosphere)

संघर्षण रहित परिभ्रमण करनेवाली पृथ्वी पर दाब और विक्षेप उत्पन्न करनेवाले बलों के संतुलन के फलस्वरूप भूपटल पर वायु सम-दाब रेखाओं के साथ-साथ बहेगी। व्यवहार में यह स्थिति मोटे तौर से समुद्र-सतह से २,००० फुट की ऊँचाई या निम्न समतल तथा एक सतह के मैदानों में पायी जाती है। फिर भी सतह पर वायु की दिशाएँ दाब रेखाओं को कोण पर काटती हैं, जैसा हम देख चुके हैं।

समदाब रेखाओं की आपस की दूरी से इस बात की गणना करना सम्भव है कि हवा को किस चाल से बहना चाहिए। साथ ही यह देखा जाता है कि समुद्र-सतह से २००० फुट की ऊँचाई पर हवा की वास्तविक चाल दाब की प्रवणता (Pressure Gradiant) के आधार पर परिगणित चाल के प्रायः बराबर हो जाती है। लेकिन भूपटल पर चाल कम रहती है। इसके लिए कोई बिलकुल सही नियम नहीं निकाला जा सकता, किन्तु यह साधारणतया देखा जाता है कि जब हवा मन्द अथवा तेज बहती है तो समुद्र सतह पर इसकी चाल २००० फुट की ऊँचाई पर वाली (इसकी) चाल के दो-तिहाई के बराबर रहती है। सम्पूर्ण रूप से खुले मैदान में यह अनुपात करीब आधा हो सकता है। इसके स्पष्ट कारण ये हैं कि जहाँ पर अधिक अवरोध रहते हैं वहाँ इसकी चाल कम हो जाती है। धरातल पर वायु-स्रोत के प्रवाह की चाल अनियमितताओं के फलस्वरूप वायु प्रचण्ड हो जाती है। ऐसा खासकर शहरों की गलियों में तब होता है जब दिन में जोरों से हवा बहती है।

मौसम विज्ञान सम्बन्धी कार्यालय (Meteorological Office) से दैनिक मौसम का विवरण (Daily Weather Report) प्रकाशित होता है। उसके प्रायः प्रत्येक अंक में हवा की स्थिति के चित्र रहा करते हैं जो विशेषकर मध्याह्न के एक घंटा पूर्व के बाद की हवा के वितरण को प्रदर्शित करते हैं, जिससे इस बात की पुष्टि होती है। फिर भी कुछ स्थानों में यदि हवा हल्की रहती है तो उपर्युक्त प्राकृतिक स्थिति की अपेक्षा समदाब रेखाओं से वह विशेष रूप से बिलग हो सकती है। ऐसे अपवादों की अति सरल व्याख्या यह है कि वह स्थान पहाड़ी अंचलों की निर्धारित घाटी (well-defined valley) में है जहाँ वायु के स्थलीय प्रवाह को समदाब रेखाओं की दिशा का नहीं, बल्कि घाटी की ढाल की दिशा का अनुसरण करना पड़ता है।

धरातल पर समदाब रेखाओं के साथ हवा की दिशा और गति के सम्बन्ध की ३००० फुट की ऊँचाई पर बैलून द्वारा प्राप्त वायु की दिशा और वेग के साथ उनके सम्बन्ध से तुलना बहुत ही मनोरंजक है। दैनिक मौसमी चार्टों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर इसका भी पता लगाया जा सकता है।

(वायु) दाब के अन्तरों-की उत्पत्ति (The Origin of Differences of Pressure):—वायु-दाब के अन्तरों से हवाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस अन्तर की उत्पत्ति तथा भूपटल पर इसके परिणामस्वरूप वायु के संचालन जिसके परिवर्त्तनशील लक्षण होते हैं—इन्हीं बातों पर अब बिचार करना है। इनका प्रधान कारण स्थलीय वायु के ताप के अन्तरों में मिलता है। कल्पना कीजिए कि बैलून के सदृश्य वायु की एक राशि भूमि पर स्थित है। यदि किसी कारणवश अर्थात् बगलवाले उष्ण भू-भाग से ताप के संचरण से उस राशि (Block) का ताप उसके इर्द-गिर्द की वायु के ताप से अधिक हो जाता है, तो यह वायु ऊपर उठेगी और इसके फलस्वरूप पार्श्वभाग से ठंडी वायु का प्रवाह उसके स्थानों को भर देगा। अगर यह भी उसी तरह, उदाहरणार्थ, बालुकामयी गर्म मरुभूमि में गर्म हो जाती है, तब वायु के ऊपर उठते हुए बुलबुले बहुधा इतने पर्याप्त होते हैं कि वायुदाबमापी उस तप्त क्षेत्र के दाब की कमी को प्रदर्शित करता है। इसका सारांश यह होता है कि उष्ण वायु का निर्दिष्ट परिमाण (Volume) कम घना होता है, और इसलिए वह ठंडी वायु के समान परिमाण से तौल में कम होता है। अतः धरातल पर दाब उतना ही रहने पर उष्ण वायुखण्ड या स्तम्भ (Column) के शीर्षभाग पर समान [illegible] वायु के शीर्षभाग पर दाब अधिक होगा। इसलिए वायु में उष्ण वायुखण्ड के शीर्षभाग से शीतल वायुखण्ड की ओर चलने की प्रवृत्ति रहेगी।

धरातल के इस प्रकार गर्म होने के कारणों पर पाँचवें अध्याय में विशेष रूप से विचार किया गया है। यहाँ पर केवल इतना मान लेना प्रर्याप्त होगा कि वायुमंडल के ताप का संतुलन ऐसा है कि सम्पूर्ण ताप, अर्थात् धरातल पर वायुयंडल में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जो ताप सूर्य से आता (प्राप्त होता) है वह इससे बहिर्गत या विकीर्ण (खोये हुये) ताप से भूमध्य रेखा पर ध्रुवों [illegible] है।

इस बात को मान लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम सूर्य से विकीर्ण ताप की उष्णता का अनुभव करते हैं; यह हमारे शरीर को गर्म कर देता है। मेघरहित वायुमण्डल से सूर्य की रश्मियाँ उसे (वायुमंडल) बिना गर्म किए ही अविरोध पृथ्वी पर आ जाती हैं; सूर्य से होने वाले विकिरण से धरातल गर्म हो जाता है और यह पुनः आस-पास की वायु (Adjacent Air) को गर्म कर देता है। लेकिन फिर भी वायुमण्डल उसी प्रकार पृथ्वी से रात्रि के समय होनेवाले विकिरण के लिए स्वच्छ नहीं रहता। यहाँ तक कि आकाश के स्वच्छ रहने पर भी बहुत हद तक ऊपर वाली वायु में वर्तमान जल-वाष्प पर निर्भर करता है। बड़ी मरुभूमियों-जैसे क्षेत्रों में जहाँ वायु शुष्क रहती है, पृथ्वी द्वारा दिन में तापग्रहण तथा रात्रि के समय ताप का निःसरण अत्यधिक होता है। यदि ब्रिटिश द्वीपसमूह ग्रीष्म काल में सम्पूर्ण रूप से विस्तृत प्रतिचक्रवात से आवृत्त रहे, जिसमें वायु स्वाभाविक रूप से कई हजार फुट ऊपर तक शुष्क रहती है, तो विशाल दैनिक अन्तर की उसी घटना का वहाँ बहुधा प्रेक्षण हो सकता है।

जब वायु गर्म हो जाती है तब यह ऊपर उठती है, और ऊपर उठने के कारण फैलती है—जब यह जल-वाष्प से संतृप्त नहीं रहती है। (शब्द, जिसकी व्याख्या छठे अध्याय में की गई है) इसके फैलाव का परिणाम यह होता है कि गैसों के नियम के आधार पर प्रत्येक १००० फुट ऊपर जाने पर इसका ताप ५$\frac{१}{२}$° फा० कम हो जायगा। यह साधारणतया देखा जाता है कि वायु जिसका ताप उपरोक्त गति से गिर रहा हो,

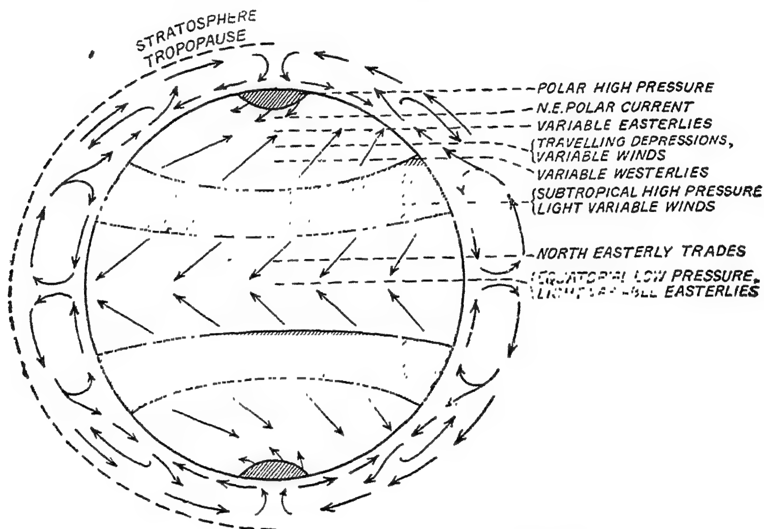
कुछ समय में ऐसे स्तर पर पहुँचती है जहाँ यह आसपास की वायु से अधिक उष्ण नहीं रह पाती है ; यद्यपि वह पहले उसकी अपेक्षा बहुत अधिक उष्ण थी। ऐसा केवल इसलिए होता है कि उत्परिवर्त्त-मण्डल (Tropopause) (पृष्ठ ५) तक वायु के ताप की ह्रास-गति (Lapse-rate), दिन और रात के प्रेक्षणों के लिए छूट देते हुए प्रति १००० फुट में जो ५½° का निपाट होता है, उससे कम रहती है। समशीतोष्ण अक्षांशों में यह साधारणतया लगभग ३·३° से ३·५° तक हो सकती है। इसलिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि ऊर्द्धगति वाली वायु उपरिवर्त्त-मण्डल के बराबर ऊपर ही उठती जायगी, और जैसा कहा गया है, धरातल से किसी वायु के उस स्तर (उत्परिवर्त्त-मण्डल) के ऊपर समतापमण्डल (Stratosphere) में जाने की संभावना नहीं हो सकती। कारण यह है कि सामान्यतः उत्परिवर्त्त मण्डल के ऊपर वायु का ताप ज्यों का त्यों रहता है या बढ़ता है। फिर भी वायु का ऊपर उठनेवाला बुलबुला फैलता है और उसके फलस्वरूप ठंडा भी हो जाता है। इसलिए असाधारण उष्णता के फलस्वरूप पूरे रास्ते को तय करके वह अगर उत्परिवर्त्त-मंडल तक चली आती है तो थोड़ा ऊपर उठने के बाद, यह ऊपर उठती हुई वायु आसपास की वायु से भी अधिक ठंडी हो जाती है ; इसके फलस्वरूप यह वायु और अधिक ऊपर नहीं उठ सकती। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि किस प्रकार उष्ण कटिबन्धों में ऊपर उठती हुई वायु एक विशेष स्तर पर पहुँचने पर ध्रुवों की ओर फैल जाती है।

दाब का साधारण वितरण (General Distribution of Pressure):—धरातल पर भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में रात्रि में वायुमण्डल ताप के विसर्जन से जितना शीतल होता है उससे दिन में यह अधिक गर्म हो जाता है। इसके फलस्वरूप सुविकसित निम्न दाब की सनातन पट्टी कायम होती है, जो उत्तरस्थ तथा दक्षिणस्थ क्षेत्रों के दाब से नितान्त विपरीत होती है, जिससे इसकी ओर वायु स्वाभाविक रूप से बहती है।

यदि पृथ्वी बिलकुल स्थिर रहती तो स्थलीय दाब ध्रुवों पर सब से अधिक होता जहाँ स्थलीय तापन (heating) बहुत कम प्रभावोत्पादक होता और भूमध्य रेखा पर निम्नतम। लेकिन पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है ; इसलिए ध्रुवों से भूमध्य रेखा की ओर आने वाले वायु-स्रोत (मुड़) विक्षेपित हो जाते हैं, यहाँ तक कि एक परिभ्रमण करने वाले समतल ग्लोब पर ध्रुव से भूमध्य रेखा तक वायु प्रवाह उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी-पूर्वी वायु तथा दक्षिणी-गोलार्द्ध में दक्षिणी-पूर्व वायु के रूप में अबाध गति से नहीं चलती। वायु के इन विशाल स्रोतों तथा ग्लोब (पृष्ठ २८-९) के बीच संघर्ष के फलस्वरूप इन स्रोतों में ध्रुव प्रदेश से चलने के बाद बड़े-बड़े भँवर के रूप में विभक्त हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। इन आवर्त्तों के केन्द्रों में वायुमण्डलीय निम्न दाब के क्षेत्र कायम हो जाते हैं। यह बाइ बैलौट के नियम के अनुसार होता है। (पृष्ठ ११) सुदूर समशीतोष्ण अक्षांशों में, महासागरों में, ये विशेषकर उत्पन्न होते हैं ; ये स्थिर रहते हैं जिससे एक लंबी अवधि के औसत दाब पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इसके उत्तर या दक्षिण में यह औसत दाब कुछ कम हो जाता है।

यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि वायु के स्थलीय प्रवाह में विक्षोभ और अनियमितताएँ केवल भूतलाकृतियों के कारण ही उत्पन्न नहीं होतीं, बल्कि इसकी

विभिन्न गति और ऊँचे स्तरों पर वायु-स्रोतों की गतिविधि पर निर्भर करती हैं जिससे निम्न स्तरों पर विचित्र प्रकार का जोर पड़ता है।



[चित्र ११—समतापमंडल (Stratosphere); उत्परिवर्त्त-मण्डल (Tropopause) ध्रुवीय उच्च दाब (Polar High Pressure) उत्तरी-पूर्वी ध्रुवीय स्रोत (N, E. Polar Current), परिवर्त्तनीय पूर्वीय हवाएँ (Variable Easterlies) चलते अवनमन (Travelling Depressions), [illegible] हवाएँ (Variable Winds), परिवर्त्तनशील पश्चिमी हवाएँ (VariableWesterlies), उष्ण कटिबन्धीय उच्च वायु-भार (Variable High Pressure), सूक्ष्म परिवर्त्तनशील हवाएँ (Light Variable Winds), उ०पू० वाणिज्य वायु (North Easterly Trades) भूमध्य रेखीय निम्न दाब (Equatorial Low Pressure), सूक्ष्म परिवर्त्तनशील हवाएँ (Light Variable Winds)।]

चित्र ११—ग्लोब (भूमण्डल) के दाब तथा हवाओं के वितरण की आकृति। अनुप्रस्थ (Horizontal) तथा खड़े (Vertical) वायु (संचार) तीर द्वारा प्रदर्शित किए गये हैं। उच्च दाब के क्षेत्र रँग दिए गये (सटल्किफ के अनुसार) हैं ग्रीष्मकाल में कुछ हद तक इसका विलोम भी होता है। सर्वाधिक तापन क्रिया का क्षेत्र वर्ष पर्यन्त भूमध्यरेखा पर स्थिर नहीं रहता, बल्कि यह मौसम के साथ आगे-पीछे हटता रहता है जिसके फलस्वरूप और भी परिवर्तन होते हैं।

भँवर के विकास क्षेत्र तथा भूमध्य रेखीय निम्न दाब के क्षेत्र के बीच एक ऐसा क्षेत्र अवश्य है जहाँ से स्थलीय वायु-स्रोतों का अपसरण होता है। यह अपसरण या तो ध्रुव की ओर स्थायी भँवरों की ओर अथवा भूमध्य रेखा की ओर वाणिज्य-वायु के

रूप में होता है। किंचित् अधिक दाब वाला यह क्षेत्र साधारणतया ३०°-३५° अक्षांशों के बीच पाया जाता है; और स्थलीय वायु-स्रोतों के बाहर की ओर फैलने का अर्थ यह होता है कि ऊपर से उतरने वाले वायु-स्रोत उस क्षेत्र के केन्द्र में प्रबल रहते हैं। छठे अध्याय में इस बात पर प्रकाश डाला जायगा कि इसका साधारण परिणाम यह होता है कि उस क्षेत्र के ऊपर आकाश प्रायः स्वच्छ रहता है। भँवर वाले क्षेत्र के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे पता चलता है कि इन भँवरों का कार्य जलवाले भँवर की तरह साधारण नहीं होता, क्योंकि उनमें खिच जाने वाले वायु-स्रोतों के लक्षण बहुत भिन्न होते हैं। अतः, साधारण तुलनाओं को अधिक आगे नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि अभी तक वायु-प्रवाह की जटिलताओं की पूरी व्याख्या नहीं दी जा सकी है।

तथापि यदि अपने अक्ष पर घूमनेवाली हमारी पृथ्वी,सर्वत्र समतल रहती तो उस पर वायुमण्डलीय दाब का वितरण तथा उसके फलस्वरूप हवाओं का विकास इस प्रकार होता जैसा कुछ हद तक चित्र ११ में प्रदर्शित किया गया है। लेकिन व्यवहार में, जैसा कि मानचित्र से पता चलता है, यह सापेक्षतया सरल नियम केवल दक्षिणी गोलार्द्ध पर लागू होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में जल और स्थल के असमान वितरण से शीतकाल में महादेशों में किसी-किसी क्षेत्र के उच्च दाब के अंचल की सीमा बहुत अधिक बढ़ जाती है; इसके विपरीत महासागरों पर निम्न दाब की शृंखलाएँ विशेष विकसित हो जाती हैं।

वायुमण्डल के ऊपरी-स्रोत सन्निकटतः चित्र में प्रदर्शित नियम के अनुसार ही चलते हैं। कर्क और मकर रेखाओं के बीचवाले क्षेत्रों, अर्थात् ग्रीष्म-मण्डलों, में ऊँचाई पर जाने से फैलती हुई वायु उच्च दाब की चट्टियों में जा गिरती है। लेकिन फिर भी उसके कुछ अंश ध्रुवों की ओर चले जाते ह। विक्षेप के कारण (पृष्ठ २९ को देखिए) सम शीतोष्ण तथा ध्रुवीय अक्षांशों में पश्चिम दिशा से पश्चिमी हवाएँ अति प्रबलता के साथ चलती हैं। सम शीतोष्ण अक्षांशों में विक्षुब्ध एवं परिवर्त्तनशील वायु-स्रोत ताप तथा आर्द्रता की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इन दोनों के बीच संघर्ष होता है जिससे बहुत से महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होते हैं, जिन पर एक अलग अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

दाब के इस वितरण की प्रचलित हवाओं की दिशा का अनुमान करना सरल है। लेकिन यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हवाएँ उच्च दाब से निम्न दाब की ओर चलती हैं और ये उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बाईं ओर मुड़ जाती हैं।

हवाएँ ग्रीष्म-मण्डलीय उच्च दाब से समशीतोष्ण क्षेत्र के निम्न दाब वाले प्रदेशों की ओर भी बहती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में ये दक्षिण-पश्चिम से बहती हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम से। इन्हें पश्चिमी हवाएँ (Westerlies) कहते हैं। किन्तु ये वाणिज्य वायु की भाँति, विशेषकर उत्तरी गोलार्द्ध में, स्थायी नहीं होतीं, क्योंकि इन क्षेत्रों में चक्रवातीय तथा तत्सम्बन्धी परिवर्त्तन होते रहते हैं।

अन्त में ध्रुवीय उच्च दाबों से हवाएँ बाहर की ओर उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर-पूर्व से और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-पूर्व से बहती हैं। ध्रुवीय उच्च दाब तथा बहिर्मुखी स्थलीय हवाएँ अंटार्कटिक (Antarctic) प्रदेशों में, आर्कटिक प्रदेशों की

अपेक्षा, कहीं अच्छी तरह सुनिश्चित रहती हैं। लेकिन वहाँ भी वे ध्रुव से अधिक दूर तक नहीं जातीं।

चित्र ११ और मानचित्र १ की तुलना से पता चलता है कि दाब का वास्तविक वितरण कुछ अंश तक जल और स्थल के विस्तार से प्रभावित होता है। सूर्य के स्थान का भी इस पर प्रभाव पड़ता है और यही कारण है कि भिन्न-भिन्न ऋतुओं में यह परिवर्तित होता रहता है (मानचित्र २ की ३ से तुलना कीजिए और १३ की १४ से)।

दाब का साधारण वितरण तथा उसके परिवर्त्तन, दोनों पृथ्वी के परिभ्रमण और ताप के अन्तरों के फलस्वरूप होते हैं।

ताप का प्रभाव (Influence of Temperature):—और दूसरे प्रभावों के अभाव में एक गर्म प्रदेश स्वभावत: निम्न दाब वाला क्षेत्र बन जाता है और शीत प्रदेश उच्च दाब वाला क्षेत्र। मान लीजिए कि AB (चित्र १२ a) द्वारा एक समतल मैदान को दिखाया गया है जहाँ ताप [illegible] है। वायु के शान्त रहने के लिए उस स्तर पर सभी स्थानों में दाब एक-सा रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा नहीं होने से हवा उच्च दाब से निम्न दाब की ओर बहने लगेगी।

चित्र में स्थलीय दाब ३० इंच है। भूमि पर किसी खास ऊँचाई पर दाब २९ इंच है। उससे ऊँचे स्तर पर २८ इंच और इसी तरह ऊपर की ओर कम होता जायगा। समदाब की इन सतहों को समदाब की सतह कहते हैं। और चूँकि वायु शान्त रहती है, इसलिए इसका समतल होना भी अनिवार्य है।

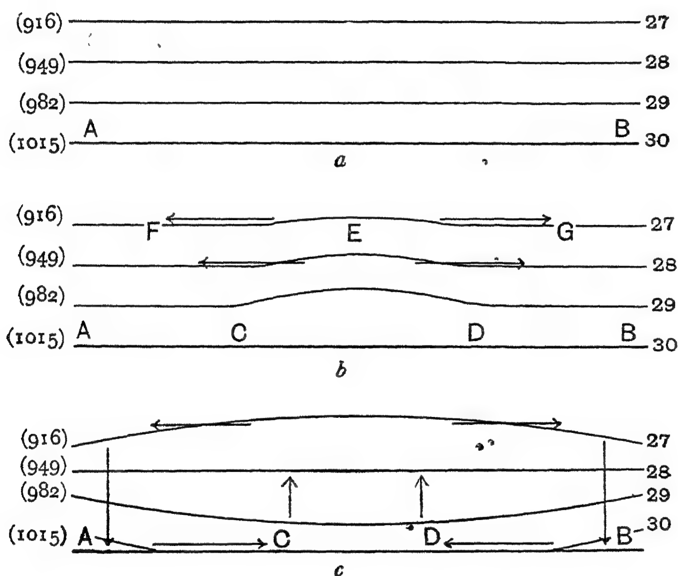
मान लीजिए कि मैदान (चित्र १२ b) का एक भाग CD तप्त होकर शेष भाग की अपेक्षा ज्यादा गर्म हो जाता है। इसके सम्पर्क में आने से वायु उष्ण होकर फैलेगी और यह अपने [illegible]। फलत: CD के ऊपर समदाब रेखा की सतहें भी उठ जायँगी जैसा कि चित्र १२ b में दिखलाया गया है। लेकिन फिर भी वायु इस स्थिति में नहीं रह सकती। अब E पर दाब उसी स्तर पर स्थित F तथा G से ज्यादा हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि वायु E से F और G की ओर बहिर्मुखी होकर चलेगी।

जब ऐसा होता है तब CD पर की वायु का कुछ भाग वहाँ से हट जाता है और A और B पर दाब तनिक देर भी एक-सा नहीं रहने पाता। यह दाब CD पर ३०इंच से कम हो जाता है और A तथा B पर ३० इंच से अधिक। ३० इंच वाला समदाब रेखीय स्तर का धरातल के साथ संपतन (Coincidence) तो बन्द हो जाता है, लेकिन यह इस प्रकार रहता है जैसा कि चित्र १२c में दिखलाया गया है। भूमि के निकट अब समदाब रेखीय सतहें ऊपर की ओर नतोदर (Concave) होंगी और इसके विपरीत ऊपर वायु में, नीचे की ओर, नतोदर होंगी। चूँकि भूमि पर A तथा B पर दाब CD की अपेक्षा ज्यादा है, इसलिए A तथा B से भीतर CD की ओर स्थलीय प्रवाह बहेगा।

अत: CD के तप्त होने के परिणामस्वरूप ऊपर में एक बहिर्मुखी स्रोत का और नीचे अन्तर्मुखी स्रोत का प्रादुर्भाव होता है, भूमि के स्तर पर तप्त वायु मात्र का दाब कम हो जाता है और ठंडे भाग का दाब बढ़ जाता है।

पुनश्च, ऊपरी वायु के योग से A और B पर वायु नीचे की ओर दब (Pressed) जाती है; अत: वह नीचे की ओर उतरती है। नीचे की अधिक ठंढी तथा घनी

वायु CD के ऊपर की अपेक्षाकृत उष्ण तथा हल्की वायु को ऊपर की ओर ठेल देती है। ऊपरी स्रोत ठंडे हो जायेंगे, क्योंकि वे उष्मा (Heat) के प्राप्ति-स्थान से बाहर की ओर प्रवाहित होते रहते हैं, इसकी ओर आनेवाले निम्न स्रोत उष्ण हो जायेंगे तथा इसके परिणामस्वरूप भूमि पर जब तक ताप का अन्तर वर्तमान रहेगा तब तक वायु-संचार भी जारी रहेगा।



चित्र १२—दाब तथा हवाओं पर उष्मा (heat) का प्रभाव।
मिलीबार का प्रदर्शित सन्निकटत: (Approximate) मान (Equivalents)।

लेकिन फिर भी ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि यह संचार (चक्रण) वायु-मण्डल के शीर्ष तक जाता है। जब पहले CD तप्त हो जाता है तब केवल इसके सम्पर्क में आने वाली वायु की पर्त उष्ण होकर फैलती है। लेकिन वायु प्रत्यास्थ [(लचीली) (elastic)] होती है, इसलिए इसका फैलाव इसकी ऊपरी पर्तों को शीघ्र ही ऊपर नहीं उठाता। उसका तात्कालिक असर यह होता है कि उसके ठीक ऊपर वाली पर्त संपीड़ित (Compressed) हो जाती है। इस तरह वायु-संचार के स्थापित होने में समय लगता है। साधारण नियम तो यह है कि ताप का अन्तर जितना अधिक समय तक रहेगा, वायु-संचार उतनी ही ऊँचाई तक ऊपर बढ़ेगा।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार सामुद्रिक स्तर पर निम्नतम दाब भूमध्य रेखा के आसपास होना चाहिए और उच्च दाब ध्रुवों पर तथा भूमध्य रेखा से दाब ध्रुवों की ओर क्रमश: बढ़ते जाना चाहिए। स्थलीय हवाएँ ध्रुवों से भूमध्य रेखा की ओर बहेंगी और ऊपरी हवाएँ भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर ।

पृथ्वी के परिभ्रमण का प्रभाव (Influence of Earth's Rotation)—पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण हवाएँ अपनी मौलिक दिशाओं का लगातार अनुसरण नहीं करतीं। पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण हवाओं की मौलिक दिशाएँ बराबर एक-सी नहीं रहतीं, बल्कि वे उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में बाईं ओर।

यदि एक बड़ा जन-समूह चारों ओर से केन्द्र की ओर आ रहा हो, और जो आगे रहते हैं वे भी उतने ही समय में केन्द्र पर पहुँचते हैं, तो इसके फलस्वरूप वहाँ एक अवरोध (Block) खड़ा हो जाता है। अगर पीछे वाले और आगे बढ़ते हैं तो केन्द्र पर शीघ्र ही एक अति उच्च दाब कायम हो जायगा। अपरिभ्रमणशील पृथ्वी पर ऊपरी स्रोतों की दशाओं की इस निदर्शन से अच्छी तरह अभिव्यक्ति हो जाती है। इनसे ध्रुवों पर उच्च दाब प्रादुर्भूत होगा। इस उच्च दाब के फलस्वरूप ध्रुवों से भूमध्य रेखा की ओर निम्न स्रोत प्रादुर्भूत होते हैं।

लेकिन मान लीजिए कि उनके समूह के लोगों के केन्द्र पर पहुँचने के पहले आगे की पंक्तियाँ दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं (इनका समकोण पर मुड़ना आवश्यक नहीं है) और पिछली पंक्तियाँ उन्हें पीछे से स्पर्श करती हैं। अब अवरोध का और उच्च दाब का प्रादुर्भाव केन्द्र में नहीं होगा, बल्कि केन्द्र के चारों ओर कुछ दूरी पर निर्मित वलय (Ring) में होगा। सभी श्रेणियों के दाहिनी ओर मुड़ने पर यही परिणाम होता है; लेकिन आगे आनेवाली श्रेणियाँ पीछे की श्रेणियों की अपेक्षा अधिक मुड़ जाती हैं।

परिस्थितियाँ कुछ हद तक वैसी ही रहती हैं जैसी परिभ्रमणशील पृथ्वी पर ऊपरी स्रोतों के भूमध्य रेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर चलने के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। उत्तर दिशा की ओर चलते समय वे दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं। ध्रुवीय दाब में किसी प्रकार का परिवर्द्धन करने के बदले ये भूमध्य रेखा तथा ध्रुव के बीच उच्च दाब के वलय का निर्माण करती हैं। धरातल पर इस उच्च दाब के फलस्वरूप एक अन्तःस्रोत का प्रादुर्भाव होगा जो भूमध्य रेखा तथा ध्रुव दोनों की ओर प्रवाहित होगा।

इस निदर्शन से संभवतः पता चलेगा कि परिभ्रमणशील पृथ्वी पर प्रमुख उच्च दाब ध्रुव पर क्यों नहीं रहता। लेकिन यह एक जटिल समस्या है; और वायुमण्डल के सामान्य वायु-संचार का गणित सिद्धान्त अभी बहुत अधूरा है।

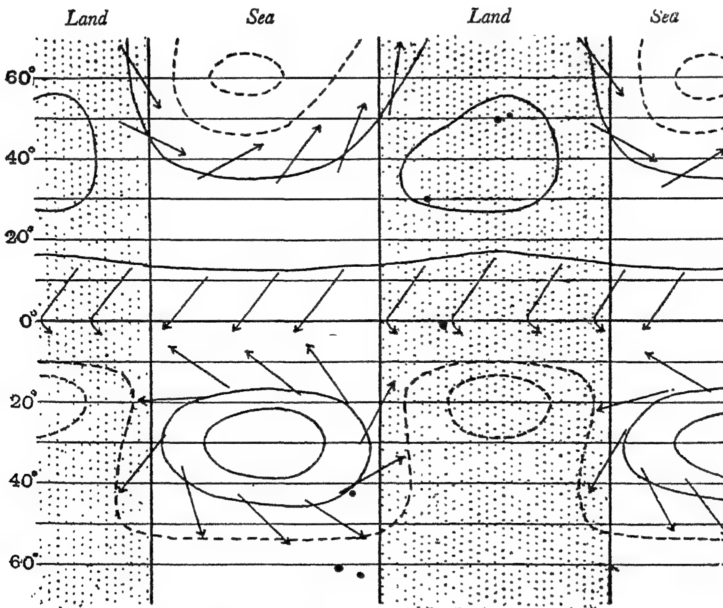
ऋतु सम्बन्धी परिवर्त्तन (Seasonal Changes)—यदि सूर्य भूमध्य रेखा पर सर्वदा लम्ब रहता तो उच्च तथा निम्न दाब की पट्टियों का स्थान वहाँ पर अपरिवर्तित रहता। लेकिन हमलोगों के यहाँ जब ग्रीष्म रहता है तब सूर्य कर्क रेखा के ऊपर रहता है और इसके बाद जब हमारे यहाँ शीतकाल रहता है तब मकर रेखा पर। दाब की पट्टियाँ भी सूर्य की आपात गति के साथ गतिशील रहती हैं। किन्तु वे उसी अनुपात में गतिशील नहीं रहतीं। उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में भूमध्य रेखीय निम्न दाब की पट्टी भूमध्य रेखा से कुछ अंश उत्तर रहती है और दक्षिणी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में इससे कुछ अंश दक्षिण। लेकिन इससे भी बड़े-बड़े परिवर्त्तन होते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में जब शीत-ऋतु रहती है तब यहाँ के भूभाग निकटवर्ती समुद्रों की अपेक्षा बहुत अधिक सर्द हो जाते हैं। अतः वे समुद्र उच्च दाब के क्षेत्र बन जाते हैं। फलतः

उष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब की पट्टी अमेरिका और एशिया महादेशों में उत्तर की ओर फैल जाती है।

उस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु रहती है; इसलिए दक्षिणी गोलार्द्ध में भूभाग समुद्र की अपेक्षा बहुत अधिक सर्द रहते हैं। वे वहाँ निम्न दाब के क्षेत्र बन जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में उच्च दाब की पट्टी दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में फैल जाती है।

उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु में, जब दक्षिणी गोलार्द्ध में शीतऋतु रहेगी, परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उत्तरी गोलार्द्ध के महादेशों में उच्च दाब की पट्टी में व्याघात (Interruption) उत्पन्न हो जाता है, लेकिन दक्षिणी गोलार्द्ध के महादेशों में फैल जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में महादेशों के आयतन के छोटे होने के कारण उत्तरी गोलार्द्ध की तुलना में इसका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट होता है।

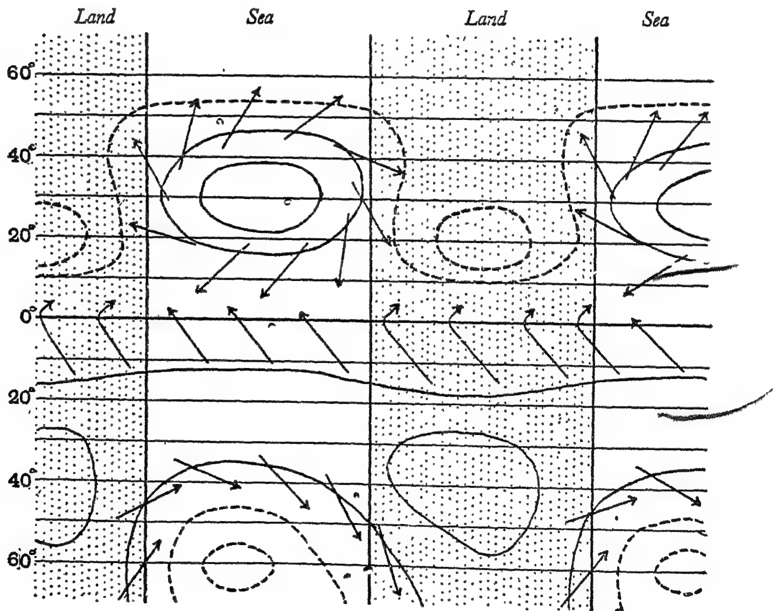
दाब की अवस्थिति तथा प्रसार के ये परिवर्त्तन चित्र १३ और १४ में वायुस्थिति चित्रों द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। यह मान लिया गया है कि इन चित्रों में भूमि और समुद्र की पट्टियाँ एकान्तरिक रूप से (alternately) उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई हैं।



चित्र १३—जनवरी महीने में जमीन और समुद्र-सतह पर दाब के वितरण।
३० इंच से ऊपर वाली समदाब रेखाएँ अविच्छिन्न रेखाओं द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं और ३० इंच से कम वाली भग्न रेखाओं से।

महादेशीय पुंजों पर दाब के बहुत विस्तृत रूप से फैलने के कारण उनका हवाओं पर अनुरूप प्रभाव पड़ेगा। हवाएँ सदा उच्च दाब वाले क्षेत्रों से चलेंगी। लेकिन गोलार्द्ध के अनुसार ये अपने मार्ग से दाहिनी या बाईं ओर मुड़कर बढ़ेंगी। इनकी दिशाएँ चित्रों में प्रदर्शित की गयी हैं।

पट्टियों के उत्तर से दक्षिण स्थानान्तरित होने तथा पुनः प्रत्यावर्त्तित होने से सामयिक परिवर्तन होते हैं, इनके अतिरिक्त सब से महत्त्वपूर्ण सामयिक परिवर्त्तन महादेशों के पूर्वी भागों में होता है। यहाँ शीतकालीन हवाएँ भूमध्य रेखा की ओर मुड़ जाती हैं और ग्रीष्मकालीन हवाएँ ध्रुव की ओर। उनकी यथार्थ दिशा तथा अक्षांश में उनका विस्तार दोनों महादेशीय पुंज की आकृति पर निर्भर करेंगे। इस तरह का परिवर्त्तन वस्तुतः दक्षिणी-पूर्वी एशिया में सबसे अधिक सुस्पष्ट होता है जहाँ इससे मौसमी हवाओं का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु, ठीक इसी तरह का प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी-पूर्वी भाग और अन्य स्थानों में दृष्टिगोचर होता है। रेखाचित्रों से पता चलता है कि महादेशीय प्रभाव के अतिरिक्त भूमध्य रेखा के निकट हवाओं में कुछ इसी प्रकार के सामयिक परिवर्त्तन होते हैं क्योंकि उत्तरी गोलार्द्ध की शीतऋतु में निम्नतम दाब की रेखा भूमध्य रेखा से दक्षिण रहती है और ग्रीष्मकाल में भूमध्य रेखा से उत्तर।



चित्र १४—जुलाई में स्थल तथा समुद्र-सतह पर दाब के वितरण का चित्र। ३० इंच से ऊपरवाली सम दाब रेखाएँ अविच्छिन्न रेखाओं तथा ३० इंच से कमवाली भग्न रेखाओं के रूप में प्रदर्शित की गयी हैं।

(५) जल पर जो उष्मा पड़ती है उसका अधिकांश भाग प्रत्यावर्तित हो जाता है ; अतः इसके ताप को वह नहीं बढ़ाती । भूपटल खराब परावर्त्तक (Reflector) हैं । लेकिन इस प्रक्रिया में बहुत कम उष्मा का क्षय होता है ।

(६) साधारणतया स्थल की अपेक्षा महासागरों के ऊपर आकाश अधिक मेघाच्छन्न रहता है। मेघ (बादल) सूर्य की किरणों को अवरुद्ध कर देते हैं, परन्तु साथ ही वे विसर्जित उष्मा का क्षय भी रोकते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि जल का तपन तथा शीतन, दोनों मन्द गति से होते हैं ।

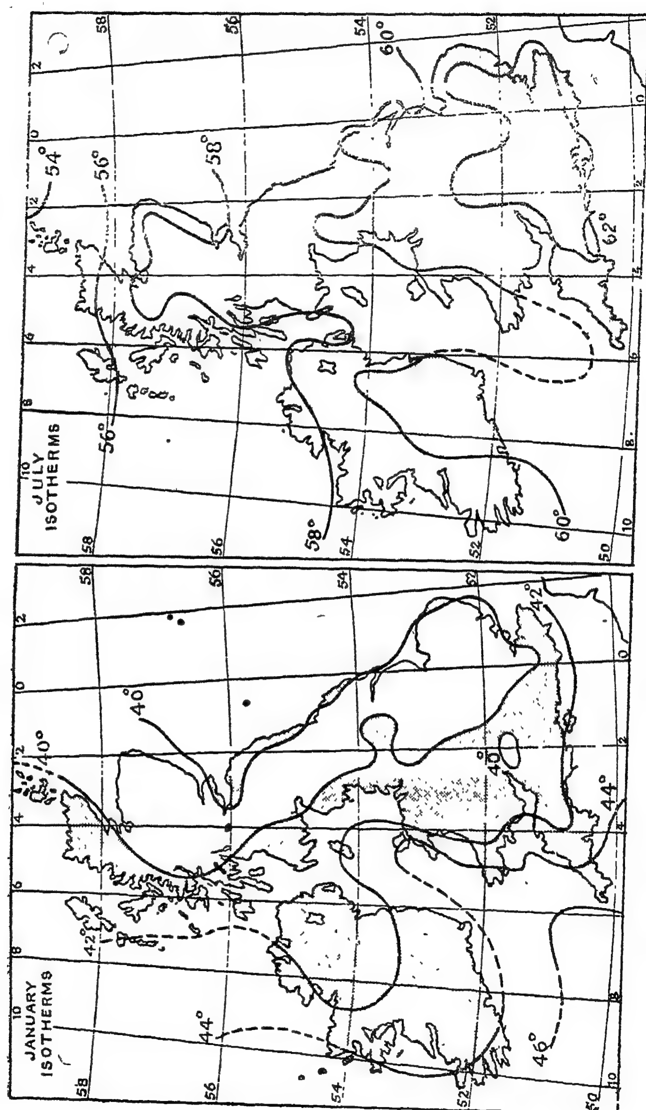
इन सब कारणों से जल स्थल की अपेक्षा अधिक मन्द गति से गर्म होता है ; और ५ वें तथा ६ ठे नियमों को छोड़ शेष इसे अपेक्षाकृत अधिक मन्द गति से शीतल होने को अभिप्रेरित करते हैं ।

ब्रिटिश द्वीपपुंज में ताप का वितरण (Distribution of temperature in the British Isles)—स्थल तथा जल का अन्तर बहुत स्पष्ट रूप से (चित्र २४ में) ब्रिटिश द्वीप समूह के ग्रीष्म और शीत कालीन ताप के वितरण द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

जुलाई वाले मानचित्र को देखने से पता चलेगा कि समताप रेखाओं की साधारण दिशा पूरब से पश्चिम की ओर है, किन्तु वे स्थल पर उत्तर की ओर उभड़ जाती हैं, और समुद्र में दक्षिण की ओर उच्चतम ताप लन्दन के आसपास रहता है । जनवरी वाले मानचित्र में समताप रेखाओं की दिशा स्थूल रूप से उत्तर और दक्षिण की ओर रहती है । इसमें उच्चतम ताप पश्चिन की ओर रहता है । वे स्थल पर दक्षिण की ओर उभड़ती हैं और समुद्र में उत्तर की ओर ।

जुलाई में सूर्य दिन में अधिक देर तक ऊपर रहता है, इसलिए रातें छोटी होती हैं । रात में विकिरण से जितनी उष्मा क्षय होती है, उसकी अपेक्षा दिन में सूर्य से अधिक उष्मा मिलती है । अतः तापमान स्थल और समुद्र दोनों पर बढ़ता ही रहता है । यह ताप दक्षिण में, जहाँ सूर्य सब से अधिक प्रबल रहता है, बहुत तेजी से ऊपर उठता है जिसके फलस्वरूप समताप रेखाओं की दिशा साधारणतया पूर्व-पश्चिम की ओर रहती है । परन्तु स्थल पर ताप समुद्र की अपेक्षा बहुत तेजी से बढ़ता है ; और इसलिए उसी अक्षांश पर स्थल समुद्र से ज्यादा गर्म हो जाता है । उच्चतम ताप बिल्कुल दक्षिण में नहीं रहता, क्योंकि सामुद्रिक तट इंगलिश जल-प्रणाली के जल से शीतल हो जाते हैं; अतः यह (उच्चतम ताप) देश के कुछ अन्दर लन्दन के आसपास रहता है । इसके अतिरिक्त यद्यपि समताप रेखाओं की दिशा साधारणतया पूर्व-पश्चिम की ओर रहती है, वे स्थल पर ध्रुव की ओर उभड़ती हैं और समुद्र में भूमध्य-रेखा की ओर ।

जनवरी में सूर्य सर्वदा नीचे रहता है, यहाँ तक कि मध्याह्न में भी । फलतः इसकी किरणों में बहुत कम शक्ति रहती है । दिन छोटे तथा रातें बड़ी होती हैं । दिन में जितनी उष्मा प्राप्त होती है, उससे ज्यादा रात में क्षय हो जाती है ; अतः स्थल और जल, दोनों शीतल होते रहते हैं । किन्तु जल स्थल की अपेक्षा ज्यादा देर में ठंडा होता है और इसलिए जनवरी महीनो के आते-आते स्थल समुद्र से बहुत अधिक ठंडा हो जाता है । इस ऋतु में अन्तर इतना अधिक हो जाता है और साथ ही सूर्य की किरणें भी इतनी मन्द पड़ जाती हैं कि सूर्य की अपेक्षा

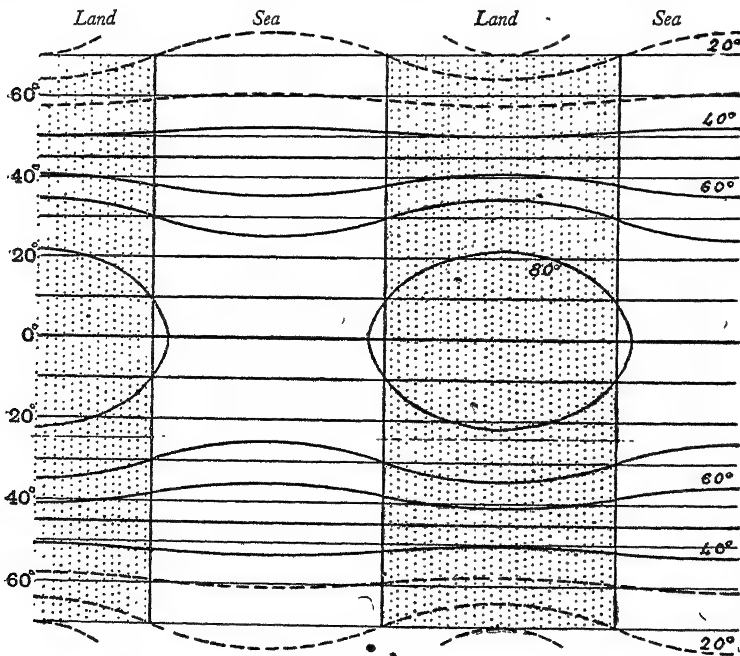


चित्र २४: ब्रिटिश द्वीपों की समताप रेखाओं में जनवरी तथा जुलाई का तापमान
(विलहम की The Climate of the British Isles से)

अटलांटिक महासागर ही उष्मा का अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत बन जाता है। फलतः जनवरी में समताप रेखाएँ स्थूल रूप से अटलांटिक महासागर के किनारे के समानान्तर रहती हैं; और ब्रिटिश द्वीप-समूह का दक्षिणी भाग नहीं, प्रत्युत् पश्चिमी भाग सब से उष्ण रहता है। आयरिश तथा उत्तर सागर दोनों पार्श्व स्थल की अपेक्षा अधिक उष्ण रहते हैं; इसलिए समताप रेखाएँ समुद्र में ध्रुव की ओर उभड़ती हैं और स्थल पर भूमध्य रेखा की ओर।

इसलिए ब्रिटिश द्वीप समूह में, जब मध्याह्न में, सूर्य आकाश में बहुत ऊँचा रहता है, तब स्थल समुद्र से अधिक गर्म रहता है। इसलिए समताप रेखाएँ समुद्र में भूमध्य रेखा की ओर उभड़ती हैं और स्थल पर ध्रुव की ओर। और जब अपराह्न में सूर्य नीचे चला जाता है तब स्थल समुद्र से ठंडा रहता है। अतः समताप रेखाएँ स्थल पर भूमध्य रेखा की ओर उभड़ती हैं तथा समुद्र में ध्रुव की ओर।

भूमण्डल पर ताप का साधारण वितरण (General distribution of temperature over the globe): यह एक साधारण सिद्धान्त है;



चित्र २५: तापमान के साधारण वितरण पर महाद्वीपों तथा महासागरों का प्रभाव

अतः यह समग्र पृथ्वी पर प्रयुक्त होता है। भूमध्य रेखा की ओर जहाँ सूर्य मध्याह्न में सर्वदा ऊपर रहता है, वहाँ पर इंगलैंड के ग्रीष्म जैसी परिस्थितियाँ

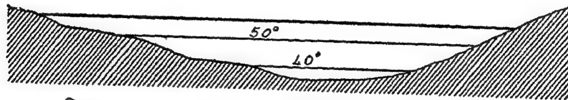
रहती हैं और ध्रुवों की ओर जहाँ सूर्य सर्वदा नीचे रहता है, वहाँ इंगलैंड के शीत काल वाली परिस्थितियाँ रहती हैं। इसलिए भूमध्य रेखा के निकट स्थल पर समताप रेखाएँ ध्रुव की ओर उभड़ती हैं, तथा समुद्र में भूमध्य रेखा की ओर; और ध्रुवों की ओर इनके उभाड़ विपरीत दिशाओं में होते हैं। इन दोनों के बीच वाले अक्षांश पर स्थल और समुद्र दोनों का तापमान प्रायः एक ही रहेगा। अतः समताप रेखाएँ प्रायः सीधी रहेंगी। इसलिए ताप का साधारण वितरण चित्र २५ जैसा निरूपित किया जा सकता है जिसमें स्थल और समुद्र एकान्तरिक पट्टियों में उत्तर तथा दक्षिण फैले हुए हैं। महासागर के मध्य में वे ही ताप रहेंगे जो उसी अक्षांश में दक्षिणी प्रशान्त महासागर के मध्य में पाये जाते हैं; तथा स्थलीय पट्टियों के ताप भी उसी तरह लिए जाते हैं जैसे पूर्वी गोलार्द्ध के महादेशों के ताप।

इस रेखाचित्र (diagram) की संसार के मानचित्र के साथ, जो वास्तविक वार्षिक समताप रेखाओं को प्रदर्शित करता है (मानचित्र ४), तुलना करने पर पता चलेगा कि दोनों में साधारण सामंजस्य (correspondence) है। यदि, उदाहरणार्थ, हम ३०° समताप रेखा उत्तरी गोलार्द्ध में पश्चिम से पूर्व की ओर खींचते हैं तो हमें पता चलता है कि यह प्रशान्त महासागर में ध्रुव की ओर उभड़ती हैं, उत्तरी अमेरिका में भूमध्य रेखा की ओर, अटलांटिक महासागर में ध्रुव की ओर और पुनः एशिया महादेश में भूमध्य रेखा की ओर। दक्षिणी-गोलार्द्ध में उभाड़ बहुत कम स्पष्ट रहते हैं क्योंकि वहाँ स्थल-पुंज संकीर्ण हैं।

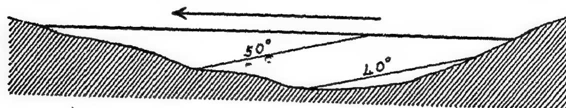
इसके विपरीत भूमध्य-रेखा के निकट उत्तरी गोलार्द्ध में ८०° समताप रेखा अटलांटिक महासागर में भूमध्य रेखा की ओर उभड़ती है तथा उत्तरी अमेरिका और आफ्रिका में ध्रुवों की ओर।

४५° उत्तर अक्षांश के आसपास ५०° समताप रेखा स्थल और जल के वितरण से अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभावित होती है, और अक्षांश के समानान्तर रेखा से विचलन नहीं करती जिससे यह सूचित होता है कि स्थल और समुद्र के ताप में कम अन्तर होता है।

वाहनिक हवाओं का प्रभाव (Effects of prevalent winds)—इस तरह रेखाचित्र ताप के वास्तविक वितरण को स्थल तथा समुद्र पर बहुत ही



चित्र २६ : शांत जल की झील में समताप रेखायें



चित्र २७ : झील में समताप रेखायें जब कि पवन चल रहा हो

समुचित रूप से निरूपित करता है, लेकिन तभी जब हम महादेशों की आकृति के अन्तर के लिए छूट देते हैं। चित्र में उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध में समताप रेखाएँ

महासागर के मध्य में भूमध्य रेखा से सबसे ज्यादा दूर और स्थल के मध्य में निकटतम पड़ती हैं; चित्र में अमेरिका तथा यूरोप के पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर वे सब से ज्यादा दूर हैं, और अमेरिका तथा एशिया के पूर्वी सामुद्रिक तटों के सन्निकट।

वाहनिक हवाओं का प्रभाव यही है। ताप का वितरण हवाओं से दो तरह से प्रभावित होता है। हवा (Wind), वायु के एक जगह से दूसरी जगह जाने को ही कहते हैं; अतः, यह एक जगह के ताप को दूसरी जगह ले जाती है। न तो वायु का व्यतिहरण (interchange) और न ताप का संक्रमण (interference) ही पूरा होता है; किन्तु फिर भी यह बहुत महत्वपूर्ण होता है।

हवाएँ जलराशि की ऊपरी परतों को भी उसी दिशा की ओर गतिमान कर देती हैं जिस दिशा की ओर वे खुद चलती रहती हैं। हवाओं के न रहने पर सब से गाढ़ा तथा ठंडा जल उसके तल में रहेगा, सब से उष्ण तथा हल्का जल सतह पर और जल पर समतापीय सतहें अनुप्रस्त रहेंगी जैसा चित्र (२६) में दिखाया गया है। जब हवा तीर की दिशा (चित्र २७) में चलती है तब उष्ण जल हवा की दिशा वाले सामुद्रिक तट की ओर परिवाहित हो जाता है। अपेक्षाकृत अधिक शीतल जल उसकी विपरीत दिशा में सतह पर आता है और समताप रेखाएँ विस्थापित (displaced) हो जाती हैं जैसा चित्र में प्रदर्शित किया गया है। इसका परिणाम यह होता है कि सामुद्रिक तट जिसकी ओर हवा चल रही है, उसका ताप बढ़ जाता है तथा, उसके विपरीत, दूसरे सामुद्रिक तट का ताप कम हो जाता है।

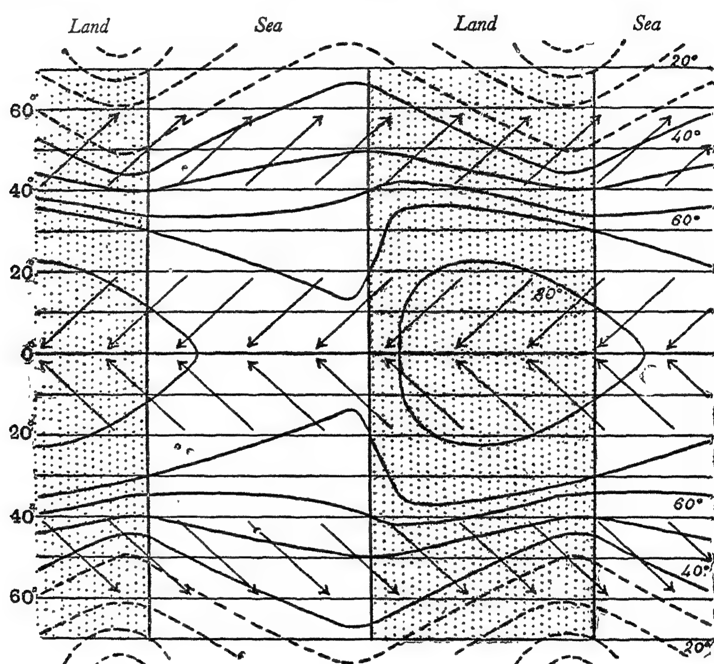
४०° उत्तर अक्षांश के उत्तर हवाएँ दक्षिण-पश्चिम से आती हैं। अतः, वे महासागरीय जल की ऊपरी सतह को पूर्व की ओर गतिमान कर देती हैं। इस तरह वे महादेशों के पश्चिमी सामुद्रिक तटों को उष्ण कर देती हैं और उनके पूर्वी सामुद्रिक तटों पर हवाएँ उष्णतर समुद्र से आती हैं; और पूर्वी सामुद्रिक तटों पर स्थल के अधिक शीतल मध्य भाग से। अतः इस प्रकार भी वे पश्चिमी सामुद्रिक तटों के ताप को बढ़ा देती हैं और पूर्वी सामुद्रिक तटों के ताप को कम कर देती हैं।

तब, यदि हम रेखाचित्र (चित्र २५) को बदल देना चाहें जिससे हवाओं का प्रभाव प्रदर्शित हो सके, तो हमें महादेश के पूर्वी सामुद्रिक तट पर ४०° समताप रेखा को भूमध्य रेखा की ओर निकटतर रखना पड़ेगा और इसके पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर इससे बहुत दूर रखना पड़ेगा। इसी तरह और सभी समताप रेखाओं को भी दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं के क्षेत्र में रखना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त चूँकि महादेश का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक उष्ण रहता है, इसलिए निम्नतम ताप पूर्व की ओर विस्थापित हो जायगा। इन परिवर्त्तनों का साधारण परिणाम चित्र २८ में प्रदर्शित किया गया है।

उष्ण कटिबन्धों (कर्क तथा मकर वृत्तों) के बीच की वाहनिक हवाएँ व्यापारिक हवाएँ ही हैं। वहाँ स्थल और जल के बीच ताप का अन्तर उतना ज्यादा नहीं रहता, जितना समशीतोष्ण अक्षांशों में रहता है, जिसके फलस्वरूप हवाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव अल्प होता है। परन्तु वे जल की ऊपरी सतहों को पश्चिम की ओर गतिमान कर देती हैं और इस तरह महादेशों के पूर्वी सामुद्रिक तटों को उष्ण कर देती हैं। वहीं पर इसके विपरीत इनके पश्चिमी सामुद्रिक तट नीचे से ठंडा जल के निरंतर आते रहने के कारण ठंडे हो जाते हैं। इसलिए उष्ण कटिबन्ध के अन्दर साधारणतया

महादेशों के पूर्वी सामुद्रिक तटों पर हवाओं के न रहने पर जितने उष्ण रहते, उसकी अपेक्षा अधिक उष्ण रहते हैं, और इनके पश्चिमी सामुद्रिक तट अपेक्षाकृत अधिक ठंड रहते हैं। रेखाचित्र में (चित्र २५) समुचित परिवर्त्तन लाने के लिए हमें स्थल-पुंज के पूर्वी सामुद्रिक तटों पर समताप रेखाओं को भूमध्य रेखा से दूर रखना पड़ेगा और इसके विपरीत इनके पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर इसके (भूमध्य रेखा के) समीपतर।



चित्र २८ : समताप रेखाओं के पथ पर हवाओं का प्रभाव

किन्तु पचिमी सामुद्रिक तटों पर वाहनिक हवाओं के स्थल से आने के कारण शीतन का प्रभाव समुद्र तट के निकटस्थ अपेक्षाकृत संकीर्ण पट्टी तक ही सीमित रह जाता है; फलतः समताप रेखा से चित्र २८ में बनी आकृति के समान ही आकृति बनती है।

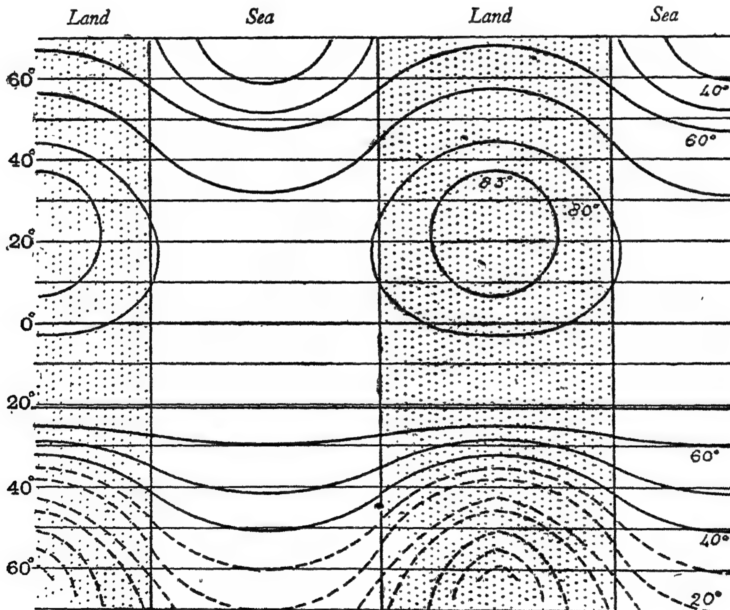
यह चित्र अब पूरा हो गया है। जब हम वाहनिक हवाओं के प्रभाव पर विचार करते हैं तो यह पता चलता है कि यह स्थल और समुद्र के ताप के साधारण वितरण को रेखाचित्र (diagrammatically) के रूप में प्रदर्शित करता है। वास्तविक समताप रेखाओं के मानचित्र से इसकी तुलना करने पर एक सन्निविष्ट सामंजस्य का पता लगता है। अन्तर प्रायः नितान्त रूप से महादेशीय आकृति के कारण होते हैं; और उनका प्रभाव हवाओं की दशा पर पड़ता है।

सामयिक परिवर्त्तन (Seasonal Variations)—रेखाचित्र (चित्र २८) और मानचित्र (मानचित्र ४)—दोनों में समताप रेखायें वे हैं जो वार्षिक समताप रेखाओं के नाम से अभिहित हैं। वे जिन स्थानों से गुजरती हैं, उनके वर्षभर के औसत ताप का प्रदर्शन करती हैं। किन्तु, समताप रेखाएँ महीना या किसी अन्य अवधि के ताप के प्रदर्शनार्थ भी खींची जा सकती हैं; और ये वार्षिक समताप रेखाओं से भिन्न होंगी।

उत्तरी गोलार्द्ध में साधारणतया जुलाई सब से गर्म और जनवरी सब से सर्द महीना है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि जुलाई वाली समताप रेखाएँ ग्रीष्म कालीन ताप का साधारण-वितरण प्रदर्शित करती हैं और जनवरी वाली समताप रेखाएँ शीतकालीन (मानचित्र ५ और ६) ताप के साधारण वितरण को।

यह शीघ्र ही पता चलेगा कि ऋतुएँ केवल वास्तविक ताप में ही बड़े-बड़े परिवर्त्तन नहीं लातीं, प्रत्युत् ताप के वितरण में भी लाती हैं। जुलाई वाली समताप रेखाओं का पथ जनवरी वाली समताप रेखाओं के पथ अथवा वार्षिक समताप रेखाओं से बहुत भिन्न होता है।

चित्र २५ वाले वार्षिक समताप रेखाचित्र को लेकर इस बात पर विचार करने से कि जुलाई के लिए इसमें परिवर्त्तन किस प्रकार सम्भव है, परिवर्त्तनों की सामान्य प्रकृति तथा उनके कारण, दोनों बहुत सरलता से समझ में आ जायेंगे।

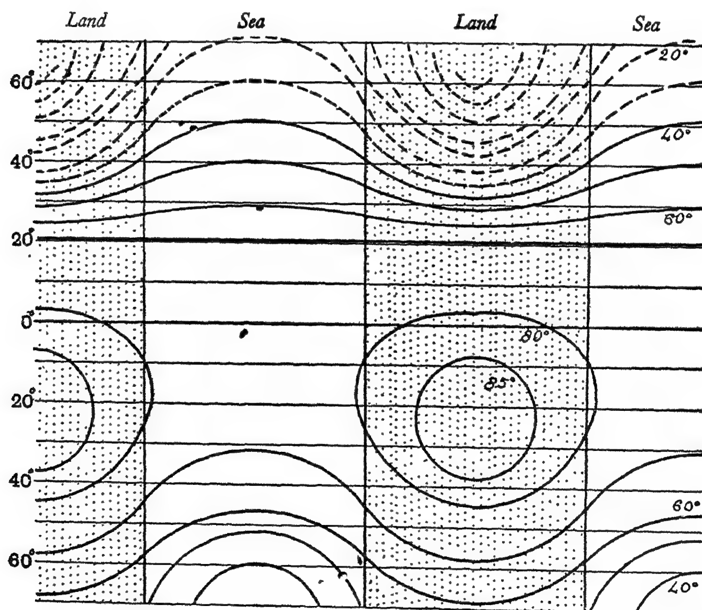


चित्र २९ : जुलाई के ताप के साधारण वितरण का रेखाचित्र

इस रेखाचित्र में महादेश का ४५° उत्तर अक्षांश के उत्तर वाला भाग समुद्र की अपेक्षा अधिक सर्द रहता है। लेकिन जुलाई में ऐसा नहीं होता। उस समय उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म रहता है; और इसलिए यहाँ के महादेश समुद्रों से अधिक उष्ण रहेंगे। इसलिए समताप रेखाओं के उभाड़ विपर्ययित हो जायेंगे और समुद्र में दक्षिण की ओर अभिमुख रहेंगे एवं स्थल पर उत्तर की ओर तथा निम्नतम ताप महासागर में पाया जायगा, स्थल पर नहीं।

उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत परिवर्त्तन अपेक्षाकृत कम होगा। यहाँ स्थल समुद्र से सर्वदा अधिक उष्ण रहता है। जुलाई में यह अन्तर भूमध्य रेखा के उत्तर की ओर बढ़ जायगा और इसके (भूमध्य रेखा के) दक्षिण में कुछ कम हो जायगा। अतः उच्चतम ताप वार्षिक रेखाचित्र में अपने स्थान से कुछ उत्तर में रहेगा।

दक्षिणी गोलार्द्ध में, जुलाई का महीना शीत ऋतु का मध्य रहता है। उष्ण कटिबन्ध के बाहर स्थल समुद्र की अपेक्षा अधिक सर्द रहेगा, यहाँ तक कि यदि हम साल के औसत ताप को भी मानते हैं, तब भी यह (स्थल) अधिक सर्द रहता है। जैसा कि रेखाचित्र (चित्र २५) तथा वार्षिक समताप रेखाओं के मानचित्र (मानचित्र ४) में प्रदर्शित किया गया है। किन्तु शीतकाल में अन्तर प्रबल हो जायगा, जिसके



चित्र ३० : जनवरी के ताप के साधारण वितरण का रेखाचित्र

फलस्वरूप समताप रेखाओं के उभाड़ उसी दिशा में रहेंगे जिस दिशा में रेखाचित्र में हैं, परन्तु ये अधिक स्पष्ट रहेंगे।

इन सब परिवर्त्तनों का प्रभाव चित्र २९ में प्रदर्शित किया गया है जो जुलाई की समताप रेखाओं का रेखाचित्र है, ठीक चित्र २५ की तरह जो वार्षिक समताप रेखाओं का रेखाचित्र है।

जनवरी के रेखाचित्र (चित्र ३०) पर विस्तारपूर्वक विचार करना उतना आवश्यक नहीं है। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में शीत और दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म रहता है। दोनों गोलार्द्धों की परिस्थितियों का विनिमयन (interchange) हो जाता है तथा रेखाचित्र जुलाई वाले विपर्ययित रेखाचित्र के समान रहता है। वस्तुतः यदि जुलाई वाले रेखाचित्र के उत्तरी (अथवा दक्षिणी) किनारे पर एक दर्पण खड़ा कर दिया जाता है तब उसका प्रतिबिम्ब ठीक जनवरी वाले रेखाचित्र के समान होगा।

ताप का विस्तार (Range of Temperature)—किसी स्थान के ग्रीष्म तथा शीत काल के ताप का अन्तर उस स्थान के ताप के वार्षिक विस्तार के नाम से अभिहित है। किन्तु ग्रीष्म तथा शीत काल के ताप आदि शब्दों के अनुसार वाक्यांश के विभिन्न अर्थ होंगे।

यथार्थ रूप से यदि कहा जाय तो विस्तार उक्त प्रसंग में किसी समय अनुभूत उच्चतम तथा न्यूनतम ताप के बीच का अन्तर ही है। यही ताप का वास्तविक विस्तार है। लेकिन उच्चतम तथा न्यूनतम ताप प्रति वर्ष बराबर नहीं रहेंगे और यदि हम उनके कई वर्षों के औसत को लें तो उनके अन्तर का मध्यमान वार्षिक चरम विस्तार (mean annual extreme range) कहा जा सकता है, अथवा सामान्यतः वार्षिक चरम विस्तार।

उच्चतम तथा न्यूनतम ताप कभी-कभी होते हैं और साथ ही वे अल्प समय तक रहते हैं। सब से गर्म तथा सब से सर्द महीने के औसत ताप की तुलना द्वारा ग्रीष्म तथा शीत कालीन ताप के बीच के अन्तर का आशय शायद और अच्छी तरह व्यक्त किया जाता है। इनके बीच का अन्तर ही मासिक मध्यमान तापों का विस्तार है और यही अन्तर है जिसे प्रायः वार्षिक विस्तार अथवा मध्यमान वार्षिक विस्तार कहा जाता है।

ब्रिटिश द्वीप समूह के अधिकांश स्थानों में जुलाई सब से गर्म महीना रहता है और जनवरी सब से सर्द जिससे उनके तापों का अन्तर ही ताप का वार्षिक विस्तार होता है। जुलाई में दक्षिण की ओर उच्चतम ताप रहता है और उत्तर की ओर घटता जाता है; तथा जनवरी में यह (उच्चतम ताप) पश्चिम की ओर रहता है तथा पूर्व की ओर घटता जाता है। इससे पता चलता है कि (ताप का) वार्षिक विस्तार सर्वत्र एक-सा नहीं रहता। उत्तर-पश्चिम की ओर यह न्यूनतम रहता है, जहाँ जनवरी में ताप अधिक रहता है और जुलाई में कम; तथा दक्षिण-पूर्व में सब से ज्यादा रहता है जहाँ जनवरी में ताप कम रहता है एवं जुलाई में ज्यादा।

ताप का विस्तार यूरोप महादेश तक बराबर बढ़ता जाता है और यह प्रायः एशिया के पूर्वी सामुद्रिक तटों तक चला जाता है। निम्नांकित सारणी में देशान्तर, वार्षिक मध्यमान ताप, जनवरी तथा जुलाई के ताप और बहुत से स्थानों के वार्षिक विस्तार दिए गये हैं; ये सब के सब प्रायः एक ही अक्षांश पर पड़ते हैं।

मध्यमान वार्षिक

स्थान	उत्तर अक्षांश	पूर्व देशान्तर	ताप	जनवरी	जुलाई	विस्तार
कैम्ब्रिज	५२° १३′	०° ६′	४८·६°	३७·६°	६१·५°	२३·९°
यूट्रेच	५२° ६′	५° ११′	४८·०°	३४·२°	६२·६°	२८·४°
हनोवर	५२° २२′	९° ४५′	४७·१°	३२·७°	६१·१°	३०·४°
बर्लिन	५२° ३०′	१३° २३′	४७·३°	३१·३°	६४·६°	३३·३°
पोजेन	५२° २५′	१६° ५६′	४६·६°	२९·३°	६५·५°	३६·२°
वारसा	५२° १३′	२१° ०′	४५·१°	२५·९°	६५·८°	३९·९°
ताम्बौव	५२° ४४′	४१° २८′	४०·८°	११·३°	६८·९°	५७·६°
इर्कुटस्क	५२° १६′	१०४° १९′	२१·३°	५·४°	६५·१°	७०·५°

यह स्मरण रखना चाहिए कि इर्कुटस्क उपरोक्त सारणी के सभी स्थानों की अपेक्षा वहुत ऊँचे स्तर पर अवस्थित है, मध्यमान ताप सन् १९१० के पहले के विभिन्न कालों में लागू होते हैं। सन् १९०६-३५ तक कैम्ब्रिज में जनवरी का ताप ३९·५° और जुलाई का ताप ६१·७° था।

यूरोप के अन्य स्थानों में शीतकाल में ताप को इसी तरह सूक्ष्म रूप से बढ़ते देखा गया है; लेकिन यह तर्क को पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं करता।

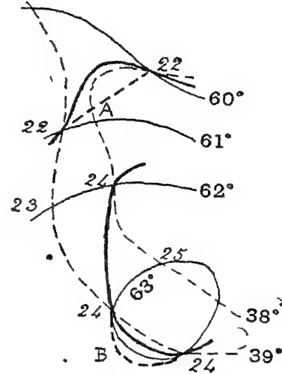
इसी तरह सम शीतोष्ण क्षेत्रों के सभी महादेशीय पुंजों में विस्तार में वृद्धि होते देखी गई है। पश्चिमी सामुद्रिक तट (वार्षिक औसत के रूप में) पूर्वी सामुद्रिक तटों की अपेक्षा केवल अधिक उष्ण ही नहीं हैं, बल्कि वहाँ एक रूप से बहुत अधिक ताप भी रहता है। पश्चिमी सामुद्रिक तट महासागरों से आनेवाली हवाओं से प्रभावित होते हैं। फलतः उनमें भी ताप की समानता का कुछ भाव आ जाता है जो विशाल जलराशि की विशेषता है।

साइबेरिया के उत्तरपूर्व में ताप के सब से बड़े विस्तार परिलक्षित हुए हैं। इर्कुटस्क में मासिक मध्यकों (means) का विस्तार ११२·१° रहता है; वार्षिक चरम विस्तार १५८·०° और वास्तविक विस्तार (३२ वर्षों में) १८५·८° होता है। कनाडा के उत्तरी-पश्चिमी भागों में भी प्रायः उतने ही ज्यादा विस्तार पाये गये हैं। ब्रिटिश द्वीप-पुंज में मासिक मध्यमानों का सब से ज्यादा विस्तार केवल २६° के लगभग रहता है और आयरलैंड के पश्चिमी भागों में १५° के लगभग।

भूमध्यरेखीय प्रदेशों में विस्तार बहुत कम होता है। मार्शल द्वीप के जेलूइट नामक स्थान नें सब से ज्यादा गर्म तथा सबसे ज्यादा सर्द महीने के बीच का अन्तर केवल ०·८° रहता है। यहाँ के जलवायु पर समुद्र का प्रभाव पड़ता है; यहाँ तक कि इक्वेटर विले (Equatorville) जो मध्य अफ्रिका के कांगों के किनारे अवस्थित है, अन्तर २·२° से अधिक नहीं है।

उष्ण कटिबन्ध की ओर जहाँ वायु शुष्क तथा आकाश स्वच्छ रहता है, विस्तार बढ़ता जाता है, किन्तु फिर भी पूर्वी साइबेरिया और कनाडा की तुलना में यह विस्तार कम ही है। यह तो वस्तुतः तथाकथित समशीतोष्ण कटिबन्ध की बात है, जहाँ तापमान के चरम वैषम्य (extremes) का अनुभव होता है।

विस्तार-मानचित्र का निर्माण (Construction of Range Map)—साधारणतया तापमान के विस्तार को प्रदर्शित करनेवाले मानचित्र समताप रेखाओं की तरह विभिन्न बिन्दुओं पर पर्यवेक्षित विस्तार के आँकड़ों को चिह्नित करके खींचे जाते हैं। किन्तु यदि किसी क्षेत्र में जनवरी सर्वत्र सबसे सर्द महीना और जुलाई सब से गर्म महीना हो तो समताप रेखाओं के मानचित्रों द्वारा इन महीनों के वार्षिक विस्तार के लिए मानचित्र बनाना सम्भव होता है। चित्र ३१ में जुलाई वाली समताप रेखाएँ अविच्छिन्न (continuous) रेखाओं के रूप में प्रदर्शित की गयी हैं, और जनवरी वाली समताप रेखाएँ भग्न रेखाओं के रूप में। जहाँ जुलाई की ६०° वाली समताप रेखा जनवरी की ३८° समताप रेखा को पार करती है वहाँ इन तापों का, उदाहरणार्थ २२° के बीच का अन्तर ही उनका (ताप का) विस्तार है। ठीक इसी तरह प्रत्येक मिथश्छेद (intersection) पर विस्तार शीघ्र ही निर्धारित किया जा सकता है। समान विस्तारवाले बिन्दुओं को मिलाकर रेखाएँ खींचने से हमें समान विस्तार की रेखाएँ अथवा विस्तार रेखाएँ, जैसी वे कही जा सकती हैं, प्राप्त होती हैं। किन्तु इन योजक रेखाओं (connecting lines) का सीधा होना आवश्यक नहीं है। कुछ ऐसे नियम हैं जिनका इन रेखाओं के खींचते समय पालन करना आवश्यक है।



चित्र ३१ : विस्तार मानचित्र का निर्माण

विस्तार-रेखा मिथश्छेदों (intersections) के अतिरिक्त समताप रेखा को अन्यत्र कहीं नहीं काटती। उदाहरणार्थ, २२° विस्तार-रेखा को ठीक उसी तरह खींचना आवश्यक है जिस तरह मोटी अविच्छिन्न रेखा से प्रदर्शित किया गया है, न कि जैसा मोटी भग्न रेखाओं से प्रदर्शित किया गया है। यह ३८° समताप रेखा को A पर नहीं काट सकती, क्योंकि उस बिन्दु पर शीतकालीन ताप ३८° है, और ग्रीष्म-ताप ६०° से भी अधिक है; अतः विस्तार २२° से अधिक है। इसलिए २२° विस्तार-रेखा जनवरी वाली ३८° समताप रेखा को केवल वहीं काट सकती है जहाँ इसका जुलाई वाली समताप रेखा के साथ मिथश्छेद होता है।

दोनों समताप-रेखाओं को मिथश्छेदों पर विस्तार-रेखाओं से कटना चाहिए। २४° विस्तार-रेखा को B पर मोटी भग्न रेखा, जो जनवरी वाली ३९° समताप-रेखा को काटती है, लेकिन जुलाई वाली ६३° समताप-रेखा को केवल स्पर्श करती है, उसके द्वारा निर्दिष्ट दिशा में नहीं बढ़ाना चाहिए। यह B पर नहीं रह सकती, क्योंकि वहाँ जनवरी में ताप ३९° से अधिक रहता है; और जुलाई में ताप ६३° से कम रहता है; इसलिए विस्तार २४° से कम रहता है।

जनवरी तथा जुलाई वाली समताप-रेखाओं को एक दूसरी को काटने के कारण मानचित्र कई खण्डों में विभाजित हो जाता है। उपर्युक्त विस्तार रेखाएँ खींचने की रीति के अनुसार विभिन्न मानवाली दो विस्तार रेखाओं को एक ही खण्ड में कभी

नहीं रहना चाहिए। उपरोक्त रीतिसे विस्तार-रेखाएँ खींचते समय इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि एक खण्ड में विभिन्न मानवाली दो विस्तार-रेखाएँ कभी न रहें। इस नियम का प्रमाण देना अनावश्यक जान पड़ता है। लेकिन कभी-कभी मानचित्र के पार्श्व भाग की ओर जहाँ यह संदेह हो कि विस्तार-रेखा किस तरफ से मिथश्छद को काटे, वहाँ यह उपयोगी सिद्ध होता है।

ब्रिटिश द्वीप-समूह में जनवरी तथा जुलाई के समतापों से बनी इस प्रकार प्राप्त विस्तार-रेखाओं का प्रेक्षित वार्षिक विस्तारों के साथ बहुत ज्यादा सामंजस्य रहता है, क्योंकि अधिकांश स्थानों में जनवरी सबसे सर्द तथा जुलाई सब से अधिक गर्म महीना रहता है, यहाँ तक कि बड़े क्षेत्रों में भी इस नियम से शीतकाल तथा ग्रीष्म के बीच के अन्तर का बहुत अच्छा ज्ञान होता है। लेकिन जब तक उस क्षेत्र के सभी भागों में एक ही महीना सब से अधिक गर्म तथा उसी तरह एक ही महीना सब से अधिक सर्द नहीं रहेगा तब तक इससे वास्तविक वार्षिक विस्तार का पता नहीं चलेगा।

छठा अध्याय

ताप का लम्बवत् वितरण

ताप की लम्बवत् प्रवणता (Vertical gradient of temperature) :—पर्वत का शिखर उसके निम्नभाग की अपेक्षा प्रायः सदा ही अधिक सर्द रहता है। ठीक इसी तरह बैलून आरोहण (ascent) में प्रायः देखा जाता है कि बैलून जितना ही ऊपर की ओर जाता है, ताप उतना ही कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस नियम का, छोटी दूरी के लिए भी, केवल कभी-कभी ही अपवाद होता है।

फिर भी सूर्य की किरणें जितने सघन वायुमंडल को पार कर पर्वतीय पदभाग पर पहुँचती हैं, उसकी अपेक्षा कम सघन वायुमंडल को पार कर पर्वत-शिखर पर पहुँचती हैं ; फलतः हम यह सोचते हैं कि उनमें उच्चतर ताप पैदा करने की अधिक शक्ति है। वस्तुतः उनमें अपेक्षाकृत अधिक शक्ति रहती है। पहाड़ के ऊँचे भागों में जब सूर्य चमकता रहता है, तब मैदान की अपेक्षा वहाँ आदमी का मुँह अधिक तेजी से झुलसने लगता है ; और इसीलिए फोटो खींचने में सुनिश्चित रूप से कम विगोप (exposure) की आवश्यकता होती है। किन्तु इतना होने पर भी, वायु का ताप अपेक्षाकृत कम रहता है। इसका एकमात्र निष्कर्ष सम्भवतः यही होता है कि ये सूर्य की किरणें नहीं हैं, जो वायु को उष्ण बनाती हैं।

ऊँचाई की वृद्धि के फलस्वरूप ताप के गिरने की गति को ताप की लम्बवत् प्रवणता अथवा साधारणतया पतन गति (Lapse-rate) कहते हैं। यह गति समय-समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान में बदलती रहती है। लेकिन बहुत से **प्रेक्षणों** के मध्यमान लेने पर यह पता चलता है कि पहाड़ की ढालों पर परिवर्तन की औसत लम्ब गति प्रत्येक ३०० फुट आरोहण के लिए लगभग १° फा० है। स्वच्छन्द वायु में ताप के कम होने की औसत गति धरातल पर वैसी ही रहती है।

प्रायः ऐसा हुआ करता है कि छोटी-छोटी दूरियों में भी जब हम ऊपर की ओर जाते हैं तब ताप में वृद्धि होती है। ऐसी हालत में पतन-गति ऋणात्मक (negative) अथवा प्रतिलोम (inverted) हो जाती है। लेकिन ऐसे प्रतिलोम, जिस नाम से वे प्रायः पुकारे जाते हैं, बहुधा कुछ सौ फुट से ऊपर नहीं जाते। वे अधिकांशतः स्वच्छ रात्रियों (३८ और ७४ पृष्ठों से तुलना कीजिए) के पश्चात् जमीन की सतह पर होते हैं।

वायु प्रधानतः नीचे से गर्म होती है (The air is heated chiefly from below) :—वायु, विकीर्ण उष्मा (radiant heat) से अर्थात् उस उष्मा जो किसी गर्म पिंड से विकीर्ण (radiant) होती है, अनायास उष्ण नहीं होती। आंच चेहरे पर गर्म मालूम हो सकती है, तब भी बीच (intervening) की वायु बिलकुल सर्द रहती है। अग्नि से विकीर्ण उष्मा चेहरे को उष्ण कर देती है; किन्तु, जिस वायु से यह गुजरता है, उस पर अपेक्षाकृत इसका अत्यल्प प्रभाव पड़ता है। ठीक उसी प्रकार की किरणें पृथ्वी को गर्म कर सकती हैं, परन्तु वे जिस वायु से गुजरती हैं, उसे मुश्किल से प्रभावित करती हैं।

यह सत्य है कि सम्पूर्ण वायुमण्डल से आते समय सूर्य से निःसृत प्रकाश तथा उष्मा के बहुत बड़े भाग का अवशोषण (absorption) हो जाता है; और वस्तुतः यह वायुमंडल के ताप को बढ़ाने में लग जाता है। अवशोषित (absorbed) उष्मा का पूरा परिमाण अधिक रहता है, परन्तु यह इतनी विशाल वायु-राशि से होकर फैलती है कि जिसके फलस्वरूप ताप में अल्प वृद्धि होती है।

वायु समान रूप से सभी विकीर्ण उष्मा को स्वच्छन्द रीति से नहीं आने देती है। यह वर्णक्रम (spectrum) के दृश्यमान की अपेक्षा अवरक्त (infra-red) किरणों को कम स्वच्छन्दता से आने देती है। प्रथम प्रकार की किरणें प्रकाश रहित उष्मा प्रदान करती हैं और एकमात्र ये ही किरणें हैं जो उष्ण किन्तु पृथ्वी जैसे ताप-दीप्त पिंड से निःसृत होती हैं। इसी तरह पृथ्वी से विकीर्ण उष्मा का अधिकांश अनुपात वायु में अवशोषण हो जाता है। इस कारण से वायु सूर्य की किरणों की अपेक्षा पृथ्वी से उष्ण होती है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य की किरणों के बदले पृथ्वी ही वायु को उष्ण करती है।

किन्तु एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि वायु प्रधानतया पृथ्वी से ही क्यों उष्मा ग्रहण करती है। यद्यपि वायु विकीर्ण उष्मा से, जो इससे (वायु) होकर आती है, अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभावित होती है, तथापि अधिक गर्म किसी भी वस्तु के वास्तविक सम्पर्क में आने से शीघ्र ही उष्ण हो जाती है; और इसी तरह किसी भी अधिक ठंडी वस्तु के सम्पर्क में आने से ठंडी हो जाती है।

इस तरह वायु सूर्य की किरणों से अत्यल्प मात्रा में ही प्रभावित होती है। यह कुछ अंशों में पृथ्वी की विकीर्ण उष्मा अथवा पृथ्वी से निःसृत होनेवाली उष्मा से प्रभावित होती है, और उससे भी अधिक पृथ्वी के सम्पर्क में आने से। अतः यह नीचे से उष्ण होती है; इसलिए यह स्वाभाविक है कि ताप को ऊपर की ओर कम होते जाना चाहिए।

प्रयोगात्मक निदर्शन (Experimental illustration) :—शान्त तथा स्वच्छ दिन में किए जा सकने वाले अत्यन्त साधारण प्रयोग से पता चलेगा कि सूर्य की

की किरणों का वायु के ताप पर कितना कम सीधा असर पड़ता है। खुली वायु में एक तापमापी (थर्मामीटर) को लटका दीजिए, जिससे वह स्वतंत्र रूप से खुला रहे। तापमापी का पारा ऊपर उठने लगता है और तापमापी में शीघ्र ही निश्चित रूप से अधिक ताप दृष्टिगोचर होने लगता है। अब तापमापी को खुली वायु तथा धूप दोनों में स्थिरता से चारों ओर घुमाइए। आप देखेंगे कि इसके फलस्वरूप, तापमापी के स्वतन्त्र रूप से सूर्य की किरणों में पूर्ववत् खुले रहने पर भी, ताप शीघ्र ही घटने लगता है। इस अन्तर का कारण यह है कि सूर्य तापमापी को उष्ण कर देता है, परन्तु यह वायु को उष्ण नहीं करता। अतः वायु तापमापी से अधिक सर्द रहती है; और जब तापमापी को सतत रूप से ताजी हवा (fresh air) के सम्पर्क में लाने के लिए तेजी से घुमाया जाता है, तब इसका ताप घटकर वायु के ताप के बराबर हो जाता है। इसके विपरीत जब तापमापी स्थिरता से लटकता रहता है तब सूर्य तापमापी को उष्ण कर देता है, और तापमापी भी तत्काल अपने सम्पर्क में रहने वाली वायु को उष्ण कर देता है।

परन्तु जिस दिन हवा बहती रहती है, उस दिन किसी प्रकार तापमापी को वायु से सुरक्षित रखे बिना प्रयोग का निष्पादन नहीं हो सकता, क्योंकि हवा का भी वही प्रभाव होता है जो तापमापी के घुमाने से, यहाँ तक कि धीर-समीर भी लटकते हुए तापमापी के ताप को काफी कम करने के लिए पर्याप्त है। हवा से बचाने के लिए तापमापी को कुप्पी (flask) के अन्दर लटकाया जा सकता है; किन्तु उस दशा में प्रयोग उतना सन्तोषजनक नहीं हो पाता; क्योंकि लटकने और घुमानेवाले तापमापी दोनों ठीक एक ही तरह सूर्य की किरणों में खुले नहीं रहते।

ताप-परिवर्तन का ऊर्ध्वमुखी संचालन (The upward movement of changes of temperature) :—जब सूर्य चमकता रहता है, तब पृथ्वी गर्म हो जाती है और फलस्वरूप यह अपने सम्पर्कवाली वायु को भी उष्ण कर देती है। उष्मा शनैः-शनैः अंशतः चालन (conduction) द्वारा वायु की एक पर्त्त से दूसरी पर्त्त तक और अंशतः संवहन (convection) द्वारा ऊपर की ओर फैलती है। गर्म वायु के ऊपर की ओर उठने के कारण ऊपर से ठंडी वायु आकर उसका स्थान ग्रहण करती है। पृथ्वी उष्मा का प्रमुख स्रोत है जिससे वायु उष्मा ग्रहण करती है। अतः ताप ऊपर की ओर घटेगा।

यदि सूर्यास्त के पश्चात् आकाश स्वच्छ रहता है तो पृथ्वी तेजी से उष्मा का विकिरण (विसर्जित) करती है, जिसके फलःस्वरूप इसकी (पृथ्वी) सतह वायु की अपेक्षा अधिक सर्द हो जाती है जो अपने सम्पर्क वाली वायु को ठंडा कर देती है। वायु का निम्नस्तर ऊपरवाले स्तर को ठंडा कर देता है और इस तरह ऊपरवाला स्तर अपने नीचेवाले स्तर से ठंडा होकर उष्मा खोता जाता है, जिसके फलस्वरूप सर्दी फैल जाती है। इस दशा में भूमि पर ताप कम रहता है तथा ताप प्रवणता का आंशिक विपर्यय (reversal) हो जाता है।

वायु के उष्ण और शीतल होने का यही नियम है जो इफेल टावर (Eiffel Tower) से किए गए प्रेक्षणों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इफेल टावर ३०० मीटर ऊँचा (१००० फुट से कुछ कम) है, और उसके नीचे शिखर पर तथा दो-तीन प्रेक्षण-स्थलों पर वेधशालाएँ रहती हैं। निम्नांकित सारणी से निम्नतम तथा

उच्चतम स्थानों में दिसम्बर और जुलाई के महीनों में दिन भर के विभिन्न समयों के औसत ताप (फारेनहाइट अंशों में) का प्रदर्शन होता है :—
अर्धरात्रि–२ बजे रात–४ बजे रात–६ बजे सुबह–८ बजे सु०–१० बजे सुबह—मध्याह्न–२ बजे दिन–४ बजे दिन–६ बजे शाम–८ बजे रात–१० बजे रात—

दिसम्बर : निम्न स्थान

३३·८—३३·४—३३·१—३२·९—३२·७—३५·२—३७·९—३९·०—३७·६
३६·०—३५·१—३४·२—३५·१

ऊपरी स्थान

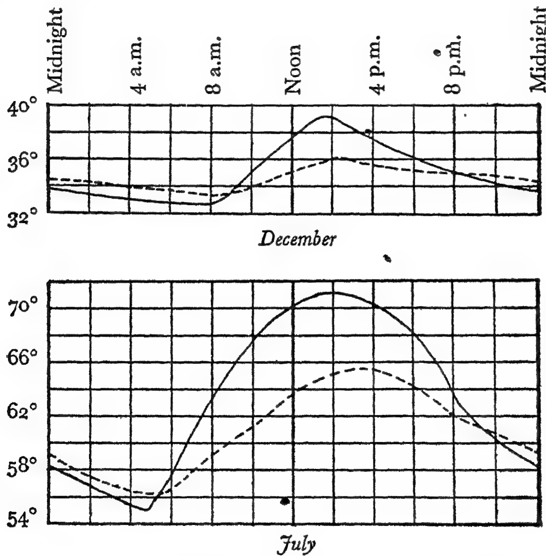
३४·५–३४·३–३३·८–३३·८३३·४–३४·०–३५·२–३६·०–३५·६–३५·२–३५·१–
३४·९–३४·७

जुलाई : निम्न स्थान

५८·१–५७·०–५५·६–५७·७–६३·३–६७·८–७०·२–७१·१–७०·२–६८·२–६३·७
६०·६–६३·७

ऊपरी स्थान

५९·२–५७·७–५६·५–५६·८–५८·३–६१·२–६३·९–६५·१–६५·५–६४·४–६२·२
६०.८–ये प्रक्षण बिन्दुरेखीय विधि से चित्र ३२ में प्रदर्शित किए गए हैं।



चित्र ३२ : इफेल टावर पर तापमान का परिवर्तन

दिसम्बर तथा जुलाई दोनों महीनों में भी मीनार के नीचे ताप उसके शिखर से अधिक है। नीचे उच्चतम ताप भी ऊपरी भाग की अपेक्षा अधिक है; किन्तु

निम्नतम ताप अपेक्षाकृत कम है। भूमि की तरह १००० फुट की ऊँचाई पर का ताप न तो उतना ज्यादा उठता और न उतना अधिक घटता ही है; अतः ताप का विस्तार कम होता है। दोनों महीनों में मीनार के नीचे का ताप सूर्य के ऊपर रहने तथा उसके कुछ देर बाद तक भी, उसके शीर्ष के ताप से ज्यादा रहता है; किन्तु सबेरे प्रातःकाल जब भूमि ठंडी हो जाती है, तब ताप की प्रवणता (gradient) विपर्ययित (reversed) हो जाती है। दिसम्बर में निचले स्थान पर निम्नतम ताप ७-२५ बजे प्रातःकाल में रहता है और ऊपरी स्थान में ७-५५ बजे। निचले स्थान पर उच्चतम ताप १-५० बजे अपराह्न में होता है और ऊपरी स्थान में २-३० बजे। इस महीने में सूर्य लगभग आठ बजे उगता है और लगभग चार बजे डूब जाता है। ज्योंही वह ऊपर जाता है त्योंही ताप का गिरना बन्द हो जाता है और बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। भूमि का ताप मध्याह्न तक बढ़ता जाता है। किन्तु आकाश में नीचे रहने के कारण सूर्य की शक्ति तेजी से क्षीण हो जाती है जिससे अपराह्न में पृथ्वी जितनी उष्मा सूर्य की किरणों से ग्रहण करती है, उससे अधिक उष्मा शीघ्रता से विकिरण द्वारा छोड़ती जाती है। अतः, स्वयं भूमि भी मध्याह्न के थोड़ी ही देर बाद सब से अधिक गर्म रहती है। निचले स्थान में वायु पर इसका प्रभाव तत्काल ही पड़ता है। तदनुसार वहाँ पर उच्चतम ताप भी प्रायः उसी समय होता है। परन्तु ऊपर वाले स्थान की वायु चालन तथा नीचे से संवहन के द्वारा उष्ण हो जाती है। इस नियम के फलीभूत होने में समय लगता है; अतः वहाँ उच्चतम ताप ४० मिनट बाद होता है।

जुलाई में निचले स्थान में निम्नतम ताप ५·० बजे सुबह होता है और ऊपर वाले स्थान में ५-५५ बजे। निचले स्थान में उच्चतम ताप लगभग २·० बजे (अपराह्न) होता है और ऊपर वाले स्थान में ३·० बजे। इस महीने में अपराह्न में सूर्य बहुत देर तक ऊपर रहता है। दो बजे या उसके बाद ही सूर्य की किरणों से प्राप्त उष्मा विकिरण के रूप में नष्ट उष्मा से कम होती है। इसलिए निचले स्थान में स्वयं भूमि तथा वायु का उच्चतम ताप भी लगभग इसी समय होता है। किन्तु ऊपर वाले स्थान में इसका प्रभाव एक घंटे बाद ही मालूम होता है।

इन प्रेक्षणों से सर्वथा स्पष्ट रूप से इस बात का पता लगता है कि वायु नीचे से ऊपर की ओर उष्ण होती है; और इसी प्रकार शीतन (cooling) भी सूर्य की शक्ति के क्षीण होने के पश्चात् नितल (bottom) पर ही प्रारम्भ होता है।

फिर भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सूर्य की किरणों का वायु के ताप पर, जिससे हो कर आती हैं, कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शुद्ध वायु पर वस्तुतः उनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है, किन्तु वायु में धूलिकणों तथा जल की बूदों के निलम्बित (suspended) रहने के कारण उनका प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। ये सूर्य की किरणों द्वारा उष्ण हो जाते हैं और अपनी उष्मा का संचार इर्द-गिर्द की वायु तक कर देते हैं। इस तरह सूर्य बादल के अन्दर की वायु को उष्ण कर दे सकता है; और यदि बादल घना रहे तो सूर्य द्वारा तप्त इसकी सतह अपने ऊपर की वायु को उष्ण कर सकती है। फिर भी विकिरण के द्वारा मेघों पर पड़ने वाला अधिकांश ताप उनपर गिरने से परावृत हो जाता है। इसके अतिरिक्त बादल की पर्त्त (cloud sheet) के रहने से सूर्यास्त के पश्चात् ताप का गिरना भी रुक जाता है।

विस्तार एवं संपीड़न के प्रभाव (Effects of expansion & compression) :—केवल वायु के नीच से ऊपर की ओर उष्ण होने के कारण ही इसका ताप ऊपर की ओर नहीं घटता, प्रत्युत् इसका एक और भी कारण है जो इसी दिशा में वायु-भार के ह्रास पर निर्भर करता है।

जब वायु किसी प्रकार के ताप के संयुक्त (added) हुए बिना ही संपीड़ित हो जाती है, तब इसका ताप बढ़ जाता है। यही प्रमुख कारण है जिससे बाइसिकिल का पम्प व्यवहार में लाने पर उष्ण हो जाता है। निस्संदेह पम्प अंशतः नाल (barrel) के अन्दर पिस्टन (piston) के घर्षण के कारण गर्म हो जाता है; किन्तु यदि इसी घर्षण से वायु गर्म होती तो हमारे तुंड (nozzle) को वायु में खोलकर रखने पर पिस्टन के पीछे तथा आगे करने से वायु भी उतनी ही गर्म हो जाती। इसके अतिरिक्त टायर में हवा भरते समय पम्प सबसे ज्यादा तुंड के निकट गर्म होता है। वहाँ पर घर्षण तो कुछ ही ज्यादा होता है, किन्तु वायु का संपीडन अत्यधिक होता है।

जब वायु को दाब के कम होने पर तथा उष्मा की वृद्धि या ह्रास के बिना फैलने दिया जाता है तब इसका ताप कम हो जाता है।

धरातल पर ऊपर की अपेक्षा दाब अधिक रहता है। यदि किसी भी प्रकार वायु को ऊपर उठने के लिए उत्प्रेरित किया जाता है, तब यह अपेक्षाकृत निम्न दाब वाले क्षेत्र की ओर चलने लग जाती है; अतः यह फैलती ही है जिससे यह अधिक ठंढी हो जाती है। इसके विपरीत, यदि ऊपरवाली वायु को नीचे की ओर चलने के लिए उत्प्रेरित किया जाता है, तब यह उच्चतर दाब वाले क्षेत्र की ओर चलती है; अतः यह संपीड़ित हो जाती है, जिससे यह अधिक गर्म हो जाती है।

वायु दो प्रकार से ऊपर उठने के लिए उत्प्रेरित की जा सकती है। यह उष्ण पृथ्वी के सम्पर्क में आने से भी गर्म हो जाती है। उष्मा के कारण वायु फैलेगी और उसके फलस्वरूप वह हल्की हो जाएगी। यदि यह इर्द-गिर्द की वायु से ज्यादा हो जाती है, तो यह भी ऊपर उसी प्रकार उठेगी, जिस प्रकार जल में तेल।

अथवा हवा पहाड़ के विरुद्ध चल सकती है। उस दशा में सर्द तथा भारी रहने पर भी वायु ढाल पर ऊपर की ओर प्रेषित (forced) हो जाएगी।

वायु अधिकतर शीतल होने के कारण नीचे आती है। यदि कोई वायु-राशि इतनी ठण्ढी हो जाती है जिससे यह अपने आस-पास की वायु की अपेक्षा अधिक भारी हो जाय तो यह गिर (sink) जायगी।

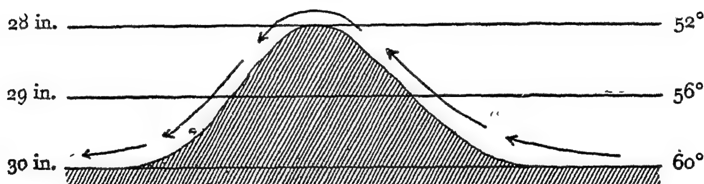
इस प्रकार वायुमण्डल की निम्न सतहों में एक से दूसरी में मिश्रित हो जाने की सतत प्रवृत्ति रहती है। कोई वायु जो नीचे की ओर चलती है वह संपीडन के कारण उष्ण हो जाती है। इसके विपरीत जो वायु ऊपर उठती है वह फैलने के कारण ठंडी हो जाती है। और इस तरह औसत ताप नीचे की ओर बढ़ता तथा ऊपर की ओर घटता है।

वायु के लम्बरूप से ऊपर की ओर जानेवाले संचलन, जैसा कि हमलोग देख चुके हैं, प्रधानतः भूमि की आकृति तथा इसके (भूमि) ताप के परिवर्तनों के कारण होते हैं। किन्तु इनका असर अधिक ऊपर की ओर ज्यादा दूर तक नहीं जा पाता है। एक खास ऊँचाई पर जाने पर इनका प्रभाव अदृश्य हो जाता है, वायु के ऊपर जाने के संचलन बंद हो जाते हैं और उस सीमा के ऊपर ताप का ह्रास नहीं होता।

स्थायी और अस्थायी संतुलन (Stable and Unstable Equilibrium):-- जब हवा पार्वत्य भाग की ओर बहती है तब इसे यांत्रिक रूप से ऊपर उठने के लिए बाध्य होना पड़ता है। शिखर पर पहुँचने के पश्चात् इसका ऊपर जाना जारी रह सकता है, अथवा पहाड़ के दूसरी तरफ नीचे की ओर यह गिर सकती है। इन दोनों में किस मार्ग का यह अनुसरण करती है, यह ताप की लम्बवत् प्रवणता अथवा पतन-गति पर निर्भर करेगा।

यदि हम उदाहरणार्थ किसी विशेष दशा को लें तो पतन-गति-प्रभाव अनायास समझ में आ जाएगी। इसे सरल करने के लिए बराबर सम संख्याओं का प्रयोग किया जाएगा। वास्तविक अंक कथित अंकों से अत्यल्प भिन्न होंगे। इसके अतिरिक्त यह मान लिया जाएगा कि वायु में जलवाष्प की मात्रा इतनी है कि वायु कहीं भी संतृप्त नहीं हो पाती है।

यदि हम शुष्क वायु से ही प्रारम्भ करें जिसका दाब ३० इञ्च और ताप ६०° है और इसके दाब को घटा कर २९ इञ्च कर दें तो उष्मा के योग अथवा उष्मा के उससे निःसरण हुए बिना ही इसका ताप घटकर ५५° हो जाता है। यदि दाब को और घटाकर २८ इञ्च कर दिया जाय तो ताप घटकर ५०° हो जायगा। और



चित्र ३३ : तटस्थ संतुलन (शुष्क वायु के लिये)

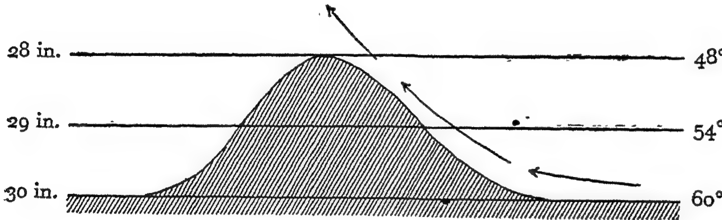
अब यदि हम दाब को बढ़ाकर २९ इञ्च कर देते हैं तो ताप पुनः बढ़कर ५५° हो जायगा और इसी प्रकार ३० इञ्च कर देने पर ताप बढ़कर पुनः ६०° हो जायगा। जब वायु में उष्मा की वृद्धि नहीं होती अथवा उससे उष्मा का निःसरण नहीं होता तो इसका स्थिरोष्म रूप से (adiabatically) फैलना कहा जाता है।

अब कल्पना कीजिए कि एक पहाड़ी है जो समुद्र की सतह से १८००फुट ऊँची है जिसके पदभाग में दाब ३० इञ्च और ताप ६०° है। ९०० फुट की ऊँचाई पर दाब २९ इञ्च होगा (समसंख्याओं का व्यवहार करते हुए जैसा उदाहरण में बराबर किया गया है) और शिखर अर्थात् १८०० फुट की ऊँचाई पर २८ इञ्च। यदि हवा इस पहाड़ी की ओर बहती है तो इसके पदभाग की वायु ऊपर की ओर बलात् प्रेरित (forced) हो जाएगी और ९० फुट ऊपर जाने पर इसका दाब केवल २९ इञ्च तथा ताप घटकर ५५° हो जायगा। जब यह शिखर पर पहुँचती है तब इसका दाब घटकर २८ इंच और ताप ५०° हो जाता है।

इन ऊँचाइयों पर वायु के वास्तविक ताप हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। अगर वे वास्तविक ताप हैं तो ऊपर की ओर बलात् प्रेरित वायु का ताप भी हमेशा वही होगा जो (ताप) उसी स्तर पर पहले से रहने वाली वायु का रहता

है; और इसलिए इसका घनत्व भी उसी के घनत्व के बराबर होगा। जब हवा बन्द हो जाती है, तब इस वायु में ऊपर की ओर उठते जाने या नीचे गिर जाने की प्रवृत्ति नहीं रहेगी। ऐसी अवस्था (निरपेक्ष समतोल दशा—state of indifferent equilibrium कहते हैं) में वायु निरपेक्ष संतुलन में रहती है। इस दशा में ताप की लम्बवत् प्रवणता ६०० फुट पर ५° फा० (चित्र ३३) रहती है। यही प्रवणता शुष्क स्थिरोष्म पतन-गति अथवा डी० ए० एल० आर० है।

किन्तु ६०० फुट पर ताप आवश्यक रूप से ५५° नहीं रहता। कल्पना कीजिए कि पहाड़ी के पदभाग में ताप ६०°, ६०० फुट पर ५४° और १८०० फुट पर (चित्र ३४) ४८° है। अब ६०० फुट के लिए प्रवणता ६° है। दाब स्वल्प रूप से परिवर्त्तित होगा। ऐसी दशा में हवा के पहाड़ी की ओर बढ़ने पर इसके पदभाग की वायु ऊपर की ओर बलात् प्रेरित हो जायगी। ६०० फुट पर इसका दाब घटकर २९ इन्च और ताप ५५° हो जाता है तथा १८०० फुट पर इसका दाब २८ इन्च, एवं ताप ५०° हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में इस बात का प्रेक्षण किया जायगा कि ऊपर उठी हुई वायु का ताप उस स्तर पर पहले से वर्त्तमान वायु के ताप से ज्यादा होगा; और इसलिए ऊपर उठने वाली वायु अपने चारों ओर की वायु से हल्की होती है। फलतः



चित्र ३४ : अस्थाई संतुलन (शुष्क वायु के लिये)

यहाँ तक कि यदि हवा बन्द भी हो जाती है तो भी ऊपर उठी हुई वायु का ऊपर की ओर जाना जारी रहता है; तथा अगर पर्वत-शिखर पर ताप की प्रवणता पहले जैसी रहती है तो यह अनिश्चित रूप से ऊपर उठती जायगी। ऐसी अवस्था में वायु अस्थायी सन्तुलन की दशा में रहती है। यह सिद्ध करना विद्यार्थी के लिए छोड़ा जा सकता है कि इस लम्बवत् प्रवणता के रहने पर यदि कोई वायु-राशि नीचे उतरने के लिए बलात् उत्प्रेरित की जाय तो यह (वायु) शक्ति के क्रियाशील रहने पर भी नीचे गिरती जायगी।

अन्त में कल्पना कीजिए कि पहाड़ी के पदभाग में ताप ६०°, ६०० फुट पर ५६° और १८०० पर ५२° (चित्र ३५) है। यहाँ लम्बवत् प्रवणता प्रत्येक ६०० फुट के लिए ४° फा० है। जब हवा पहाड़ी की ओर बहती है तब पदभाग (निम्नभाग) की वायु पहले की तरह ऊपर की ओर बलात् प्रेरित हो जाएगी। ६०० फुट की ऊँचाई पर इसका दाब २९ इन्च और ताप ५५°, १८०० फुट की ऊँचाई पर इसका दाब घट कर २८ इन्च एवं ताप ५०° हो जाता है। ऐसी अवस्था में वायु अपने ऊपर उठना प्रारम्भ कर देने पर उसी स्तर पर पहले से रहनेवाली वायु से हमेशा ज्यादा शीतल

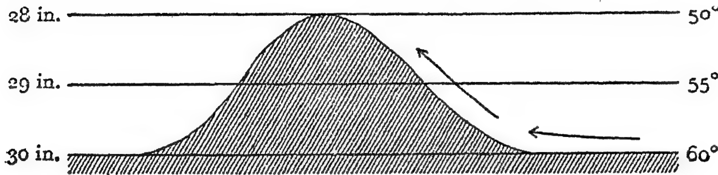
रहेगी, इसलिए यह उससे ज्यादा भारी भी होगी। अतः यदि हवा बन्द हो जाती है, तो यह पुनः गिर जाती है। यदि हवा का बहना जारी रहता है तब यह पहाड़ीके शिखर पर प्रेषित हो जाती है और तत्पश्चात् यह उसके दूसरी ओर नीचे की तरफ चली जाती है। इसे स्थायी संतुलन (Stable equilibrium) कहा जाता है। ऐसी परिस्थितियों में यह उसी प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है कि अगर कोई वायु-राशि नीचे की ओर बलात् प्रेरित (forced) की जाती है तब यह अपने चारों ओर की वायु से अधिक गर्म और हल्की हो जाती है। अतः जब शक्ति का कार्य-सम्पादन बन्द हो जाता है तब यह पुनः ऊपर उठने लगती है।

निरपेक्ष सन्तुलन (Indifferent equilibrium) की अवस्था में यदि कोई वायुराशि ऊपर अथवा नीचे की ओर बलात् प्रेरित की जाती है तब यह भी चारों ओर की वायु के बराबर ताप ग्रहण कर लेती है तथा जब शक्ति का कार्य-सम्पादन बन्द हो जाता है तब यह उसी स्थान में रहती है जिस ओर इसे अभिमान किया गया था। सन्तुलन के अस्थायी रहने पर जब कोई वायु-राशि ऊपर की ओर बलात् प्रेरित की जाती है तब यह वहाँ चारों ओर की वायु की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाती है; और यदि शक्ति का कार्य-सम्पादन बन्द भी हो जाता है तब भी इसका ऊपर उठना जारी रहता है। यदि इसे नीचे की ओर बलात् उत्प्रेरित किया जाता है तब यह वहाँ चारों ओर की वायु की अपेक्षा अधिक सर्द हो जाती है; तथा अगर शक्ति का कार्य सम्पादन भी बन्द हो जाता है, तब भी इसका गिरना जारी रहता है। इसके विपरीत सन्तुलन के स्थायी रहने पर अगर किसी राशि को ऊपर की ओर बलात् प्रेरित किया जाता है तब यह वहाँ की चारों ओर की वायु से ज्यादा सर्द हो जाती है और जब शक्ति कार्य-सम्पादन बिलकुल बन्द कर देती है तब यह पीछे गिरकर अपने पूर्व स्थान पर चली आती है। यदि इसे नीचे की ओर बलात् प्रेरित किया जाता है तब यह वहाँ के चारों ओर की वायु की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाती है; तथा जब शक्ति का कार्य-सम्पादन बन्द हो जाता है तब यह पुनः उस स्तर की ओर ऊपर उठना प्रारम्भ कर देती, है जहाँ से यह चली थी।

पुरानी पुस्तकों में निरपेक्ष संतुलन के लिए ताप की प्रवणता को सामान्य प्रवणता कहा जाता था। अस्थायी संतुलन (Unstable equilibrium) के लिए प्रवणता सामान्य प्रवणता से ज्यादा रहती है। किन्तु स्थायी संतुलन (Stable equilibrium) के लिए प्रवणता कम रहती है। अब इस सामान्य प्रवणता को अधिकतर स्थिरोष्म पतन-गति के रूप में वर्णित किया जाता है।

जल-वाष्प का प्रभाव (Effect of water-vapour) :—उपर्युक्त उदाहरण में यह अनुमान किया गया था कि वायु जलबाष्प-रहित थी और उस अवस्था में निरपेक्ष संतुलन की प्रवणता शुष्क स्थिरोष्म पतन-गति ही रहती है। यदि उसमें जलवाष्प वर्तमान रहे जैसा वस्तुतः उसमें सर्वदा रहा करता है, तब परिस्थितियाँ और भी जटिल (complicated) हो जाती हैं। जब तक जल वाष्प के रूप में रहता है तब तक फैलाव से उद्भूत वायु का शीतन शुष्क स्थिरोष्म गति से जारी रहता है; किन्तु जब ताप किसी विशेष मात्रा में कम हो जाता है तब वाष्प में संघनन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। संघनन में सन्निहित उष्मा विमुक्त हो जाती है; फलतः ताप उतनी तेजी से नहीं गिरता जितनी तेजी से वायु के शुष्क रहने पर गिरता।

यदि उदाहरणार्थ हम ३० इञ्च तथा ६०° ताप वाली शुष्क वायु को लें और दाब को घटा कर २९ इञ्च कर दें तब ताप घटकर ५५° हो जाता है। किन्तु दाब को घटाकर



चित्र ३५ : स्थाई संतुलन (शुष्क वायु के लिये)

२९ इञ्च करते समय वायु में इतना ज्यादा जल-वाष्प रहता है कि संघनन प्रारम्भ हो जाता है, तब दाब के उतना हो जाने पर ताप संघनित होने वाले वाष्प से विमुक्त उष्मा के फलस्वरूप ५५° से कम हो जायगा।

इस प्रकार संतृप्त वायु की पतनगति अथवा निरपेक्ष संतुलन की प्रवणता शुष्क-वायु की अपेक्षा कम रहती है, और संतृप्त वायु में यह गति उसमें वर्तमान जल की मात्रा के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

संतृप्त समोष्म पतनगति (एस० ए० एल० आर) ८५° ताप रहने पर प्रत्येक ५०० फुट के लिए केवल १° होती है। किन्तु ताप २०° रहने पर २५० फुट में १° रहता है और संतृप्त अथवा शुष्क वायु में यह गति प्रत्येक १८५ फुट में १ (१००° फुट में लगभग ५$\frac{१}{२}$) रहती है।

अधिक ऊँचाइयों पर लम्बवत् प्रवणता (Vertical gradient at great altitudes) :—लम्बवत् प्रवणता अथवा पतन-गति धरातल पर बहुत अनियमित रहा करती है, इसलिए एक ही स्थान में भी इसमें बहुत अधिक परिवर्त्तन होते हैं। अपराह्न में आकाश के स्वच्छ रहने तथा समीर के चलते रहने पर यह प्रायः ३०००-४००० फुट की ऊँचाई पर चलनेवाली शुष्क वायु की स्थिरोष्म पतन-गति को प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थितियों में वायु धरातल पर चलते समय प्रक्षुब्ध रहती है; तेजी से ऊपर उठती और गिरती हुई संवेष्टिकाओं (packets) से यह परिलक्षित होता है कि वहाँ पर स्थिरोष्म पतन-गति वर्त्तमान है अथवा यह प्रायः सन्निकट हो चुकी है।

लगभग १०,००० फुट के ऊपर वायुमंडल के ताप का प्रवृत्त ताप प्रायः शुष्क वायु की स्थिरोष्म पतन-गति के बराबर होता है; और यह (इङ्गलैंड में) ३३,००० फुट की ऊँचाई पर उत्परिवर्त्त-मण्डल तक पर्याप्त रूप से अपरिवर्तित रहता है। ताप के ऊपर की ओर सूक्ष्म रूप से बढ़ने के निर्देश भी मिलते हैं।

इस प्रकार उत्तर-पश्चिम यूरोप के वायुमंडल के प्रेक्षणिक भाग को लम्बवत् प्रवणता के आधार पर तीन सतहों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) निम्न सतह—भूमि-स्तर से लगभग १०,००० फुट तक होती है जिसमें शुष्क वायु के लिए पतन-गति प्रायः स्थिरोष्म गति से कम होती है।

(२) मध्य सतह—१०,०००से २३००० फुट ऊपर तक है जिसमें लम्बवत् प्रवणता शुष्क वायु की स्थिरोष्म गति को प्राप्त होती है।

(३) ऊपरी सतह—३३,००० फुट से ऊपर है जहाँ न तो ऊँचाई के कारण कोई परिवर्तन ही होता है और न [illegible] पतन-गति ही रहती है।

ऊपरी सतह को समतापमण्डल (Stratosphere) कहते हैं। इसे कभी-कभी वायुमण्डल का अभिवाहक क्षेत्र (advective-region) भी कहते हैं और इसके नीचे वाली सतह को परिवर्त्तमण्डल (Troposphere) अथवा संवहन क्षेत्र (convective region) कहते हैं।

निम्न सतह में जल-वाष्प सर्वदा वर्त्तमान रहता है और (अध्याय ७ को देखिए) गुरुतर प्रकारवाले बादल ३००० और १०,००० फुट के नीचे अधिकांश भाग में रहते हैं; यद्यपि ऊर्ध्वगामी स्रोतों के कारण—इनके शीर्ष (summits) बहुत ऊँचे चले जाते हैं, यहाँ तक कि इगलैंड में पुंज जलद मेघ (Cumulo-nimbus) के शीर्ष कभी-कभी २५,००० फुट से भी, ऊपर चले जाते हैं और अलोकामेघ (Cirrus clouds) उत्परिवर्तमण्डल (Tropopause) तक देखा जा सकता है। समताप मण्डल के अन्तर्गत प्रायः जल-वाष्प बिलकुल नहीं रहता तथा बादल प्रेक्षित नहीं होता है।

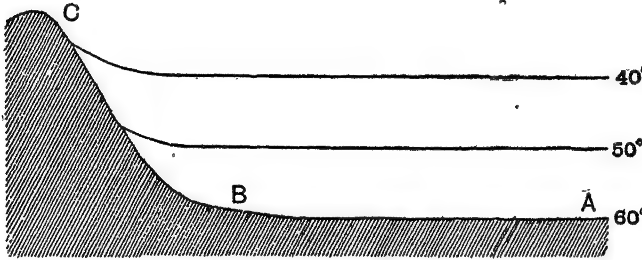
हमलोग यह पहले देख चुके हैं कि जहाँ कहीं वायु के ऊर्ध्वमुखी संचलन रहते हैं, वहाँ ताप ऊपर की ओर कम होता जाता है; और इसलिए समताप-मंडल में ताप का ह्रास न होना इस बात का द्योतक है कि लम्ब गति (vertical movement) वहीं बन्द हो जाती है जहाँ से ताप में कमी होने लगती है। वायुमंडल का निम्न भाग धरातल पर होनेवाले ताप के अन्तर के फलस्वरूप विक्षुब्ध रहता है। इसके फलस्वरूप आरोही (ascending) तथा अवरोही (descending) स्रोतों का आविर्भाव होता है; किन्तु धरातल का प्रभाव विशेष ऊँचाई के ऊपर अनुभूत नहीं होता। जिस प्रकार स्थल तथा सामुद्रिक समीर उत्पन्न करने वाले विक्षोभ अशक्त हैं, ठीक उसी प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं कि विशालतम विक्षोभ (largest disturbances) तक में भी सीमा ऊपर की ओर होगी।

उत्परिवर्त्तमंडल की ऊँचाई, अर्थात् समताप-मंडल का आधार सर्वत्र एक-सा नहीं रहता, यहाँ तक कि यह एक स्थान में भी स्थिर नहीं रहता। इसमें चक्रवातों पर नीचे और प्रति-चक्रवातों पर ऊपर होने की प्रवृत्ति रहती है। यह स्पष्ट है कि भूमध्य रेखा की ओर, अधिक उत्तरी अक्षांशों की अपेक्षा, इसकी ऊँचाई बहुत ज्यादा रहती है। यूरोप में यह लगभग ७ मील की ऊँचाई से प्रारम्भ होता है और भूमध्य रेखा के निकट ११ मील की ऊँचाई पर। फलतः इंगलैंड की अपेक्षा निम्न अक्षांशों में (lower latitudes) उच्च मेघ बहुत अधिक उँचाइयों तक दृष्टि-गोचर हो सकता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण संयुक्त राज्य में तड़ित्-झंझा (thunder-storm) के शीर्ष कभी-कभी ४०,०००–५०,००० फुट तक पहुँच जाते हैं।

समतापमंडल (Stratosphere) का आधार कभी-कभी बहुत ही विविक्त रूप से परिभाषित होता है; इसलिए ऊँचाई के कारण ताप का गिरना बिलकुल अचानक होता है। किन्तु दूसरे समयों में परिवर्त्तन अधिक क्रमिक होता है तथा सीमा उतनी स्पष्ट नहीं रहती। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यद्यपि समतापमंडल नीचे के विलोम से बहुत कम प्रभावित होता है, फिर भी इसका प्रभाव कभी-कभी इसके आधार तक पहुँच जाता है।

पर्वतों पर ताप (Temperature on mountains) :—मैदान में सूर्य के चमकते रहने पर ताप ऊपर की ओर घटता है, क्योंकि जैसा हमने देखा है, अधिकांश उष्णता पृथ्वी से प्राप्त होती है। वायु के शान्त रहने पर समतापीय (Isothermal) सतहें अनुप्रस्थ होंगी, क्योंकि ऐसा नहीं होने पर यहाँ गुरुतर तथा घनी वायु के मध्य अपेक्षाकृत अधिक गर्म तथा हल्की वायु रहेगी। ताप का वितरण चित्र ३६ के दाहिनी ओर प्रदर्शित वितरण के समान ही होगा, जिसमें AB ६०° तापवाले मैदान की सतह का निरूपण (representation) करते हैं।

लेकिन अगर पर्वत BC मैदान से ऊपर उठता है या खड़ा है तो वह पर्वत भी मैदान की भाँति सूर्य से उष्ण हो जाता है तथा वायु के उस उष्मा का, जिसमें वह (उष्मा) प्रवेश करती है, स्रोत बन जाता है। पर्वतीय अंचल में वायु पर्वत के सम्पर्क में आने



चित्र ३६ : सूर्य द्वारा तप्त पर्वतीय अंचल के विमुख समतापीय सतहें

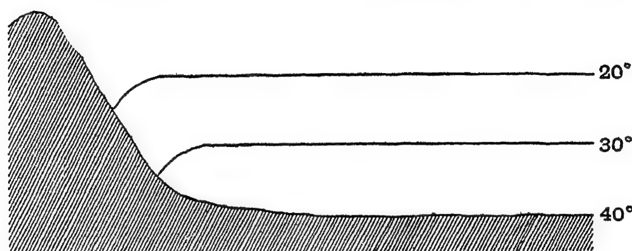
के कारण उष्ण हो जाती है, जिससे वह मैदान में उसी स्तर पर पायी जानेवाली वायु की अपेक्षा अधिक गर्म होगी। इसलिए समतापीय सतहें पर्वत की ओर ऊपर उठती हैं, जैसा चित्र (diagram) में प्रदर्शित किया गया है।

चूँकि पर्वत की सम्पर्कवाली वायु उसी स्तर पर बाहर में पाई जानेवाली वायु की अपेक्षा अधिक गरम होती है, इसलिए यह अधिक हल्की भी होती है। अतः यह ऊपर उठती है और बाहर से अधिक ठंडी वायु पर्वत की ओर चलती है। इस प्रकार पर्वत के मैदान के सदृश गर्म हो सकने पर भी बगलतथा शीर्ष की वायु से मैदान की वायु अधिक ठंडी रहती है।

रात में स्वच्छन्द रूप से उष्मा का विकिरण होने से मैदान तथा पर्वत दोनों सर्द हो जाते हैं, जिससे वे अपने सम्पर्क में रहनेवाली वायु को ठंडा बना देते हैं। समताप रेखाओं में पहाड़ की ओर उभाड़ होगा, जैसा चित्र ३७ में दिखाया गया है। पार्वत्य अंचल की वायु अपेक्षाकृत अधिक सर्द हो जाती है और इसलिए मैदान में उसी स्तर पर रहनेवाली वायु से अधिक भारी हो जाती है, फलतः यह नीचे चली जाती है और इससे उष्ण वायु पर्वत की ओर चलती है।

पर्वत एवं घाटी की हवाएँ (Mountain & valley winds) :—इससे पता चलता है कि शान्त मौसम में जब सूर्य तीव्र रहता है तब पर्वत की ओर एक वायु-प्रवाह चलेगा जो उसकी ढाल पर ऊपर की ओर बढ़ेगा, और रात्रि में यदि आकाश स्वच्छ रहता है, तब पार्वत्य पार्श्व से नीचे की ओर शीतल वायु-प्रवाह चलेगा। प्रवाह

सम्भवत: घाटियों में केंद्रित होकर ऊपर की ओर पहाड़ पर चलेगा, फलत: बहुतेरे पहाड़ी अंचलों में हवा दिन में घाटियों के ऊपर बहती है और रात्रि में उनके नीचे।



चित्र ३७ : विकिरण द्वारा शीतल किये हुए पर्वतीय अंचल के विमुख समतापीय सतहें

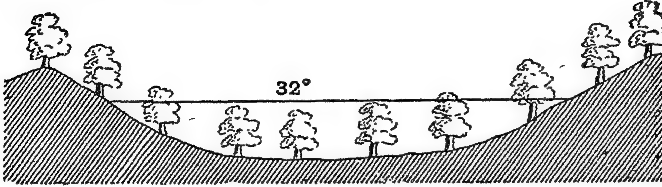
ऐसी हवाएँ बहुधा आल्प्स में अनुभूत होती हैं ; परन्तु हिमालय पर वे प्राय: बहुत तीव्र होती हैं। मेघाच्छन्न जलवायुओं में वे कदाचित् ही परिलक्षित होती हैं और स्थल तथा सामुद्रिक हवाओं की तरह स्थानीय हवाएँ अन्य कारणों से प्रादुर्भूत हवाओं से पराभूत हो जा सकती हैं।

ताप का प्रतिलोम (Inversion of temperature):—शीतकाल में रातें बड़ी होती हैं, तथा यदि आकाश स्वच्छ एवं वायु शान्त रहे तो चित्र ३७ में निदर्शित परिस्थितियाँ कई घण्टों तक बनी रहती हैं। सर्द वायु क्रमश:शनै:-शनै: रिक्त स्थानों तथा घाटियों में जमा होती जाती हैं जिससे ताप की प्रवणता का सुस्पष्ट विपर्यय (Reversal) अथवा ताप का प्रतिलोम (Inversion of temperature) होता है। (चित्र ३८ देखिए)

घाटी में सर्द वायु-राशि है, पहाड़ी अंचल में वायुराशि के ऊपर अपेक्षाकृत उष्ण वायु रहती है तथा उससे और ऊपर जाने पर, ऊँचाई में वृद्धि होने के कारण ताप का सामान्य ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। ताप के इस प्रकार के प्रतिलोम न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक स्वच्छ तथा शान्त रात्रि में उत्पन्न होते हैं। पहाड़ी अंचलों में इनके प्रभाव सुविदित हो जाते हैं। ऊँचे स्तर पर घाटी की सतहें बहुधा घाटी के पार्श्वों की अपेक्षा अधिक सर्द रहती हैं।

ऐसी परिस्थितियों में (अत्यधिक शीत के कारण) घाटी में बर्फ जम जाती है; किन्तु अधिक ऊँचाई पर तुषार (frost) नहीं रहता। इस घटना के दृष्टान्त सर्वदा शीत और बसन्त ऋतुओं में घटित होते रहते हैं जो फल पैदा करनेवालों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए सन् १८९४ ईसवी के मई महीने के अन्त में अखरोट के वृक्षों के पूर्णमय होने के बाद एक दिन संध्या समय वायु शान्त और आकाश स्वच्छ था। रात्रि के समय सर्द स्रोत उपर्युक्त रीति से पहाड़ की ढालों के नीचे की ओर चले थे ; नीचे गढ़े (hollows) हिमांक से कम तापवाली वायु से अर्धपूरित थे तथा उसकी अपेक्षा अधिक उष्ण एवं उससे हल्के वायु-स्रोत नीचे वाली अधिक घनी वायु पर प्रत्यक्ष रूप से चला था। घाटी की सतहों वाले वृक्षों के शीर्ष तुषार से नष्ट (frost-bitten) हो गये थे, किन्तु

ऊपरी शाखाए प्रभावित नहीं हुई। ऊँची भूमि वाले वृक्षों पर (चित्र ३८) तुषार का प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ता।



चित्र ३८ : ताप का प्रतिलोम

घाटी की अपेक्षा पहाड़ी भागों पर अवस्थित ऐसी जगहों के कई दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जिनके घाटी की अपेक्षा तुषार से कम प्रभावित होने की संभावना रहती है। इस दृष्टि से मालवर्न, सेवर्न की घाटी की तुलना में, उल्लेखनीय हैं।

मालवर्न (३७७ फुट) का औसत दैनिक मध्यमान तथा बारसेस्टर के निकट पर्डिस्वेल (Perdiswele) ७९४ फुट ; १९२६-१९४०।

ज.	फ.	मा.	अ.	म.	जू.	जु.	अ.	सि.	अक्टू.	न.	दि.
३५-३,	३५-५	३७.४	४०.७	४५-१,	५१.१,	५५.४	५४.८	५१.२,	४४.८,	४०२,	३६.१
३३.४,	३३.७,	३४.९,	३८.५,	४३.४,	४८.३,	५२.५,	५१.६	४७.६,	४१.६	३७.६,	३४.२

यथेष्ट गहराई में वायु (पृष्ठ ८५ से तुलना कीजिए) के अत्यन्त सर्द होने के कारण उसका ताप ओसांक (dew points) से भी कम हो जाता है जिससे इंगलैंड की घाटियों की तलहटियों में शरत् एवं वसन्त (ऋतुओं) में प्रादुर्भूत होनेवाले कुहरों का भी उल्लेख हो सकता है।

फोन (The Fohn) :—पूर्वोक्त पार्वत्य एवं घाटीवाली हवाओं के अतिरिक्त एक और नितान्त भिन्न प्रकार की हवा है जो पहाड़ों से मैदान में बहती है। स्विट-जरलैण्ड में यह फोन कहलाती है, रॉकी पहाड़ के पूर्वभाग में यह चिनूक (Chinook) के नाम से विदित है और संसार के अन्य भागों में भी इसी प्रकार की विभिन्न स्थानीय नामोंवाली हवाएँ मिलती हैं। इन हवाओं का विशेष गुण यह है कि ये शुष्क होती हैं और इनका ताप ज्यादा होता है।

पर्वत के एक भाग में दाब के दूसरे भाग की अपेक्षा अधिक होने पर दाब से पर्वत-शृंखला की ओर हवा चलेगी, और यदि वायुमंडल स्थायी संतुलन (stable equilibrium) की अवस्था में रहे तो यह (हवा) पहाड़ के दूसरे भाग में नीचे की ओर चलेगी।

हवा में सर्वदा कुछ मात्रा में जलवाष्प रहेगा और पर्वतश्रेणी के अधिक ऊँची रहने पर कुछ वाष्प संघनित हो जायगा। फलतः, जब यह पहाड़ से नीचे आती है तब गुप्त उष्मा (प्रच्छन्न उष्मा—latent heat) के निःसरण के फलस्वरूप वायु के शुष्क होने पर ताप का जितना ह्रास होता, उसकी अपेक्षा कम ह्रास होता है। दूसरे भाग में जब वायु नीचे की ओर बहती है तब इस प्रकार दाब बढ़ जाता है तथा इसका ताप भी बढ़ जाता है। तत्पश्चात् वायु के एक बार शिखर पर पहुँचने पर

तत्काल ही [illegible] गिरना प्रारम्भ हो जाता है जिससे संपीडन प्रारम्भ हो जाता है [illegible], शिखर को पार करने पर जिस ताप पर यह संपृक्त हुई थी, उसकी अपेक्षा ज्यादा हो जाता है। अतः शीर्ष से नीचे की ओर वायु असंसृप्त रहेगी और ताप की वृद्धि डी० ए० एल० आर० (D.A.L.R.) पर रहेगी।

इसे स्पष्ट करने के लिए पूर्वोक्त दृष्टान्तों के सदृश एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। मान लीजिए कि पर्वत श्रेणी १८६० फुट ऊँची है और ६०° ताप वाली हवा इसकी ओर बहना प्रारम्भ करती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि यदि यह शुष्क वाय रहती तो इसका ताप इसके शीर्ष पर फैलाव के कारण हटाकर ५०° हो गया होता। लेकिन यदि वाष्प में संघनन होता है तब ह्रास कम होता है तथा वास्तविक रूप से उठा हुआ ताप अधिकतर होगा। उदाहरण के लिए इसे ५२° कर सकते हैं। दूसरे भाग में नीचे की ओर बहने के फलस्वरूप ताप बढ़ता है, क्योंकि इसके बाद संघनन नहीं होता। इसलिए इसके (वायु के) उतार पर ताप बराबर शुष्क स्थिरोष्म गति (प्रत्येक १००० फुट में ५½° के लगभग) से बढ़ता ही जायगा। जब यह उस स्तर पर पहुँचती है जहाँ से यह चली थी तब इसका ताप १०° बढ़ जायगा जिससे यह लगभग ६२° हो जायगा। प्रादुर्भूत होने के समय की अपेक्षा यह अधिक गर्म तथा साथ ही शुष्कतर भी रहेगी।

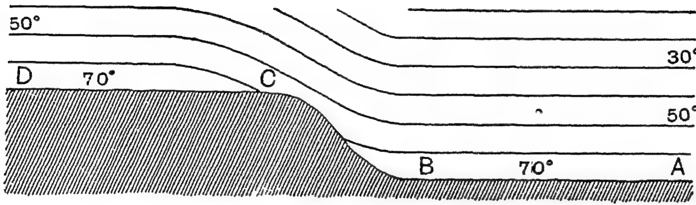
यदि संतृप्त वायु [illegible] के जिस भाग में वायु बहती है उसकी ढाल के ऊपर की ओर बराबर संघनन जारी रहता है, तो उसके शीर्ष पर उपर्युक्त उदाहरण की अपेक्षा ताप बहुत ज्यादा होगा और साथ ही दोनों भागों के ताप का अन्तर भी बहुत ज्यादा होगा। ऐसी अवस्था में वृष्टि-छायावाली ढाल (Leeward Side) के ऊपर की ओर जाने में ताप का जितना ह्रास होता है, उससे लगभग दूनी वृद्धि होती है जिससे ८०० फुट ऊँची पर्वत-श्रेणी के वृष्टि-छायावाले पदभाग में अवस्थित स्थान इसके वायु-प्रवाह वाले (windward side) भाग पर अवस्थित स्थानों से १५° अधिक उष्ण हो सकते हैं।

इस तरह फोन निश्चय ही उपर्युक्त कारण से उष्ण तथा अति शुष्क हवा है, [illegible] तब यह घाटियों तथा पहाड़ी वाले हिम को तेजी से पिघला देती है। अधिकांश हिम तो वाष्पीकरण के कारण सीधे उष्ण तथा शुष्क वायु में विलीन हो जाता है। ८००० फुट ऊँची पर्वतश्रेणी वाले दृष्टान्त पर थोड़ा विचार करने से ही यह पता चल जायगा कि पहाड़ों के पदभाग के निकट ओसांक (Dew point) वृष्टि छाया वाले भाग के ताप से ४०° कम हो सकता है जिसके फलस्वरूप वाष्पीकरण (evaporation) ज्यादा होगा।

पठार का ताप (Temperature of plateaux):—पठार पर्वत अथवा पर्वतश्रेणी से इस दृष्टि से भिन्न होता है कि यह उसकी अपेक्षा बहुत चौड़ा होता है। यह वस्तुतः अपेक्षाकृत एक बहुत बड़ा पुंज है जो वायुमंडल में प्रलिप्त (projecting) होता रहता है और वायु के ताप पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है।

चित्र ३९ में AB एक मैदान की सतह का और CD एक मैदान से ऊपर की ओर उठते हुए पठार की सतह का निरूपण करते हैं। यदि दोनों समान रूप से सूर्य की किरणों में खुले रहते हैं तो पठार मैदान के बराबर गर्म होगा—संभवतः ज्यादा गर्म हो जायगा, क्योंकि सूर्य की किरणों को वायु-मण्डल के अपेक्षाकृत कम मोटे भाग में

प्रवेश करना पड़ता है। हम यदि कल्पना करें कि दोनों के गर्म हो जाने से उनका ताप ७०° हो जाता है, तो प्रत्येक ताप के लम्ब वितरण को (vertical distribution) उत्पादित करने की प्रवृत्ति रहेगी, जैसा क्रमश: आकृति (diagram) के दाएँ तथा बाएँ भागों में प्रदर्शित किया गया है। BC ढाल पर समताप सतहें ऊपर की ओर उसी तरह मुड़ेंगी जिस तरह वे ऐसी ही परिस्थितियों में पहाड़ी भागों में मुड़ती हैं।



चित्र ३९ : पठार तथा मैदान पर समतापीय सतहें

ऐसे वितरण में वायु शान्त नहीं रह सकती, क्योंकि पठार पर ६०° तापवाली वायु मदान की ३०° तापवाली वायु के स्तर के समकक्ष रहती है तथा सामान्यत: पठार की वायु मैदान की उसी स्तर पर की वायु की अपेक्षा अधिक गर्म और हल्की होती है। इसका प्रभाव अधिकतर एक-सा ही होता है, मानों दोनों विभिन्न घनत्ववाले तरल पदार्थों से आवेष्ठित रहते हैं, उदाहरणार्थ मैदान पानी से और पठार तेल से। अधिक घना तरल पदार्थ अपेक्षाकृत अधिक हल्के तरल पदार्थ के नीचे प्रवाहित होता है और अपेक्षाकृत अधिक हल्का तरल पदार्थ अधिक घने पदार्थ के ऊपर।

फलत: बाहर से अधिक ठंडी वायु पठार की उष्ण वायु के नीचे बहती है जिससे यह उष्णतर वायु को हटाती तथा बलात् ऊपर उठने के लिए और कुछ ऊँचे स्तर पर जाने के बाद आप्लाव (overflow) करने के लिए उत्प्रेरित करती रहती है।

सर्द वायु के अन्तर्यवेश के फलस्वरूप पठार की वायु इसके न होने से जितनी ठंडी होती है, उसकी अपेक्षा यह किनारे के निकट विशेषरूप से अधिक ठंडी रहती है। किन्तु अन्तर्मुखी वायु स्वयं पठार के उष्मा से अविराम उष्ण होती रहती है और इतना होने पर भी वायु का ताप मैदान के उसी स्तर पर चलनेवाली वायु के ताप की अपेक्षा कहीं ज्यादा रहता है।

समतापीय सतहों की सामान्य आकृति इसलिए वैसी ही होती है जैसी चित्र ३९ में दिखाई गई है। किन्तु साथ ही यह भी संभव है कि अधिक ऊँचाइयों पर पठार के किनारों पर मोड़ क्रमश: घटता जायगा। इस रेखाचित्र (diagram) में पठार अपेक्षाकृत निम्न है। इसकी सतह पर ताप ७०° है; तथा मैदान में इसी स्तर पर वायु का ताप ४०° है। घनत्व का अन्तर भी वही है। जिससे मालूम पड़ता है जैसे वे दोनों के दोनों एक स्तर (plain) पर थे, जिसके एक भाग के गर्म होने पर ताप ७०° हो गया था और दूसरे के गर्म होने पर ४०° ताप। यदि पठार ऊँचा रहता

है तो इसका किसी मैदान के असमान रूप से तपने के फलस्वरूप अन्तर उत्पादित किए जा सकनेवाले अन्तर से कहीं ज्यादा होगा; और फलतः जो हवाएँ तप्त पठार की ओर अन्तर्मुखी होकर चलती हैं वे तप्त मैदान की ओर चलनेवाली हवाओं की अपक्षा अधिक प्रबल होती हैं। इसके अतिरिक्त तप्त पठार से उठती हुई वायु शीघ्र ही कहीं अधिक शीतल वातावरण (environment) में पहुँच जाती है और तत्पश्चात इसका अधिक ऊँचाइयों तक ऊपर उठना जारी रह सकता है। इसलिए कुछेक पठारी क्षेत्रों में आर्द्र (humid) वायु के आने पर भयानक (Violent) तड़ित झंझा प्रादुर्भूत करने की सुविदित प्रकृति रहती है। दक्षिण अफ्रिका के वेल्ड (Veld) में इसका सुन्दर उदाहरण मिलता है।

सातवाँ अध्याय

वायुमंडल की आर्द्रता

(Humidity of the Atmosphere)

वायु में जलवाष्प (Water vapour in the Air):—जहाँ कहीं वायु तथा जल सम्पर्क में आते हैं, वहाँ दोनों में परस्पर कणों का विनियम (interchange) सर्वदा होता रहता है। सूक्ष्म वायुकण जल में प्रवेश करते हैं और सूक्ष्म जलकण वाष्प के रूप में वायु में प्रवेश करते हैं। इसलिए जलवाष्प कुछ मात्रा में वायु में सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं और इसी तरह वायु कुछ मात्रा में जल में, वायु का कुछ भाग तो पुनः लौट कर वायु में मिल जाता है तथा इसी तरह वाष्प का भी कुछ लाभ लौटकर जल में चला जाता है।

वायु में वर्त्तमान वाष्प की मात्रा के कम रहने पर वायु के जितने सूक्ष्म कण वायु से जल में प्रवेश करते हैं, उनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्मकण जल से वायु में प्रवेश करते हैं और जल क्रमशः सूख जाता है अथवा वाष्प बनकर उड़ जाता है। किन्तु यदि वायु में पहले से ही वर्त्तमान वाष्प की मात्रा के अधिक रहने पर जितने सूक्ष्म जलकण जल से वायु में प्रवेश करते हैं उतने ही सूक्ष्म वाष्पकण वायु से जल नें प्रवेश कर सकते हैं; तो जल में वाष्पीकरण नहीं होगा। ऐसी अवस्था में वायु संतृप्त (saturated) कहलाती है अथवा सरल भाषा में यह कहा जा सकता है कि यह उतना वाष्प धारण करती है जितना यह धारण कर सकती है।

यहाँ तक कि हिम (snow) अथवा बर्फ (ice) की सतह से भी वाष्पीकरण हो सकता है। कभी-कभी जब तुषार (frost) लम्बे अरसे तक रहता है तब पहले से गिरी हुई बर्फ बिना पिघले लुप्त हो जाती है।

महासागरों के ऊपरवाली वायु का वाष्प हवाओं द्वारा महादेशों के मध्य में चला जाता है; यहाँ तक कि भूमण्डल के शुष्कतम भागों में भी वायु कभी पूर्ण रूप से शुष्क नहीं रहती। किन्तु उनमें वर्त्तमान वाष्प भी स्थान और ऋतु के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

यह साधारण प्रेक्षण की बात है कि सामान्यतः तापमान के अधिक रहने पर वाष्पीकरण सबसे अधिक तेजी से होता है, इसलिए हम वाष्प को सर्वाधिक मात्रा में महासागरों की सतह पर भूमध्य रेखा के निकट ही पाने की कल्पना कर सकते हैं तथा न्यूनतम मात्रा में भूमि पर शीतकाल में एशिया के उत्तरी-पूर्वी अर्द्ध क्षेत्र में।

जल की मात्रा जो एक घनफुट वायु में वाष्प के रूप में वर्त्तमान रह सकती है, उसकी एक निश्चित सीमा है जो पूर्णतः ताप पर निर्भर करती है। उस सीमा पर पहुँचने पर वायु संतृप्त कहलाती है तथा यदि और अधिक जलवाष्प रिक्त स्थान में बलात् प्रेरित किया जाता है तब जलवाष्प अतिरेक रूपमें संघनित हो जाता है। यह देखना आवश्यक है कि दाब का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। और अधिक शुष्क वायु संघनन के बिना उसी स्थान में उदंचित की जा सकती थी।

निम्नांकित सारणी से विभिन्न तापों पर एक घनफुट संतृप्त वायु में वर्तमान जल की मात्रा का ग्रेन के रूप में पता चलता है :—

ताप फाहरेनहाइट	३०°३	२°	४०°	५०°	६०°	७०°
ग्रेन प्रत्येक घनफुट में	२·२१	२·३७	३·०६	४·२८	५·८७	८·००

५०° पर एक घनफुट संतृप्त वायु में ४·२८ ग्रेन जल रहता है। किन्तु यह और अधिक वाष्प भी धारण कर सकती है। यदि इसके ताप को बढ़ाकर ६०° कर दिया जाता है तब यह ५·८० ग्रेन वाष्प धारण करने योग्य होगी, अर्थात् यह वास्तव में जितना जल धारण करती है, उससे १·५६ ग्रेन अधिक वाष्प धारण करने के लिए समर्थ होगी। इसके विपरीत यदि इसका ताप गिरकर ४०° हो जाता है तब यह केवल ३·०६ ग्रेन वाष्प धारण कर सकेगी; और इसलिए १·१६ ग्रेन (वाष्प) जल के रूप में संघनित हो जायगा। इन आँकड़ों को शुद्ध रखने के लिए वायु को घड़े के अन्दर रखना होगा, जिसमें ताप के परिवर्त्तन का इसके आयतन पर कोई प्रभाव न पड़े।

अतः यह स्तष्ट है कि वायु में आर्द्रता या शुष्कता का अनुभव केवल उसमें वाष्प की वास्तविक मात्रा पर निर्भर नहीं करती। उपर्युक्त उदाहरण में वही वायु इसमें जल की उसी समान मात्रा में रहने पर ६०° पर शुष्क मालूम होती तथा ४०° पर आर्द्रता ६०° ताप पर वायु में लटकता हुआ तर कपड़ा पहले की अपेक्षा अधिक शुष्क हो जायगा और ४०° पर अधिक तर।

जहाँ तक अनुभूतियों (sensations) अथवा मेघ एवं वर्षा के निर्माण का प्रश्न है, यह (वायु में) वर्त्तमान वाष्प की मात्रा नहीं है जो महत्वपूर्ण है, प्रत्युत् वास्तविक मात्रा का किसी विशेष ताप पर सम्भव सर्वाधिक मात्रा का अनुपात ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। सहारा मरूभूमि की वायु इंगलैंड के शीतकाल के आर्द्र दिन की वायु की अपेक्षा प्रत्येक घनफुट में अधिक वाष्प धारण करती है, किन्तु अधिक तापके कारण यह और वाष्प धारण कर सकती है।

वास्तविक तथा आपेक्षिक आर्द्रता (Absolute and relative humidity):—किसी विशेष अवस्था में एक घनफुट वायु में वर्त्तमान वाष्प की वास्तविक मात्रा (अथवा एक लिटर यदि मेट्रिक माप व्यवहृत हो रही हो) प्रस्तुत वायु की वास्तविक आर्द्रता (absolute humidity) कहलाती है, और

इस मात्रा का वायु के वास्तविक ताप पर यह सम्भव मात्रा जितना वाष्प धारण कर सकती है, इसकी आपेक्षिक आर्द्रता (Relative humidity) कहलाती है। यदि उदाहरणार्थ वायु का ताप ५०° है तो वाष्प की मात्रा प्रत्येक घनफुट में २.१४ ग्रेन है, तब आपेक्षिक आर्द्रता $= \frac{२\cdot१४}{४\cdot२८}$ या ५०% है, क्योंकि इस ताप पर यह (वायु) प्रत्येक घनफुट में ४·२८ ग्रेन वाष्प धारण कर सकेगी।

वास्तविक आर्द्रता (Absolute humidity):—प्रायः वायु में वर्त्तमान जलीय वाष्प द्वारा डाले गये वायुदाब के रूपमें व्यक्त की जाती है। इसलिए आपेक्षिक आर्द्रता समान ताप पर संतृप्त वायु में वर्त्तमान बाष्पीय दाब के साथ वास्तविक वाष्पीय दाब का अनुपात है। इससे भी व्यावहारिक रूप से आपेक्षित आर्द्रता के लिए वैसा ही परिणाम निकलता है जैसा प्रत्येक घनफुट वाष्प के वजनों की तुलना करने पर होता है।

ओसांक (Dew point)—वायु में वर्त्तमान जलवाष्पकी मात्रा को कैलशियम क्लोराइड वाली नलियों के भीतर से वायुकेनिश्चित परिमाण को पार कराकर अथवा किसी अन्य सुखानेवाले प्रतिकर्त्ता (drying reagent) और वजन के परिवर्द्धन को लिखकर रासायनिक विधि से निर्धारित की जा सकती है। किन्तु यह विधि (Process) कुछ बड़ी है, इसलिए यदि दैनिक प्रेक्षण करना हो तो किसी क्षिप्रतर विधि से काम लेना होगा। ओसांक का निर्धारण सब से सरल नियमों में से एक है।

यदि वायु क्रमशः ठंडी होती है तो यह अन्त में एक ऐसे ताप पर पहुँचेगी जहाँ यह संतृप्त हो जाती है। और इसके कुछ भी अधिक ठंडी होने पर संघनन प्रारम्भ हो जायगा। वह ताप जिस पर संघनन प्रारम्भ होता है, अर्थात् संतृप्तता का ताप ओसांक (dew point) कहलाता है।

ओसांक निर्धारित कर लेने के बाद जो पृष्ठ ७७ वाली सारिणी का निर्देश है और जो ज्यादा पूर्ण है, उससे (वायु में) वर्त्तमान जलवाष्प की वास्तविक आर्द्रता की मात्रा का पता शीघ्र ही चल जायगा। उदाहरणार्थ, यदि ओसांक ४०° है तब परिक्षित वायु में एक घनफुट में ३·०९ ग्रेन रहते हैं। इसका भी शायद उल्लेख कर देना चाहिए कि इन सारणियों को मौलिक रूप से बनाने में वर्त्तमान वाष्प की मात्रा विभिन्न तापों पर रासायनिक विधि से निर्धारित की गई थी।

ओसांक के निर्धारण में प्रयुक्त होने वाले यंत्र आर्द्रतापमापी (Hygrometer) के नाम से अभिहित हैं। भौतिक शास्त्र की सरल पुस्तकों में इसके विभिन्न भेदों का वर्णन दिया गया है, किन्तु चूँकि वे मौसम विज्ञान सम्बन्धी प्रेक्षणों (meteorological observations) में बहुत कम व्यवहार में आते हैं, यहाँ पर उनके विषय में विशेष कुछ भी कहना आवश्यक नहीं है।

आर्द्र-शुष्क-बल्ब तापमापी (Wet & dry bulb thermometers) :—वायु की आर्द्रता प्रायः एक युग्म तापमापी के व्यवहार द्वारा निर्धारित की जाती है, जिनमें से एक बल्ब (bulb) बराबर तर रखा जाता है। तापमापी के ऐसा युग्म (pair) कभी-कभी साइक्रोमीटर (psychrometer) कहलाता है। दोनों तापमापी स्थाम (Stand) पर आरोपित रहते हैं और उनके दोनों बल्ब स्थाम से बाहर निकले रहते हैं, जिससे वे वायु में स्वच्छन्द रूपसे खुले रहें। बल्बों में एक पूर्वावस्था

में ही छोड़ दिया जाता है। दूसरे के चारों ओर मलमल (Muslin) अथवा रूई हल्के से लपेट दी जाती है जिसे जल से सिक्त करके कुछ धागों को जल से भरी छोटी प्याली में डुबाकर बराबर तर रखा जाता है। पूरे यंत्र को पृष्ठ (४४) पर वर्णित खोल के अन्दर रखना चाहिए।

शुष्क बल्ब वाले तापमापी से वायु के ताप का पता लगता है। यदि वायु बाष्प से पूर्णरूप से संतृप्त रहती है, तब आर्द्र बल्ब वाले तापमापी में बराबर समान ताप का निदर्शन होगा। किन्तु वायु के संतृप्त नहीं रहने पर बल्ब के चारों ओर वाली तर रूई से वाष्पीकरण प्रारम्भ होगा। वाष्पीकरण से बल्ब ठंडा हो जायगा जिसके फलस्वरूप आर्द्र बल्ब तापमापी (wet bulb thermometer) में शुष्क बल्व तापमापी (dry bulb thermometer) की अपेक्षा ताप कम होगा। वाष्पीकरण जितना ही अधिक तेजी से होगा बल्ब उतना ही ज्यादा ठंडा होता जायगा ; और इसलिए वायु जितना ही ज्यादा शुष्क होगी दोनों तापमापियों में अन्तर उतना ही ज्यादा होगा।

इस अन्तर तथा आपेक्षिक आर्द्रता का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ जटिल है। किन्तु जो सारणियाँ बनाई गई हैं उनसे दोनों तापमापियों के ताप ज्ञात रहने से आपेक्षिक आर्द्रता का पता शीघ्र ही चल जायगा।

किन्तु, फिर भी यह स्पष्ट है कि आर्द्र बल्ब के चारों ओर वाली रूई से होनेवाले वाष्पीकरण की गति केवल आपेक्षिक आर्द्रता पर ही निर्भर नहीं करेगी, बल्कि तापमापी से गुजरनेवाले वायुस्रोत की क्षिप्रता पर भी। यदि उदाहरणार्थ; हम आर्द्रबल्ब पर जोर से हवा करें तो तापमापी का पारा नीचे गिरेगा। ष

इसलिए आपेक्षिक आर्द्रता निर्धारित करने का यह नियम पूर्णरूप से सन्तोष-जनक नहीं है, क्योंकि यहाँ तक कि स्टीवेन्सन के पुट (Stevenson's screen) में भी वायु-स्रोत सर्वदा एक से नहीं रहेंगे।

फिर भी एक प्रकार के साइक्रोमीटर (psychrometer) का आविष्कार किया गया है, जिसमें उपर्युक्त असुविधा का परिहार कर दिया गया है। यह आसमैन के साइक्रोमीटर के (Assmann's psychrometer) नाम से विदित है। दोनों तापमापियों के बल्ब तथा उनके स्कंधों (stems) के निम्नभाग धातु के बने मोटे खुले पेंदे वाले नलों के अन्दर समावृत्त रहते हैं। शीर्ष पर दोनों नलों के मिलने से एक नली बनती है, जो एक वायु आशय (reservoir) से संबद्ध रहती है। इस आशय (reservoir) से वायु के बाहर निकलने के लिए रास्ता बना रहता है, जिसमें एक छोटा संवातकीय (ventilating) पंखा लगा रहता है, जो घड़ीयांत्र (clock work) से संचालित होता है। प्रेक्षण के लिए घड़ीयांत्र में चाभी देकर उसे चालू कर दिया जाता है। यह पंखे को प्रत्येक प्रेक्षण के समय उसी गति से बराबर अवधि के लिए संचालित रखता है ; और इस प्रकार यह सर्वदा उसी क्षिप्रता से तापमापियों के बल्बों के निकट से गुजरने वाली वायु के बराबर मात्रा में बाहर निकलता है। जहाँ तक वायु की गति का प्रश्न है, सभी प्रेक्षण फलतः समान दशाओं में होते हैं, और इसका परिणाम (results) भी साधारण कोटि के साइक्रोमीटर (psychrometer) की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय होता है।

संघनन (Condensation)—जब वायुराशि ओसांक (dew point) से ज्यादा ठंडी हो जाती है तब कुछ वाष्प, जैसा हम देख चुके हैं, तरल अथवा ठोस के रूप में संघनित हो जाती है। प्रकृति में संघनन विभिन्न प्रकार से हो सकता है। प्रादुर्भूत जल ठोस पदार्थों पर ओस अथवा पाला (hoar-frost) के रूप में जमा हो जाता है, छोटी बूँदों के रूप में वायु में रह सकता है, जिससे कुहासा (mist) या कुहरा (fog) या मेघ (cloud) बनते हैं। अथवा यह वर्षा, हिम (snow) या पाला (hail) के रूप में नीचे गिर सकता है।

तरल बूँदों का अधिशीतन तथा उसका प्रभाव (Supercooling of liquid drops and some consequences)—संघनन, हिमांक से ज्यादा तापों पर, १/५०० इंच के व्यास की कोटिवाले सूक्ष्म कणों के रूप में होगा। इन्हीं सूक्ष्मकणों के पर्याप्त संख्या में रहने पर अधिकांश मेघों अथवा कुहरों की सृष्टि होती है। यह मान लेना आवश्यक है कि यदि एक बूँद छोटी और स्थिर रहती है तब वह हिमांक से कई अंश अधिक ठंडी हो जाती है, किन्तु फिर भी यह तरल ही रहती है। इसके विपरीत जब मेघ ऐसी अधिशीतल बूँदों से बनता है तब कुछ बूँदें, उदाहरणार्थ, वायुयान के चलने से, प्रक्षुब्ध हो जाती हैं; और वे तत्पश्चात् जम जाती हैं। यह बात साधारणरूप से हुआ करती है। इसका परिणाम यह होता है कि वायुयान के प्रमुख संकीर्ण तथा उभड़े हुए भागों पर बर्फ जम जाती है।

किन्तु शीतकाल में भी उस आदमी को जो हिमांक से कम तापवाले कुहरे से पैदल चलता या घोड़े पर चढ़कर जाता है, यह दृश्य बहुधा दृष्टिगोचर हो सकता है। जब वह सूक्ष्म बूँदों से टकराता है जो उस अवस्था या समय में भी तरल रहती है, तब वे जम जाती हैं। यदि ऐसे कुहरेके साथ-साथ मन्द हवा बहती है तो हवा के रुख पर खुली रहनेवाली पेड़ों की डालियों तथा टेलीफोन के तार आदि जैसी वस्तुओं के सभी भागों पर बूँदें जम जाती हैं। ऐसे जमाव (deposits) को पाला (Rime) कहते हैं। अतः इन्हें तुषार (hoar-frost) से अलग करने में (नीचे देखिए) सावधानी से काम लेना चाहिए। यह (तुषार) आकाश की ओर खुली हुई सतहों, जैसे मैदानों तथा छतों पर बनता है, जहाँ वह आकाश के स्वच्छ रहने के कारण विकिरण (radiation) होने से पर्याप्त रूप से ठंडा हो जाता है।

पाला का निक्षेप (Rime deposits) तुषार (frost) पक्ष (feathers) के रूप में बहुत ही स्पष्ट हो जाते हैं जो खुली वस्तुओं के वायु विमुख भागों पर, विशेषकर जाड़े में, ब्रिटिश द्वीप-समूह के पहाड़ों की ओर उभड़े रहते हैं। उनकी चोटियाँ बहुधा प्रायः हिमांक से बहुत ताप पर निर्मित होने वाले निम्न मेघ से आवृत रहती हैं। बेन नेविस (Ben Nevis) की पुरानी वेधशाला में कूपदण्ड (mast), जिस पर विभिन्न यंत्र आधारित रहते हैं, पर पड़े ऐसे निक्षेप (deposits) को देखने से पता चलता है कि उनकी मोटाई ५ फुट है।

सूक्ष्म जल-बिन्दुओं में हिमांक से कम तापों पर तरल रहने का गुण है जिसके फलस्वरूप इंगलैंड में २०,००० फुट के स्तर तक मेघ के अधिकांश प्रबल भाग तरल बूँदों के रूप में रहते हैं न कि बर्फ के कणों के रूप में। १५,००० फुट की ऊँचाई पर औसत ताप शून्य फाइरेन हाइट से ज्यादा कम नहीं रहता है। २०,००० फुट से ऊपर साधारण ज्ञान के लिए अनुमान किया जा सकता है कि बादल सम्पूर्ण रूप से बर्फ

के कणों से बनता है। ग्रीष्म में दिन के समय ऊँचाई पर बननेवाले भीषण पुंजमेघ (Cumulus) के प्रेक्षण से पता चलेगा कि १५,००० फुट से अधिक ऊँचाइयों पर उसका शीर्ष गोल तथा बुलबुले की आकृति का होता है। किन्तु यदि पुंजमेघ का बनना पूर्वोक्त ऊँचाइयों के बहुत ऊपर तक जारी रहता है, तो इसका शीर्ष प्रायः तन्तुमय (fibrous) मालूम पड़ता है और मेघ पुंज-जलद मेघ (Cumulo-Nimbus) हो जाता है जिसका वर्णन अगले अनुच्छेद में किया जायगा। इसका तन्तुमय रूप (fibrous appearance) तब बनना प्रारम्भ होता है जब ऊपर उठते हुए मेघ की बूँदों का अधि-शीतन इतना अधिक हो जाता है कि मेघ के मध्य विक्षोभ के साथ संयुक्त होने पर या उत्पन्न होने पर बूँदें तनिक भी अधिक देर तक तरल नहीं रह पातीं—वे बर्फ कणों में परिवर्तित हो जाती हैं। तन्तुमय रूप कणों के हवा-द्वारा उड़ा कर ले जाने के फलस्वरूप होता है जो बहुतेरे उच्च मेघों के सदृश रहता है जिसे हम अलोकामेघ (Cirrus) कहते हैं। यह भी वर्षा से (पृष्ठ ९६ से भी तुलना कीजिए) बनता है।

हिमांक से कम ताप में वायु के जल-वाष्प में संघनन होने से सूक्ष्म बर्फकणों का निर्माण होता है। फलतः यदि हिमांक से अधिक ताप पर वाष्पयुक्त वायु के उठते हुए प्रबल (vigorous) स्रोत में संघनन प्रारम्भ होता है तथा वायु का, जो वाष्प के कारण अब संतृप्त हो गई है ऊपर उठना जारी रहता है तो कुछ उच्चतर स्तर पर यह हिमांक पर पहुँच जायगी। और अतिशीतल जल की बूँदों के मध्य, जो नीचे से ऊपर की ओर प्रेषित की जा रही हैं, बर्फ के कणों का निर्माण होने लगेगा। इन बर्फ के कणों में एकत्रित होने की प्रवृत्ति होती है और वे बर्फ के कणों की सृष्टि करते हैं जो पर्याप्त रूप से बड़े होने पर गिर सकते हैं। अतः प्रायः जाड़े में अथवा ग्रीष्म में ऊँचे पहाड़ों पर मेघ से हिम गिर सकता है; यद्यपि स्वयं मेघ भी पर्याप्त रूप से अति सूक्ष्म अतिशीतल तरल बूँदों से बना रहता है।

विशिष्ट बिन्दुकाएँ (droplets), जिनसे मेघ की सृष्टि होती है, उन बिन्दुओं की अपेक्षा जिनसे जल-फुहार (drizzle) या वर्षा होती है, कहीं अधिक ज्यादा छोटी होती हैं। जल-फुहार की सृष्टि करनेवाली बूँदें नीचे नहीं गिरतीं, प्रत्युत प्रवाहित होती हैं जिनका औसत व्यास १/१०० से १/५० इंच का होता है। वर्षा की बूँदें लगभग १/२५ से १/५ इंच होती हैं, इनका शायद अपेक्षाकृत बड़ा परिमाण नहीं होता और तब वे इतनी अस्थाई हो जाती हैं कि प्रायः वे शीघ्र ही भग्न हो जाती हैं। वह विधि जिससे छोटी बूँदें (droplets) बड़ी बूँदों के रूप में परिणत होती हैं जिसे हम जल-फुहार या वर्षा कहते हैं, कुछ जटिल प्राकृतिक भौतिक कारणों पर निर्भर करती हैं। फिर भी यह स्पष्ट रूप से आवश्यक है कि मेघ के निचले भागों में प्रक्षोभण पर्याप्त रूप से रहता है जिससे एकीकरण परिवर्द्धित हो सके। अगले अध्याय में यह प्रदर्शित किया जायगा कि सभी मेघों से, जिनसे घनघोर पर्याप्त वर्षण की सम्भावना हो सकती है, चाहे वह वर्षा हिम या पाला से हो, इस अपेक्षा (requirement) का समाधान हो जाता है। इसके विपरीत सभी प्रक्षुब्ध मेघों से वृष्टि नहीं होती है। वृष्टि की बूँदों की सृष्टि हो सके इसके लिए यह प्रदर्शित किया गया है कि अपेक्षाकृत अधिक सर्द अक्षांशों में कुछ बर्फ कणों का साधारणतया मेघ में वर्तमान रहना अपेक्षित है।

ओस एवं तुषार (Dew & hoar-frost):—ओस तथा तुषार वायु में होने वाले संघनन के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न होते, बल्कि वायु में खुले कुछ ठोस पिण्डों की सतह पर उत्पन्न होते हैं। यदि वायु का ताप ओसांक की अपेक्षा अधिक रहता है तथा बहुत कम ताप पर जब कोई सर्द वस्तु वायु में लायी जाती है, तब वह सर्द वस्तु अपने सम्पर्क में रहनेवाली वायु को ओसांक से भी अधिक सर्द बना देती है जिससे संघनन की क्रिया होती है; किन्तु, शेष वायु में संघनन बिल्कुल नहीं होता। उत्पादित जल सर्द वस्तु पर जम (settles) जाता है जिसे ओस (dew) कहते हैं। यदि ओसांक हिमांक से कम रहता है तब वाष्प बर्फ के नुकीले कणों के रूप में संघनित हो जायगा न कि जल की बूँदों के रूप में, तथा उससे ओस के बदले तुषार की सृष्टि होगी।

ओस के स्वाभाविक निर्माण के लिए वायु में जल-वाष्प का रहना आवश्यक तथा घास और जमीन पर रहनेवाली अन्य वस्तुओं का ताप गिरकर ओसांक (dew-point) से कम होना भी आवश्यक है। वर्त्तमान बाष्प की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, तथा ताप जितना ही कम होगा, ओस भी उतना ही ज्यादा होगी।

यह आवश्यक हैं कि वायु को प्रायः शान्त रहना चाहिए क्योंकि जब हवा प्रबल है वायु का मिश्रण बहुत अधिक होता है। इसका कोई भी अंश अधिक समय तक पृथ्वी के सम्पर्क में नहीं रहता है जिससे यह ओसांक से भी अधिक ठंडी हो जाय जब तक वास्तव में सम्पूर्ण वायु-राशि का ताप पहले ही लगभग उतना नहीं हो जाता है।

दिन के उष्ण रहने पर उस दिन रात्रि में ओस के बनने में आसानी होती है क्योंकि दिन के उष्ण रहने पर वाष्पीकरण में सहायता मिलती है; अतः इससे वर्त्तमान वाष्प की मात्रा बढ़ जाती है। रात्रि में भूमि का सर्द रहना आवश्यक है; किन्तु इसका शीतन सर्द हवा से नहीं होना चाहिए, क्योंकि भूमि अथवा घास का वायु की अपेक्षा अधिक सर्द होना अनिवार्य है। इसका शीतन ताप के विकिरण से होना चाहिए। फलतः ओस के निर्माण के लिए नभ में अनुकूल परिस्थितियाँ शान्त ऋतु एवं स्वच्छ आकाश जिससे दिन के समय सूर्य की किरणें निर्विघ्न या स्वच्छन्द रूप से आ सकें और रात्रि में भी उसी तरह उष्म का विकिरण भी बाधारहित हो सके।

ये सब विशिष्ट लक्षण तथा प्रतिचक्रवात वेज (Wedges) के अग्रभागों में पाए जाते हैं और इसलिए इस प्रकार का दाब-वितरण जब होता है, तब ओस और तुषार प्रायः हुआ करते हैं।

ये डा० वेल्स (Dr. Wells) थे जिन्होंने सन् १८१८ ईसवी में पहले-पहल ओस के निर्माण-विधि की व्याख्या की। उनके समय से आज से ६० वर्षों पहले की यह धारणा थी कि वाष्प जिसके जमने से ओस बनती है, वायु में सूर्य के नीचे होने पर पहले ही से वर्त्तमान रहती है। किन्तु १८८५ में जॉन ऐहकिन ने जो स्कॉटलैंड मौसम विज्ञान के ज्ञाता (Meteorologist) थे, अपने बहुत से प्रेक्षणों को प्रकाशित किया जिससे यह पता चलता है कि यह मत पूर्णतः ठीक नहीं है।

उन्होंने एक तृण (turf) को जड़ तथा मिट्टी समेत काट लिया और उसे एक लोहे के थाल में लगा दिया जिससे वह इच्छानुसार हटाया जा सके या वहाँ दूसरी घास लगायी जा सके। संध्या समय जब ओस बनने वाली थी तब उस तृण को लेकर तौला गया और पुनः वह मैदान में अपनी जगह पर लगा दिया गया।

घनी ओस पड़ने के पश्चात् तृण के भीगने पर उसे पुनः वहाँ से हटाकर तौला गया। उसपर ओस के रहने के बावजूद पहलेकी अपेक्षा उसका वजन कम था जिससे पता चलता है कि तृण को संघनन से जितना जल प्राप्त हुआ था उसकी अपेक्षा उसका अधिक जल वायु में समाप्त हो गया था।

उन्होंने कम ऊँचे बक्स या टिन के लगभग तीन इंच मोटे थाल भी बनवाए और उन्हें उलटकर जमीन पर रख दिया जिससे उनका पेंदा (भूतल से) तीन इंच ऊपर था। थालों की भीतरी भाग पर ओस प्रचुरता से जम गयी किन्तु बाहरी भाग पर लेशमात्र भी नहीं थी। इसी प्रकार यह भी देखा जा सकता है कि जब रोड़ भूमि पर आबद्ध पड़े रहते हैं तब उनके निम्न भाग पर ऊपरी सतह की अपेक्षा प्रायः अधिक ओस जमा रहती है।

इन प्रयोगों से इस बात की पुष्टि होती है कि ओस की निर्माण करनेवाली वाष्प भूमि से निकलती है। इंगलैंड की जलवायु के सदृश जलवायु में पृथ्वी सर्वदा न्यूनाधिक रूप से तर बनी रहती है; और यह आर्द्रता अविराम गति से वाष्पीकरण के द्वारा जमीन से निकल कर वायु में जाती रहती है। घास तथा अन्य पौधे इस क्रिया में पर्याप्ति रूप से सहायक होते हैं। वे अपनी जड़ों द्वारा नमी खींचते हैं और उसे अपने पत्तों द्वारा उत्सेदित (transpire) कर देते हैं। पृथ्वी जितनी ही उष्ण रहगी, वाष्प स्रोत भी उतनी ही तेजी से पृथ्वी से वायु में जमता है। जब तक वायु उष्ण तथा असंतृप्त रहती है और भूमि उष्ण तब तक आर्द्रता वायु में वाष्प के रूप में रहेगी। किन्तु रात्रि में विकिरण के द्वारा ताप के ह्रास से घास की पत्तियाँ और साथ ही भूमि की वास्तविक सतह भी ठंडी हो जाती है (जब कि उसके नीचे की पृथ्वी उष्ण ही रहती है) तथा वाष्प उन पर ओस के रूप में जम जाती है।

जब पृथ्वी सतह के नीचे सर्द रहती है, तब वाष्पीकरण अपेक्षाकृत अधिक मन्द-गति से होता है जिससे वाष्प बहुत ही कम स्वच्छन्द गति से ऊपर उठता है। फलतः जमीन के ठीक ऊपर वायु में कम वाष्प रहता है, और वाष्प तब तक ठंडी होती जायगी जब तक उसका ताप कम होकर ओसांक को प्राप्त न हो जाय। घास बहुत ज्यादा ठंडी हो जायगी और ताप बहुत कम हो जायगा, किन्तु फिर भी ताप ओसांक से ऊपर रहेगा। ऐसी परिस्थितियों में ओसांक सम्भवतः ३२° से कम रहेगा और ओस के बदले तुषार की सृष्टि होगी।

ऊपर जो कुछ भी कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि ओस के विपुल होने की अत्यधिक सम्भावना तब रहती है जब सतह के नीचे पृथ्वी उष्ण रहती है। किंतु सतह सर्द रहती है। शरत के प्रारम्भ में ओस के प्रचुर होने का यही कारण है। पृथ्वी तब भी ग्रीष्म कालीन सूर्य के ताप के कारण गर्म रहती है; किन्तु रात्रि बहुत बड़ी होती है जिससे घास तथा भूमि की सतह आकाश के स्वच्छ रहने से विकिरण से बहुत सर्द हो जाती है। वसन्त में पृथ्वी सतह से कुछ दूर नीचे तक जाड़े के तुषार (frost) के विलीन होने के बाद तक भी सर्द रहती है जिससे वह अधिक मन्द गति से वाष्प छोड़ती है।

कुहासा अथवा कुहरा (Mist or fog):—ओस के निर्माण में अपने से अपेक्षाकृत अधिक सर्द वस्तु के सम्पर्क में आने से ओस से वायु ठंडी हो जाती है, किन्तु वायु का शेष भाग अपेक्षाकृत उष्ण ही रह जाता है और संघनन की क्रिया सर्द वस्तु की

सतह पर होती है, किन्तु यदि वायु का शीतन जारी रहता है तब वायु में ही संघनन होता है। जल की छोटी बूँदों का निर्माण होता है जो वायु में बहुत देर तक तैरते उतराती रह सकती हैं जिससे कुहरा (fog) या कुहासा (mist) का प्रादुर्भाव होता है, या वायुमंडल में ऊँचाई पर बादल (मेघ) प्रादुर्भूत होता है।

ऐसी आशा की जा सकती है कि जल की बूँदें बनने के बाद ही गिर जायँगी। वे वास्तव में गिरती हैं, लेकिन उस अवस्था को छोड़कर जबकि ऊर्ध्वमुखी वायु-स्रोत उन्हें अवरुद्ध करता है। किन्तु वे बहुत छोटी होती हैं। इसलिए वायु के अवरोध के कारण वे अत्यन्त मंदगति से नीचे गिरती हैं। बूँद का परिमाण जितना ही छोटा रहेगा उसकी तौल की तुलना में वायु का अवरोध भी उतना ही अधिक होगा।

सममण्डल (uniform spheres) का भार इसके आयतन के अनुपात में होता है और अर्द्धव्यास के घन के बराबर परिवर्द्धित होता है। वायु के अवरोध को नियन्त्रित करनेवाले नियम जटिल होते हैं। प्रायोगिक रूप से यह प्रदर्शित किया गया है कि वेग के बहुत अधिक रहने पर किसी मण्डल के विरुद्ध अवरोध उसके अर्द्धव्यास के वर्ग के बराबर बँट ज़ाता है। किन्तु वेग कम रहने पर वृद्धि की गति कम रहती है। इसलिए बूँद जितनी बड़ी होगी अवरोध की तुलना में भार भी उतना ही ज्यादा होगा ; तथा बूँद जितनी ही छोटी होगी, भार भी अवरोध की तुलना में उतना ही कम होगा। इसलिए बड़ी बूँद तेजी से गिरती है और उसके विपरीत छोटी बूँद शनैः-शनैः। फिर भी, जल की गिरती हुई बूँदे जिनका व्यास लगभग ५ मि० मि०से बड़ा होता है, अस्थायी होती हैं और शीघ्र ही अपेक्षाकृत छोटी बूँदों में विभक्त अथवा परिणत हो जाती हैं। [illegible] मील (२५ फुट प्रति से०) के अवसानीय (terminal) वेग की गति से वायु से होकर गिरती है। इसलिए प्रेक्षित बात यह है कि लम्बस्रोत (Current) के इस मान को पार कर जाने पर वर्षा बिल्कुल नहीं होगी। भूमि के निकट वायु-राशि पूर्ण रूप से कई प्रकार से ठंडी होती है।

वायु अपेक्षाकृत अधिक सर्द वायु के सम्पर्क में आने पर ठंडी हो सकती है ; किन्तु इस प्रकार जो संघनन की क्रिया होती है वह उतनी ज्यादा नहीं होती, क्योंकि जबतक उष्ण वायु ठंडी होती है, तबतक सर्द वायु उष्ण होती है और इसलिए उसमें अधिक बाष्प धारण की क्षमता रहती है।

७७ पृष्ठवाली सारणी से यह पता चलता है कि १ घनफुट संतृप्त वायु ६०° ताप पर ५·८७ ग्रेन जलवाष्प धारण करती है और १ घनफुट संतृप्त वायु ४०° ताप पर ३·०६ ग्रेन जलवाष्प धारण करती है। यदि संघनन नहीं होता तो मिश्रण का परिणाम स्वभावतः यह होता कि २ घनफुट वायु ५०° ताप पर ८·९६ ग्रेन जलवाष्प धारण करती, किन्तु सारणी को देखने पर पता चलेगा कि २ घनफुट वायु ५०° ताप पर ८·५६ ग्रेन से अधिक वाष्प नहीं धारण कर सकती है। अतः अतिरिक्त ०·४० ग्रेन संघनित हो जायगा। आँकड़े पूर्णतः शुद्ध नहीं हैं, क्योंकि संघनन की क्रिया की विधि में वायुमंडल में वर्तमान गुप्त उष्मा निःसृत हो जायगी तथा निर्णीत ताप ५०° से कुछ अधिक और इसी प्रकार आयतन भी २ घनफुट से कुछ अधिक होगा। किन्तु गणना से पता चलता है कि जब विभिन्न ताप वाली दो वायुराशियों को मिश्रित कर दिया जाता है तब वाष्प में संघनन होता है। लेकिन यद्यपि उसमें संघनन कम होता है, फिर भी इसे कुहरा (fog) ही माना जाता है।

इसलिए इससे स्पष्ट होता है कि मिश्रण से वास्तविक घने कुहरे का प्रादुर्भूत होना संभव नहीं है ; हाँ, यह एक विधि अवश्य है कि विभिन्न तापवाले दो आर्द्रवायु-स्रोतों के बीच जलवाष्प का संघनन होता है, किन्तु फिर भी इसे भूमि पर अथवा वायु-मंडल में उच्चतर स्तरों पर मेघ के रूप में अवहेलित नहीं छोड़ देना चाहिए।

और भी विधि है जिससे कुहरा अथवा कुहासा का निर्माण हो सकता है। वायु को ठंडा करने के बदले हम इससे कुछ और जलवाष्प मिला सकते हैं ; और यदि हम वायु जितने जलवाष्प से संतृप्त हो जाती है उससे भी अधिक जलवाष्प उसमें मिला देते हैं तो अतिरिक्त जलबाष्प में संघनन होगा। सर्द कोठरी में गर्म जल से स्नान करना ठीक नहीं होता। वायु जितना वाष्प धारण कर सकती है उससे ज्यादा वाष्प जल से उड़ कर उसमें प्रवेश करता है जिसका कुछ भाग जल की छोटी-छोटी बूँदों के रूप में संघटित हो जाता है और वाष्प के रूप में हमें दृष्टिगोचर होता है।

जब वायु सर्द रहती है, तब परिस्थितियाँ निर्दिष्ट रूप से यथार्थतः समान हो जाती हैं और पृथ्वी उष्ण तथा आर्द्र रहती है अथवा समुद्र में जल उष्ण रहता है। गर्म जल से जिस प्रकार वाष्प निकलता है उसी प्रकार उष्ण-पृथ्वी अथवा समुद्र से ऊपर उठते वाष्प के अंशतः संघनित होने से कुहरा का निर्माण होता है। हम जाड़े में बिना जमी हुई नदियों तथा झीलों की सतह से बहुधा वाष्प उड़ते हुए देख सकते हैं। किन्तु संतृप्त वायुखण्ड शीघ्रता से हवा द्वारा ऊपर चले जाते हैं और वहाँ की अधिक शुष्क वायु से जा मिलते हैं। फलतः वाष्पीय कुहरा कदाचित ही महत्वपूर्ण होता है। हाँ, विषम अवस्थाओं में ऐसा होता है अर्थात् ऐसा तभी होता है जब जाड़े में उच्च ध्रुवीय अक्षांशों में अनावृत्त जल रहता है। इसे आर्कटिक धूम कहते हैं।

विकिरण कुहरा (Radiation fog)—विकिरण के फलस्वरूप वायु अधिक शीघ्रता से ठंडी हो सकती है। संध्या समय आकाश के स्वच्छ रहने पर पहले भूपटल बाह्य विकिरण के कारण तेजी से ठंडा हो जाती है। भूमि के निकट की वायु भी ठंडी हो जाती है। हाँ, प्रबल हवा के रहने पर शीतन सूक्ष्म गति से होगा और यह भूमि के निकट के ठंढे वायु-खंडो को दूर भगा ले जायगी जिससे उष्णतर वायु उन वायु-खंडों को हटाकर उनकी जगह ले लेगी। फिर भी शान्त वातावरण में कई फुट मोटी वायु की पर्त्त ठंढी हो जाती है। इस विधि में संभवतः सतह पर की वायु की मन्द गतियों से सहायता मिलती है जो विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों तथा मिट्टी के बीच ताप के सूक्ष्म स्थानीय अन्तरों से, जो उनके (वनस्पतियों तथा मिट्टी के) विकिरण की विभिन्न गतियों (movements) के कारण होते हैं, उत्पन्न होती हैं।

इसके अतिरिक्त ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में ऊँची भूमि पहले कुछ अधिक स्वच्छन्दता से बाहर की ओर फैलती है। फलतः प्रत्येक पहाड़ी के शीर्ष के पार्श्व का वायु-खंड ठंडा हो जाता है जिससे उसका ताप पहाड़ी से दूरस्थ उसी स्तर पर की वायु के ताप से कम हो जाता है। ये सूक्ष्म रूप से अपेक्षाकृत ठंडे वायु-खंड पार्श्व वायु से अधिक भारी होने के कारण नीचे की ओर चलने में प्रवृत्त होते हैं ; और स्वभावतः नीचे की ओर प्रवाहमान होते हैं। यह प्रक्रम विस्तृत रूप से होता है। पहाड़ी की ढाल से लगभग सूर्यास्त के समय शीतल वायु के क्षीण स्थलीय स्रोत मन्द-गति से नीचे की ओर चलते हैं। उदाहरणार्थ छोटी-छोटी पहाड़ियों पर सिगरेट धुँएँ के प्रवाह को देख कर ये पहचाने जा सकते हैं, यहाँ तक कि चिल्टर्न की घाटि

(Chiltern Valleys) में स्थानीय सन्ध्या समीरों के प्रादुर्भाव में भी यही विधि प्रेक्षित हुई है। अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर नीचे की ओर बहती हुई प्रबल हवाएँ ग्रीनलैंड के फोयर्डो (Greenland fiords) में समय-समय पर बहती हैं और ऊपर उठती हैं, क्योंकि हिम के शीर्ष (Ice Cap) के उच्च हिमाच्छादित आभ्यन्तरिक भाग बहुत अच्छे विकीरक (Radiator) हैं। इस प्रकार के अन्य कृण्टीय (Gravitational) वायु-स्रोतों को केटेबेटिक हवाएँ (Katabatic winds) कहते हैं। ग्रीनलैंड के हिम शीर्ष की सतह पर कभी-कभी वायु पार्श्ववर्ती समुद्रों में उसी स्तर पर ५०° से भी अधिक ठंडी हो जाती है।

इस देश (इंगलैंड) की बड़ी तथा छोटी घाटियाँ शीघ्र ही सर्द वायु के तड़ाग बन जाती हैं जो जाड़े में संध्याओं के समय उच्चतर भूमि से नीचे उतर आती हैं।

इस तरह का वायु-तड़ाग बहिर्मुख विकिरण के द्वारा उष्मा विसर्जित करता है। जब भूमि पहले से ही आर्द्र रहती है तब नीचे की ओर बहनेवाली वायु अधिक नमी ग्रहण नहीं कर सकती है जिससे इसके संतृप्ति विन्दु (Saturation point) को प्राप्त होने में अल्प शीतन की आवश्यकता होती है। अतः हम देखते हैं कि कुहराघाटी की तलहटियों में खासकर आर्द्रभूमि के खुले खण्डों तथा रूखड़े कच्छों में वनस्पति में जमा होने लगती है। इसके अतिरिक्त प्रायः संतृप्त वायु की विभिन्न बूँदों, जिनमें ताप में अल्पभिन्नता होती है, तथा ऊपर की वायु के बीच मिश्रण होता है। फलतः शरत्काल में आर्द्र मौसम की अवधि के पश्चात् तथा स्वच्छ रात्रि के बाद, मिडलैंड (Midland) की नदी की अधिकांश घाटियाँ विकिरण कुहरा (Radiation fog) से पर्याप्त गहराई तक ढँक जायँगी—यहाँ तक कि कभी-कभी उसकी मोटाई ५०० फुट (प्लेट २) तक हो जायगी।

कम घना विकिरण कुहरा; जिसका एक बार निर्माण हो जाता है, सूर्य की किरणों के प्रखर होने पर शीघ्र ही विलुप्त हो जायगा। ग्रीष्म में प्रातःकाल घाटी में कुहरे सबेरे सामान्यतः पाये जाते हैं। तब अधिक घने विकिरण-कुहरे अपेक्षाकृत अधिक अवरोधक होते हैं, जिससे वे दूसरे दिन भी रह सकते हैं और दूसरी रात्रि में इनका घनापन बढ़ सकता है। ऐसा इसलिए होता है कि शरत् में सूर्य का प्रभाव कम प्रभावोत्पादक होता है और उसकी किरणों में प्रवेश नहीं कर सकतीं जिससे भूमि तथा उसके ऊपर की वायु पर्याप्त रूप से उष्ण हो सके, जिसके फलस्वरूप आर्द्रता का अवशोषण (absorption) हो।

इसलिए यह स्पष्ट है कि ५० फुट से अधिक ऊँचे शैल-शीर्ष (hill-tops) बहुधा उभड़े रहते हैं ; परंतु सबसे खराब कुहरे को छोड़कर, जो नॉर्थ डाउन्स के निवासियों को, जिन्हें शीत-काल में लन्दन तथा टेम्स नदी की घाटी के अन्य (शीत से बचने के लिए) भागों की यात्रा करनी पड़ती है, अच्छी तरह विदित है।

इंगलैंड के बड़े शहरों में मटर की कढ़ी के रंग वाला अप्रिय आपज्जनक भूरा-पीला (Brownish-Yellow) कुहारा, धुएँ के असंख्य कणों, जिनमें बहुधा गंधक के विभिन्न संयोग (Various Compounds) रहते हैं, के कुहरे के अन्तर्गत जमा होने से उत्पन्न होता है। अपेक्षाकृत अधिक ठंडा वायु-तड़ाग, जिसमें कुहरा उत्पन्न हुआ है उच्चतर तापवाली वायु से ढँका रहता है ; अर्थात् वहाँ पर प्रतिलोम (Inversion) होता है। फलतः ; यदि प्रतिलोम की ऊपरी सीमा पर एक छोटी वायु-राशि

ऊपर उठने के लिए प्रेरित की जाती है, तो यह तत्काल पहले की अपेक्षा अधिक उच्चतर वातावरण में पहुँच जायगी और नीचे गिर जायगी। संक्षेप में निष्कर्ष यह निकलता है कि वायुमण्डल अस्थायी संतुलन की अवस्था में रहता है। ऐसी परिस्थितियों में धुआँ तथा अन्य दह्य वस्तुओं की ऊर्ध्वमुखी गति अवरुद्ध हो जाती है, जिससे वे केवल अनुप्रस्थ रूपसे फैल सकती हैं। जब आकाश नीला रहता है और समीर चलता रहता है तब कुहरा से ऊपर उड़ते हुए वायुयान-चालक अनुप्रस्थ दृश्यता (horizontal Visibility) के रहने पर भी नीचे भूमि पर स्थित किसी भी वस्तु को नहीं देख सकता है।

स्थल पर प्रादुर्भूत बड़े-बड़े विकिरण कुहरे हल्की हवा के झोंकों से पार्श्ववर्त्ती क्षेत्रों में फैल सकते हैं। शीतकाल में टेम्स तथा मर्सी नदियों के मुहाने पर कुहरे प्रायः इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। जब हवा अधिक प्रबल हो जाती है तब सतह के निकट की अपेक्षाकृत अधिक सर्द पर्त्तें ऊपरवाली उष्णतर तथा शुष्कतर वायु से मिल जाती हैं जिससे कुहरा लुप्त हो जाता है।

हाल ही में यह देखा गया है कि शीत-कालीन कुहरे बड़े शहर के मध्य में गली के स्तर पर नितान्त रूप से इतना ज्यादा घने नहीं रहते हैं जितना पार्कों तथा खुले स्थानों में रहते हैं। ऐसा प्रधानतः विशाल तप्त भवनों के आस-पास में सूक्ष्म तथा दृश्यमान से होनेवाले तापन (Warming) के फलस्वरूप ही होता है।

विकिरणवाले कुहरे साधारणतया सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में शरद् ऋतु में विशेषकर उत्पन्न होते हैं और घाटीवाली बेसिन में अवस्थित प्रेग जैसे महादेशीय नगरों में ये (कुहरे) अप्रतिभरूप से प्रसिद्ध हैं।

अभिवहन कुहरा (Advection fog) :—भूपटल पर विशाल वायु राशियाँ दूसरी तरल ओसांक से अधिक ठण्डी तब होती हैं जब उष्णाद्र वायु निश्चित रूप से किसी अपेक्षाकृत अधिक सर्द क्षेत्र की ओर बहती है। अर्थात् सर्द महासागरीय धारा या हिमाच्छादित भूमि की सतह जहाँ से वर्फ हाल ही में गलकर लुप्त हुई हो, की ओर अभिवहन-कुहरा को प्रायः गतिक कुहरा (Movement fog) कहते हैं; क्योंकि अभिवहन-कुहरा के विपरीत यह वायु की विस्तृत गति के साथ सम्बद्ध रहता है।

इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अटलांटिक महासागर में न्यूफाउण्डलैंड से कुछ दूर पर मिलता है।

गल्फ स्ट्रीम धारा की सतह का उष्ण जल तथा लैब्राडोर की धारा के बीच की सीमा न्यूफाउण्डलैंड से दक्षिण तथा दक्षिणी-पूर्वी भाग से अधिक दूर पर स्थित नहीं है, और यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रायः सर्वदा, जब भी हल्की हवा दक्षिण-पश्चिम तथा पूर्व के बीच से बहती है तब अपेक्षित दशाएँ आ उपस्थित होती हैं। सतह पर की वायु अपेक्षाकृत अधिक उष्ण जल से आर्द्रता लेकर उसे दक्षिण की ओर ले जाती है; और तत्पश्चात् स्थल पर बहती है, जो प्रायः २०° अधिक ठंडा रहता है। जो स्थायी कुहरे उत्पन्न होते हैं, वे साल के किसी भी समय में हो सकते हैं; किन्तु वे अधिकांशतः ग्रीष्म के प्रारम्भ में हुआ करते हैं, जब लैब्राडोर से दूरस्थ शीतकालीन बर्फ के टुकड़ों के विगलित होने से निःसृत जल ग्रीनलैंड से प्रवाहित होनेवाली हिम-शिलाओं के साथ चल कर दक्षिण-पश्चिम में उष्ण होनेवाले महादेश की तुलना में जल को विशेष रूप से शीतल बना देता है।

इसी प्रकार की परिस्थितियाँ, अर्थात् उष्ण एवं आर्द्र वायु का मन्द गति से अपेक्षाकृत अधिक ठंडे समुद्र से होकर बहना आदि प्राय: ब्रिटिश द्वीप-पुंज के आसपास के समुद्रों में पाई जाती हैं। जब हल्की उष्ण हवा बहती रहती है तब कॉर्नवाल में ग्रीष्म के प्रारम्भ में सामुद्रिक तटों पर कुहरे प्राय: उत्पन्न हुआ करते हैं। सतह पर की वायु जब इंगलिश चैनल को पार कर जाती है, तब यह शीघ्र ही प्राय: संतृप्त हो जाती है, तथा समुद्रों पर, जो इंगलैंड के निकट प्राय: सर्द रहा करते हैं, इसकी गति से कुहरा की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार (के प्रक्रमों की विधियों) से समुद्रतटीय कुहरे के बनने के कारण का पता लगता है। ये समुद्री-उद्वेग (Sea-fret), या पूर्वी स्कॉटलैंड में उत्तर सागर के किनारे 'हार' (Haar) के नाम से अभिहित हैं। ये मई तथा जून के प्रारम्भ में सब से ज्यादा होते हैं, क्योंकि उस ऋतु में शीतलतम जल साधारणतया इंगलैंड के उत्तरी-पूर्वी सामुद्रिक तहों से दूर रहते हैं। वह मानचित्र जो मई की समताप रेखाओं को प्रदर्शित करता है, इंगलैंड के उत्तरी-पूर्वी सामुद्रिक तटों के ताप पर पार्श्ववर्त्ती ठंडे समुद्र के प्रभाव का स्पष्ट रूप से निदर्शन करता है (अभिवहन कुहरे पर हवाओं के प्रभाव के लिए पृष्ठ १२० देखिए)।

देशाभ्यन्तर में जब उष्णार्द्र वायु हिमाच्छादित प्रदेश में बहती है, तब अभिवहन कुहरे उत्पन्न हो सकते हैं। यदि ऐसा कुहरा शीतकाल में कई दिनों तक सर्द मौसम का अनुसरण करता तो इससे प्राय: साधारण संद्रवण (thaw) का पूर्वाभास मिलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के आधार पर कुहरा शब्द मौसम-सम्बन्धी-वर्णनों (Weather reports) में वायुमंडलीय अदृश्यता के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें एक किलोमीटर (११०० गज) की दूरी की चीजें दृश्य नहीं रहतीं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि संसार के कुछ भागों में इस प्रकार की स्थिति आर्द्रता के द्वारा नहीं, बल्कि अन्य कारणों से उत्पन्न होती हैं जिनमें मरुभूमियों तथा पश्चिमी अफ्रिका में उनके सीमावर्त्ती क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले धूलिजात कुहरे प्रधान हैं, जो विशेष ऋतुओं में बहनेवाली हारमटन (Harmattan) जैसा प्रबल हवाओं से सम्बद्ध रहते हैं।

ब्रिटिश द्वीप-पुंज में जो विशेष प्रकार का पहाड़ी कुहरा होता है, वह सामान्यत: निम्न स्तरीय स्तृताकार मेघ रहते हैं; और इसलिए तद्‌विषयक शीर्षक में अगले अध्याय में उस पर विचार किया गया है।

धूलिकणों का प्रभाव—वायु का तापन (heating) तथा शीतन (Cooling) कुछ भागों में वायु में वर्त्तमान धूलिकणों के तपन और शीतन के द्वारा भी हो सकता है। वे स्थूल होते हैं, इसलिए वे अनायास सूर्य की किरणों से उष्ण हो जाते हैं; और साथ ही भूमि की तरह रात्रि में विकिरण द्वारा अनायास उष्मा विसर्जित कर देते हैं। परन्तु वाष्प के संघनन से उनका दूसरा कार्य भी होता है, विशेषकर वे जो आर्द्रतामापीय (hygroscopic) होते हैं; अर्थात् जिनमें संयोजक या जलाकर्षणशक्ति रहती है। ऐसे कणों में लवण के कण भी मिले रहते हैं जो शीकर के (spray) वाष्पीकरण के बाद वायु में रह जाते हैं।

ऐटकिन ने यह प्रदर्शित किया था कि यदि कुप्पी (flask) के अन्दर की वायु अकस्मात् सम्पूर्ण रूप से ठंडी हो जाती है तो संघनन की पद्धति वायु के धूलिमय अथवा

आठवाँ अध्याय

वृष्टि

(Precipitation)

यदि मेघ में संघनन पर्याप्त रूप से अधिक देर तक होता रहता है, तब जल की छोटी बूँदों का एकीकरण (Coalesce) बड़ी बूँदों के रूप में होता है, जो जल-फुहार या वर्षा के रूप में गिरती हैं,और जो बहुत हद तक मेघ के अन्तर्गत लम्ब गतिके मान (degree) पर निर्भर करती है। यदि ओसांक बहुत नीचे रहते हैं तब वाष्प जल की बूँदों के बदले, बर्फ के सूक्ष्म कणों के रूप में संघनित हो जाता है। एक सामान्य बर्फ के पतले टुकड़े (flake) में, जैसा इंगलैंड तथा हिमालय के शैलावासों में शीतकाल में प्रायः देखे जाते हैं, बहुत अधिक एकत्रित बर्फ के छोटे कण रहते हैं और जब ताप बहुत कम नहीं रहता है तब ऐसे टुकड़े (flakes) अनायास उत्पन्न होते हैं तथा बर्फ के कण न्यूनाधिक रूप से आर्द्र रहते हैं। बहुत ही सर्द मौसम में बर्फ के कण साधारणतः अलग रहा करते हैं।

संघनित वाष्प के गिरने का दूसरा रूप ओला (Hail) है। वर्षोपल (hail stone) प्रमुखतः वर्षा की बूँदों के जमने के फलस्वरूप बनते हैं। पुंज-जलद-मेघ (Cumulo-Nimbus) में ऊर्ध्वमुखी स्रोत इतने प्रचण्ड होते हैं कि मेघ के निम्न-भाग में प्रादुर्भूत वर्षा की बूँद ऐसे स्तर पर ले जायी जा सकती है, जहाँ वह जम जाती है, तथा इस प्रकार प्रादुर्भूत गुलिका (Pellet) के बाह्य भाग पर मेघ के ऊपरी भाग से बर्फ के कण आकर जमा हो सकते हैं। तत्पश्चात् गुलिका गिर पड़ती है जो अंशतः पिघल भी सकती है, किन्तु वायु का दूसरा लम्ब झोंका इसे एक बार पुनः ऊपर ले जाता है। यह प्रक्रम (Process) कई बार हो सकता है। इसलिये बड़े वर्षोपल प्रादुर्भूत होते हैं जो काटे जाने पर उज्ज्वल (Opaque) अपारदर्शी बर्फ की पर्त्तों का संकेन्द्र (Concentric) विन्यास प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि उष्णतर देशों में सतह के तपने के कारण स्थलीय-स्रोत अधिक प्रबल होते हैं, इसलिए पुंज-जलद-मेघ (Cumulo-Nimbus) अथवा गरजने वाले मेघ अधिक ऊपर चले जाते हैं तथा सबसे बड़े वर्षोपल उष्ण कटिबन्धीय (Tropical) देशों में, विशेषतः, पठारी भूमि अर्थात् दक्षिणी-अफ्रिका (छठे अध्याय से तुलना कीजिए) से आते हैं। समशीतोष्ण प्रदेशों में ग्रीष्म-ऋतु में वर्षोपल आकार में अधिक बड़े हो जाते हैं। शीतकाल में नर्म ओला, जिसमें छोटी गुलिकाएँ रहती हैं, वर्षा की बूँदों में उनके उद्भव वाले स्तर से थोड़ा ऊपर ले जाये जाने के बाद, गिर जाते हैं। यह साधारणतया तभी होता है जब वर्षावाले मेघ समुद्र की सतह पर ४२° औसत तापवाली वायु द्वारा लाये जाने पर ब्रिटिश द्वीप समह के सामुद्रिक तटों पर पहुँचते हैं, और जब वायु भूमि पर चलती है तब थोड़ा ऊपर उठने से प्रायः यह इतनी समर्थ हो जाती है जिससे यह वर्षा की बूँदों को इतना ऊपर ले जाती है कि वहाँ जाकर वे जम जाती हैं। इसलिए शीतकाल में ठंडी वृष्टि के मौसम में नर्म ओला पर्याप्त रूप से गिरा करता है।

विशाल पुंज-जलद-मेघों (Cumulo-Nimbus) के घिरने पर विद्युत्-सम्बन्धी होने वाले विक्षोभ के विषय में यहाँ उल्लेख कर देना उपयुक्त है। यह स्पष्ट है कि सुविकसित पुंज-जलद-मेघ के विभिन्न भागों में अति विभिन्न मात्राओं में वैद्युत्-प्रभार (Electric charge) उत्पन्न करने के लिए एक से अधिक प्रक्रम काम करते हैं। उदाहरणार्थ, यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि मेघ के निम्न भाग में वर्षा की बड़ी बूंदों के भग्न होने से पार्श्ववर्ती वायु पर प्रभार रह जाता है, तथा ऊपर में बर्फ के कणों के मध्य संघर्षक प्रभावों में स्थायी विद्युत् के अन्य स्रोत की संभावना की जा सकती है। वास्तव में प्रेक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्फुलिंग (Sparks) के लिए बर्फ के कणों का रहना आवश्यक है जिसे हम बिजली चमकना कहते हैं। इस प्रकार के प्रभार बहुत अधिक अनुपातों में बादल के विभिन्न भागों के बीच होते हैं, जिनमें कुछ सीधे पृथ्वी पर आते हैं। स्फुलिंग के फलस्वरूप प्रादुभूत विक्षोभ आवाज के रूप में हमारे कानों तक पहुँचता है, जिसे हम गर्जन कहते हैं।

वृष्टि-मापी (Rain Gauge) :—जल की समस्त मात्रा जो किसी निश्चित क्षेत्र में चाहे वर्षा या हिम, या ओला के रूप में गिरती है, उसे वृष्टि (Precipitation) कहते हैं। यह वृष्टि मापी के सहारे नापा जाता है। वृष्टि-मापी सिद्धान्ततः केवल एक कीप (funnel) रहता है जो इसपर होनेवाली वर्षा को धारण करने के लिए बने एक विशेष प्रकार के पात्र (Vessel) से मिला रहता है। कीप के मुँह का क्षेत्र ज्ञात रहता है तथा नीचे पात्र में एकत्रित जल की मात्रा को नापकर हम यह जान पाते हैं कि उस क्षेत्र में कितनी वर्षा हुई है।

फिर भी कई पूर्वविधान है जिनका, शुद्ध परिणाम के लिए, प्रयोग करना आवश्यक है। यदि वृष्टि-मापी का विक्षेपण जमीन पर अच्छी तरह होता है तब वायु-पूर्ण मौसम में वृष्टि-मापी के चारों ओर आवर्त्तों का प्रादुर्भाव होता है जिसमें वर्षा की कुछ बूंदों के ले जाने की प्रवृत्ति रहती है, जो भिन्न अवस्था में वृष्टि-मापी के भीतर उसकी परिधि (Rain) से बाहर गिरती हैं। फलतः तीन या चार फुट की ऊँचाई पर स्थापित विशेष प्रकार के वृष्टि-मापी की अपेक्षा, भूमि के निकट वाले वृष्टि-मापी में, अधिक जल संचित होता है। इंगलैंड में प्रचलित प्रमाप एक फुट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलनात्मक प्रयोजनों के लिए छतों पर रखे हुए वृष्टि-मापी प्रायः लाभ रहित होते हैं।

कीप के भीतर जो जल गिरता है उसका कुछ भाग उछल कर बाहर चला आता है और नष्ट हो जाता है। इसे यथासम्भव रोकने के लिए कीप के पार्श्वों को शीर्ष पर दो-तीन इंच लम्ब रहना चाहिए।

जब वृष्टि हिम के रूप में होती है तब विक्षोभ के बंद होने के पहले ही इसका मुँह बंद हो जाता है। इस असुविधा को दूर करने के लिए कीप के ऊपरी लम्ब पार्श्वों को पर्याप्त रूप से गहरा बना देना चाहिए। प्रेक्षण के समय बर्फ को पिघलाने के लिए उष्ण जल मापित-मात्रा में कीप में ढाला जा सकता है, तथा इसी के बराबर जल को संग्राही पात्र (collecting vessel) के संचित जल से घटा लेना आवश्यक है।

अंग्रेजी भाषा-भाषी क्षेत्रों में वर्षा की मात्रा प्रायः इंचों में व्यक्त की जाती है। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि किसी विशेष स्थान में दिन भर में एक इंच

वर्षा हुई है। इसका अर्थ यह होता है कि यदि वर्षा का सम्पूर्ण जल जो उस दिन पड़ा था, पड़ने के स्थान में ठहर जाता, तो भूमि एक इंच जल से ढँक जाती।

इसलिए वृष्टि-मापी के साथ एक मापन ग्लास (measuring glass) भी प्राय: दिया रहता है जिस पर कीप के उपयुक्त चिह्न अंकित रहते हैं। यदि कीप के मुँह का क्षेत्रफल १६वर्ग इंच है तो इसे उस क्षेत्र को एक इंच की गहराई तक ढँकने के लिए १६ घन इंच की आवश्यकता होती है। इसलिए मापन-ग्लास पर चिह्न इस प्रकार अंकित किए जायेंगे जिससे १६ घन इंच का परिमाण एक इंच के रूप में अंकित हो सके। कीप पर चिह्नित अंक घन इंच नहीं है, बल्कि वे कीप के मुँह के बराबर वाले क्षेत्र की गहराइयों के द्योतक हैं।

इंगलैंड के मैदानों में एक दिन में एक इंच वर्षा होना असाधारण है, किन्तु अधिक पहाड़ी अंचलों में यह असाधारण नहीं है, लेकिन मैदानों में भी अत्यधिक वर्षा समय-समय पर ही हुआ करती है। १९१२ के अगस्त महीने की २६ तारीख को नॉविच के निकट २४ घंटे के अन्दर आठ इंच वर्षा हुई थी। १९१७ के जून महीने की २८ तारीख तथा इसके बाद पुन: १९२७ के अगस्त महीने की १८ तारीख को समरसेट (Somerset) के मैदान में (एक दिन में) नौ इंच से भी अधिक वर्षा हुई थी।

इंगलैंड के पूर्व में पूरे वर्ष में औसत वर्षा २५ इंच के लगभग होती है; पश्चिम के मैदानों में यह ३० या ४० इंच तक हो सकती है, और पहाड़ी प्रदेशों में इससे भी बहुत अधिक। कम्बरलैंड में स्टीहेड (Sty Head) के निकट औसत वार्षिक वर्षा १८ इंच होती है, और बहुत समय तक यह ब्रिटिश द्वीप-समूह में सबसे आर्द्र स्थान समझा जाता था जिससे आँकड़े लिए जाते थे। किन्तु हाल में बहुत से वृष्टि-मापी पर्वतों पर स्थापित किए गये हैं, जिससे अपेक्षाकृत अधिक वर्षा का प्रेक्षण हुआ है। समीपवर्ती वृष्टि-मापियों के प्रमाण से यह गणना की गयी है कि स्नोडेन (Snowdon) के शिखर पर औसत वर्षा ठीक २०० इंच से अधिक होती है।

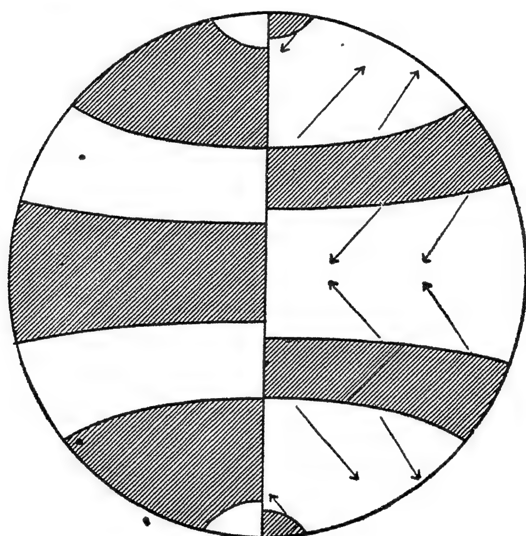
ब्रिटिश द्वीप-समूह के बाहर वर्षा की मात्रा में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। अदन (Aden) में दो-दो तीन-तीन वर्षों तक वर्षा बिलकुल नहीं होती है और आसाम के चेरापूँजी नामक स्थान में वार्षिक वर्षा ४६० इंच के लगभग होती है।

वर्षा का साधारण वितरण :—वर्षा उस वायु राशि के, जिसमें जलवाष्प रहता है, ठण्डी होने के फलस्वरूप होती है। स्थानीय तथा अस्थायी परिस्थिति के अलावे और दो विधियों से वायु ठण्डी होती है। वायु अधिक ठण्डे अक्षांशो तक या और भी ऊँचे अक्षांशों तक चली जाती है जहाँ ताप और दाब—दोनों कम रहते हैं। दोनों दशाओं में इसमें वर्षा करने की प्रवृत्ति रहती है। उष्ण वायु अपेक्षाकृत ठण्डे अक्षांशों की ओर प्रेरित होकर जब अपने मार्ग में पड़नेवाली अधिक ठण्डी वायु से मिलती है और उसके ऊपर उठ जाती है तब इससे वर्षा होती है।

इसके विपरीत जब वायु अपेक्षाकृत उष्ण अक्षांशों की ओर चलती रहती है, अर्थात् जहाँ यह नीचे उतरती रहती है, तब यह साधारणतया अधिक वाष्प धारण करने योग्य हो जाती हैं, और यह साधारणतया सूखी रहती है।

पृष्ठ संख्या २५ पर दाब (pressure) के साधारण वितरण से यह पता चलेगा कि पृथ्वी भूमध्य रेखा के समानान्तर उच्च तथा निम्न दाबों की पट्टियों से एकान्तर-तया आवृत्त है। हवाएँ प्रत्येक निम्न दाब की ओर तथा प्रत्येक उच्च दाब से बाहर

की ओर बहती हैं, इन्हें स्थायी हवाएँ कहते हैं। निम्न दाब की पट्टियाँ भी स्थायी होती हैं, अतः यह स्पष्ट है कि जो हवाएँ उनकी ओर बहती हैं, वे ऊपर (की ओर) चली जाती हैं। साथ ही उच्च-दाब वाले क्षेत्र भी स्थायी होते हैं, इसलिए जो वायु उनसे बाहर की ओर चलती है वह ऊपर से आनेवाली वायु द्वारा प्रतिस्थापित (replaced) हो जायगी। अतः निम्न दाब वाले क्षेत्रों के मध्य भाग के पास वायु ऊपर



वर्षा — वर्षा के क्षेत्र चिह्नित हैं
दाब — उच्च दाब के क्षेत्र चिह्नित हैं

चित्र ४०—वर्षा और दाब का सम्बन्ध

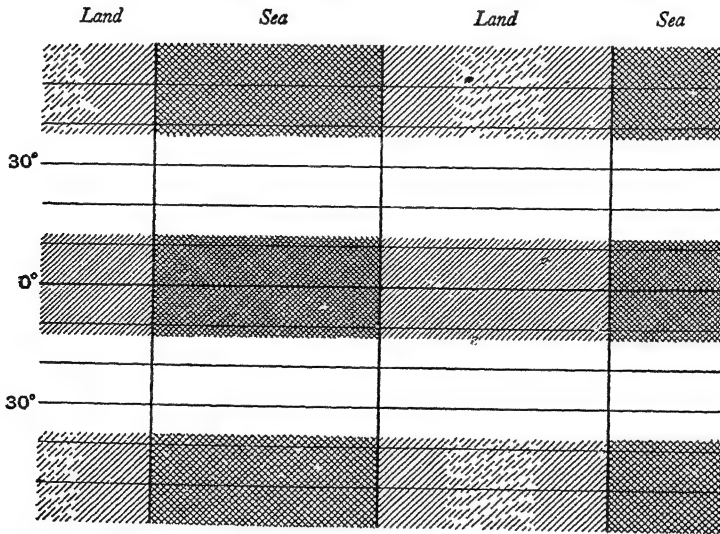
की ओर उठती जायगी और उच्च दाब वाले क्षेत्रों के मध्य भाग के पास नीचे की ओर गिरती जायगी।

जहाँ वायु ऊपर उठती रहती है और हवाएँ ध्रुवों की ओर बहती रहती हैं वहाँ की जलवायु में पहले के सिद्धान्त के अनुसार (*a priori* grounds) आर्द्र होने की प्रवृत्ति रहेगी। इसके विपरीत जहाँ वायु नीचे गिरती रहती है और हवाएँ भूमध्य रेखा की ओर बहती रहती हैं, वहाँ की जलवायु शुष्क होगी। इस तरह हम भूमण्डल को एकान्तरिक शुष्क (alternate dry) तथा आर्द्र पट्टियों की श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। ये पट्टियाँ दाब तथा स्थायी हवाओं के साधारण वितरण के अनुरूप होती हैं (चित्र ४०)। इस तरह का विभाजन वस्तुतः रेखाचित्र के समान होता है। प्रकृति में पट्टियों के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं होती, उनमें स्थान तथा जल के वितरण और ऋतुओं के कारण परिवर्तन होते हैं। किन्तु रेखाचित्र से जलावृत्त भूमंडल पर प्रायः वर्षा के सामान्य वितरण का पता चलता है।

सम्भवतः इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आकृति में शुष्क पट्टियाँ उच्च-दाब की पट्टियों की अपेक्षा अधिक चौड़ी बनायी गयी हैं, क्योंकि भूमध्य रेखा की ओर उच्च दाब के पार्श्वों में हवाएँ भूमध्य रेखा की ओर बहती हैं; अतः ये (हवाएँ) शुष्क होती है।

अधिकतम वृष्टि भूमध्य रेखीय निम्न दाब वाले क्षेत्र के मध्य में होगी, क्योंकि ऊर्द्धमुखी वायु अत्यधिक वाष्पयुक्त रहती है।

स्थल, समुद्र तथा हवाओं का प्रभाव :—साधारणतया समुद्र में वाष्प की मात्रा अधिक रहने के कारण स्थल की अपेक्षा अधिक वर्षा होगी, और इसलिए यदि स्थल और समुद्र एकान्तरिक पट्टियों में उत्तर से दक्षिण तक फैले रहते तो वर्षा का साधारण वितरण कुछ अधिक शुद्धि के साथ प्रदर्शित किया जाता जैसा कि चित्र ४१ में दिखाया गया है।

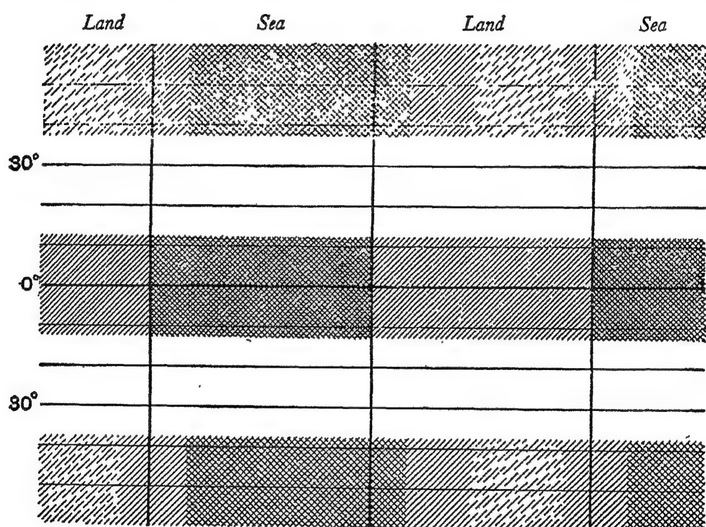


चित्र ४१—वर्षा पर स्थल और समुद्र का प्रभाव
प्रत्येक पट्टी में छाया की गहराई वृष्टि की मात्रा का द्योतक है।

इस रेखाचित्र में वर्षा समुद्र में स्थल की अपेक्षा अधिक दिखायी गयी है। सम-शीतोष्ण वृष्टि क्षेत्र में वर्षा प्रधानतः चक्रवातिक अवनमन (cyclonic depression) से होती है और महादेशों के मध्य भाग की अपेक्षा सामुद्रिक तटों पर बहुत ज्यादा होती है। भूमध्य रेखीय पट्टी में वर्षा प्रधानतया उस क्षेत्र की ऊर्द्धमुखी वायु से होती है और इसलिए सामुद्रिक तट तथा मध्यवर्ती भाग की वर्षा में किसी प्रकार का स्पष्ट अन्तर नहीं होता है। सभी पट्टियों में वर्षा की मात्रा पट्टी के पार्श्वों के पास घटती जाती है किन्तु जटिलता से बचने के लिए इसे इस रेखाचित्र में प्रदर्शित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

फिर भी, हवाओं का प्रभाव बहुत स्पष्ट पड़ता है। समशीतोष्ण अक्षांशों में प्रचलित हवाएँ पछुवा रहती हैं। वे महासागर से महादेशों के पश्चिमी पार्श्वों पर आर्द्रता लाती हैं। महादेश की ये हवाएँ कुछ हद तक महादेश की शुष्कता को उस समुद्र के पार्श्व पर ले जाती हैं, जो उस महादेश के पूर्वी तटों को प्रक्षालित करता है। ये वस्तुतः चित्र ४१ में प्रदर्शित सम्पूर्ण पट्टी को कुछ पूर्व की ओर खिसका देती हैं जैसा कि चित्र ४२ में प्रदर्शित किया गया है। इसलिए इन अक्षांशों में महादेशों के तटों पर महासागरीय वर्षा होती है तथा मध्यवर्ती और पूर्वी तटों पर चित्र ४१ महादेशीय वर्षा होती है। महासागरीय वर्षा महादेशीय वर्षा में शनैः-शनैः परिवर्तित होगी, क्योंकि स्थल के अन्दर आग बढ़न पर हवाओं की आर्द्रता भी शनैः-शनैः क्षीण होती जाती है।

उष्ण अक्षांशों में व्यापारिक हवाएँ महासागरों से वाष्प महादेशों के पूर्वी पार्श्वों पर लाती हैं। किन्तु चूँकि वे भूमध्य रेखा तथा पश्चिम की ओर चलती हैं, इसलिए



चित्र ४२—वर्षा पर हवाओं का प्रभाव

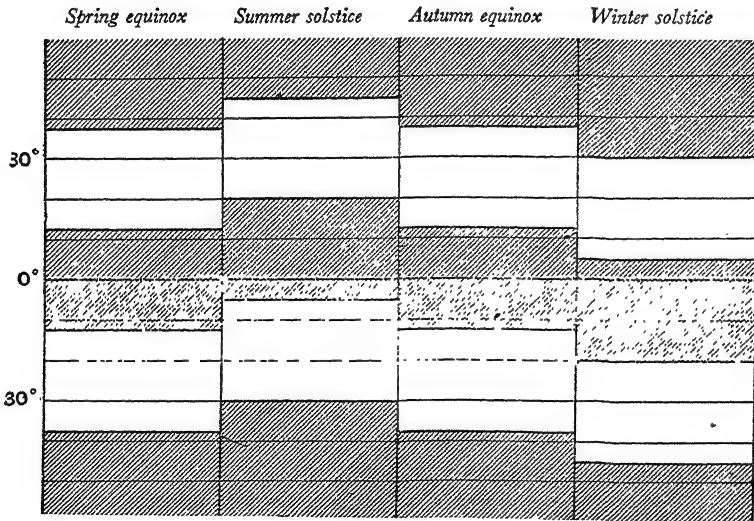
वे उष्णतर होती जाती हैं, अतः उनमें आर्द्रता को छोड़ देने की प्रवृत्ति नहीं रहती है, जब तक कि वे उत्तरोत्तर ऊँचे चढ़ते हुए स्थल द्वारा ऊपर की ओर प्रेरित नहीं हो जायँ। अतः उनका प्रभाव अधिकांशतः भूमि के आकार पर निर्भर करता है। अनुकूल परिस्थितियों में उष्ण कटिबन्धों में महादेश का पूर्वी पार्श्व उनके द्वारा आर्द्रतर हो जाता है, किन्तु ऐसा आवश्यक रूप से नहीं होता।

हवाओं के प्रमाण के लिए छूट देने तथा ऊँचाई और मौसमी परिवर्त्तनों को ध्यान में नहीं लाने पर वर्षा का साधारण वितरण उस प्रकार होगा जैसा नीचे दिखाया गया है।

वर्षा की पट्टियों के खिसकने के कारण मौसमी परिवर्तन :—जैसे-जैसे साल बीतता है, सूर्य की स्थिति पृथ्वी की स्थिति के विचार से बदलती जाती है। उच्च

तथा निम्न दाब की पट्टियों की अनुरूप गति होती है; इन्हीं के साथ-साथ आर्द्र तथा शुष्क पट्टियाँ उत्तर तथा दक्षिण आती-जाती रहती हैं। इनके आगे बढ़ने और पीछे हटने की सीमा संसार के विभिन्न भागों में बदलती रहती है किन्तु मोटे तौर से इसे इनकी मध्यमान स्थितियों को दोनों तरफ ८ अंश के आस-पास रखा जा सकता है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में भूमध्यरेखीय वर्षा की पट्टी का मध्य भाग हटकर ८ अंश उत्तर चला जाता है और उत्तरी गोलार्द्ध की शीतऋतु में ८ अंश दक्षिण। इन गतियों के फलस्वरूप संसार के कुछ भाग एक ऋतु में वर्षा की पट्टी में और दूसरी ऋतु में शुष्क पट्टी में पड़ते हैं।

महासागरों में सम्पातों तथा अयनान्तों (equinoxes and solstices) के समय आर्द्र तथा शुष्क पट्टियों की निकटस्थ स्थितियाँ चित्र ४३ में रेखाचित्र द्वारा दिखलायी गयी हैं।



चित्र ४३—वायु की पट्टियों का स्थान-परिवर्तन

इन रेखाचित्रों से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि भूमध्यरेखा के उत्तर या दक्षिण ३० और ४० अंशों के बीच कोई जगह जाड़े में समशीतोष्ण वर्षा की पट्टी में तथा ग्रीष्म में उष्ण एवं शुष्क पट्टी में पड़ेगी, अतः वहाँ जाड़ा आर्द्र और ग्रीष्म सूखा रहेगा।

अधिकांश भूमध्य सागरीय भागों की जलवायु में यह विशेषता पायी जाती है; इसलिए इसे भूमध्य सागरीय जलवायु कहते हैं। एक कारण से जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा, यह जलवायु महादेशीय पुंजों के पूर्वी सामुद्रिक तटों पर नहीं पायी जाती है; बल्कि यह केवल उनके पश्चिमी भागों में ही पायी जाती है। भूमध्यसागर, कैलिफोर्निया, चीली का एक भाग, अफ्रिका का दक्षिणी-पश्चिमी कोना, आस्ट्रेलिया का दक्षिणी-पश्चिमी कोना तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया का कुछ भाग—इन सभी जगहों

में वर्षा प्रधानतः जाड़े में अर्थात् साल के आधे शीत काल में होती है और ग्रीष्म प्रायः सूखा रहता है।

चूँकि आर्द्र तथा शुष्क पट्टियों के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं है, इसलिए भूमध्यसागरीय जलवायु की सीमाएँ स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं की गयी हैं।

समशीतोष्ण वर्षावाली पट्टी की अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तनीय जलवायु के बाद ही इसमें (जलवायु) परिवर्तन आने लगता है और अन्त में भूमध्यसागरीय जलवायु की शीतकालीन वर्षा तथा ग्रीष्मकालीन सूखे (droughts) मिलने लगते हैं।

निम्नांकित सारणी से यह साफ झलक जाता है। इसमें स्पेन के प्रायद्वीप के पश्चिमार्द्ध में स्थित कई स्थानों की प्रत्येक ऋतु में होनेवाली वर्षा की सम्पूर्ण मात्रा का औसत दिया गया है।

	अक्षांश उ०	वसंत मार्च-मई	ग्रीष्म जून-अगस्त	शरत् सित.-नवम्बर	जाड़ा दिस.फरबरी
ओवीडो	४३° २८′	२९·४	१७·१	२७·६	२५·९
गार्डा	४०° २३′	३१·२	८·०	३०·३	३०·५
लिस्बन	३८° ४२′	३०·३	३·४	२८·०	३८·३
सैन फरनैन्डो	३६° २८′	२९·०	२·३	२९·०	३९·७

दक्षिण की ओर ग्रीष्मकालीन वर्षा का समानुपात घटता जाता है और शीतकालीन वर्षा का समानुपात बढ़ता जाता है।

भूमध्यसागरीय शब्द का प्रयोग इस प्रकार की जलवायु के लिए करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि खासकर भूमध्यसागर के लिए भी उपर्युक्त साधारण व्याख्या नितान्त अपर्याप्त है और शीतकाशीन बर्षा के होने का कारण तो और भी जटिल है। जनवरी के वायु दाबमापीय दाब के वितरण के मानचित्र पर दृष्टिपात करने से पता चलेगा कि भूमध्यसागरीय क्षेत्र उच्च दाब के उत्तरी भाग के बदले दक्षिणी भाग में अवस्थित रहता है और यह दक्षिणी पछुवा हवाओं के क्षेत्र में कभी नहीं आता है। शीतकालीन हवाएँ वस्तुतः दक्षिण के बदले उत्तर से आती हैं। बेसिन के पश्चिमी भाग में उत्तर से आनेवाली हवाएँ अटलांटिक की दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं के रूप में परिलक्षित हो सकती हैं जो स्पेन को आवृत्त करनेवाले गौण प्रतिचक्रवातों के चारों ओर मुड़कर चलती हैं। किन्तु भूमध्यसागरीय वर्षा अधिकांश समानुपात में भूमध्यसागर में ही उत्पन्न होनेवाले निम्न दाब के क्रमों के फलस्वरूप होती है। इस क्रम का निम्न दाब वाली समशीतोष्ण प्रदेश की [illegible] नहीं रहता (अध्याय ९)।

किन्तु फिर भी कैलिफोर्निया या पुर्तगाल के महासागरीय तट पर वर्षा के मौसमी वितरण का कारण वर्षा की पट्टियों का खिसकना उपर्युक्त रीति से कहीं अधिक स्पष्टतापूर्वक बताया जा सकता है।

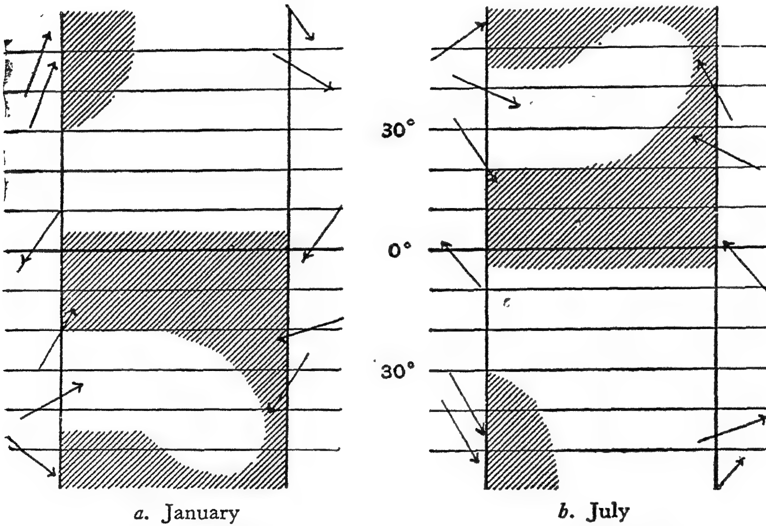
इसके विपरीत ५° तथा २०° उत्तर या दक्षिण अक्षांशों के बीच उष्ण-शुष्क पट्टियों के दक्षिणी पार्श्व के निकटवाली जगहें शीतकाल में शुष्क पट्टी में पड़ेंगी, किन्तु ग्रीष्म में वे भूमध्यरेखीय वर्षा वाली पट्टी में पड़ेंगी। इसलिए उन जगहों में जाड़े की ऋतुएँ शुष्क तथा ग्रीष्म ऋतुएँ आर्द्र होंगी।

सभी पट्टियों के मध्य में मौसमी परिवर्तन सूक्ष्म होंगे। भूमध्यरेखा सदा वर्षा

की पट्टी में पड़ती है; अतः वहाँ प्रायः साल भर एक रूप से वर्षा का होना आवश्यक है। और समशीतोष्ण प्रदेशों के अधिकांश भाग में साल की सभी ऋतुओं में वर्षा होती है तथा शुष्क पट्टियों के मध्य में प्रायः सदा सूखा रहता है।

स्थल तथा समुद्र के विस्तार के फलस्वरूप मौसमी परिवर्तन :—अब तक हमने आर्द्र तथा शुष्क क्षेत्रों पर उन्हें अविछिन्न कटिबन्ध मानकर विचार किया है। य कटिबन्ध भूमंडल को चारों ओर से आवृत्त करते हैं। किन्तु इस बात पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है कि महादेशीय समहों की उपस्थिति के कारण ऋतुओं के साथ-साथ उच्च दाव के क्षेत्रों का रूप भी परिवर्तित होता है, और इसलिए वर्षा के वितरण में भी अनुरूप परिवर्तन होता है।

चित्र १३ और १४ से शीत एवं ग्रीष्म काल में दाब का वितरण रेखाचित्र के रूप मे प्रदर्शित होता है, और ऐसे वितरण के द्वारा हवाओं की दिशाएँ जो होती हैं, वे तीरों द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं।



चित्र ४४—महाद्वीप पर मौसमी वर्षा के वितरण का रेखाचित्र

इंगलैंड के शीतकाल में प्रेक्षण से यह पता चलेगा कि इसके पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर ३०° उत्तर अक्षांशों के उत्तर प्रचलित हवाएँ दक्षिणी-पश्चिमी रहती हैं। ये हवाएँ भूमध्यरेखा से दूर समुद्र से स्थल की ओर बहती हैं। इसलिए इस ऋतु में पश्चिमी सामुद्रिक तट भूमध्यसागरीय अक्षांश तक आर्द्र रहते हैं। पूर्वी सामुद्रिक तटों पर हवाएँ (उत्तर से आती हैं) उत्तरी रहती हैं और स्थल से समुद्र की ओर बहती हैं; इसलिए शीतकाल में इन तटों के पास के स्थलीय भाग शुष्क एवं सर्द रहते हैं (चित्र ४४a)। यही कारण है कि भीषण तुषाररहित भूमध्यसागरीय जलवायु उसी अक्षांश में पूर्वी तटों पर नहीं पायी जाती है हालाँकि सामुद्रिक तटों पर ही, खासकर

निकटवर्ती द्वीपों में शीतकाल में वर्षा का अभाव नहीं रहता, क्योंकि उस क्षेत्र में स्थल से सर्द या ठंडी वायु आकर बिना जमे हुए समुद्र की उष्ण वायु से मिलती है। इस पर नवम् अध्याय में और भी विशेष रूप से प्रकाश डाला जायगा।

इंगलैंड में ग्रीष्म में उच्च दाव कुछ अधिक उत्तर रहता है किन्तु स्थल-समूहों, जो निम्नदाब के क्षेत्र रहते हैं, के द्वारा इसका क्रम टूट जाता है। पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर इस समय भी हवाएँ दक्षिणी-पश्चिमी रहती हैं किन्तु उतनी दूर दक्षिण तक नहीं जा पाती हैं। लगभग ३०° से ४०° अक्षांशों तक हवाएँ थोड़ी बहुत उत्तरी रहती हैं (या उत्तर से चलती हैं) और ये समुद्र से आने पर भी अपेक्षाकृत उष्ण क्षेत्र की ओर चलती रहती हैं। इसीलिए ये शुष्क रहती हैं और हम भूमध्यसागरीय जलवायु के सूखपन का अनुभव करते हैं। पूर्वी सामुद्रिक तटों पर उन्हीं अक्षांशों में हवाएँ दक्षिणी रहती हैं और समुद्र से स्थल की ओर बहती हैं, अतः उनसे वर्षा होती है (चित्र ४४b)।

इस तरह पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर ३०° और ४०° उत्तर या दक्षिण भूमध्य-सागरीय जलवायु पायी जाती है, जिसमें ग्रीष्म सूखा रहता है और जाड़े में वर्षा होती है और पूर्वी सामुद्रिक तटों पर मौसमी जलवायु पायी जाती है जिसमें जाड़ा सूखा रहता है तथा ग्रीष्म में वर्षा होती है। हाँ, उत्तर हटकर सामुद्रिक तटीय संकीर्ण पट्टी में भी जाड़े में कुछ वर्षा हो जाती है। किन्तु मौसमी जलवायु अक्षांश में भूमध्यसागरीय जलवायु की अपेक्षा बड़े क्षेत्र को आवृत्त करती है तथा भूमध्य रेखा के पास भूमध्य रेखीय वर्षा की पट्टी के हट जाने के कारण यह तद्नुरूप जलवायु में समाहित हो जाती है।

समशीतोष्ण कटिबन्ध में ४० उत्तर अक्षांश के बाहर पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर प्रचलित हवाएँ साल भर दक्षिण-पश्चिम से आती हैं और इसलिए वहाँ सभी ऋतुओं में वर्षा होती है किन्तु सबसे ज्यादा वर्षा शीतकाल में ही होती है, क्योंकि उस समय पछुवाँ हवाओं की प्रवणता सबसे अधिक रहती है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जाड़े में वहाँ गंभीर तथा सक्रिय चक्रवात सबसे अधिक आते हैं। पूर्वी सामुद्रिक तटों पर जाड़े में हवाएँ थोड़ी-बहुत उत्तर से आती हैं। ये हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर बहती हैं और इसलिए संकीर्ण तटवर्ती पट्टी को छोड़ वहाँ वर्षा कम होती है। ग्रीष्म में हवाओं में समुद्र से स्थल के अन्दर बहने की प्रवृत्ति रहती है; इनसे थोड़ी वर्षा हो जाती है। जाड़े में स्थल-समूह का भीतरी भाग उच्च दाब का क्षेत्र रहता है तथा यह शुष्क रहता है, और ग्रीष्म में यह निम्न दाब का क्षेत्र रहता है, जिसके फलस्वरूप अधिकांश वर्षा इसी मौसम में होती है।

इस प्रकार इन अक्षांशों में लगभग ४०° से ६०° या ७०° तक महादेशों के पूर्वी सामुद्रिक तटों पर साल भर वर्षा होती है; परन्तु अधिकांश वर्षा जाड़े में या शरत् ऋतु के अन्त में होती है। आभ्यन्तरिक भागों तथा पूर्वी सामुद्रिक तटों पर सबसे अधिक वर्षा ग्रीष्म में होती है, किन्तु फिर भी वर्षा की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है, क्योंकि हवाओं का, जो स्थल पर बहुत दूर तक बहती हैं, समानुपात अधिक रहता है।

निम्नांकित सारणी में प्रत्येक मौसम में होनेवाले वार्षिक वर्षा की सम्पूर्ण मात्रा का प्रतिशत दिया गया है, इससे (सारणी) यूरेशिया महादेश में पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ने पर जो परिवर्तन होता है, उसका पता चलता है:—

	वसंत	ग्रीष्म	शरत्	जाड़ा
आयरलैंड	२१*	२४	२७	२८†
पूर्वी इंगलैंड	१९*	२८	३०†	२३
मध्य जर्मनी	२३	३४†	२३	२०*
मध्य रूस	२२	३७†	२५	१६*
पश्चिमी साइबेरिया	१३*	४२†	३२	१३*
पूर्वी साइबेरिया	१२	५८†	२१	९*

उष्ण-शुष्क क्षेत्र :—वर्षा के वितरण में मौसमी परिवर्तन के कारण उष्ण खण्ड के शुष्क क्षेत्र भूमंडल अथवा स्थल के आरपार अविछिन्न पट्टी का निर्माण नहीं करते। पश्चिमी सामुद्रिक तटों पर वे शुष्क पट्टी की सामान्य स्थिति से बहुत कुछ मिलते-जुलते होते हैं जैसा कि चित्र ४१ में दिखाया गया है। किन्तु उसी अक्षांश पर अवस्थित पूर्वी सामुद्रिक तट मौसमी जलवायुवाले क्षेत्रों में पड़ते हैं और वहाँ काफी वर्षा होती है। इसलिए महादेशों के पश्चिमी भाग में मरूभूमियाँ समुद्र तक फैली हैं' किन्तु पूर्वी भाग में वे सामुद्रिक तटों तक पहुँचने के पहले ही सीमित हो जाती हैं। फिर भी पूव की ओर उनमें भूमध्य-रेखा से दूर तक फैलने की प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि समशीतोष्ण अक्षांशों म महादेशों के आभ्यन्तरिक भागों में बहुत कम वर्षा होती है।

शुष्क क्षेत्रों में जिस साधारण आकृति को ग्रहण करने की प्रवृत्ति रहती है, वह चित्र ४४a तथा ४४b की आकृतियों से समझ में आ जायगी। चित्र ४४a में किसी महादेश में जनवरी में होनेवाली वर्षा के क्षेत्र जो उत्तर से दक्षिण तक फैला है, रेखा-चित्र के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। केवल उत्तरी गोलार्द्ध पर विचार करने से यह पता चलेगा कि भूमध्यरेखीय वर्षा की पट्टी ५ अंश उत्तर तक फैली है। पश्चिमी सामुद्रिक तट पर पछुआँ हवाओं से होनेवाली वर्षा दक्षिर्ण की ओर ३०° उत्तर तक होती है। आभ्यन्तरिक भाग तथा पूर्वी सामुद्रिक तट, जिनका वर्णन पहले हो चुका है, शुष्क रहते हैं।

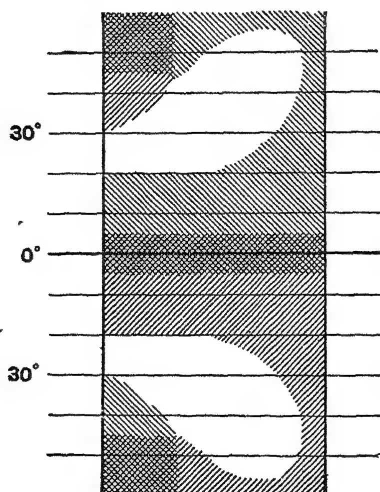
जुलाई में (चित्र ४४b) भूमध्यरेखीय वर्षा की पट्टी २०° उत्तर अक्षांश तक जाती है। समशीतोष्ण वर्षा की पट्टी दक्षिण की ओर केवल ४५° उत्तर तक जाती है किन्तु इस मौसम में यह सम्पूर्ण महादेश में फैल जाती है, फिर भी वर्षा की मात्रा (पश्चिम से) पूर्व की ओर कम होती जाती है। पूर्वी सामुद्रिक तट पर समुद्र से स्थल की ओर चलने वाली हवाओं के कारण मौसमी वर्षा होती है।

यह वर्षा उत्तर की ओर समशीतोष्ण वर्षा की पट्टी तक होती है, इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्वी सामुद्रिक तट आर्द्र रहता है।

चित्र ४५ में जनवरी और जुलाई—दोनों महीनों की वर्षा दिखाई गयी है। इससे इस बात का पता चलेगा कि दोनों महीनों में शुष्क रहनेवाला क्षेत्र २०° और ३०° उत्तर अक्षांशों के बीच पश्चिम सामुद्रिक तट पर तक फैला है। यह भीतर तथा उत्तर की ओर फैलता अवश्य है किन्तु पूर्वी सामुद्रिक तट तक कहीं भी नहीं जाता।

महादेशों की अनियमित रूपरेखा तथा पर्वतीय श्रृंखलाओं के कारण भूमंडल के वास्तविक शुष्क क्षेत्रों यथार्थतः इस आकार के नहीं हैं। किन्तु वार्षिक वर्षा का मान-चित्र (मानचित्र ७) इस बात का द्योतक है कि उत्तरी गोलार्द्ध के बड़े स्थल समूहों तथा

आस्ट्रेलिया में भी १० इंच से कम वर्षा का एक क्षेत्र २०° से ३०° के बीच पश्चिमी सामुद्रिक तटों तक फला है; यह भीतर की ओर फलता है—विशषकर उस भाग में जो भूमध्यरेखा से दूर है, किन्तु यह पूर्वी सामुद्रिक तट तक नहीं जाता।



चित्र ४५—महाद्वीप पर नम और शुष्क क्षेत्रों का रेखाचित्र

वर्षा पर ऊँचाई का प्रभाव :—वायुमंडल में वर्तमान अर्द्ध जलवाष्प ६५०० फुट की ऊँचाई के नीचे रहता है, और तीन चौथाई १३,००० फुट के नीचे। इसलिए एक ऊँची पर्वतश्रेणी वाष्प के मार्ग में एक बहुत बड़ प्रभावशाली अवरोधक का कार्य करती है। यही कारण है कि हमें पता चलता है कि भूमंडल की अधिकांश बड़ी पर्वतश्रेणियाँ ऐसे क्षेत्रों को अलग करती हैं, जिनकी जलवायु भिन्न होती है। कनाडा में रॉकी तथा तटीय श्रेणियों (Coast Ranges) के पश्चिम में तटीय ब्रिटिश कोलम्बिया है जहाँ काफी वर्षा होती है तथा ताप (temperature) स्निग्ध रहता है। इसके पूरब में ससकेचवान के मैदान पड़ते हैं जहाँ कम वर्षा होती है तथा ताप बहुत विषम होता है। एटलस पर्वत के उत्तर में मोरक्को है और दक्षिण में सहारा की मरुभूमि जिनमें पहले की जलवायु करीब-करीब भूमध्यसागरीय जलवायु के समान है और दूसरी सूर्य से तप्त और प्रायः साल भर वर्षा रहित रहती है।

लेकिन पर्वतीयश्रृंखला का प्रभाव वर्षा पर केवल इस बात को लेकर नहीं पड़ता है कि यह कगार की भाँति वाष्प वाले समुद्र के ऊपर उठा रहता है। यह केवल एक तरफ से दूसरी तरफ भाप को आसानी से जाने में ही नहीं रोकता बल्कि यह दोनों तरफ संघनन उत्पन्न करने में भी प्रवृत्त होता है, क्योंकि जब कभी हवा किसी पर्वत-श्रृंखला से जाकर टकराती है तब यह ऊपर की ओर उत्प्रेरित हो जाती है। वायु फैलती है और फलतः ठंडी हो जाती है तथा यदि पर्याप्त ऊँचाई पर पहुँच जाती है तब

इसमें वर्तमान कुछ भाप सघन हो जाती है जिससे मेघों का निर्माण होता है तथा वर्षा होती है। यही कारण है कि प्रत्येक पर्वत या पर्वतश्रेणी पर जिस मैदान से यह उठती है उसकी अपेक्षा अधिक मेघ रहा करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक वर्षा भी होती है। यहाँ तक कि सहारा के मध्य की ऐस्बेन (Asben) तथा तिबेस्ती (Tibesti) की श्रेणियों पर मौसमी वर्षा नियमित रूप से होती है।

यदि पर्वतश्रेणी ऊँची रही, तो अधिकांश भाप उसके अनुवात पार्श्व (windward side) पर संघनित हो जायगी और प्रतिवात या वृष्टि छाया (Lee ward side) में कम वर्षा होगी। यह प्रधानतः इसलिए होता है कि ब्रिटिश द्वीप का पश्चिमी भाग पूर्वी भाग की अपेक्षा बहुत अधिक आर्द्र है। फ्रांस के दक्षिणार्द्ध में जो दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं के प्रभाव में भी पड़ता है, सबसे अधिक वर्षा पश्चिमी भाग में नहीं होती है बल्कि पूरब की ओर जहाँ स्थल अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा है।

यदि पर्वतश्रेणी निम्न रहे तो अनुवातीय ढाल पर वर्षा प्रायः उतनी ही होगी जितनी प्रतिवात या वृष्टि छाया वाले भाग में।

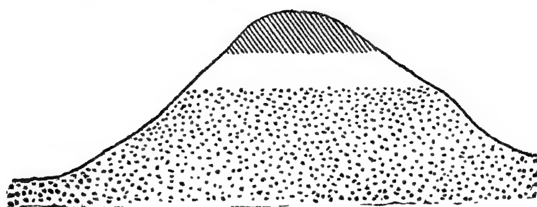
उच्च भूभाग की अवस्थिति के कारण होनेवाली या परिवर्द्धित वर्षा पार्वतीय वर्षा (orographic) कहलाती है; और यह बात ध्यान में रखी जा सकती है कि जब पश्चिम ब्रिटेन के पहाड़ी भागों में औसतन बहुत अधिक वर्षा होती है तब पूर्वी पहाड़ी भागों में अधिक हिमपात होता है। अधिक हिमपात ज्यादातर पूर्व दिशा से आनेवाली प्रबल एवं शीतल स्थलीय हवा से सम्बद्ध रहता है। इसलिए पूर्वी स्कॉटलैंड, पेनाइन की पूर्वी ढाल और उत्तर सागर के निकट की दूसरी पहाड़ियों पर नियमानुसार पहाड़ियों की वृष्टि-छाया में पड़ने वाले सुदूर पश्चिमी प्रदेश की अपेक्षा अधिक हिमपात होता है।

जब पर्वतश्रेणी बहुत ऊँची रहती है तब संघनन उसके शिखरों तक आवश्यक रूप से जारी नहीं रहेगा। जब वायु ऊपर उठती और ठंडी होती है तब एक विशेष स्तर पर संघनन प्रारम्भ होता है जो बहुत हद तक मूल रूप से वर्तमान भाप की मात्रा पर निर्भर करता है। किन्तु जब वायु ऊपर उठती जाती है तब उसमें वर्तमान भाप की मात्रा कम होती जाती है। शीघ्रतर अथवा अधिक देर के बाद भी, जब वायु का ऊपर उठना जारी रहता है तब संघनित मात्रा कम होती जाती है और अंततोगत्वा श्रेणी के शीष पर पहुँचने के पूर्व ही संघनन सम्पूर्ण रूप से स्थगित हो जाता है। इसलिए उच्च पर्वत-श्रृंखला पर अधिकतम संघनन का कटिबन्ध रहता है जो प्रायः शिखरों से बहुत नीचे रहता है। इसकी ऊँचाई प्रधानतः ताप एवं प्रचलित हवाओं में वर्तमान भाप की मात्रा के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

हिमालय पर इसकी ऊँचाई समुद्र-सतह से लगभग ४००० फुट है, किन्तु ऋतुओं के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन होता है। ब्रिटिश द्वीप के पर्वतों पर वर्षा इतनी परिवर्त्तनीय होती है कि उसके लिए कोई निश्चित विवरण सम्भव नहीं है।

अधिकतम संघनन के कटिबन्ध के प्रभाव का आश्चर्यजनक उदाहरण हैन (Hann) ने दिया है। थियान शान में, जो मध्य एशिया के सूखे पठार से ऊपर उठता है, शीतकालीन हिमपात ८,००० और १०,००० फुट की ऊँचाइयों के बीच होता है। ८००० फुट के नीचे पर्वतश्रेणी शुष्क एवं नग्न रहती है। १०,००० फुट के ऊपर जाड़े में संघनन अल्प होता है, किन्तु ग्रीष्म में वहाँ काफी वर्षा

होती है। शीतकालीन हिम कटिबन्ध भी पेड़ों के उत्पन्न होने की पट्टी है, इसके ऊपर ग्रीष्मकालीन वर्षा के क्षेत्र में घास होती है, किन्तु वहाँ वृक्ष नहीं होते। वहाँ के निवासी



चित्र ४६—थियानशान में जलवायु तथा वनस्पति खंडों का रेखाचित्र
तिरछी रेखाओं वाला स्थान: गर्मियों में वर्षा, घास। खाली स्थान: ठंड में हिमपात, वृक्ष। बिन्दुओं से भरा स्थान: सूखा, अनुर्बर

जाड़े में अपनी भेड़ों के साथ बर्फ के ऊपर घास की पट्टी में ले जाने के लिए ऊपर की ओर जाते हैं (चित्र ४६)।

हिमरेखा :—ताप कम रहने पर संघनित भाप वर्षा के रूप में नहीं बल्कि बर्फ के रूप मे गिरती है और बर्फ जहाँ गिरती है वहाँ से पानी की तरह बह जाने के बदले ठहरती है। ध्रुवीय क्षेत्रों में साल के अधिकांश भाग में वर्षा बर्फ के रूप में होती है। ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर जिस ऋतु में ताप हिम के लिए पर्याप्त रूप से सर्द (कम) रहता है, वह छोटी होती जाती है यानी उसका मान घटता जाता है तथा साधारणत: वार्षिक हिमपात तबतक कम होता जाता है, जबतक कि भूमध्यरेखा से लगभग ४०° पर यह प्राय: समुद्र सतह पर ही समाप्त नहीं हो जाता। फिर भी अधिक ऊँचाइयों पर यहाँ तक कि भूमध्यरेखा पर भी बर्फ का गिरना जारी रहता है।

वह हिम जो जमीन पर गिरता है, कई विधियों से हटाया जा सकता है। यह हवा द्वारा उड़ा ले जाया जा सकता है, यह पार्वत्य भाग से हिमपात (snow slide) अथवा हिम धाव (avalanche) के रूप में गिर सकता है, हिमनद के रूप में शनै:-शनै: विस्थापित हो सकता है या यह वाष्पीकरण द्वारा विलुप्त अथवा विगलित हो सकती है। किन्तु यदि यह किसी विधि से नहीं हटता है तो यह गिरने के स्थान पर रुकेगा और इस प्रकार प्रति वर्ष संचित हिम की मोटाई बढ़ती जायगी।

जिस स्थान पर वर्ष में जितना हिम हट जाता है, उतना ही अधिक हिमपात होता है। वहाँ भूमि हिम की स्थायी तह से ढँक जायगी, परन्तु जिस स्थान पर कम हिमपात होता है वह स्थान वर्ष के कुछ भाग में हिम से विमुक्त रहेगा। उच्च ध्रुवीय अक्षांशों में समुद्र-सतह पर भी हिमावरण स्थायी रहता है, परन्तु निम्न अक्षांशों में केवल पर्वतों पर ही हिम साल भर रहता है।

पर्वतों पर स्थायी हिम की निम्न सीमा हिम-रेखा कहलाती है। यह कोई स्पष्ट और निश्चित रेखा नहीं है, क्योंकि इसके अपेक्षाकृत अधिक निम्न किनारे के पास हिम का फर्स (आवरण) असमतल तथा अनियमित रहता है। सूराखें या छिद्र दिखाई पड़ते हैं जिनसे होकर नग्न वीरान भूमि दीख पड़ती है। आवरण छोटा हो जाता है

और नीचे की ओर छिटपुट खण्ड लघुतर तथा तबतक अधिक बिखरते जाते हैं जबतक वे अन्त में नितान्त रूप से विलुप्त नहीं हो जाते।

समुद्र-सतह पर हिम-रेखा लगभग ८०° उत्तर और ७०° दक्षिण पायी जाती है और वहाँ से भूमध्यरेखा की ओर कुछ अनियमित रूप से इसकी ऊँचाई बढ़ती जाती है।

हिमरेखा की ऊँचाई ताप द्वारा आवश्यक रूप से प्रभावित होती है, और साधारणतः समुद्र-सतह पर ताप जितना ही अधिक होगा उसके ऊपर भी वायु का ताप भी उतना ही अधिक होगा और साथ ही हिमरेखा की ऊँचाई भी उतनी ही अधिक होगी। इसलिए हिमरेखा की ऊँचाई भूमध्यरेखा की ओर साधारणतः बढ़ती जायगी।

किन्तु हिमरेखा की ऊँचाई नितान्त रूप से ताप पर ही निर्भर नहीं करती। यह गिरने वाले हिम की मात्रा द्वारा प्रभावित होती है। साथ ही यह भूम्याकार द्वारा भी प्रभावित होती है,क्योंकि इस पर आंशिक रूप से ठहरने वाली हिम की मात्रा निर्भर करेगी। खड़ी ढाल वाले पर्वत पर अधिकांश बर्फ हिमधाव के रूप में शनैः-शनैः नीचे की ओर खिसकती है; परन्तु कम ढाल पर अधिकांश हिम तबतक स्थिर रहेगा जब तक यह पिघल नहीं जाता। दूसरी दशा में हिमरेखा पहली दशा की अपेक्षा अधिक निम्न होगी।

हिमरेखा वह स्तर है जहाँ विगलित हिम की मात्रा ठीक उतनी ही रहती है,जितनी अन्य परिस्थितियों में एकत्रित होती। इसलिए शुष्क क्षेत्र में आर्द्र क्षेत्र की अपेक्षा दोनों दशाओं में ताप, पहाड़ी पार्श्वों की ढाल आदि के एक ही रहने पर यह अधिक ऊँचाई पर पायी जायगी। और यदि शुष्क क्षेत्र अपेक्षाकृत शीतल हो तो हिमरेखा और भी अधिक ऊँचाई पर होगी। हिमालय इसके सुन्दर तथा सुविदित उदाहरण हैं। इनकी उत्तरी ढालों पर हिमरेखा १८,००० फुट की ऊँचाई पर और दक्षिणी ढालों के स्वभावतः अपेक्षाकृत अधिक गर्म होने पर भी यह लगभग १६,००० फुट की ऊँचाई पर पायी जाती है। किन्तु ताप का अन्तर वार्षिक हिमपात द्वारा पूरित होने पर भी अपेक्षाकृत अधिक रहता है। दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवा द्वारा लायी हुई भाप अधिकांशतः पर्वतश्रेणी की दक्षिणी भाग में संघनित हो जाती है और अपेक्षाकृत इसका बहुत कम अंश उत्तर तरफ जाता है।



चित्र ४७—हिमालय पर बर्फ-रेखा

हिमालय पर्वत में केवल एक ही शृंखला नहीं है, बल्कि उसमें कई समानान्तर शृंखलाएँ हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण हिमालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर में हिमरेखा अधिक ऊँचाई पर पायी जाती है,किन्तु फिर भी विशेष शृंखलाओं में उल्टी बात पायी जाती है। यह रेखाचित्र द्वारा चित्र ४७ में प्रदर्शित किया गया है।

प्रत्येक शृंखला की दोनों ओर वर्षा प्रायः बराबर होती है। दक्षिण तरफ सूर्य अपेक्षाकृत अधिक तेज रहता है, इसलिए हिमरेखा दक्षिण से उत्तर को नीची होती जाती है। किन्तु सबसे दक्षिणी शृंखला पर उससे उत्तर वाली दूसरी शृंखला की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है और इसलिए इसपर हिमरेखा अपेक्षाकृत कम ऊँचाई पर पायी जाती है। इसी तरह प्रत्यक शृंखला पर हिमरेखा इसके उत्तर वाली शृंखला की अपेक्षा कम ऊँचाई पर पायी जाती है। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक शृंखला में हिमरेखा दक्षिण से उत्तर की ओर झुकी रहती है, लेकिन फिर भी सम्पूर्ण श्रेणी में हिमरेखा दक्षिणी भाग की अपेक्षा उत्तरी भाग में अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई पर पायी जाती है और इसलिए साधारण ढाल जो चित्र में दिखलायी गयी है, वह उत्तर से दक्षिण की ओर है।

नवम अध्याय

वायुमंडल के लघुसंचार तथा सम्बद्ध मौसम

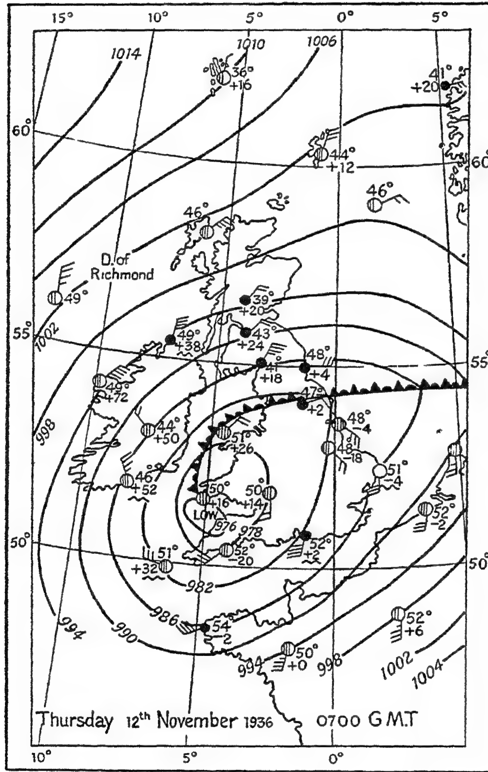
दूसरे अध्याय में समदाब-रेखा द्वारा निर्मित कुछ विशेष ढाँचों का वर्णन किया गया है। फिर भी वायुमंडली संचार के इन लघु चिह्नों का अधिक विस्तार के साथ वर्णन कर देना आवश्यक है। तीसरे अध्याय में यह प्रदर्शित किया गया था कि परिभ्रमणशील पृथ्वी पर वायुमंडल के साधारण संचार का इस बात को ध्यान में रखते हुए समुचित रूप से स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि (अ) दाब की पट्टियों में विशेष क्षेत्रों में स्थापित होने की प्रवृत्ति रहती है (चित्र ११ देखिए); और (ब) ये दाब की पट्टियाँ विस्तृत स्थल तथा समुद्र-सतहों के विभिन्न रूप से गर्म होने के कारण विशेष कर उत्तरी गोलार्द्ध में शीत तथा ग्रीष्मकालों में छिन्न-भिन्न हो जाती है। बर्फ तथा हिम की सतहों के विशेष गुणों के कारण होनेवाले शीतन को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। हिम से केवल सूर्य तथा आकाश से निपतित विकिरण के ⅘ भाग से अधिक परावर्तन होता है, बल्कि यह खुद भी एक उत्तम विकिरक है और स्वच्छ तथा शान्त रात्रि में हिमाच्छादित मैदान के ऊपर की वायु का ताप, उसके हिमाच्छादित नहीं रहने पर जितना होता उससे कम होगा। इसलिए उत्तरी गोलार्द्ध के बड़े महादेशों के मध्य में स्थलीय वायु जाड़े में बहुत सर्द और सघन हो जाती है तथा बैरोमीटर में पाठ्यांक (readings) तदनुरूप ज्यादा हो जाते हैं जैसा कि जनवरी की समदाब रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

दक्षिणी गोलार्द्ध उच्च समशीतोष्ण अक्षांशों में स्थल समूहों द्वारा बहुत कम कटा-छँटा है और इसकी सर्द वायु के स्रोत हिमाच्छादित ऐंटार्कटिक पठार जिसके सन्निकट हिमाच्छादित समुद्र है, ध्रुव के आसपास प्रायः सममित (symmetrical) है। तदनुसार उच्च तथा निम्न दाब की पट्टियों के विन्यास से एक तरह के भ्रमणशील भूमंडल पर के विन्यास के साथ बहुत उपयुक्त सैद्धान्तिक सादृश्य उपस्थित होता है।

इसके अतिरिक्त लगभग २५,००० फुट के ऊपरवाले स्तरों पर और ३५° अक्षांश से ध्रुव की ओर, निम्न स्तरों पर हवाओं की दिशा जो भी हो, पश्चिमी बिन्दुओं से हवाएँ बाहुल्य के साथ आती हैं।

वायुमंडल की सघनता केवल ताप में परिवर्तन होने के कारण ही नहीं, प्रत्युत आर्द्रता की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण भी परिवर्तित होता है।

अधिक आपेक्षिक आर्द्रता वाली वायु अपेक्षाकृत अधिक शुष्क वायु की अपेक्षा एक ही ताप पर कम सघन होती है। इसके अतिरिक्त जब दो वायुस्रोत मिलते ह, तब कम सघन वायुस्रोत अधिक सघन वायुस्रोत के ऊपर उठ जायगा; और वायुस्रोत के ऊपर



चित्र ४८

मौसम का नक्शा जो कि चक्रवात में मुख्य अग्रभाग का इंगलैंड में निचुषित हो जाना दिखाता है। हरएक स्थान में तापक्रम के नीचे वाली संख्याएँ दाब का स्थान परिवर्त्तन, १।१० मिलिबार में, पिछले तीन घंटों में बताती हैं।

उठने या वायुस्रोतों द्वारा अधःकर्त्तन का वायुमंडल के दिन-प्रतिदिन की स्थिति में बहुत महत्व रखता है। यह विशेषकर उन क्षेत्रों में स्पष्टतया दीख पड़ता है जहाँ बड़े-बड़े भँवर (पृष्ठ २४) प्रबल होते हैं।

वस्तुतः सम्पूर्णतः एक प्रकार की सतह वाले भूमंडल पर जल-वाष्प-रहित वायुमंडल निसंदेह एक ऐसे क्रम का निर्माण करेगा जो अपेक्षाकृत अक्षांशों की सरल भँवर-माला से मिलता-जुलता है। तदनुसार इस क्षेत्र में औसत दाब ध्रुव की ओर वाले पार्श्व अथवा उष्ण खंडों की ओर अपेक्षाकृत कम होगा जैसा कि चित्र ११ में प्रदर्शित किया गया है। किन्तु पृथ्वी पर अनेक अनियमितताएँ दीख पड़ती हैं जिनसे पूर्वोक्त भँवर के विस्तार, दिशा और गति में केवल एक ऋतु से दूसरी ऋतु में ही नहीं वल्कि एक साल से दूसरे साल वहुत ही परिवर्तनशीलता का विकास होता है। अतः वायु, विशेषकर चक्रवातों की, जो उच्चतर अक्षांशों की विशेषताएँ हैं, प्रक्रिया की अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक तथा कार्यकारी विचारधारा को काम में लाना अभीष्ट हो जाता है। पिछले अध्याय में वर्षा के दिए हुए वितरण की सरल योजना साधारणतः प्रयोज्य (applicable) है। परन्तु सर्व प्रथम इस योजना से अलग होने की बातें इस विषय पर कुछ अधिक विचार करने पर शीघ्र ही परिलक्षित होने लगती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी भाग की मौसमी (seasonal) वर्षा के वितरण को लिया जा सकता है। किन्तु विशेषकर चक्रवातों की वायु की प्रतिक्रिया के लिए एक स्पष्टतर कल्पना करने से प्रत्यक्ष अपगमन का स्पष्टीकरण शीघ्र ही मिल जाता है तथा इसके अन्तिम कारण की खोज स्थल औल जल की सतहों की प्रकृति तथा पार्वत्य अवरोधों में की जा सकती है। मार्ग तथा भ्रमण में इतना परिवर्तन होता है कि उदाहरण के लिए ब्रिटेन में विशेष महीनों की प्रकृति एक साल से दूसरे साल में बहुत ज्यादा बदलती है।

ध्रुवीय तथा उष्ण कटिबन्धीय वायु-स्रोत : ध्रुवीय अग्र (भाग) :—यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि आर्कटिक क्षेत्रों से दक्षिण की ओर आनेवाली वायु अथवा ऐंटार्कटिक क्षेत्र से उत्तर की ओर आनेवाली वायु पृथ्वी की दैनिक गति के कारण विक्षेपित हो जाती है, फिर भी साथ ही, या तो उच्च अक्षांशों में या सतह पर दाब की पट्टी के ध्रुवोन्मुख पार्श्व से ध्रुव की ओर जानेवाली उष्ण कटिबन्धीय वायु से समशीतोष्ण कटिबन्ध की चौड़ी पट्टी में दक्षिण-पश्चिम से पश्चिम की ओर जाने वाली धारा का (दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम से पश्चिम की ओर) प्रादुर्भाव होता है। यही दिशा उच्च स्तरों पर ध्रुवों तक बराबर बनी रहती है, बाहर की ओर जानेवाला उत्तरी-पूर्वी या दक्षिणी-पूर्वी स्रोत अपेक्षतया पतला (साधारणतः १०,००० फुट से कम) होता है।

ध्रुवीय एवं उष्ण कटिबंधीय उत्पत्ति वाले सतह पर चलते हुए दोनों स्रोत संघर्ष-हीन पृथ्वी पर बिना किसी बाधा या अवरोध से प्रत्यक्ष रूप से सरलता से चलते, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कुछ नितान्त भिन्न बात होती है। दोनों प्रकार की वायुओं के बीच की सीमा को ध्रुवीय अग्र (Polar front) कहते हैं। यह उत्तरी अटलांटिक में आयरलैंड और ग्रीन लैंड के बीच कहीं पर पाया जाता है। किन्तु यह उस अक्षांश के बड़े विस्तार (range) में प्रदोलित (oscillated) हो सकता है।

ध्रुवीय वायु के लक्षण :—यदि उत्तरी अटलांटिक में ध्रुवीय तथा उष्ण कटिबंधीय वायुओं के बीच की सीमा को प्रतिदिन अंकित किया जाय तो पता चलेगा कि इससे प्रायः विकुंचन (kink) अथवा तरंगों (waves) का विकास होता है। ध्रुवीय उत्पत्तिवाली वायु शीतल सतहों तथा बर्फीले समुद्रों से शीतजड़न (chill)

लेकर अपेक्षाकृत अधिक उष्ण दोनों ही ओर चलती रहती है। यदि यह महासागरों में बहती है तो प्रायः यह देखा जाता है कि ध्रुवीय स्रोत ही वायु का ताप समुद्र-सतह जिसपर यह बहती है, उसके ताप से कुछ कम रहता है। इसके अतिरिक्त ओष्ण-करण (warming) वायु-स्रोत की जड़ में होता है, और इसलिये खुले समुद्र में बहने वाली ध्रुवीय उत्पत्तिवाली वायु अत्यधिक अस्थायी होने लायक रहती है। स्थलीय वायुपुंज बनने लगता है तथा रंचमात्र उत्तेजना (provocation) मिलने पर इनका बनना जारी रहता है। वायु समुद्र सतह से आर्द्रता ले लेती है, जिससे पुंजमेघ या पुंजजलदमेघ तक का निर्माण होता है। ऐसी घटनाएँ ब्रिटिश द्वीप-समूह में आने-वाली ध्रुवीय वायु की विशेषताएँ हैं। यह खासकर जाड़े में होता है जब इसके स्रोत तथा उष्ण अटलांटिक जिससे होकर यह चलती है दोनों के बीच के ताप का अन्तर ग्रीष्म की अपेक्षा अधिक रहता है। इससे भीषण वर्षा की भी प्रत्याशा की जा सकती है। ब्रिटिश-द्वीप-समूह के पाठकों, जो विशेषकर अटलांटिक के तटों पर रहते हैं,को जाड़े में प्रायःआकाश झंझावान् (stormy) तथा (जाड़े में) उत्तरी-पश्चिमी वायु से सम्बद्ध प्रचण्ड वृष्टि का अनुभव होगा। विषम परिस्थितियों में जब अत्यधिक सर्द हवाएँ ध्रुव-प्रदेश से उठती हैं जो प्रायः प्रबल हवाओं अथवा महावात से सम्बद्ध रहती हैं, तब ऊपरवाली सर्द वायु की तुलना में स्थलीय तहें इतनी स्पष्ट रूप से उष्ण होती हैं कि तेजी से ऊपर उठनेवाले स्रोतों में पुंजजलदमेघ का प्रादुर्भाव होता है और इस प्रक्रम से किसी ऋतु में जब सौयिक तापन गौण रहता है तब असामान्य रूप से झंझावान् मौसम में तडिञ्झंझा (thunderstorms) का जाड़े में अचानक होने का स्पष्टी-करण हो जाता है।

उष्ण कटिबन्धीय वायु के लक्षण :—उष्ण कटिबन्धीय उत्पत्तिवाली वायु का प्रक्रम भिन्न प्रकार का होता है। अटलांटिक में यह वायु उष्ण स्रोत (source) से चलना प्रारम्भ करती है और धीरे-धीरे अपने मार्ग में इसके अपेक्षाकृत शीतल जल पर ध्रुव की ओर बहती है। अतः (कुछ समय के बाद) वायु की सतह के निकटवाली तहें तुलना में ऊपरवाली वायु-तहों के ताप से कुछ शीतल हो जाती हैं। उससे स्थायित्व की दशा उत्पन्न होती है जिसके साथ-साथ नियमानुसार न्यूनाधिक मात्रा में प्रतिलोमीकरण (inversion) होता है। फलस्वरूप यदि छोटी वायु राशि सतह से ऊपर की ओर विस्थापित हो जाती है, तो यह शीघ्र ही अपेक्षाकृत उष्ण वायु से घिर जायगी और इसलिए जहाँ से यह विस्थापित हुई थी, वहीं लौटने के लिए प्रवृत्त होगी।

इस बात का सरलता से पता चलेगा कि समुद्र पर चलने के कारण जो वायु पहले ही आर्द्र हो गयी है, उसके और अधिक शीतल होने पर अन्त में संघनन होगा। इस-लिए उन दशाओं में जहाँ समुद्र सतह अत्यधिक सर्द हो जाती वहाँ अभिवहन कुहरा (advection fog) विस्तृत रूप से विकसित होता है (पृष्ठ ८७)।

यह मान लेना आवश्यक है कि यदि उष्ण, आर्द्र, वायु-स्रोत अपेक्षाकृत अधिक प्रबलता के साथ चल रहा हो, अर्थात् जब हलकी से लेकर प्रबल हवाएँ चलती हैं, तब सतह पर कुहरे के उत्पन्न होने के बदले निम्न स्तार मेघ (Low Stratus Cloud) का विकास होता है। समुद्र पर चलनेवाली वायु से होनेवाले संघर्ष से उत्पन्न प्रक्षुब्धता का अर्थ यह होता है कि छोटी-छोटी आर्द्र वायुराशियाँ सतह से कुछ ऊपर अविराम विस्थापित होती जा रही हैं और अन्य प्रकार की छोटी वायुराशियाँ

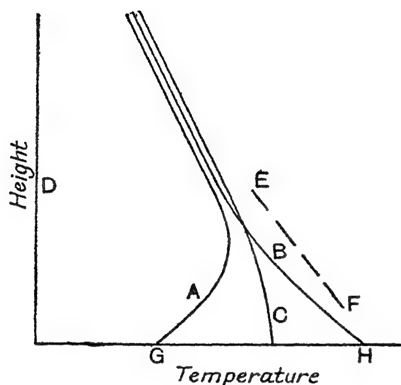
नीचे ले आयी जाती हैं। यदि यह प्रक्रम जारी रहे तो ऊपर उठती हुई वायु-राशियों के फलने से शीतन होता है और इसलिए सबसे शीतल वायु जिसमें संघनन होता है, वह समुद्र-सतह पर नहीं रहती बल्कि कुछ ऊपर रहती है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि वहाँ पर समुद्र-सतह पर नहीं बल्कि उससे कुछ ऊपर प्रतिलोमीकरण होता है। यह प्राय: ब्रिटिश द्वीप-समूह के चारों ओर तटीय कुहरे के प्रेक्षण से पता चलता है। यदि वायु शान्त अथवा प्राय: वसी रह तो कुहरा समुद्र-सतह पर रहगा। यदि मन्द समीर (light breeze) का बहना प्रारम्भ होता [illegible] कुहरा का आधार समुद्र से दो या तीन सौ फुट ऊपर विस्थापित हो जा सकता है, फिर भी करारे (headlands) तथा अन्तरीय (Capes) कुहरे से आच्छादित रहते हैं किन्तु बालूतट (Beach) पर एक मील या इससे अधिक दूर की वस्तुएँ दीख पड़ती हैं। हवाओं के अधिक प्रबल रहने पर मेघ का आधार १५०० फुट या इससे ऊपर जा सकता है। विस्तृत निम्न मेघ जो पश्चिमी यूरोप के शीतकालीन तथा हवामय मौसम से विशेष रूप से सम्बद्ध रहता है, उसकी व्याख्या इस प्रकार हो जाती है। यह विशेष कर तब होता है जब यह स्मरण किया जाता है कि इन द्वीपों की स्थिति, जो अधिकांश चक्रवातों के भ्रमण-मार्ग से कुछ दक्षिण में पड़ती है, से निश्चित होता है कि दक्षिण-पश्चिम के बीच से प्रबल हवाएँ प्राय: चला करती हैं जो उपर्युक्त दशाओं को पूर्ण कर देती हैं।

जिन प्रक्रमों से कार्य होता है उनका स्पष्टीकरण निम्नांकित आकृतियों की सहायता से हो सकता है। ये आकृतियाँ विस्तृत समुद्र-सतह पर चलनवाली ध्रुवीय तथा उष्ण कटिबन्धीय वायु की गति से सतहवाली तहों के ताप के विशेष रूप से लुप्त होने की गति का निदर्शन करती हैं।

प्रयोग की दृष्टि से समुद्र तथा वायु के सूक्ष्म अन्तर भी इन बातों (developments) को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त हैं; और धरातल की अनियमितताओं से और भी जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। ध्रुवीय वायु प्राय: अस्थायी होती है और इससे ब्रिटेन के पश्चिमी तट पर काफी संवहनीय वर्षा होती है। किन्तु उसी वायु की निम्न तहें हिमाच्छादित जर्मनी में पहुँचने पर इतनी ठंडी तथा पर्याप्त रूप से स्थायी हो जाती हैं कि इससे देशाभ्यान्तर में काफी कुहरा उत्पन्न होता है। इसलिए यह निर्धारित करने के लिये कि किसी वायुराशि से प्रतिदिन क्या होने की संभावना है, केवल इसकी उत्पत्ति पर ही विचार करना नहीं होगा बल्कि इसके द्वारा अपनाये हुए मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन और वह सीमा जहाँ तक समुद्र से स्थल और स्थल से समुद्र की ओर चलते समय की विशेषताएँ सभी बातों पर विचार करना होगा। वस्तुत: वायु की सतह के निकटवाला ताप इसकी प्रक्रिया की जानकारी के लिये समुचित निर्देशक नहीं है, विशेष कर जब यह कुछ दूर तक महादेशीय स्थलपुंज पर चल चुकी हो।

दिन या रात में स्थानीय तापन तथा शीतन से कई हजार फुट तक सतह की तहें प्रभावित हो सकती हैं। फलत: मौसम विज्ञानवेत्ता सतह से कई हजार फुट ऊपर ताप और आर्द्रता के प्रेक्षण की तुलना द्वारा प्राय: वायु के भेदों का वर्गीकरण करता है।

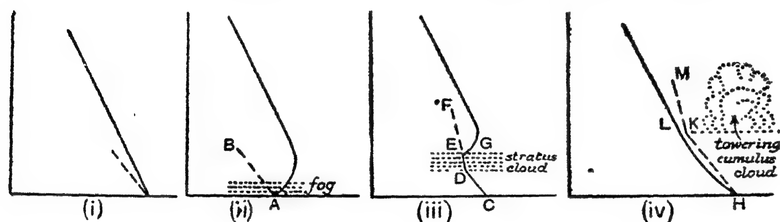
अन्तर्देशीय जल एवं समुद्र जैसे उत्तरी अमेरिका की बड़ी झीलों से भी वायु की प्रक्रिया में परिवर्तन होता है। ओंटेरियो में शरद् ऋतु के प्रारम्भ उत्तर-पश्चिम से आनेवाली वायु अत्यधिक सर्द तथा शुष्क होती है, और यह स्थल पर बहुत दूर चलने



A. Early morning: stable.
B. Early afternoon: unstable.
C. Evening: stable.

Over level lowlands a normal height for *D* is 3000 feet. Parallels to the line *EF* are dry adiabatics for rising air. *GH* represents the diurnal range of temperature at the surface.

चित्र ४६ (a)—स्थल पर खुले दिन में स्थायित्व में दैनिक परिवर्त्तन



चित्र ४६ (b) जब वायु ठंडे और गर्म सतहों पर चलती है तब स्थायित्व पर प्रभाव

(१) मूल वायु के ताप के लुप्त होने की गति। अताप भेदी दृष्ट......

(२) अपेक्षाकृत अधिक शीतल सतह पर धीरे-धीरे चलने के बाद अर्थात् उष्ण कटिबन्धीय वायु इंगलैंड पहुँचती हुई सतह पर कुहरा आर्द्र वायु स्रोत की निम्नतम तह ओसांक से भी अधिक शीतल हो जाती है।

(३) यदि अपेक्षाकृत अधिक शीतल सतह पर वायु तेजी से चलती हो, तो कुछ ऊपर तक ताप के लुप्त होने की गति शुष्क अतापभेदी होगी, क्योंकि वायुराशियाँ धरातल पर बराबर ऊपर-नीचे आती-जाती रहती हैं। C से आर्द्रता D तक जाती है, और स्तारमेघ का निर्माण होता है। कोई स्थलीय वायु B से ऊपर नहीं जाती क्योंकि BF पर इसका ताप अवश्य गिर जायगा। चूँकि वातावरण का ताप G से मिलता है, इसलिये ऐसी अपेक्षाकृत अधिक शीतल वायु ऊपर उठती है तो यह अवश्य ही तुरन्त नीचे गिरेगी।

(४) यदि वायु उष्णतर सतह पर चलती है तो यह अस्थायी हो जाती है। ऊपर उठती हुई वायु राशियाँ K पर संघनन के स्तर पर पहुँचने पर L द्वारा निर्मित वातावरण से अधिक उष्ण हो जायगी, और पुंजमेघ का निर्माण होगा, संतृप्त अताप-भेदी से ऊपर उठती हुई वायु का ताप गिरेगा और वायु का उठना जारी रहेगा, जिससे ऊँचा पुंजमेघ उत्पन्न होगा।

के वाद समाप्त हो जाती है किन्तु झीलों के अमेरिका के तरफ वाले तटों पर बिना जमी हुई झीलों पर वायु के चलने का परिणाम उच्च पुंजमेघों तथा वर्षा में दीख पड़ता है।

चक्रवात तथा ध्रुवीय अग्र :—ध्रुवीय अग्र के निकटवर्ती वायुमंडल के प्रेक्षणों से स्पष्ट होता है कि समशीतोष्ण अक्षांशों में बहुत से चक्रवात वहीं पर उत्पन्न होते हैं। यह बैरोमीटर के प्रेक्षणों से सावधानी के साथ अंकित करके प्रदर्शित किया गया है और विशेषकर शरद ऋतु में ग्रीनलैंड के दक्षिण अथवा आइसलैंड के दक्षिण में परिलक्षित होने लायक रहता है।

अग्रभाग वाले चक्रवात निम्नलिखित विधि से उत्पन्न होते हुए परिलक्षित होते हैं :—

धरातल पर जहाँ अधिक संघर्ष रहता है वहाँ सर्द तथा उष्ण वायु स्रोत के बीच की सीमा पर वायु प्रायः अस्थायी होती है। चित्र ५० में रेखाएँ समदाब रेखाएँ प्रदर्शित करती हैं, और यह मान लिया गया है कि वायु प्रायः इसके साथ चलती है, यदि एक छोटी वायु राशि ऊपर उठती है, तो इससे निम्नदाब का एक छोटा क्षत्र वनता है जो इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है, जैसे (b) पर। फिर भी निम्न दाब का क्षेत्र जितना भी छोटा हो, कुछ वायु इसके चारों ओर की समदाब रेखाओं का अनुसरण करने का प्रयत्न करेगी।

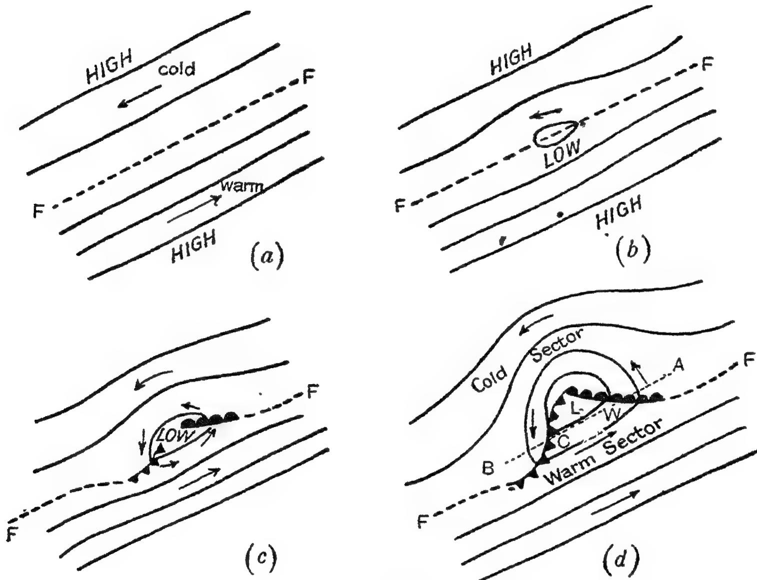
लेकिन यदि ऐसा होता है तो दक्षिणी भाग से आनेवाली उष्णतर वायु प्रारम्भिक चक्रवात के पूर्ववर्ती अपेक्षाकृत अधिक सर्द वायु के ऊपर से आगे चली जायगी और उत्तरी भाग से आनेवाली अपेक्षाकृत अधिक सर्द वायु पश्चिमी भाग की कुछ उष्णतर वायु को विस्थापित कर देगी। इस प्रकार यदि दोनों प्रकार की वायु के बीच की सीमा को अंकित किया जाय तो वही परिणाम होगा जो (C) में प्रदर्शित किया गया है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की सीमा एक खड़ी दीवार नहीं है जो विकुंचित (kinked) कर दी गयी है, बल्कि यह एक ढालुआँ सतह है जो मानचित्र में प्रदर्शित रेखा पर पृथ्वी को मिथश्च्छेदित (intersecting) करती है। रेखाचित्र (C) में रूढ़ प्रदर्शन शरदाग्र (cold front) को जहाँ सर्द वायु आगे बढ़ रही हो, उष्णाग्र (warm front) से अलग कर देता है जहाँ उष्ण वायु का एक संकीर्ण भाग नीचे के कुछ सर्द सतह पर होकर जा रहा हो।

इस अवस्था में यह स्पष्ट हो जाता है कि वायु स्तम्भ जो चक्रवात के केन्द्र के ठीक पूर्व में पड़ता है, ऊपर में आगे की ओर जानेवाली उष्णतर वायु द्वारा कुछ सर्द वायु के विस्थापन के फलस्वरूप अपेक्षाकृत कुछ हल्की होगी। इसलिए जब एक बार विकुंचन (kink) अथवा तरंग प्रारम्भ हो जाती है तब प्रारम्भिक केन्द्र के कुछ पूर्व बैरोमीटर का दाब प्रत्यक्ष रूप से गिरने लगता है। चक्रवात गंभीर यानी गहरे होने लगते हैं, दाब की प्रवणता बढ़ जाती है, दोनों ओर से अधिकाधिक वायु अन्दर की ओर आती है और अटलांटिक के ऊपर का जीता-जागता निम्न दाब क्षेत्र (या उस विचार से अल्यूशियन अथवा एंटार्कटिक निम्नदाब क्षेत्र) पूर्णरूप से विकसित होता है।

ऐसी अवस्था में केन्द्र के उत्तरी-पूर्वी भाग में (रेखा चित्र d) बड़ी उष्ण तथा आर्द्र वायुराशियाँ अविराम आगे की ओर बढ़ती तथा ऊपर उठती रहती हैं। संघनन तथा निम्न मेघ अविराम बनता रहता है जिसके साथ-साथ लगातार मेघ की बिन्दुकाओं

का विकास तथा एकीकरण होता है, जिससे काफी वर्षा होती है (या ताप के अधिक कम रहने पर हिमपात)। इस संघनन तथा निम्न मेघ को जलद-स्तार मेघ (nimbo-stratus) कहते हैं जो चित्र ५१b में सुविकसित निम्नदाब क्षेत्र के सहारे खड़े ढाँचे में प्रदर्शित किया गया है। जलद-स्तार मेघ के ऊपर और भी अधिक ऊँचाइयों पर सर्द वायु की तह पर होकर जानेवाली उष्ण वायु के सर्वप्रथम उच्च स्तार मेघ, (alto-stratus) तत्पश्चात् अलोका-स्तार मेघ (cirro-stratus)



चित्र ५० (a, b, c, d)—अग्रभाग पर चक्रवात का बनना (सट्क्लिफ के अनुसार)

और यहाँ तक कि अलोका मेघ के बहिर्स्थित टुकड़ों का भी विकास होता है। तदनुसार यदि बैरोमीटर का पारा गिरने लगे और सौर अथवा चन्द्र प्रभामण्डल अंशतः या पूर्णरूप से दीख पड़े (आकाश में छाते हुए अलोका स्तार मेघ की उपस्थिति की ओर संकेत करते हुए) तो इससे पता चलेगा कि चक्रवात प्रायः आ रहा है जिसके पश्चात् कुछ ही घंटों में जलद-स्तार मेघ आयेगा जिससे वर्षा होगी (या वायु के पर्याप्त रूप से सर्द रहने पर हिम)।

अटलांटिक में आनेवाले विशेष प्रकार के चक्रवात के उष्णाग्र के ३०० फुट आगे लगभग ३०,००० फुट की ऊँचाई पर अलोका स्तार मेघ घिर आयेगा।

फिर भी शरदाग्र में एक दूसरा क्षेत्र रहता है जहाँ उष्ण वायु अपने नीचे आगे की ओर बहने वाली सर्द वायु से ऊपर उठ जाती है। मेघ और वर्षा का यह दूसरा क्षेत्र है लेकिन यह साधारणतया नितान्त संकीर्ण रहता है। तीव्र गति से ऊपर उठनेवाली आर्द्र वायु से उत्पन्न होनेवाला मेघ प्रायः पुंज जलद मेघ (cumbo-nimbus) के

समान होता है। चक्रवात के मार्ग में पड़नेवाले स्थान में ताप साधारणतः बहुत स्पष्ट रूप से गिरेगा तथा वहाँ काफी वर्षा होगी और कभी-कभी ओला भी गिरेगा। सम्भवतः वहाँ विद्युत तथा गर्जन हो सकता है; और सतह तथा हवा की दिशा हमेशा बदलती रहेगी।

चित्र ५१ (a)—उष्णखंड में चक्रवात में बादल और मौसम

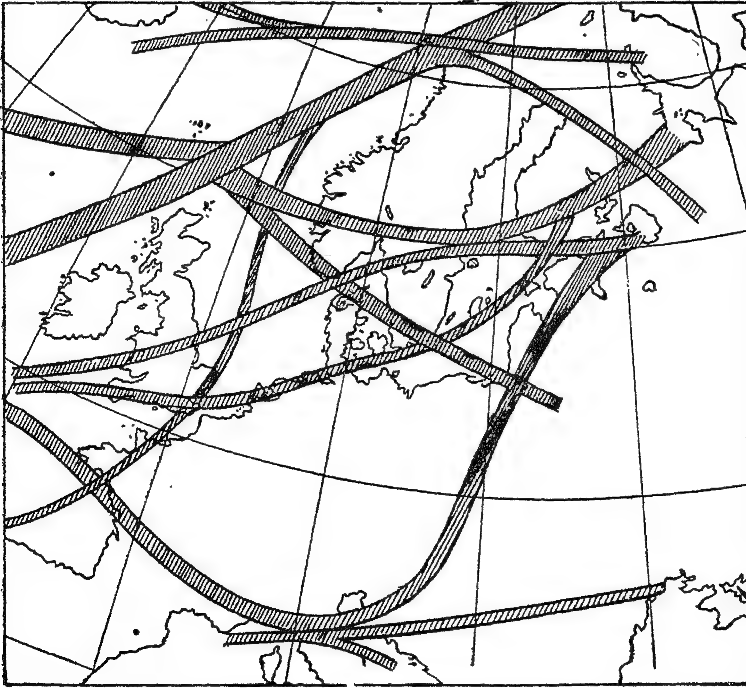
F=फ्रेक्टो या टूटे हुए बादल ; Fc=टूटे हुए पुंजमेघ

चित्र ५१ (b)—चक्रवात के उष्णखंड से लम्बरूप अनुप्रस्थ काट (सट्क्लिफ से Meteorology for Aviators)

इस प्रकार अविराम वर्षा और झंझावातीय वर्षा से सम्बद्ध उष्ण खंड स्पष्ट हो जा सकता है। पृथ्वी के दूसरे भागों में सुविकसित चक्रवात के चारों ओर वाले मेघ के भेद तथा प्रसार अधिकतर वायु के मार्ग पर निर्भर हैं। उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में बहुत दूर तक समुद्र से होकर आने के कारण उष्ण खण्ड की वायु प्रायः आर्द्र रहती है। समुद्र पर आकाश मेघाच्छन्न हो जाता है, लेकिन चूँकि ग्रीष्म में वायु देश के अन्दर की

ओर बहती है, इसलिए स्थल की अधिकांश उष्णता से अधिक संवहन होगा और पुंजमेघ जैसे मेघ का प्रादुर्भाव होगा। शरदऋतु में आकाश प्रायः स्तार या स्तार पुंजमेघ से आच्छन्न रहता है। चक्रवात के पिछले भाग में आकाश स्वच्छ तथा वायुमंडल स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद रहेगा। फिर भी कभी-कभी पुंजमेघ रहते हैं और स्थानीय वर्षा होती है। जब चक्रवात महादेश के अन्दर अच्छी तरह केन्द्रित हो जाता है तब उष्ण खंड में भी आपेक्षतया आकाश स्वच्छ रहता है और शरदाग्र के पीछे शुष्क तथा स्वच्छ वायु में मेघ बिल्कुल नहीं रहता।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप से दूर मार्ग में पड़नेवाले किसी भी पहाड़ी प्रदेश में चक्रवात के उष्ण खंड की आर्द्र वायु अविराम काफी वर्षा देती है। इंगलैंड के पश्चिमी पहाड़ी प्रदेशों तथा पश्चिमी नार्वे की अधिकांश वर्षा इसलिए होती है कि वह प्रायः आइसलैंड, स्कॉटलैंड तथा नार्वे के बीच उत्पन्न होनेवाले चक्रवातों के उष्ण खंड की दक्षिणी तथा दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं से आक्रान्त रहती है।



चित्र ५२—पश्चिमी यूरोप में चक्रवातों का अनुमानित मार्ग

चक्रवातों का संचलन :—अग्र चक्रवात किसी भी दिशा में जा सकते हैं लेकिन उनके भ्रमण की दिशा प्रायः स्थायी रूप से कुछ पूरब की ओर रहती है। अगर

ध्रुवीय अग्र पश्चिम से सीधे पूरब की ओर चलता हो तो केन्द्र के पूरबवाली उष्ण तथा आर्द्र वायु का अविराम आरोहण (ascent) के कारण उस भाग का दाब कम हो जाता है। जब मौसम सम्बन्धी एक के बाद दूसरे मानचित्र पर दाब अंकित किये जाते हैं तो इससे चक्रवात के केन्द्र के पूर्व की ओर की स्थिर गति का पता लगता है। ऐसा देखा जाता है कि यदि एक चक्रवात स्थिर रहता है तो यह प्रायः भर जाता है अर्थात् केन्द्र और किनारे के दाब का अन्तर कम हो जाता है और दो या तीन दिनों के बाद वहाँ एक भी चक्रवात नहीं रहता। चक्रवातों में सुविकसित चक्रवातों के पार कर जाने की अपेक्षा प्रतिचक्रवात में चक्कर काटने की भी प्रवृत्ति रहती है। शरद् ऋतु में अटलांटिक से उठने वाले बहुत से चक्रवात उत्तर सागर में जाते-जाते भर जाते हैं अथवा उत्तर-पूर्व की ओर बाल्टिक अथवा नॉर्वे के तटों पर आगे बढ़ते हैं, और बहुत से चक्रवात इस ऋतु में महादेश के अन्दर प्रवेश करते हैं जब साइबेरिया में उच्च दाब प्रबल रूप से उत्पन्न होता है।

भूमध्य सागर में (आठवाँ अध्याय से मिलाइये) जाड़ा भर समुद्र की उष्ण तथा यूरोप की सर्द वायु के ताप में स्पष्ट रूप से अन्तर रहता है। इसलिए अग्र चक्रवात उत्पन्न होते हैं जो प्रायः उत्तरी-पश्चिमी भूमध्यसागर में विकसित होते हैं अथवा यहाँ तक कि ऐड्रियाटिक में भी; और इसमें ईराक अथवा उत्तर-पश्चिम भारत तक वर्षा ले जाने भर पर्याप्त शक्ति रहती है। भारत की खेती में शीत ऋतु में इस थोड़ी वर्षा का बहुत महत्व है।

शीत ऋतु में संयुक्त राष्ट्र के पूर्वी तट पर चक्रवात प्रायः उत्पन्न होते तथा आगे बढ़ते हैं। वे जापान समुद्र में भी उत्पन्न होते हैं, और ऐंटार्कटिक के पार्श्वों पर तो ये बहुत बड़े पैमाने पर उत्पन्न होते हैं। मध्य अक्षांशों में महादेशीय तटों से दूर महादेशीय सर्द वायु तथा उष्ण सामुद्रिक वायु के बीच प्रादुर्भूत होनेवाले चक्रवातों से पार्श्ववर्ती तटों और द्वीपों में कुछ वर्षा होती है (आठवाँ अध्याय देखिये)। न्यू इंगलैंड, कनाडा के सामुद्रिक प्रदेश और जापान——सबों में जाड़े में अधिकांश वर्षा इसी प्रकार होती है।

चूँकि सक्रिय चक्रवातों का बना रहना उनके उष्ण तथा आर्द्र वायु को स्वच्छन्दता से ग्रहण करने की शक्ति पर निर्भर करता है, इसलिए उनमें जाड़े के महीनों में सामुद्रिक मार्ग का अनुसरण करने की स्पष्ट प्रवृत्ति रहती है। यदि किसी ऋतु में वे स्थल पर चलते हैं तो वे ऊँची पहाड़ी श्रेणियों को छोड़ कर चलते हैं अथवा उनके संकीर्णतम बिन्दु पर उन्हें पार करते हैं। यही कारण है कि प्रशान्त महासागर से उठनेवाले बहुत से चक्रवात ५०° उत्तर अक्षांश वाले क्षेत्र में रॉकी को पार करते हैं।

उत्तरी अटलांटिक में शीतकालीन गंभीर चक्रवात के केन्द्र में दाब ९४० मीलीबार तक गिर सकता है (२८·३५ इंच), अथवा इससे भी अधिक गिर सकता है; किन्तु ९४० मीलीबार (२७·७६ इंच) से दाब शायद ही कम होता है।

इनके चलने की दिशा उष्ण खंड, जब ये सतह पर रहते हैं, की समदाब रेखाओं की प्रवृत्ति से अधिक सम्बद्ध रहती है।

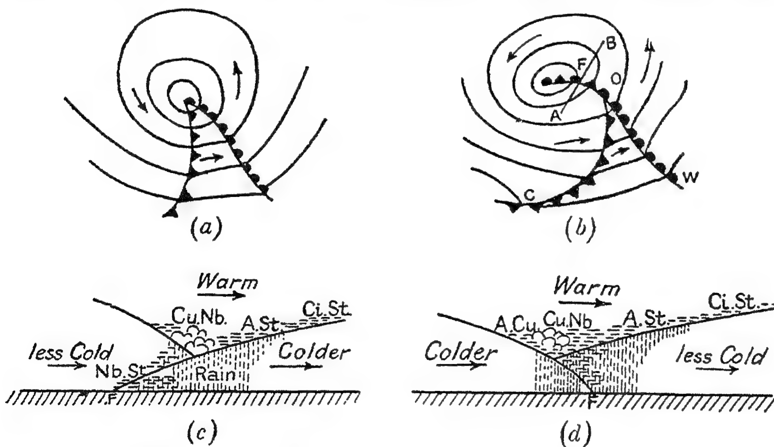
इनके विनष्ट होने के प्रक्रम : निचूषण (Occlusion) :—अग्र चक्रवातों में कुछ दिनों से अधिक ठहरने की शायद ही शक्ति रह पाती है, जैसा कि दैनिक मौसम के चित्रों के अध्ययन से पता चलता है। ऐसा देखा जाता है कि जैसे ही चक्रवात पूर्व

की ओर आगे बढ़ता है, वैसे ही शरदाग्र उष्णाग्र की दृष्टि से आपेक्षतया आगे बढ़ता है तथा अन्त में उसे पराभूत कर लेता है।

ऐसा होने पर चक्रवात को निचूषित (occluded) कहा जाता है। दूसरे शब्दों में अग्रभाग के समाहित होने को निचूषण कहा जाता है। सर्वप्रथम निचूषण पर उष्ण वायु का ऊपर उठना जारी रहता है और इससे वर्षा होती है, किन्तु जब यह क्रम आगे बढ़ता है तब सतह पर ताप तथा हवा की दिशा शरदाग्र से सम्बद्ध ताप तथा हवा की दिशा अपेक्षाकृत कम दृष्टिगोचर होती है।

सिद्धान्त की दृष्टि से सतहवाली वायु के ताप में तनिक भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए; किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से सर्द वायु जो चक्रवात के चारों ओर लम्बे मार्ग पर भ्रमण कर चुकी हो, साधारणतः जिस वायु से यह मिलती है, उससे कुछ भिन्न होती है। इंगलैंड में निचूषण के आगे बढ़ने पर दो-तीन अंश ताप बढ़ अथवा घट सकता है। किन्तु सुस्पष्ट सर्दाग्र के द्वारा १५ अंश तक ताप गिरा सकता है, और अमेरिका में इससे भी अधिक।

निचूषित होने पर चक्रवात साधारणतया तीव्र गति से जाता है। अटलांटिक में प्रादुर्भूत चक्रवात की अवधि ध्रुवीय अग्र पर दृष्टिगोचर होनेवाले प्रथम विकुंचन से लेकर शिथिलता से घूमती हुई सर्द वायुराशि, जिसके ऊपर कुछ मेघ रहता है, प्रायः छः दिनों की होती है। अटलांटिक से चलने वाले चक्रवात के साथ ब्रिटेन को पार करनेवाले अधिकांश अग्रभाग थोड़ा-बहुत निचूषित हो जाते हैं और तदनुसार ऐसा



चित्र ५३—आकृति (a, b) और अनुप्रस्थ काट (c, d) निचूषण का बनना बताते हैं। अनुप्रस्थ काट c, d रेखा A B पर है।

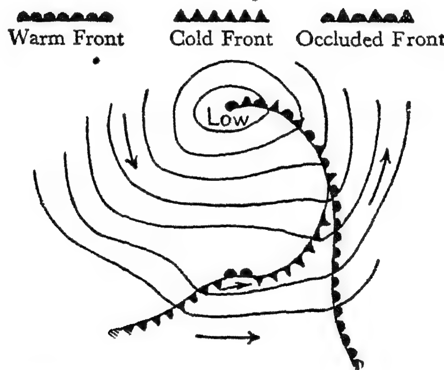
[(c) उष्ण निचूषण, जहाँ धरातलीय वायु चक्रवात के समीप आने पर, मार्ग के उस वायु से गर्म है जिसको यह पार करके आई है। (d) ठंडा निचूषण, जहाँ धरातलीय चक्रवात के समीप आने पर मार्ग के उस वायु से ठंडी है जिसको यह पार करके आई है। नियमानुसार वर्षा की पट्टी जो साथ ही चलती है (c) में (d) की अपेक्षा चौड़ी होती है।]

पाना असामान्य नहीं है कि ये चक्रवात उत्तरी नार्वे अथवा बाल्टिक की ओर बढ़ने पर समाप्त हो जाते हैं।

चक्रवात के मार्ग में प्रचलित हवाओं का स्थान :—अब यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी भी स्थान में हवा की प्रमुख दिशा समशीतोष्ण कटिबन्ध में जिस आवृत्ति के साथ चक्रवात आगे बढ़ते हैं, अधिकांशत: उस पर तथा प्रस्तुत स्थान के उत्तर अथवा दक्षिण इनकी क्रिया होती है या नहीं ऐसी इन दोनों बातों पर निर्भर करती है।

दक्षिणी आइसलैंड में उदाहरणार्थ पूर्वा हवाएँ बहुत बड़े अनुपात में चलती पायी जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन में अधिकांश दिनों में हवाएँ दक्षिण तथा पश्चिम बिन्दुओं के बीच से आती हैं। वसन्त ऋतु (अप्रैल तथा मई) में चक्रवात ब्रिटिश द्वीप पुंज के दक्षिण से गुजरनेवाले मार्ग का अनुसरण करते हैं तथा स्कैंडिनेविया अथवा निकटवर्ती समुद्रों में बड़ा प्रतिचक्रवात बहुत समय तक स्थिर रहता है। इस ऋतु में उत्तर तथा पूर्व के बीच से हवाएँ बहुत ज्यादा आती हैं।

आठवें अध्याय में वर्षा करनेवाली प्रमुख सामुद्रिक हवाओं के विषय में कथित अभिवचन (Remarks) प्राय: ठीक ही हैं लेकिन बहुत से आर्द्रतम दिन, यहाँ तक कि इंगलैंड में भी सतह पर चलनेवाली मन्द या हल्की पूर्वा हवाओं के ही कारण होते हैं। प्रबल चक्रवात जिसका केन्द्र पूर्व की ओर फ्रांस को पार कर आगे बढ़ता है अथवा इंगलिश चैनेल से होकर जाता है, इसी के वर्षा वाले भाग के उस मार्ग से गुजरने के कारण होता है। ऊँचे स्तर के ये क्रम अन्त में महासागर से आर्द्रता लेकर इससे पूर्व की ओर बढ़ते हैं। लेकिन सीधे महासागर से चलनेवाली सभी हवाओं से वर्षा नहीं



चित्र ५४—गौण चक्रवात की प्रारंभिक दशा, शीताग्र बनाती हुई। मुख्य चक्रवात आंशिक रूप में जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, निचूषित है अर्थात् चक्रवात के चारों ओर आती हुई ठंडी हवा मुख्य क्षेत्र के दक्षिण पूर्व में स्थित क्षेत्र पर से होकर आई है।

होती और न स्थल के निकट की हवा महासागर से सीधे चलती है जिससे वर्षा हो, जिसकी पुष्टि प्रेक्षण द्वारा अनायास हो जाती है।

गौण चक्रवात :—सक्रिय चक्रवात के शरदाग्र द्वारा प्रदर्शित सीमा प्राय: सुस्पष्ट

रहती है और यह प्रायः देखा जाता है कि इसमें दाब और भी कम हो जाता है, जिससे **गौण** चक्रवात का प्रादुर्भाव होता है (चित्र ५४ भी देखिए)।

यह सर्वप्रथम विकुंचन या तरंग के समान मालूम होता है और यह प्रायः प्रारम्भिक चक्रवात के शरदाग्र पर पाया जाता है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है।

यदि चित्र से यह पता चलता हो कि बरोमीटर का पारा शरदाग्र वाले क्षेत्र में कुछ गिर रहा हो और दूसरी जगह यह स्थिर अथवा ऊपर उठ रहा हो तो यह आकर्षण का विषय हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि स्कॉटलैंड के उत्तर में एक गंभीर प्रारम्भिक चक्रवात हो तो दक्षिणी आयरलैंड से दूर गौण चक्रवातका प्रादुर्भाव होगा और यह पूर्व की ओर इंगलिश चैनेल तक तेजी से बढ़ेगा। इससे पूर्वा हवाओं की उत्पत्ति होगी और इंगलैंड के दक्षिणी तट पर लगातार वर्षा होगी। उत्तर में दूर पर पछुआ हवाएँ तथा वर्षा होगी जो प्रारम्भिक चक्रवात के चारों ओर की ध्रुवीय वायु के अपवहन (Sweep) से सम्बद्ध होंगी और यदि गौण चक्रवात नहीं उत्पन्न होता तो ये निस्संदेह दक्षिणी इंगलैंड में उत्पन्न होते।

प्रबल गौण चक्रवात से उत्पन्न होने के बाद प्रारम्भ चक्रवात मर या समाप्त हो जाते हैं, कभी-कभी अतिरिक्त (additional secondaries) गौण चक्रवात भी प्रबल (vigorous secondaries) गौण चक्रवात के पिछले भाग में उत्पन्न होते हैं, और इसीलिए जब-तब ऐसे चक्रवातों की सम्पूर्ण श्रेणी ऋतु मानचित्रों में अटलांटिक को आवृत्त करते दीख पड़ती है। मोरक्को के दक्षिण में अफ्रीका के तट से दूर अथवा कैलिफोर्निया के निचले भाग से हटकर जाड़े में कभी-कभी वर्षा होती है। इसका होना प्रायः दक्षिणी मार्ग से होकर जो प्रारम्भिक चक्रवात पहले ही चला गया है, उसके पिछले भाग में उत्पन्न गौण चक्रवात के आने के कारण ही कहा जा सकता है।

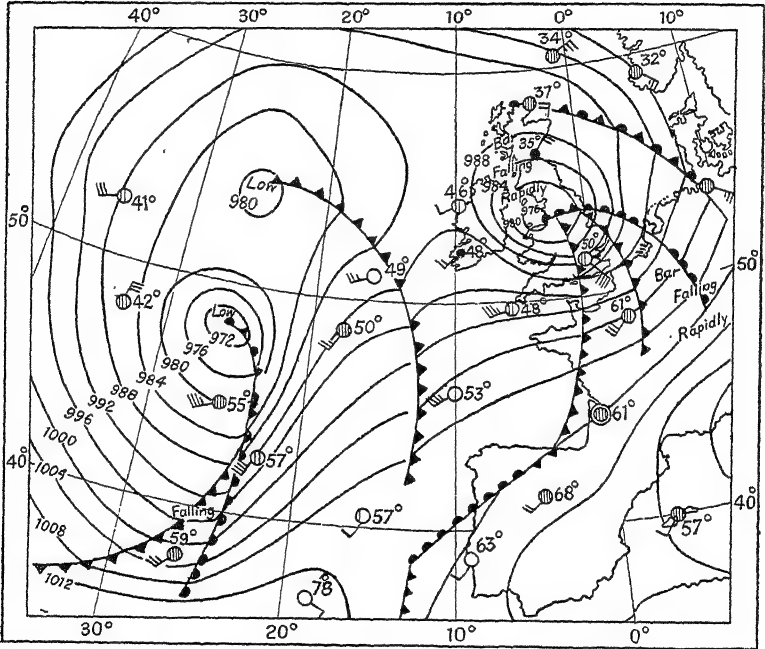
अग्र विकास तथा वायराशियां :—ध्रुवीय तथा उष्णकटिबन्धीय वायुराशियों का भेद स्पष्ट किया जा चुका है; किन्तु इस बात पर ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक प्रकार (each type) में और भी परिवर्तन हो सकता है। वायुराशियों का वर्गीकरण (१) उनके स्रोत क्षेत्र जहाँ से वे अपने मौलिक गुण ग्रहण करते हैं, और (२) उनके भ्रमण-पथ के आधार पर किया जा सकता है। ब्रिटेन में वायुराशियों के कुछेक प्रमुख भेदों को माना तथा नामकरण किया जाता है, जिनके लक्षण का वर्णन संक्षेप में किया जा सकता है।

सामुद्रिक उष्ण कटिबन्धीय वायु :—यह वायु एजोर्स के उच्च दाब के क्षेत्र में उत्पन्न होती है और शनैः-शनैः शीतल होनेवाले समुद्र से होकर इंगलैंड में आती है। अपनी निम्न तहों में यह उष्ण, आर्द्र और स्थायी रहती है, और सभी ऋतुओं में इससे इंगलैंड के तहों के निकट बहुत ही निम्न मेघ बनते हैं जैसा कि प्रदर्शित किया गया है। ग्रीष्म में वायु के देश के अन्दर चले जाने पर यह निम्न मेघ विलीन हो जाता है और पूर्वी इंगलैंड के पास गंभीर पुंज मेघ की सृष्टि होती है, सतह पर की वायु आर्द्र तथा आरामदेह (relaxing) होती है। शरद ऋतु में ताप साधारणतः ५०° से बहुत ऊपर रहता है।

सामुद्रिक ध्रुवीय वायु :—यह वायु लैब्राडोर अथवा ग्रीनलैंड के दक्षिणी क्षेत्र में उत्पन्न होती है और अपेक्षाकृत उष्णतर समुद्र से होकर इंगलैंड की ओर आगे बढ़ती है। इसलिए यह विशेष कर शरद ऋतु में अस्थायी होती है और वर्षा करती है।

यह इंगलैंड में आनेवाली साधारणतम वायु है। इसमें जनवरी में प्रातःकाल में सतह पर ४०-५०° ताप रहता है तथा जुलाई में ६०-६५° तक। ऐसा होना अधिकतर इस बात पर निर्भर करता है कि यह वायु अटलांटिक के पार बड़ी राह को तय करके गयी है अथवा छोटी राह को। पहली दशा में यह इंगलैंड के तट पर दक्षिणी-पश्चिमी हवा के रूप में आती है तथा शीतकालीन उष्ण कटिबन्धीय वायु के समान प्रायः मृदुल, मेघमय तथा आर्द्र रहती है। दूसरी दशा में यह अपेक्षाकृत अधिक शीतल और शक्तिदायक (bracing) होती है।

सामुद्रिक आर्कटिक वायु :—यह साधारणतः वह वायु है जो आइसलैंड के उत्तर से लघुत्तम मार्ग से होकर आती है। शरद ऋतु में यह इंगलैंड में तीखी उत्तरी



चित्र ५५—उत्तरी इंगलैंड पर मार्च १६, १९४७ का मिश्रित अग्रीय चक्रवात, साथ ही पश्चिम की ओर आते हुए अटलांटिक चक्रवात हैं।

(From M.O. Synoptic Charts)

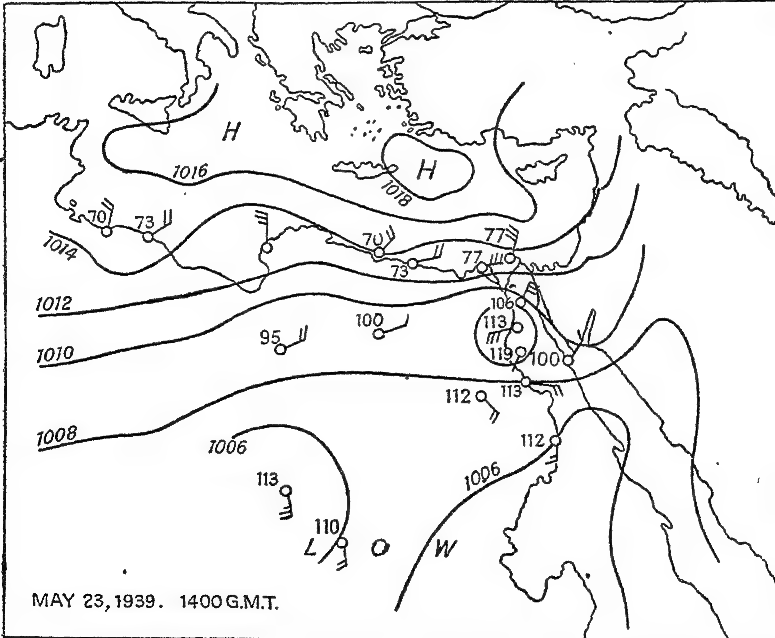
[मध्य के दक्षिण में इस चक्रवात ने पूर्वी मिडलेंड में सबसे बड़ा झंझा पैदा किया, जबकि स्काटलैंड के ऊँचे भागों पर भारी हिमपात हुआ।]

वायु के रूप में आती है और यहाँ तक कि हजारों मील तक खुले समुद्र को पार करके आने के बाद भी सतह पर इसका ताप प्रायः हिमांक के बराबर ही रहता है। खुले समुद्र को पार करने के बाद यह बहुत अस्थायी हो जाती है और विशेषकर तटों तथा

उत्तर की ओर खुली पहाड़ियों पर हिम और ओले (hail) की तीव्र वर्षा करती है जैसा कि क्लीवलैंड, लैमरम्यूर्स और उत्तरी नोर्फोक में।

महादेशीय वायु :—इसकी उत्पत्ति जो भी हो, यह साधारणतः अपेक्षाकृत बहुत अधिक शुष्क होती है। ग्रीष्म में पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्र से महादेशीय वायु इंगलैंड में गर्म-शुष्क तथा दक्षिणी-पूर्वी हवा के रूप में आती है, इससे लंदन में अपराह्न में ९०° से भी ऊपर ताप हो जाता है।

महादेशीय आर्कटिक शब्द अत्यधिक सर्द वायु-स्रोतके लिए आरक्षित (reserved) है जो शरद ऋतु में उत्तरी रूस अथवा आर्कटिक सागरों से बाहर कहीं उत्पन्न होकर स्कैंडिनेविया के वृहत् प्रतिचक्रवात के चारों ओर बहती हुई जबतब इंगलैंड में आती है। यह अत्यधिक सर्द होती है तथा अपने साथ प्रायः बहुत मेघ लाती है; और उत्तर सागर से होकर चलने के कारण यह प्रायः डेनमार्क की अपेक्षा यॉर्कशायर के तट पर १०° या १५° अधिक उष्ण होती है। किन्तु यह अपनी सतह (निचली) तहों में जो



चित्र ५६—सहारा में उत्पन्न उत्तरपूर्व की ओर जाता हुआ खामसिन चक्रवात मई १९३९, कैरों में ताप १०९°

आर्द्रता ग्रहण कर लेती है, उससे इसमें शीतार्द्र तथा कष्टदायक तीखापन (sting) आ जाता है।

इनमें से किन्हीं दो वायुराशियों के बीच अथवा यहाँ तक कि उनके अन्तर्गत अग्र

सन्निहित रहते और विकसित होते हैं। इनके पास एक वायुराशि दूसरी वायुराशि का अधःकर्त्तन (undercutting) करती है जिससे न्यूनाधिक मेघ बनते तथा वर्षा होती है। अटलांटिक से बड़े चक्रवात के पहुँचने के अरसे में यह देखा जाता है कि मौलिक उष्ण तथा शरदाग्रों के अतिरिक्त जिसके साथ यह प्रादुर्भूत हुआ था, दो या तीन छोटे अग्रों का विकास होता है जो कुछ क्रम में आकर्षित कुछ विभिन्न प्रकार की वायुओं की सीमाएँ प्रदर्शित करते हैं। आजकल मौसम का पूर्वानुमान (forecasting) अधिकतर विभिन्न वायुराशियों, उनके बीच के अग्र, मेघ के प्रत्याशित भेद और सम्बद्ध वायुराशियाँ तेजी या धीरे से बढ़ रही हैं या नहीं—इन बातों को जानना ही है।

जिस गति से वायुराशि में और अधिक परिवर्तन होता है, वह केवल वायु की गति की चाल पर ही निर्भर नहीं करती,बल्कि जिस मार्ग का यह अनुसरण करती है उस पर भी चाह वह मार्ग पहाड़ी अंचल में, बर्फाच्छादित समुद्र अथवा उष्ण, आर्द्र और आतपयुक्त मदानों में ही क्यों न हो। यह बड़े विषय का केवल संक्षिप्त विषय प्रवेश है। निदर्शन, (चित्र ५५) जो कई अग्रवाले जटिल चक्रवात को प्रदर्शित करता है, की सहायता से विद्यार्थी (पाठक) को शीघ्र ही पता चल जायगा कि विशेषकर यूरोप के उत्तरी-पश्चिमी भाग से हटकर उठनेवाले बड़े चक्रवात की वायु की प्रक्रिया हमारे साधारण सरल प्रारम्भिक सिद्धान्त के अनुसार जो होती उसकी अपेक्षा क्यों अधिक भिन्न होती है। संसार के दूसरे भागों में, जबकि पिछले अध्यायों में वर्णित संचार (वायुसंचार) के साधारण परिणाम माने जाते हैं, उस क्षेत्र को आक्रान्त करने वाली वायुराशियों के लक्षणों को ध्यान में रखकर प्रत्येक मौसम तथा प्रत्येक दिन में विवरणों का अध्ययन करना चाहिए।

तापीय चक्रवात—(Thermal depressions):—सभी चक्रवात अग्र भागवाले नहीं होते। पृथ्वी की सतह के निकट वाली बड़ी तथा न्यूनाधिक शान्त वायुराशियों का उष्ण होना प्रायः दाब का खूब गिरना जो बैरोमीटर पर दृष्टिगोचर होता है, उसके साथ सम्बद्ध रहता है। जब ऐसा होता है तब अपेक्षाकृत निम्न दाब के क्षेत्र के चारों ओर की समदाब रेखा का अनुशरण करनेवाले साधारण वायु-संचार के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। तापीय चक्रवात का सर्वोत्तम उदाहरण भारत के चित्रों पर देखा जा सकता है (चित्र ५७) जो अप्रैल तथा जुलाई के मध्यमान दाब को प्रदर्शित करते हैं। ग्रीष्म में आइबेरिया प्रायद्वीप में निकटवर्ती समुद्रों पर वाले उस दाब से बहुत कम दाब रहता है जो साधारण वायु-संचार करे जिससे बारसेलोना में दक्षिणी-पूर्वी से पूर्वी मन्द समीर एवं अटलांटिक तट पर उत्तरी-पश्चिमी से उत्तरी मन्द समीर उत्पन्न हो।

इस प्रकार के वायु-संचार प्रायः गर्म मरुभूमियों में प्रारम्भ होते हैं और चूँकि उनके अन्दर की सम्पूर्ण वायु शुष्क रहती है इसलिए बादल तथा वर्षा की आशा तब तक नहीं की जा सकती,जबतक उत्तरावस्था में आर्द्र वायु दूसरे क्षेत्र से आकर्षित होकर उसमें न आ जाय। भारतवर्ष में ये परिस्थितियाँ जून में उत्पन्न होती हैं जब आर्द्र वायु दक्षिण में हिन्दमहासागर से होकर लम्बी यात्रा तय कर देश के अन्दर आने लगती है। इसी प्रकार के निम्न दाब के क्षेत्र संयुक्त राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी भागों में उत्पन्न होते हैं जिनसे सर्वप्रथम गर्म, शुष्क तथा विनाशकारी पछुआ हवाएँ

चलती हैं, किन्तु फिर भी जब वे पूर्व की ओर चलती हैं तो मेक्सिको की खाड़ी से आर्द्र वायु खींचने लगती है और अन्त में वे अग्र चक्रवातमें परिणत हो जा सकती है,जिससे लाभदायक वर्षा होगी। सहारा में उत्पन्न होनवाले तापीय चक्रवात जो उत्तर-पूर्व की ओर चलते हैं जिनसे स्वल्प किन्तु गर्म तथा शुष्क दक्षिणी वायु के अत्यन्त कष्टदायक झोंके मिश्र में आते हैं—इस वायु को खामसीन कहते हैं (चित्र ५६)।

ग्रीष्म में यूरोप में समय-समय पर मन्द तथा अनियमित हवाओं का बहना और दाब में स्वल्प प्रवणता—दोनों बातें कुछ दिनों तक जारी रहती हैं। ऐसी दशाओं में लघुतापीय चक्रवात उत्पन्न होते हैं और भूमि के आर्द्र रहने पर वे साधारणतया गर्जन के साथ विस्तृत रूप से होनेवाली वर्षा से सम्बद्ध रहते हैं।

तापीय चक्रवातों (Thermal depressions) या उष्मीय तडित झंझा (heat thunder storms) के अतिरिक्त अग्रभागवाले तडित झंझा के साथ सम्बद्ध चक्रवात भी भारत में मानसून के पहले तथा मानसून के बाद वाले दोनों समयों में आया करते हैं। इनमें से मानसून के पहले वाली अवधि में आनेवाले तडित झंझा अधिक बार-बार आते हैं और इनके अन्तर्गत उत्तर-पूर्व भारत में वे तूफान (Squall) आते हैं जो नॉर-वेस्टर्स (Nor'-westers) के नाम से सर्वविख्यात हैं। इन तड़ित झंझाओं के अलावे जो स्थलीय उत्पत्ति के हैं, ऐसे भी तडितझंझा हैं जो बंगाल की खाड़ी में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन झंझावातों की यांत्रिकता (mechanism) (उत्पत्ति) की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए भारतकी वायुराशियोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

भारत की वायुराशियाँ :—भारत की वायुराशियाँ मोटे तौर से दो वर्गों में पड़ती हैं। पहले वर्ग में उष्ण कटिबन्धीय महादेशीय (Tc) वायु है, जिसका स्रोतक्षेत्र मध्य तथा दक्षिण-पश्चिम एशिया के विशाल प्रतिचक्रवातीय क्रम में पड़ता है और इसीसे उत्तरी-पूर्वी या वर्ष के शीतकालीन आधे भाग की शुष्क मानसून हवा की उत्पत्ति होती है। दूसरे वर्ग में उष्ण कटिबन्धीय सामुद्रिक (Tm) वायु आती है, जिसका स्रोत दक्षिणी गोलार्द्ध के उप-उष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब वाले क्षेत्र में पड़ता है, और यह वायु दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवा के चलने के समय उपमहादेश के बहुत बड़े (अधिकांश) भाग में बहती है। इसमें आशतः क्षेत्रीय गुणों के कारण एक ही मानसूनी क्षेत्र की वायुराशि के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। भारत की शीत-कालीन वायुराशि की सूक्ष्म परीक्षा करने से इस बात का पता चलता है कि यह ध्रुवीय या उपध्रुवीय उत्पत्ति की महादेशीय वायु है तथा इसे Pc नाम दे सकते हैं। हिमालय को पारकर जाते समय और दक्षिण के अधिक तपती हुई सतह से जाने के फल-स्वरूप यह अपने मौलिक गुण को खो देती है और नये गुण धारण कर लेती है, जिससे यह सुझाव पेश किया जाता है कि इसे Npc वायु कह सकते हैं, जिसका अर्थ अन्तर्वर्ती ध्रुवीय महादेशीय (Transitional Polar Continental) होता है या PcTc जिसका अर्थ ध्रुवीय महादेशीय वायु होता है जो अन्तर्वर्ती से उष्ण कटिबन्धीय महादेशीय वायु में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में रहती है।

PcTc वायु में और दूर दक्षिण की ओर जाने के सिलसिले में ताप, आर्द्रता तथा स्थायित्व की दशाओं की दृष्टि से और भी अधिक परिवर्तन होते हैं। और अन्त में यह दक्षिणात्य, दक्षिण भारत, तथा समीपवर्ती समुद्रों में उष्ण कटिबन्धीय वायु के गुणों को अपना लेती है; अतः इसे Tc वायु कहते हैं।

दक्षिण भारत से आनेवाली Tc वायु जो इस समय तक स्थलीय वायु बन जाती है, बंगाल की खाड़ी के पश्चिमी भाग से चलने के कारण और भी परिवर्तित हो जा सकती है और इसे TcTm कह सकते हैं। खाड़ी से चलते समय यह कुछेक अंशों में सामुद्रिक गुणों को अपना लेती है। यह वायु उत्तर भारत में पश्चिम तरफ से आने वाले विक्षोभ (disturbance) के साथ आने के कारण समय-समय पर भारत में आ सकती है और यह TmTc वायु के रूप में कार्य कर सकती है अर्थात् यह एक ऐसी वायु है जिसके निचले भाग में इसमें उष्ण कटिबन्धीय सामुद्रिक गुण तथा ऊपरी भाग में उष्ण कटिबन्धीय महादेशीय गुण आ जाते हैं।

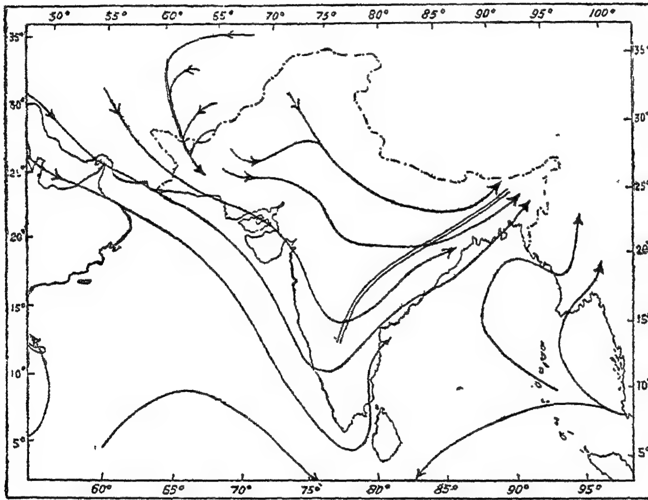
दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवा की अवधि के समय भारत में २२° उत्तर अक्षांश के दक्षिण, समीपवर्ती समुद्रों में और बर्मा में साधारणतः पायी जानेवाली वायु भूमध्य-रेखीय सामुद्रिक या Em वायु रहा करती है। यह मानसून की पूर्वी शाखा है और इसके परिवर्तित गुण की दृष्टि से इसे EmT नाम दे सकते हैं, जिसका अर्थ भूमध्य-रेखीय सामुद्रिक वायु है जो उष्ण कटिबन्धीय वायु में परिवर्तित होने की क्रिया में रहती है। भारत के नितान्त उत्तरी-पश्चिमी भाग, सिन्ध के पश्चिम यह वायु भिन्न उत्पत्ति की रहती है और Tc कहलाती है। इनके अतिरिक्त खास क्षेत्रों में हम कभी-कभी अध्यारोपित (superposed) प्रकार की वायुराशियाँ पाते हैं, अर्थात् इसका एक भद निचली तह में करीब २ (दो) किलोमीटर तक रहती है और उसके ऊपर एक भिन्न प्रकार की तह पायी जाती है जैसे---Em Tc जो प्रायः सिन्ध के निचले भाग और दक्षिणी राजस्थान में पायी जाती है, तथा Em Emt मध्य-भारत में बंगाल की खाड़ी से चक्रवात के आते समय मध्य भारत में पायी जाती है।

मानसून के पूर्व तडिञ्झंझाओं की उत्पत्ति :---अप्रैल और मई में निचली तहों में पाई जानेवाली वह वायु जो भारत के अधिकांश भागों में बहती है, वह Tc वायु है। वह उत्तरोत्तर गर्म होती जाती है, तथा सतह के तापन के साथ जबर्दस्त मिश्रण होने से सबसे निचली तह के आध भाग में १ किलोमीटर तक अति स्थिरोष्म पतन-गति (super-adiabatic lapse-rate) का विकास होता है और अपराह्न तक प्रायः स्थिरोष्म पतन-गति (adiabatic lapse-rate) प्रारम्भ हो जाती है, जिससे अस्थायित्वता और तापीय निम्न दाब कायम होते हैं। बंगाल, आसाम तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में पहुँचने के पहले समुद्र के ऊपर से होकर चलने के कारण इसमें उष्ण कटिबन्धीय सामुद्रिक या Tm वायु के गुण आ जाते हैं और यह Tm Tc वायु बन जाती है।

अप्रैल और मई महीने में भारत में सतहवाली हवा के मध्यमान संचार को प्रदर्शित करने वाले नक्शों से पता चलता है कि एक रेखा जो मोटे तौर से दक्षिण-पश्चिम से उत्तरी-दक्षिणात्य, उड़ीसा-बंगाल और उत्तरी आसाम से होकर उत्तर-पूर्व की ओर गुजरती है, वह दक्षिण से दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर बहनेवाली Tm Tc वायु से उत्तर-पश्चिम से बहनेवाली Tc वायु के क्षेत्र को अलग कर देती है। अधिकतम वर्षा और तडिञ्झंझाओं की पट्टी दो विभिन्न प्रकार की वायुराशियों के बीच अलगाव की इस रेखा के निकट पड़ती है। अलगाव की ऐसी पट्टी में अन्तर्क्रिया उष्ण कटिबन्ध से बाहरवाले चक्रवातों के उष्ण या ठंडे अग्रभाग की अन्तर्क्रिया से मूल रूप से भिन्न होती है; वहाँ (extra-tropical cyclones) आर्द्र वायु अधिक उष्ण होने के कारण या ठंडी वायुराशि की आगेवाली ढाल के ऊपर जाती है या चूँकि ठंडे वेज

(cold wedge) द्वारा इसका अधोकर्त्तन होता है, इसलिए यह उठकर ऊपर चली जाती है।

उत्तरी दक्षिणात्य से आसाम तक दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व दिशा में जानेवाली निम्न दाब की रेखा या गर्त-रेखा (the line of low pressure or trough line) Tc और TmTc वायु के बीच की अभिबिन्दुता की रेखा (line of convergence) है। साधारणतया, साथ-साथ बहने वाले दो वायु-स्रोतों के बीच भौतिक गुणों में स्पष्ट अन्तर नहीं रहते। लेकिन समय-समय पर मौसमी गर्त स्थानीय रूप से अधिक तीव्र सौर्यिक ताप से या देश के उत्तरी भाग को पारकर उस पश्चिमी विक्षोभ

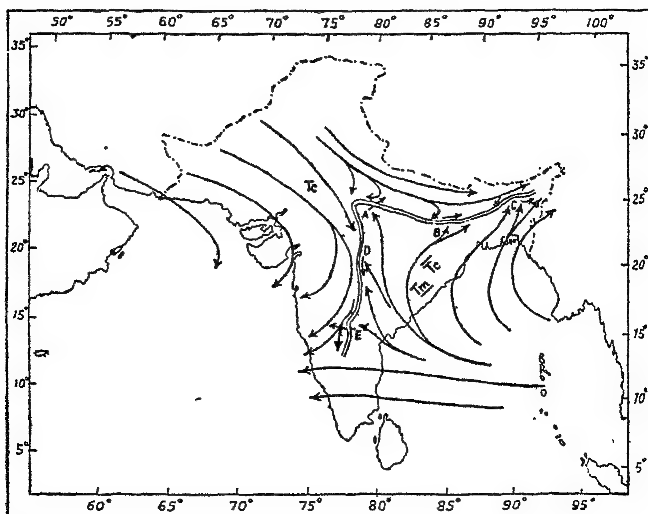


चित्र ५७—दोहरी रेखा Tc और TmTc वायुस्रोतों में अलगाव दर्शाती है

के आने से जबर्दस्त हो जाता है जो आर्द्र वायु को खींचकर अन्दर लाता है। इस कारण से या दिन के समय असमान रूप से तापन होने के कारण तथा उसके फलस्वरूप दोनों पट्टियों में असमान दाब के कारण अलगाव की रेखा तरंगमय (wavy) हो जा सकती है। इसलिए अप्रैल और मई महीने के कुछ दिनों में निम्न दाब का गर्त तरंगमय हो जा सकता है क्योंकि आर्द्र वायु की प्रवृत्ति शुष्क वायु की पट्टी में जा पहुँचने की रहती है और शुष्क वायु में आर्द्र वायु क्षेत्र (sector) में फैल जाने की प्रवृत्ति रहती है। उभरे भागों के अन्दर, जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, आर्द्र वायु स्रोत चक्रवातीय बवंडर (vorticity) उत्पन्न करता है। उलटे उभरे भागों में भी Tc वायु के स्रोत में बवंडर उत्पन्न होता है। उभरे भागों के दूसरी ओर Tc वायु पश्चिम की ओर खिंच जाने पर प्रति चक्रवातीय चक्कर (anticyclonic curl) उत्पन्न करती है। बड़े उभरे भाग में जहाँ अभिबिन्दुता सबसे अधिक जबर्दस्त होती है, आर्द्र वायु में ऊपर

उठने के लिए संवहन (convection) के द्वारा आवश्यक आवेग उत्पन्न होगा तथा तड़ित झंझा उत्पन्न होंगे।

यद्यपि विक्षोभ अग्रभाग वाली कोटि के मालूम पड़ते हैं तथापि उनमें उष्ण कटिबन्ध से बाहर वाले चक्रवातों के अग्रभागों के विकास के साथ कुछ समानताएँ पायी जाती हैं यद्यपि दोनों स्थितियों में आर्द्र वायु वाले भाग की दृष्टि से वर्षा और तूफान के वितरण में कुछ विशेष अन्तर है। उष्ण कटिबन्ध के बाहर वाले चक्रवातों में तूफानों की पट्टी अग्रभागों पर तथा उनके निकट रहती है और यह ज्यादातर अग्रभाग पर लम्ब-रूप से रहती है। लेकिन उष्ण कटिबन्ध के इन अलगावों में तूफानों की पट्टी आर्द्र

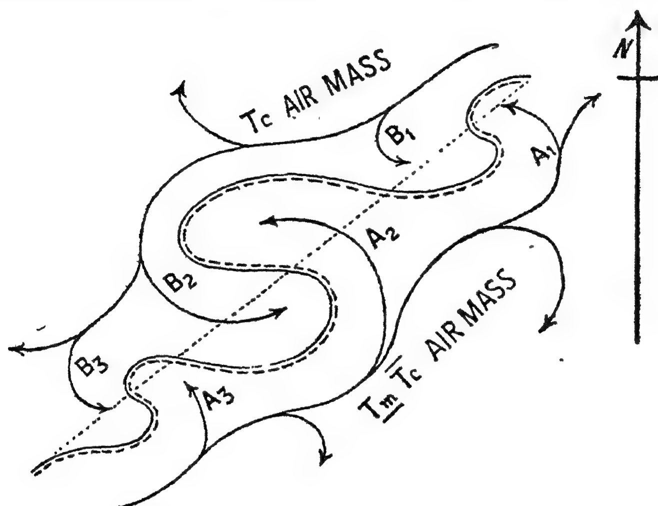


चित्र ५८—अग्रभाग का बनना

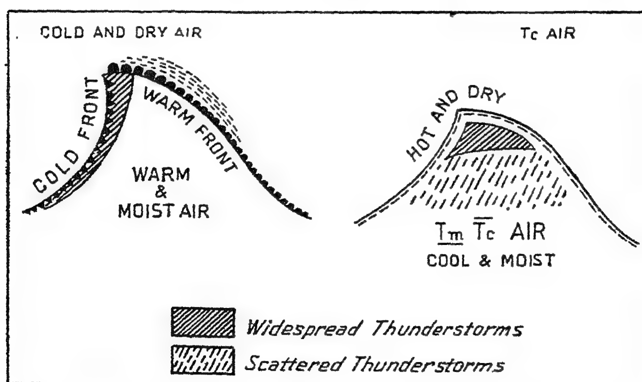
वायु वाले जिह्वा के आकार वाले ढाँचे (within the moist air tongue) के अन्दर रहती है और वितरण में अत्यल्प अनियमित रहती है। चूँकि क्षतिपूरक नीचे की ओर आनेवाली धाराएँ प्रायः ४ से ६ किलोमीटर की ऊँचाइयों पर प्रारम्भ होती हैं, इसलिए इन ऊँचाइयों पर तरंग का ढाँचा वायु की साधारण दिशा में अग्रभाग के नीचे गिर जाता है।

बंगाल की खाड़ी के चक्रवात :—बंगाल की खाड़ी के बीच तथा दक्षिणी भाग में चीन सागर से आनेवाले निम्न दाब की तरंग के निम्न प्रभाव में पड़कर Tm वायु पर्याप्त ऊँचाई पर पहुँच जाती है। इनमें से निम्न दाब के कुछ क्रम उन चक्रवातों में उत्पन्न होते हैं जो पश्चिम की ओर बदले हैं और कभी-कभी दक्षिण भारत के केन्द्रीय तथा दक्षिणी भागों में पहुँच जाते हैं। प्रशान्त महासागर तथा चीन सागर के चक्रवातों (typhoons) से आनेवाले शेष चक्रवातों में से कुछ चक्रवात ऐसे होते हैं जो हिन्द-

चीन तथा दक्षिणी चीन के तट पर से जुलाई से नवम्बर तक टकराते हैं। ये स्थल पर चलते तथा भारतीय क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इनमें से बहुत-से चक्रवात तूफानों और



चित्र ५९—Tc और TmTc वायु राशियों के बीच अग्रभाग का बनना। बिन्दु रेखा विक्षोभ के पहले अलगाव दर्शाती हैं



चित्र ६०—बायें :—उष्ण कटिबंध के बाहर तथा उष्ण कटिबंध के अग्रभाग ; दायें :—अप्रैल में अलगाव पर तरंग का आकार

सुस्पष्ट चक्रवातों में सितम्बर से नवम्बर तक उत्पन्न होते हैं। ये तूफान Tm वायु में उत्पन्न होते हैं, लेकिन अग्रभाग की कोटि वाले तड़िञ्झंझा चक्रवातों के उत्तर-पश्चिम

या पश्चिम में उत्पन्न होते हैं जहाँ Tm वायु Tc. Tm वायु या Tc वायु से निचली तह (layer) में मिलती है।

मानसून के पूर्ववाली अवधि के समय भिन्न प्रकार के तड़िञ्झंझा उत्तरी भारत में विशेष कर अप्रैल महीने में चलते (आते) हैं। अन्तवर्ती ध्रुवीय वायु ((PcTc) जो शीतकालीन वायु की कोटि की होती है, तीव्र [illegible] मौजूद रहने पर भारत में आती है। गंगा की घाटी मे पूर्व की ओर बढ़ते समय TmTc वायु से मिलते समय वे कभी-कभी सुस्पष्ट ठंडे अग्रभाग का निर्माण करते हैं। भयंकर शिलावृष्टि-युक्त तूफानों (hail storms) में कुछेक (शिलावृष्टि युक्त) तूफान, और गिरती रात या सबेरे प्रातः कालीन तड़िञ्झंझा इस अन्तर्क्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं।

मानसून के पूर्व की अवधि में आनेवाले तडिञ्झंझा उत्तर-भारत मे दक्षिण भारत की अपेक्षा प्रायः अधिक आते हैं यद्यपि दूसरे क्षेत्र में आर्द्र वायु अधिक निचली तह में मौजूद रहती है। यह इस कारण से होता है कि दक्षिण में ऊपरी वायु-स्रोत अधिक उष्ण रहता है, इसलिए इस वायु तथा Tm Tc वायु के बीच ताप में बहुत कम अन्तर (contrast) होता है।

नॉर-वेस्टर :—ये प्रचण्ड तड़िञ्झंझा है जो पूर्वी भारत और पूर्वी पाकिस्तान में मानसून के पूर्व की अवधि में मार्च से मई तक आते हैं। हवाएँ साधारणतः उत्तर-पश्चिम दिशा से बहती हैं और इसलिए ये नॉर-वेस्टर (nor' wester) के नाम से विख्यात हैं। वे सतह पर वाले तूफान की प्रकृति के होते हैं। इनमे से कुछ चक्रवात वाली प्रचण्डता (भयंकरता tornadic violence) की स्थिति में पहुँच जाते हैं। ये माल को नष्ट करते तथा जान की क्षति पहुँचाते हैं, और इसलिए वायु-विहार की सुरक्षा की दृष्टि से मौसम के सही पूर्वानुमान का महत्व बढ़ गया है। यह बहुत दिनों से ज्ञात रहा है कि विक्षोभ का कारण ३,००० फुट से लेकर ५,००० फुट के बीच की उस वायु की दशा में मौजूद रहता है जहाँ उस उत्तरी-पश्चिमी शुष्क वायु द्वारा (Tc) उत्पन्न स्पष्ट प्रतिलोमीकरण होता है जो बंगाल की खाड़ी से आनेवाली आपेक्षतया अधिक ठंडी तथा आर्द्र दक्षिणी वायु (Tm) या (Tm Tc) वायु को पराभूत करती आती है। स्थलीय तूफान (surface squalls) और तड़िञ्झंझा के हाल के अध्ययनों से पता चला है कि ये बड़े समानुपात में मध्य या ऊपरी परिवर्त-मंडल (troposphere) की ठंडी राशियों (cold pools) या ठंडे तापीय गर्त के साथ सम्बद्ध रहते हैं। इन तूफानों की स्थिति तथा तीव्रता तापीय क्रमों की स्थिति और तीव्रता पर निर्भर रहती है। इन क्रमों के साथ बीच के और ऊपरी परिवर्तमंडल की अधिक ठंडी वायु का अभिवहन इनके फटने में सर्वप्रथम निर्णायिक कारण का काम करता है। निचली वायु में आर्द्र वायु का आ मिलना आवश्यक दशा है और साधारण ठंडी (वायु) राशि जो निचले या ऊपरी परिवर्तनमंडल में रहती है, वह नीचे की शुष्क Tc वायु के साथ मिलकर तड़िञ्झंझा में परिणत नहीं हो सकती। अधिक ठंडी वायु का अभिवहन उन बहुत तीव्र पतन-गतियों को स्थापित करता हुआ परिलक्षित होता है, जिनके अस्थायित्व के लिए आवश्यकता होती है। नॉर-वेस्टर सबसे ज्यादा अपराह्न में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि सौयिक ताप के कारण ऊपर की ओर आवेश सबसे ज्यादा इसी समय में होता है और ऊपर की ओर वाले उस आवेग की अवस्था में रहता है जो ऊपर की ठंडी (वायु) राशि से सम्बद्ध रहता है। आसाम की घाटियों में

पहला अध्याय

महासागर

स्थल और समुद्र का साधारण विस्तार :—यदि हम भूमंडल पर अपनी आधी आँखें मूंद कर दृष्टिपात करें जिससे उसके सभी विवरण (details) छूट जायँ, तो हमें पता चलेगा कि पश्चिमी गोलार्द्ध में स्थल का एक बड़ा त्रिभुज है, जिसका आधार उत्तर में आर्कटिक महासागर के सामने (निकट) है। और इसका शीर्ष बिन्दु (Point) दक्षिण में है। पूर्वी गोलार्द्ध में भी स्थल उत्तर की ओर सब से अधिक चौड़ा है, किन्तु दक्षिण में एक बिन्दु में सीमित होने के बदले यह दो बिन्दुओं में सीमित होता है, जिनमें एक उत्तमाशा अन्तरीप है और दूसरा टसमानिया द्वीप। यह ऐसे दो त्रिभुजों के समान है जो अपने आधार पर मिलते हैं; और पश्चिमी गोलार्द्ध की भाँति इनके आधार आर्कटिक महासागर के सामने हैं और इनके शीर्ष बिन्दु दक्षिण की ओर उन्मुख हैं।

इन तीन त्रिभुजों के अतिरिक्त जो उत्तर से दक्षिण की ओर फैले हैं, एक और चौथा छोटे आकार का स्थल पुंज है, जिसका केन्द्र दक्षिणी ध्रुव के पास है।

इन तीन त्रिभुजाकार स्थल पुंजों के बीच इससे भी बड़े समुद्र के त्रिभुज स्थित हैं। लेकिन यह बात अवश्य है कि ये दूसरी ओर मुड़े हुए हैं। ये दक्षिण (की ओर) में चौड़े हैं, जहाँ ये एक दूसरे से मिलते हैं, और उत्तर की ओर संकीर्ण होते जाते हैं। पश्चिमी गोलार्द्ध में प्रशान्त महासागर है,जो उत्तर में बेयरिंग जल-प्रणाली (Behring Straits) के पास समाप्त हो जाता है। पूर्वी गोलार्द्ध में अटलांटिक तथा हिन्द महासागर हैं। इनमें पहला आर्कटिक वृत्त पर भी काफी चौड़ा है और दूसरा उत्तर में अपने दोनों ओर के स्थल पुंजों के मिलने के कारण पूर्णरूप से सीमित हो जाता है।

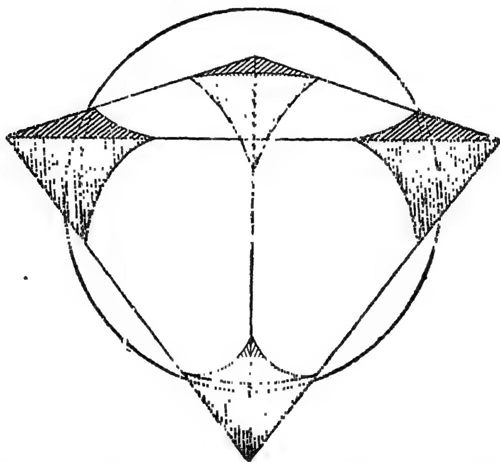
एक और भी सामुद्रिक क्षेत्र है; यह आर्कटिक महासागर है, जो उत्तरी ध्रुव के आस-पास चारों ओर फैला है।

स्थल और समुद्र के त्रिभुज दोनों बहुत ही अनियमित हैं, फिर भी यह स्पष्ट है कि महादेशों तथा महासागरों का विन्यास कुछ सुडौल है।

हालाँकि सुडौल होने के लिये कोई कारण नहीं है, फिर भी सन् १८७५ में लोथियन ग्रीन द्वारा प्रस्तावित सुझाव की ओर ध्यान आकर्षित करना उचित है। यदि जल के भूमंडल के मध्य एक-एक ठोस चतुष्फलक (tetrahedron) को रखा जाय, जो इसे पूर्णरूप से ढंकता नहीं है (चित्र ६४), तो इसके बिन्दु तथा भुजाओं एवं पार्श्वों के भाग जल पर उभरेंगे। इनसे स्थल के त्रिभुजाकार पुंजों का निर्माण होगा और उनके बीच, चतुष्फलक (tetrahedron) के ऊपरी या सामने वाले भागों पर जल के क्षेत्र रहेंगे[१]। यदि चतुष्फलक के एक बिन्दु को दक्षिणी ध्रुव पर रखा जाय और

१. इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चतुष्फलक के सामने वाले भागों के समतल रहने पर जल के क्षेत्र वृत्ताकार होंगे, जो उभरे हुए स्थल पुंजों के विस्तार के अनुसार थोड़े-बहुत पूर्ण होते हैं।

अन्य तीन बिन्दुओं को उत्तरी ध्रुव के चारों ओर समुचित रूप से रखा जाय, तो स्थल और समुद्र का विन्यास कुछ हद तक पृथ्वी के विन्यास के समान होगा। वहाँ पर स्थल के तीन त्रिभुज होंगे, जिनके आधार उत्तर में और शीर्ष बिन्दु दक्षिण में हैं। तथा चौथा स्थल पुंज दक्षिणी ध्रुव पर है। साथ ही जल के भी तीन क्षेत्र होंगे जो



चित्र ६४—भूमंडल पर समुचित रूप से रखा हुआ चतुष्फलक

दक्षिणी ध्रुव के पास एक-दूसरे से मिलते हैं। ये उत्तर में संकीर्ण हैं। और एक चौथा क्षेत्र उत्तरी ध्रुव पर है। स्थल और समुद्र के वास्तविक रूप जल-भूमंडल तथा ठोस चतुष्फलक के आपेक्षिक आकारों पर निर्भर रहेंगे।

महासागर का क्षेत्र फल तथा गहराई :—स्थलीय भू-मंडल पर दृष्टिपात करना यह प्रदर्शित करने के लिये प्रर्याप्त होगा कि महासागरों का क्षेत्रफल स्थल की अपेक्षा बहुत बड़ा है। वेगनर द्वारा पूर्व में दिए लेखों के अनुसार भू-मंडल के ७१·७०% भाग में जल और २८·३% भाग में स्थल है। हाल में क्रुमेल ने ये आँकड़े दिये हैं, जिनके अनुसार भू-मंडल के ७०·८% भाग में जल और २९·२% भाग में स्थल है। ये आँकड़े आज भी ठीक मान जाते हैं।

अनुमानों (estimate) में सूक्ष्म अन्तरों का प्रमुख कारण यह है कि उत्तर और दक्षिण ध्रुवीय क्षेत्र विषयक हमारी जानकारी अधूरी है। किन्तु अन्तर सूक्ष्म हैं तथा पूरी संख्या में हम ७१ प्रतिशत जल और २९ प्रतिशत स्थल मान सकते हैं।

स्थल की औसत ऊँचाई तथा महासागर की औसत गहराई निर्धारित करने के भी प्रयत्न किये गये हैं। साथ ही विभिन्न ऊँचाइयों के स्थल तथा विभिन्न गहराइयों में महासागरीय तल के समानुपात को निर्धारित करने के भी प्रयत्न किये गये हैं, किन्तु यह बात तो अवश्य है कि स्थल तथा जल के आपेक्षिक क्षेत्रों की लेखाओं की अपेक्षा

ये लेखाएँ और भी अधिक अनिश्चित हैं। सर जॉन मर्रे ने निम्नांकित आँकड़े दिये हैं :—

स्थल ऊँचाई (फुट में)	क्षेत्रफल (१० लाख वर्गमील में)	पूर्णभूमंडल की प्रतिशतता
१२,००० फुट से ऊपर	२	१
६,०००–१२,०००	४	२
३,०००–६,०००	१०	५
६००–३,०००	२६	१३
०– ६००	१५	८
	५७	२९

समुद्र गहराई (फुट में)	क्षेत्रफल (१० लाख वर्गमील में)	पूर्णभूमंडल की प्रतिशतता
०–६००	१०	५
६००–३,०००	७	३
३,०००–६,०००	५	२
६,०००–१२,०००	२७	१५
१२,०००–१८,०००	८१	४१
१८,००० से ऊपर	१०	५
	१४०	७१

हिप्सोग्राफिक वक्र :—यदि हम इस सारणी के आँकड़ों को लें और एक रेखाचित्र बनाएँ जिसमें क्षेत्र अनुप्रस्थ रेखा (horizontal line,) पर लम्बाई द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं तथा समुद्र-सतह से नापी गयी ऊँचाइयाँ और गहराइयाँ लम्ब दूरियों द्वारा इस रेखा से प्रदर्शित होती हैं, तो एक वक्र बनता है जैसा कि चित्र ६५ में दिखाया गया है।

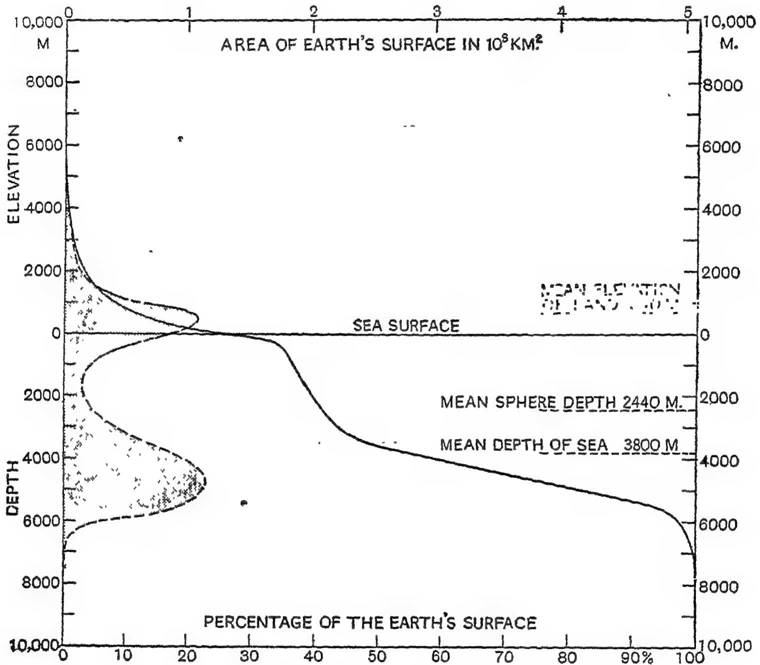
समुद्र की सतह को स्तर मान लेने पर हिप्सोग्राफिक वक्र से, कुछ दृष्टियों से, ठोस भूमंडल की सतह के औसत रूप का प्रदर्शन होता है। किन्तु ऊँचाइयों तथा गहराइयों का अत्यधिक अतिशयन (exaggeration) हो जाता है।

कभी-कभी विभिन्न ऊँचाइयों पर स्थल और विभिन्न गहराइयों पर महासागर के समानुपात तीव्रता के वक्र के रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। इन विधियों को भी उसी रेखाचित्र में मिला देना है, जैसा कि चित्र ६५ में किया गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि स्थल की मध्यमान ऊँचाई २७४७ फुट है और महासागर की मध्यमान गहराई १२,४३० फुट।

इस रेखाचित्र से पता चलेगा कि महासागरीय तल चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) महादेशीय छज्जा (Continental Shelf), जो स्थल के बाद ही स्थित रहता है, इसकी ढाल सामुद्रिक तट तक बड़ी धीमी होती है। यह लगभग १०० फैदम की गहराई तक फैला है।

(२) महादेशीय ढाल ((Continental Slope), महादेशीय छज्जा के ठीक बाहर पड़ती है ; यह बहुत खड़ी होती है। यह नहीं भूलना चाहिए कि रेखाचित्र में खड़ी ऊँचाइयों के अतिशयन के कारण ढाल के कोण का भी अत्यधिक अतिशयन हो जाता है। महादेशीय छज्जा लगभग १०० फैदम से लेकर २००० फैदम तक फैला रहता है।



हिप्सोग्राफिक और आवृति वक्र

चित्र ६५—हिप्सोग्राफिक वक्र—किसी भी ऊँचाई या गहराई के स्तर के ऊपर का क्षेत्र
-----आवृति वक्र—ऊँचाई और गहराई का आवृति वितरण

(३) गंभीर-सामुद्रिक मैदान :—चौड़ा तथा प्रायः समतल क्षेत्र है जो महासागरीय तल के अधिकांश भाग में फैला रहता है। इसकी गहराई २००० से ३००० फैदम तक घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु इसकी ढालें बहुत क्रमिक होती हैं।

(४) डीप्स (Deeps), महासागर के सब से गहरे भाग हैं ; ये महासागरीय तल की खाइयों (खालों) में फैले रहते हैं ; ये क्षेत्र में आपेक्षिक रूप से छोटे होते हैं तथा इनके पार्श्व (किनारे) अपेक्षाकृत अधिक खड़े होते हैं।

सभी महासागरों में ये विभिन्न भाग अनायास पहचाने जा सकते हैं, हालाँकि इनके समानुपात भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, अटलांटिक महासागर में

महादेशीय छज्जा प्रायः प्रशान्त महासागरीय छज्जा से अधिक चौड़ा है। सभी महासागरों में अधिकांश तल का निर्माण गंभीर-सामुद्रिक मैदान से होता है ; और मैदान के विभिन्न स्थानों में अपेक्षाकृत अधिक गहरे खाल हैं जिन्हें डीप्स कहते हैं। नियमतः ये महासागरों के मध्य में नहीं पाये जाते, बल्कि तटों के पास पाये जाते हैं।

महादेशीय छज्जा तथा ढाल :—महादेशीय छज्जा एक महादेश के चारों ओर का वह कटिबन्ध है जो स्थल के स्थायी निमज्जन (immersion) की रेखा से लेकर उन गहराइयों तक फैला रहता है जहाँ से ढाल स्पष्ट रूप से अत्यधिक गहराई तक बढ़ती जाती है। इसका किनारा प्रायः १०० फैदम (या २०० मीटर) माना जाता है, लेकिन यह ६५ से ले कर ३०० फैदम के बीच भी माना जा सकता है। इसकी चौड़ाई बहुत ज्यादा बढ़ती-घटती है। आयरलैंड के तट से सुदूर यह पश्चिम की ओर ५० मील या उससे भी अधिक दूर तक फैला है और साइबेरिया से सुदूर इसकी सब से ज्यादा चौड़ाई ८०० मील तक हो जाती है ; किन्तु इसकी चौड़ाई कुछ मीलों की अथवा यहाँ तक कि नहीं के बराबर भी हो सकती है। ढाल का कोण भी परिवर्तनीय होता है और जहाँ छज्जा सब से अधिक चौड़ा होता है वहाँ यह न्यूनतम रहता है। आयरलैंड के पश्चिम में यह कोण १ अंश से भी कम है, और यह शायद ही दो-तीन अंशों से अधिक होता है।

समुद्र की ओर महादेशीय छज्जा प्रायः अचानक समाप्त हो जाता है, और इसके किनारे के बाहर गहराई अपेक्षाकृत तीव्रता से बढ़ती है। वहीं से महादेशीय ढाल प्रारंभ होती है और वस्तुतः ढाल छज्जा का किनारा ही होती है।

महादेशीय ढाल का कोण छज्जा के कोण की ढाल की अपेक्षा बहुत ज्यादा बदलता है। आयरलैंड से सुदूर यह केवल ५ अंश के लगभग है ; स्पेन के तट से सुदूर यह और भी अधिक खड़ा है, किन्तु टोरीनाना अन्तरीप के निकट एक जगह में ३६ अंश है, जो पहाड़ी भाग के लिये भी खड़ा कोण होता है। हाल की मापों से यह पता चलता है कि पहाड़ी तटों से सुदूर महादेशीय ढाल का औसत झुकाव करीब ३½ अंश रहता है, किन्तु सुजलोत्सारित (well-drained) तटीय मैदानों से सुदूर यह लगभग २ अंश रहता है।

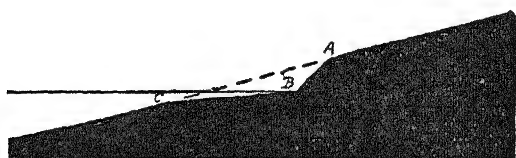
महादेशीय छज्जा की उत्पत्ति आज तक अनिश्चित है। हिप्सोग्राफिक रेखाचित्र से पता चलता है कि यह स्थल की सतह प्रत्यक्ष रूप से लगातार समुद्र के स्तर के नीचे चली गयी है ; क्योंकि जहाँ जल का प्रारंभ होता है, वहाँ कोण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं पाया जाता। तदनुसार बहुत से लेखकों, विशेषकर अमेरिका के लेखकों, का मत है कि महादेशों का अन्त वस्तुतः छज्जा के बाहरी किनारे पर होता है और कभी अतीत में समुद्र केवल महादेशीय ढाल के शीर्ष तक पहुँचा था और कुछ कारणों से यह महादेशों के किनारे को आप्लावित करता रहा (पृष्ठ २३० तथा २३१ भी देखें)।

इस दृष्टिकोण की पुष्टि में असंदिग्ध प्रमाण हैं। बहुत-सी नदियों की घाटियाँ समुद्र के अन्दर महादेशीय छज्जा को पार कर आगे जाती रहती हैं। इनके मुहाने महादेशीय ढाल पर पड़ते हैं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार महादेशीय छज्जा का निर्माण या तो समुद्र के स्तर के उठने या स्थल के स्तर के नीचे गिरने के कारण हुआ। चूँकि अटलांटिक के तटों

के चारों ओर यह अविछिन्न रूप से पाया जाता है, इसलिये यह स्पष्ट है कि इस संचलन (गति) से अर्द्ध गोलार्द्ध अवश्य प्रभावित हुआ था ; साथ ही यह मात्रा में भी स्पष्ट रूप से अवश्य बराबर रहा होगा। जब तक महासागर के जल में वृद्धि नहीं हुई होगी, तब तक यह समझना कठिन है कि किस प्रकार इतना विस्तृत तथा बराबर परिवर्तन हो सका होगा।

फिर भी और दूसरे तरीके हैं, जिनसे महादेश के किनारे पर खोल (ledge) का निर्माण हो सकता है। यदि स्थल और जल का आपेक्षिक स्तर अपरिवर्तित रहे तो तरंगें तथा धाराएँ स्थल के किनारे को क्रमशः काट देंगी, जिससे मूल आकृति में



चित्र ६६—समुद्र से कट कर बना हुआ छज्जा

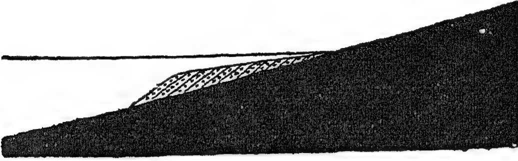
खोल (ledge) बन जायगा जैसा कि चित्र ६६ में प्रदर्शित किया गया है। खोल के AB पार्श्व से उच्छृंग (cliff) का निर्माण होगा तथा BC तल क्रमिक ढाल होगी जो उच्च-जल-सीमा से ले कर गहराई तक फैली रहेगी जहाँ तरंगों तथा धाराओं के काटने का काम बन्द हो जाता है। चबूतरे की चौड़ाई चट्टानों के अवरोध, तरंगों तथा धाराओं की शक्ति तथा स्थल और समुद्र की अपरिवर्तित रहनेवाली अवधि की लम्बाई पर निर्भर होगी।

इस प्रकार के महादेशीय छज्जा आइसलैंड तथा फैरो द्वीपों के चारों ओर पाये जाते हैं। नार्वे के तट पर तरंगों के द्वारा कटने से इसी प्रकार का चबूतरा समुद्र से ऊपर उठ आया है। किन्तु केवल क्षयीकरण के द्वारा निर्मित महादेशीय छज्जा मुश्किल से एक संकीर्ण किनारे (finge) से अधिक चौड़ा होगा। तरंगों के चलते रहने के कारण पानी की गति नीचे की ओर बहुत तेजी से कम होती जाती है और १०० फुट की गहराई में मुश्किल से अनुभूत होती है, यहाँ तक कि धाराओं में भी ६०० फुट के नीचे क्षयीकरण का कार्य कम नहीं होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि चबूतरे की चौड़ाई बढ़ती जाती है, इसलिये तट के पार्श्व की ओर तरंगों की शक्ति क्षीण होती जायगी और अन्त में उनसे उच्छृंग का जोर से कटना बन्द हो जायगा (अध्याय ४ भी देखिये)।

निक्षेप (deposition) से भी महादेशीय छज्जा का निर्माण हो सकता है (चित्र ६७)। स्थल की सतह का वर्षा तथा नदियों द्वारा क्षय हो जाता है और किनारों का तरंगों द्वारा। इस प्रकार बना हुआ भग्न पदार्थ पानी के अन्दर जमा हो जाता है, किन्तु वह सर्वदा स्थल के निकट में ही जमा होता है। ऐसा कहा जाता है कि कभी-कभी आमेजन के मुहाने से सुदूर ३०० मील की दूरी पर कीच से पानी का रंग गंदा हो जाता है। यहाँ तक कि सब से बड़ी नदी को भी अपना बोझ तट के

निकट जमा कर देना पड़ता है। तरंगें तथा धाराएँ इसे कुछ दूर तक ढोकर ले जा सकती हैं, किन्तु छिछले जल को छोड़ कर (अन्य) उनकी क्रिया शिथिलता से होती है। फलतः स्थल से प्राप्त पदार्थ महादेशों के तटों पर (margins) सामुद्रिक चबूतरे (submarine terrace) के रूप में जमा होता है। चबूतरे का किनारा वह सीमा है जिसकी बाढ़ तरंगों और धाराओं का प्रभाव समाप्त हो जाता है तथा उस सीमा के अन्दर पदार्थ जमा होकर तट पर वितरित हो जाता है।

लेकिन, फिर भी यह सीमा स्थायी नहीं है, क्योंकि चबूतरे के बन जाने के बाद जल अपेक्षाकृत अधिक छिछला हो जाता है, इसलिये परिवाहक साधनों (transporting



चित्र ६७—निक्षेप से बना हुआ छज्जा

agents) का कार्य अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक होता है और उनमें पदार्थ को पहले की अपेक्षा अधिक दूर ले जाने की क्षमता आ जाती है। इसलिये चबूतरा किनारे पर बराबर पदार्थ के जमा होते जाने के कारण क्रमशः बाहर की ओर ठीक उसी प्रकार बढ़ता जाता है, जिस प्रकार रेलवे का बाँध अथवा खुदाई के छोर पर वाले ढेर।

इस विवरण के अनुसार महादेशीय छज्जा तथा ढाल का निर्माण स्थल से लाये हुए निक्षेप से होता है। महादेशीय छज्जा निक्षेप की वह सतह होता है जो तरंगों तथा धाराओं द्वारा चिकना और पुर्नवितरित होता है; एवं ढाल निक्षेप का किनारा होती है जो इतना गहरा रहता है कि यह इस प्रकार प्रभावित नहीं हो सकता।

ऐसा कहा जाता है कि धाराओं का कार्य साधारणतया सतह से लगभग ६०० फुट नीचे बन्द हो जाता है और यह एक कारण हो सकता है कि महादेशीय छज्जा का किनारा प्रायः लगभग इस गहराई पर क्यों पाया जाता है[1]।

यह सिद्ध किया गया था कि घाटियाँ जो महादेशीय छज्जा को पार कर आगे जाती हैं, इस दृष्टिकोण के अनुसार क्षयीकरण द्वारा डूबी हुई घाटियाँ नहीं हैं, बल्कि वे नदियों द्वारा लाये गये निक्षेप से समुद्र के अन्दर बनी हैं। जब एक तेज नदी समुद्र में प्रवश करती है तब स्थल से कुछ दूर तक बाहर की ओर उसकी धाराएँ जारी रहती हैं। बीच में धाराएँ तीव्रतम होंगी और किनारे में समुद्र के जल के साथ संघर्ष होने के कारण वे धीमी हो जायँगी। फलतः जो पदार्थ यह ले जाती है प्रधानतः किनारे में जमा होता जायगा और बीच में केवल निक्षेप होगा। इस प्रकार नदी अपने पेट को खोद कर नहीं, बल्कि किनारे बनाकर महादेशीय छज्जा पर अपना जल मार्ग

---

१ इस बात के लिये और अधिक कार्य की आवश्यकता है।

(channel) बनायेगी और यदि प्रकम अधिक (दोनों) समय तक जारी रहे तो यह महादेशीय छज्जा के आर-पार अपना जल-मार्ग बना सकती है। फिर भी यह स्पष्ट है कि तट तक पहुँचने वाली धाराओं की नदी की अपेक्षा अधिक तेज रहने पर इस प्रकार का जल-मार्ग नहीं बनेगा। नदी की धारा को जल-मार्ग के निचले भाग को निक्षेप से अच्छी तरह मुक्त रहने के लिये काफी तेज रहना चाहिए।

अटलांटिक उत्तरी भाग में महादेशीय छज्जा के अधिक चौड़े होने के कारण अंशतः बर्फ तहों के किनारे के चारों ओर निक्षेप का पाया जाना हो सकता है। बर्फ की तहों से हाल के भौतिक काल में यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग ढँक गये थे।

कदाचित इस बात का भी जिक्र कर देना चाहिए कि पार्श्ववर्ती छज्जा केवल क्षयीकरण अथवा निक्षेप के द्वारा कम ही बनते हैं। दोनों ही प्रकमों (processes) के कार्य एक साथ चलते रहते हैं और इन दोनों के सम्बद्ध कार्य के फलस्वरूप महादेशीय छज्जे का निर्माण होगा। महादेशीय छज्जों की उत्पत्ति के विषय पर किए गये हाल के भू-भौतिक कार्य से यह स्पष्ट है कि वे अंशतः संक्षेत्र (prism) के आकार के बालू के विशाल ढेर (accumulation) हैं जिनकी मोटाई संभवतः कई हजार फुट तक की होती है।

छज्जे का पारगमन करने वाली नदियों का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बहुत-सी दशाओं में, जैसे, हडसन, एडॉर (Adour) कांगो आदि नदियों का केवल छज्जे से होकर आगे बहना ही जारी नहीं रहता, बल्कि वे संकीर्ण मार्ग से महादेशीय ढाल पर भी जा पहुँचती हैं। इसका कारण आज तक अनिश्चित है। कुछ लेखक इनके ऐसा करने का कारण समुद्र-सतह में हजारों मीटर की कोटि वाले परिवर्तन बतलाते हैं। दूसरों का यह सुझाव है कि वे अध सूखे क्षयीकरण के द्वारा बने होंगे जिसके बाद स्थलपुंज डूब गये होंगे। कुछ लेखक ऐसी विशाल संचलनों को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव रखते हैं कि इसका कारण सामुद्रिक धाराओं के द्वारा क्षयीकरण हैं; वे समुद्र स्तर के नीचे झरनों द्वारा अधःखनन (sapping) का कारण कीच के बहाव का प्रभाव, शैल पात (landslides) अथवा भूकंप की तरंगें मानते हैं। किन्तु कोई कारण नहीं है कि ऐसा माना जाय कि इनमें से एक भी दृष्टिकोण व्यापक है; प्रत्युत् हमें इसके विषय में विशेष बातों- की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए तथा इन आकृतियों का और भी अधिक सावधानी से मानचित्र बनाना चाहिये। हिम युग के समय (अध्याय ६ देखिए) समुद्र-स्तर में उत्पन्न उतार-चढ़ाव (fluctuations) से २०० अथवा ३०० फैदम से कम गहरे खड्डों (canyons) के निर्माण का स्पष्टीकरण बहुत हद तक हो जाता है, किन्तु फिर गहरे खड्डों के निर्माण के स्पष्टीकरण की समस्या बनी ही रह जाती है।

गंभीर सामुद्रिक मैदान :—महासागर का तल अधिकांशतः गंभीर सामुद्रिक मैदान से बना है। यह निःसंदेह समतल सतह नहीं है और तदनुसार इसकी गहराई भी परिवर्तनशील है, परन्तु इसकी ढालें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि वे बिलकुल दृष्टिगोचर नहीं होंगी। फिर भी इधर कई वर्षों में ध्वन्यात्मक विधि से प्राप्त बहुतेरे ध्वननों (soundings) से पता चला है कि जब ढालें खड़ी नहीं होतीं तब गंभीर सामुद्रिक मैदान पूर्वानुमानित स्थलाकृति की अपेक्षा, और अधिक भिन्न प्रकार की स्थलाकृति का क्षत्र रहता है।

गंभीर सामुद्रिक मैदान का अधिकांश भाग नदियों द्वारा लायी गयी बालू आदि से बिलकुल मुक्त रहता है, किन्तु इसकी सतह ठोस चट्टान से नहीं बनी होती है। इसका बड़ा भाग एक प्रकार की चिकनी कीच या जिन्दा रहने पर जल की सतह पर उतराने वाले सूक्ष्म जन्तुओं तथा पौधों के कर्पर (shells) तथा चोल (tests) युक्त निकर्दम से ढँका रहता है। अपेक्षाकृत अधिक गहरे भागों में लाल मिट्टी (red clay) पायी जाती है जो प्रधानतः ज्वालामुखी से प्रक्षिप्त हवा द्वारा समुद्र में लायी गयी चिकनी राख से बनी मालूम होती है।

डीप्स (Deeps) :—डीप्स महासागर के तल के ऐसे गड्ढे हैं जो गंभीर सामुद्रिक मैदान से भी और अधिक गहरे हैं। इनके किनारे काफी खड़े होते ह तथा इसका क्षेत्र साधारणतया छोटा होता है। ये प्रायः महासागरों के बीच में नहीं होते, बल्कि किनारे के पास अथवा द्वीपीय चापों के बाह्य भाग में होते हैं। इनमें से अधिकांश तटों के पास पाये जाते हैं, जहाँ ज्वालामुखी आज भी सक्रिय हैं तथा भूकम्प साधारणतः बराबर हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ, प्रशान्त महासागर के तटों के चारों ओर बहुत से डीप्स हैं, और एक डीप तो पश्चिमी द्वीप-समूहों (West Indies) से सटा हुआ पाया जाता है।

अटलांटिक महासागर :—अटलांटिक महासागर की रूप रेखा कुछ अनियमित है। दक्षिण में यह बहुत चौड़ा है जहाँ यह ऐंटार्कटिक महासागर में मिला हुआ है, किन्तु भूमध्य रेखा की ओर अफ्रिका और दक्षिणी अमेरिका के बीच संकीर्ण होता जाता है; और पुनः उत्तर की ओर बहुत ज्यादा संकीर्ण होता जाता है। किन्तु यह उत्तर में सीमित नहीं है, प्रत्युत् एक बहुत चौड़े मुँह द्वारा आर्कटिक महासागर से मिला हुआ है। फिर भी यह मुँह कहीं-कहीं विविल थॉमसन कगार (ridge) के सदृश है; जो अटलांटिक तथा आर्कटिक महासागरों के बीच वास्तविक सीमा है।

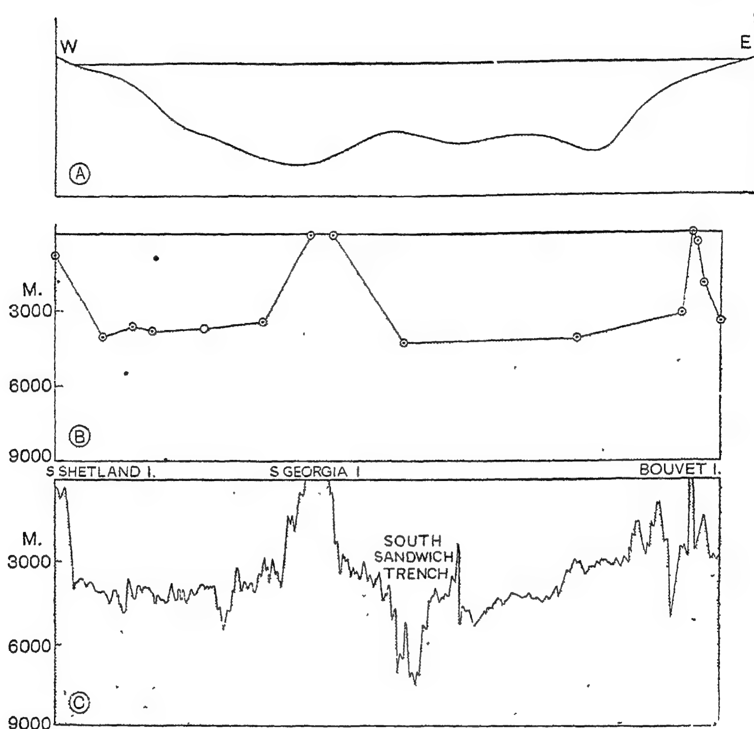
अटलांटिक महासागर के दोनों किनारों पर बहुत से समुद्र हैं जो न्यूनाधिक रूप से प्रधान महासागर से पूर्णरूप से अलग हैं। इसके उत्तर में बेफिन की खाड़ी, पश्चिमी भाग में हडसन की खाड़ी तथा पूर्वी भाग में उत्तरी सागर और बाल्टिक सागर हैं। ये सब के सब छिछले हैं। भूमध्य रेखा के निकट पश्चिम में मेक्सिको की खाड़ी और कैरिबियन समुद्र हैं तथा पूरब में भूमध्यसागर; ये सब के सब गहरे हैं।

अटलांटिक महासागर की औसत गहराई दो मील से कुछ ज्यादा है। पोर्टोरिको के उत्तर ब्लैक डीप (Blake deep) में समुचित रूप से नापी गयी सब से अधिक गहराई ४५६१ फैदम है।

महादेशीय छज्जा साधारणतः स्पष्ट रूप से चिह्नित है और यह विशेषकर अटलांटिक के उत्तरी भाग में पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों तटों पर चौड़ा है।

इसमें प्रायः गंभीर सामुद्रिक मैदान पाये जाते हैं; किन्तु सभी जगह इसकी गहराई एक-सी नहीं है। पूरब और पश्चिम दोनों तरफ से यह बीच की ओर क्रमशः ऊँचा होता जाता है जिससे लम्बा तथा धीमा तरंगण (undulation) का निर्माण होता है जो महासागर को खड़े रूप में अपेक्षाकृत दो अधिक गहरे बेसिन में विभाजित करता है। भूमध्य रेखीय भाग को छोड़ कर जहाँ यह रोमानके नामक खाई (Romanche trench) से कटता है, राइज (rise) अथवा उभरे हुए भाग की चोटी साधारणतया २००० फैदम से कम गहरी है; इस पर एजोर्स, एसेनसन,

ट्रिस्टन डा कुन्हा तथा एक या दो और दूसरे द्वीप स्थित हैं। इसे अटलांटिक के उत्तरी भाग में डौलफिन राइज (Dolphin Rise) और दक्षिणी अटलांटिक में चैलेंजर



चित्र ६८—अटलांटिक महासागर के आरपार अनुप्रस्थ काट
A. अटलांटिक महासागर की अनुमानित आकृति का अनुप्रस्थ काट (section)
B. ध्वनन के आधार पर दक्षिण अटलांटिक का लंबवत अनुप्रस्थ काट
C. १३०० ध्वनन (Sonic) के आधार पर (B) का ही लंबवत अनुप्रस्थ काट
(B और C, H. U. Sverdrup के अनुसार)

राइज (Challenger Rise) कहते हैं; तथा इसे प्राय: अटलांटिक राइज (Atlantic Rise) कहते हैं। यह पूर्वी तथा पश्चिमी तटों से करीब आधी दूरी के बीच स्थित है और समानता के साथ तटीय वक्रों का अनुसरण करता है।

अपने विस्तार के अधिकांश भाग तक अटलांटिक राइज की दोनों ओर ढालें बहुत धीमी हैं। किन्तु भूमध्य रेखा के निकट पश्चिमी भाग (किनारे) की ढाल रोमानके डीप तक खड़ी है जहाँ ४०३० फैदम का ध्वनन (soundings) पाया गया है। ४००० फैदम से अधिक ध्वनन वाला एकमात्र दूसरा डीप ब्लैक डीप है,

दूसरा अध्याय

खारापन, ताप तथा घनत्व
अभिबिन्दुताएँ तथा अपिबिन्दुताएँ
जलराशियाँ

समुद्र के जल की रचना :—समुद्र का जल सर्वदा खारा होता है, किन्तु खारापन की मात्रा सर्वत्र एक-सी नहीं रहती। उदाहरणार्थ, उत्तर सागर में अटलांटिक के मध्य भाग की अपेक्षा खारापन की प्रतिशतता कम है; और बाल्टिक सागर में तो यह और भी बहुत कम है। दूसरी ओर भूमध्यसागर में नमक का समानुपात खुले महासागर के किसी भी भाग से बहुत अधिक है।

खारापन प्रधानतः सोडियम क्लोराइड (chloride of sodium) के कारण होता है; किन्तु नमक भी वर्तमान रहते हैं। औसतन १००० ग्राम समुद्र के जल में ३५ ग्राम ठोस पदार्थ रहते हैं; तथा डिटमार (Dittmar) के मतानुसार ये ठोस पदार्थ इस प्रकार संस्थापित (constituted) होते हैं :—

सोडियम क्लोराइड (Sodium chloride) ($NaCl$)	२७·२१३
मैगनेसियम क्लोराइड (Magnesium chloride) ($MgCl_2$)	३·८०७
मैगनेसियम सल्फेट (Magnesium sulphate) ($Mg SO_4$)	१·६५८
कैलसियम सल्फेट (Calcium sulphate) ($CaSO_4$)	१·२६०
पोटैसियम सल्फेट (Potassium sulphate) ($K_2 SO_4$)	०·८६३
कैलसियम कार्बोनेट (Calcium carbonate) ($CaC0_3$)	०·१२३
मैगनेसियम ब्रोमाइड (Magnesium bromide) ($Mg Br_2$)	०·०७६
	३५·००

फिर भी अब यह ज्ञात है कि घोल में नमक बहुत हद तक अलग-अलग रचकों में वियुत होंगे। किन्तु विश्लेषणों से पता चलता है कि यदि नमकों के मिश्रण को निर्दिष्ट समानुपातों में जल की उचित मात्रा में घुलाया जाता तो रचना की दृष्टि से घोल समुद्र के जल के सदृश होता।

सारणी में कथित नमकों के अतिरिक्त और भी बहुत से पदार्थ पाए जाते हैं, किन्तु वे इतनी कम मात्रा में मिलते हैं कि अधिकांश प्रयोजनों के लिए वे नगण्य माने जा सकते हैं।

यद्यपि समुद्र के १००० ग्राम जल में घुले हुए ठोस पदार्थों का संकलन (total) महासागर के विभिन्न भागों में बदलता रहता है, फिर भी एक दूसरे के साथ विभिन्न रचकों (constituents) का समानुपात प्रायः अपरिवर्तित ही रहता है। उदाहरणार्थ, यदि सोडियम क्लोराइड २७·२१३ से कम रहे तो दूसरे रचक भी उसी समानुपात में कम हो जायँगे।

खारापन की मात्रा प्रायः प्रत्येक हजार के भागों के रूप में अभिव्यक्त की जाती है। इस प्रकार औसत खारापन जैसा कि ऊपर दिया गया है ३५ है अथवा यह प्रायः ३५% के रूप में लिखा जाता है।

आपेक्षिक गुरूत्व :—समुद्र के जल का घनत्व अथवा आपेक्षिक गुरुत्व अंशतः उसके खारेपन और अंशतः उसके ताप पर निर्भर करता है। हिमांक पर उपर्युक्त औसत रचना वाले जल,जिसका खारापन ३५ है, का आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) १.०२८ है। किन्तु जैसे ही ताप बढ़ने लगता है वैसे ही जल फैलने लगता है तथा घनत्व कम होने लगता है; और निम्न खारापन तथा निम्न ताप वाले जल के लिए अधिक खारापन एवं उच्च ताप वाले जल की अपेक्षा अधिक घना होना नितान्त सम्भव है।

समुद्र के जल में नमक की उत्पत्ति :—समुद्र में नमक निस्संदेह अंशतः नदियों से आता है। नदी के जल में हमेशा निश्चित मात्रा में घोल के रूप में पदार्थ रहता है और इसका अधिकांश भाग वाहित हो कर समुद्र में चला आता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि नदियाँ प्रतिवर्ष सम्पूर्ण घुले हुए ठोस पदार्थों का ५·४×१० – ८ के बराबर सूक्ष्म भाग महासागर में ले जाती हैं।

यदि समुद्र के मौलिक रूप से खारा होने की यही विधि होती तो समुद्र का जल केवल नदी का सांद्रित (concentrated) जल होता। किन्तु यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि समुद्र में सारा नमक नदियों द्वारा बह कर आया है। समुद्र के जल तथा नदी के औसत जल के नमकों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। पहले में अधिकांश भाग क्लोराइड, विशेषकर सोडियम क्लोराइड रहता है और दूसरे में सब से अधिक कार्बोनेट के यौगिक (compounds of carbonates) रहते हैं, विशेषकर चूने के कार्बोनेट (carbonate of lime, calcium)। समुद्र के जल में चूने के कार्बोनेट के अप्रधान कार्य पर विचार करने से सर्वप्रथम यह असम्भव प्रतीत होता है कि वर्तमान नदियों के जल के संकेन्द्रण (concentration) से समुद्र के जल की उत्पत्ति हो सकती थी। किन्तु यह आपत्ति निर्णायक नहीं है। बहुत से जानवर जो समुद्र में रहते हैं, जैसे चूर्णप्रावारा((molluscs), प्रवाल, इत्यादि, के कर्पर अथवा कंकाल इनके द्वारा समुद्र से ग्रहण किए जाने वाले चूने के कार्बोनेट से बनते हैं। अतः, समुद्र में आगत चूने का कार्बोनेट अविराम प्रयुक्त होता रहता है और सोडियम क्लोराइड समुद्र में ही रह जाता है।

सम्भवतः समुद्र तथा नदी के जल में वर्तमान कार्बोनेट तथा क्लोराइड के आपेक्षिक बाहुल्य के अन्तर का कारण इस प्रकार बताया जाता है; किन्तु इसके अतिरिक्त और भी अन्तर हैं। वास्तविक विश्लेषणों के आधार पर विवेचन करने से पता चलता है कि नदियों के जल में सल्फेट क्लोराइड की अपेक्षा अधिक रहता है और सोडियम से पोटैसियम का समानुपात समुद्र के जल की अपेक्षा बहुत अधिक रहता है। फिर भी नदी के जल की रचना में बहुत अधिक परिवर्तन होता है और संसार की अधिकांश नदियों की रासायनिक परीक्षा अभी तक नहीं हुई है। किए गये विश्लेषणों से यह पता अवश्य चलता है कि यों तो समुद्र में नमक सर्वांशतः नदियों से ही नहीं आए हैं या अतीत में नदी के जल की रचना अवश्य ही भिन्न प्रकार से हुई होगी। किन्तु जब तक संसार के सभी भागों की नदियों के अपेक्षाकृत बहुत अधिक

विश्लेषण नहीं किए जाते हैं तब तक नदी के जल की औसत रचना को सन्निकटतः भी ज्ञात मानना निरापद नहीं है।

खारापन का वितरण :—महासागर की सतह के जल में खारेपन में परिणमन (variation) प्रधानतः तीन कारणों से होते हैं। ये स्वच्छ जल की आपूर्ति, वाष्पीकरण की तीव्रता तथा मिश्रण के कारण होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करते हैं। इन कारणों का प्रभाव महासागरों के मानचित्र में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है; चित्र ७१ में समखार रेखाएँ (isohalines) अथवा बराबर खारापन की रेखाएँ खींची गयी हैं। मानचित्र केवल सतह के जल के खारेपन को प्रदर्शित करता है। १००० फैदम या यहाँ तक कि १०० फैदम की गहराई में समखार रेखाएँ बहुत भिन्न होंगी।

नमक का सर्वाधिक समानुपात दो क्षेत्रों में पाया जाता है जो लगभग कर्क तथा मकर रेखाओं पर अवस्थित हैं। इन क्षेत्रों से भूमध्यरेखा तथा ध्रुवों की ओर खारापन कम होता जाता है।

कर्क तथा मकर रेखाओं (tropics) पर अधिक खारापन उष्ण कटिबन्धीय प्रतिचक्रवातों तथा व्यापारिक हवा के क्षेत्र में आकाश के साफ रहने और सूर्य के प्रखर रहने के कारण होता है। जो भाप बनती है, वह हवाओं द्वारा दूर ले जायी जाती हैं, जो कहीं अन्यत्र जाकर संघनित हो जाती है।

भूमध्य रेखा के पास होने वाली प्रचुर भूमध्य रेखीय से सतह का जल पतला हो जाता है और उस क्षेत्र की मेघाच्छन्नता कुछ हद तक वाष्पीकरण में बाधा पहुँचाती है। नाइजर तथा काँगो—इन दोनों नदियों के मुहाने के पास इनके द्वारा सतह पर स्वच्छ जल की मात्रा में आने के कारण, विशेषकर खारापन कम है। चूँकि स्वच्छ जल नमकीन जल की अपेक्षा अधिक हल्का होता है (ताप एक ही रहने पर) इसलिए जलों के पूर्णरूप से मिश्रित होने के पूर्व तक नदियों का जल सतह पर प्लवन कर सकता है।

कुछ ऋतुओं में ध्रुवों के पास जो प्रायः स्वच्छ जल रहता है वह बर्फ के पिघलने से आता है और इसलिए सतह पर का खारापन कम रहता है। उन कारणों से जिन पर आगे प्रकाश डाला जायगा, इस कम नमकीन जल में विशेषकर महादेशों के पूर्वी किनारे से बहने की प्रवृति रहती है। भूमध्य रेखा की ओर बढ़ने पर इसका मेल उस जल के साथ होता है जिसका खारापन तथा ताप भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। सर्वप्रथम तो यह जल सतह पर प्लवन करता है, किन्तु आगे चल कर ताप के अन्तर के कारण जो खारेपन के अन्तर को पूरा करने पर भी ज्यादा रहता है अथवा खारापन से अधिक रहता है, यह सर्द ध्रुवीय जल ऐसे जल के मध्य पहुँचता है जो अपेक्षाकृत अधिक नमकीन रहता है, किन्तु उच्च ताप के कारण यह इससे (सर्द ध्रुवीय जल) कम घना रहता है, इसलिए यह जल नीचे चला जाता है।

अंशतः परिवेक्षित समुद्र :—भूमध्य सागर तथा बाल्टिक सागर जैसे समुद्र केवल संकीर्ण जल प्रणालियों द्वारा महासागर से मिले हुए हैं, इसलिए उनमें खारेपन के अन्तर बहुत अधिक रहते हैं।

भूमध्य सागर में जिब्राल्टर जल-प्रणाली में खारापन लगभग ३६·५ है, किन्तु यह पूर्व की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है तथा सिरिया के तट के निकट यह ३९ से भी अधिक हो जाता है। लाल सागर के दक्षिणी छोर के पास खारापन लगभग ३६·५ रहता है, किन्तु स्वेज की खाड़ी की ओर यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और

चित्र ७१—उत्तरीय ग्रीष्म में समुद्रों के सतहों का खारापन
(Sverdrup, Johnson और Fleming के आधार पर)

स्वेज की खाड़ी में तो यह ४१ से भी अधिक रहता है। ये उदाहरण ऐसे समुद्रों के हैं जिनमें महासागर के किसी भी खुले भाग की अपेक्षा खारापन अधिक रहता है।

दूसरी ओर काला सागर (Black Sea) के अधिकांश भाग में सतह पर का खारापन केवल १८ या १८.५ रहता है और एजॉव सागर में तो यह अत्यल्प है या बहुत कम रहता है। बाल्टिक के मुहाने पर खारापन का परिणमन पर्याप्त रूप से होता है तथा अन्य बातों में यह हवाओं की दिशा और सम्भवतः समुद्र के आभ्यान्तरिक तथा बाह्य वायुमंडलीय दाव के अन्तर से प्रभावित होता है। भीतर में निम्न दाब तथा बाहर में उच्च दाव रहने के कारण बाल्टिक से प्रायः एक स्रोत चलता है जो उस समय अपेक्षाकृत अधिक उच्च रहता है। इसका विलोम (converse) भी ठीक है। रूगेन द्वीप (Rügen Island) के पास खारापन केवल ७ या ८ है और यह उत्तर की ओर कम होता जाता है। वोथनियाँ तथा फिनलैंड की खाड़ियों के सिरों पर यह प्रायः २ से भी कम रहता है और वसन्त ऋतु में जल यथार्थतः स्वच्छ रहता है।

इन समुद्रों का खारापन, खुले महासागर के खारेपन की भाँति स्वच्छ जल की आपूर्त्ति तथा वाष्पीकरण द्वारा क्षय जो नमकों को नहीं उठाता है, इन दोनों के बीच के सम्बन्ध पर निर्भर करता है।

भूमध्य सागर तथा लाल सागर में वाष्पीकरण अधिक होता है और वर्षा कम। लाल सागर में वस्तुतः कोई नदी नहीं गिरती है। भूमध्य सागर में रोन, पो तथा और दूसरी नदियों का जल गिरता है, किन्तु समुद्र के क्षेत्र की तुलना में सम्पूर्ण मात्रा थोड़ी होती है।

वाष्पीकरण काला सागर में भूमध्य सागर की अपेक्षा कम होता है, तथा बहुत-सी बड़ी नदियाँ, जैसे डैन्यूब, निस्टर नीपर तथा डॉन समुद्र के समानुपात में अपेक्षाकृत बहुत अधिक स्वच्छ जल लाती हैं।

बाल्टिक में भी, जो अपेक्षाकृत अधिक सर्द क्षेत्र में अवस्थित है, वाष्पीकरण अपेक्षाकृत अधिक मन्द रहता है। स्वीडेन तथा रूस की अनेक नदियों से इसमें प्रचुर मात्रा में स्वच्छ जल आता है, विशेषकर वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में बर्फ के पिघलने के समय।

देशाभ्यन्तरिक समुद्र तथा झीलें :—एक झील जिसमें पानी के बाहर निकलने का रास्ता रहता है उसका जल उसमें आ कर गिरने वाली नदियों के जल से अधिक नमकीन नहीं होता है, क्योंकि जो नमक नदियाँ लाती हैं वह उनसे बाहर निकलने वाली नदी के द्वारा बह कर बाहर चला जाता है। बाहर निकलने के रास्ते के अभाव का अर्थ यह होता है कि वाष्पीकरण जल की आपूर्त्ति (supply)) के कम से कम बराबर है, क्योंकि ऐसा नहीं होने से गड्ढा तब तक भरता जाता जब तक जल उमड़ कर बाहर बहने नहीं लग जाता। ऐसी दशाओं में झील में गिरने वाली नदियों के द्वारा लाया गया नमक बाहर नहीं निकल पाता है और जल उत्तरोत्तर अधिकाधिक नमकीन या खारा होता जाता है। खारापन की मात्रा अंशतः जब तक झील बाहर निकलने वाले मार्ग के बिना रहती है, उस अवधि पर निर्भर करेगा।

फिर भी उसी झील में काफी परिणमन हो सकते हैं। कैस्पियन के उत्तरी भाग में खारापन १४ से कम है, किन्तु वहीं पर काराबुगास की खाड़ी में जो कैस्पियन के शेष भाग से केवल संकीर्ण तथा छिछले मुँह द्वारा मिला हुआ है, खारापन १७० तक

पहुँच जाता है। इस खाड़ी में वाष्पीकरण बहुत तीव्रता से होता है और इसलिए जल की कमी को पूरा करने के लिए कैस्पियन से अविराम अन्तर्मुखी स्रोत इसकी ओर चलता रहता है।

अपेक्षाकृत अधिक बड़ी झीलों में मृत सागर ((Dead Sea) सर्वाधिक खारा है जिसमें खारापन २३७.५ तक है, किन्तु भूमंडल के शुष्क क्षेत्रों की अपेक्षाकृत अधिक छोटी झीलों का खारापन इससे भी अधिक होता है।

इन देशाभ्यन्तरिक अधिकांश समुद्रों तथा झीलों में घुले हुए नमकों की रचना वैसी ही नहीं होती जैसी समुद्र के साधारण जल की। सोडियम क्लोराइड, हालाँकि हमेशा नहीं, पर प्रायः प्रचुर रहता है; किन्तु महासागरों की अपेक्षा दूसरे रचक का महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

सतह पर की तहों का ताप:—खारेपन को नियंत्रित करने वाले कारण (factors) की अपेक्षा समुद्र-सतह को नियंत्रित करने वाले कारण कहीं अधिक जटिल हैं। सारणी में उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्धों के विभिन्न अक्षांशों की सतह पर वाले जल के ताप के लिए आँकड़े दिए गये हैं।

उत्तर अक्षांश (अंश)	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर	प्रशान्त महासागर	दक्षिण अक्षांश (अंश)	अटलांटिक महासागर	हिन्द महासागर	प्रशान्त महासागर
७०—६०	५·६०	—	—	७०—६०	—१·३०	—१.५०	—१·३०
६०—५०	८·६६	—	५·७४	६०—५०	१·७६	१.६३	५·००
५०—४०	१३·१६	—	९·९९	५०—४०	८·६८	८.६७	११·१६
४०—३०	२०·४०	—	१८·६२	४०—३०	१६·९०	१७.००	१६·९८
३०—२०	२४·१६	२६.१४	२३·३८	३०—२०	२१·२०	२२.५३	२१·५३
२०—१०	२५·८१	२७.२३	२६·४२	२०—१०	२३·१६	२५.८५	२५·११
१०—०	२६·६६	२७.८८	२७·२०	१०—०	२५·१८	२७.४१	२६·०१

(ताप सेंटिग्रेड अंश में)　　(एच० यू० स्वेरड्रूप के आधार पर)

ऋतु के अनुसार स्थानान्तरित होती है (खिसकती है) किन्तु केवल किसी-किसी स्थान में दक्षिणी गोलार्द्ध में सीमातिक्रमण कर घुसती है। सारणी से यह भी पता चलता है कि एक ही अक्षांश (latitude for latitude) पर उत्तरी गोलार्द्ध में ताप अपेक्षाकृत अधिक हैं; ऐसा संभवतः दक्षिणी गोलार्द्ध के समशीतोष्ण तथा ध्रुवीय क्षेत्रों के बीच जल का संचार अपेक्षाकृत अधिक तेजी से होता है; उत्तरी गोलार्द्ध में ऐसी गतियाँ मिलाने वाली जल-प्रणालियों तथा सामुद्रिक कगारों द्वारा अवरुद्ध हो जाती हैं।

सतह के ताप में सालाना परिवर्तन भी काफी होता है, जो सामुद्रिक धाराओं की प्रकृति और हवाओं के द्वारा साल भर में प्राप्त परिवर्तनीय विकिरण से नियंत्रित होता है। स्वभावतः स्थान विशेष (locality) के कारण अन्तर में भी काफी भिन्नता

आयेगी। उदाहरणार्थ, ताप का वार्षिक विस्तार (temperature range) दक्षिणी गोलार्द्ध के महासागरों की अपेक्षा उत्तरी अटलांटिक महासागर और उत्तरी प्रशान्त महासागर में अधिक रहता है। इसका प्रधान कारण यह है कि शरद् काल में सर्द हवाएँ प्रायः महादेशों के मध्य से महासागरों की ओर चलती हैं, और इसीलिए उस समय (शरद् काल में) ताप अपेक्षाकृत अधिक कम रहते हैं।

सतह से कुछ नीचे चार ऐसे कारण हैं जिनसे ताप का अन्तर नियंत्रित होता है। (१) अवशोषित उष्मा (heat absorbed) की मात्रा, (२) चालन के प्रभाव (conduction effects), (३) जलराशियों के अनुप्रस्थ गति से सम्बद्ध धाराओं के कारण होने वाले परिवर्तन तथा (४) लम्ववत् गति और इसके प्रभाव। ऐसा समय अभी तक नहीं आया है कि इस बात पर साधारण रूप से विचार किया जाय; किन्तु मॉन्टरे की खाड़ी और कैलिफोर्निया में किए गये शोधों (investigations) से पता चलता है कि सालभर परिवर्तन धाराओं में परिवर्तन, पानी का नीचे ऊपर आना, उष्मा के चालन तथा वायुमंडलीय ताप में ऋतु सम्बन्धी परिवर्तन के कारण होते हैं। इसके विपरीत जापान के दक्षिण क्यूराशिबो नामक गर्म जलधारा के प्रेक्षणों (Observations) से पता चलता है कि सतह का तापन तथा शीतन (heating & cooling) चालन द्वारा नीचे की ओर संचारित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप सतह पर परिणमन उत्पन्न हो जाता है।

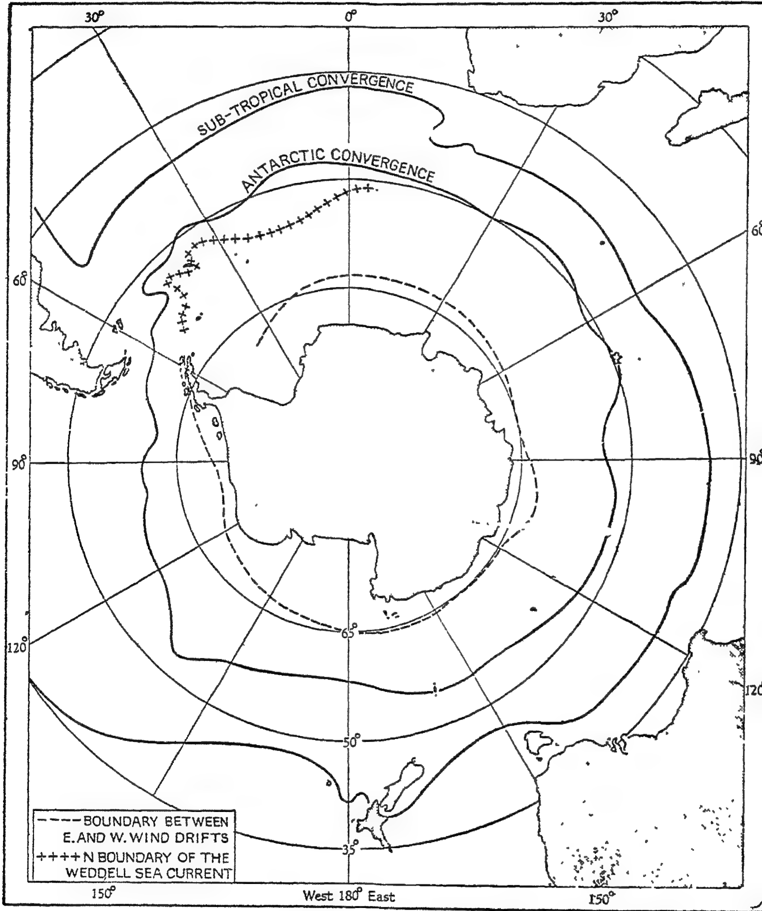
सतह वाले जल के ताप में भी दैनिक परिणमन होता है जो स्थान विशेष तथा ऋतु के अनुसार बदलेगा। किन्तु सर्वप्रथम तो यह मेघाच्छन्नता एवं वेग की मात्रा के कारण ही उत्पन्न होता है। स्थल की भाँति महासागरों में भी साफ प्रतिचक्रवातीय दशाओं का विस्तार (range) अपेक्षाकृत अधिक होता है तथा प्रबल हवाओं के द्वारा जल की ऊपरी सतहों में पूरा संपर्क होता है; इस प्रकार ताप बराबर और विस्तार कम हो जाता है। उप-सतह वाली तहों के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है। साधारणतः यह मान लिया जा सकता है कि जहाँ तक दैनिक परिवर्तन होता है, वहाँ तक जल का स्तरण (stratification) गहराई को नियंत्रित करेगा। उल्का के अभियान (expedition) से कुछ उष्ण कटिबन्धीय स्थानों में यह पता चला है कि ५० मीटर पर परिवर्तन सतह पर के परिवर्तन से २/१० कम था और उच्चतम करीब ६$\frac{१}{२}$ घंटे के बाद हुआ। ये प्रेक्षण वहाँ किए गये थे जहाँ एक प्रकार की सतह की मोटाई ७० मीटर के लगभग थी।

समुद्र के जल का घनत्व ताप तथा खारापन से नियंत्रित होता है और इन दोनों कारणों को नियंत्रित करने वाले दूसरे प्रक्रम भी घनत्व को परिवर्तित करते हैं। साधारणतः ताप की वृद्धि, वर्षा तथा अन्य प्रकार की वर्षा, नदी का जल और विगलित होने वाली वर्फ—ये सब के सब घनत्व को कम कर देते हैं, किन्तु इसके विपरीत ताप के ह्रास और वाष्पीकरण से इसमें वृद्धि होती है। यदि सतह का घनत्व उसके नीचे के जल के घनत्व से अधिक हो जाय तो ऊर्ध्वाधर या खड़ी धाराएँ उत्पन्न होंगी जो अनुकूल परिस्थितियों में महासागर के तल तक जा सकती हैं। इसके विपरीत जैसा कि आगे प्रकट होगा, यह नीचे की ओर बहुत कम गहराई तक जा सकता है, और अपेक्षाकृत अधिक भारी जल माध्यमिक स्तर पर अनुप्रस्थ रूप से फैल जायेगा।

उष्ण कटिवन्ध (tropics) के अन्तर्गत सतह के जल का ताप हमेशा ऊँचा रहता है, और यहाँ तक कि अधिक खारापन वाल क्षत्रों में तो घनत्व और भी कम रहता है। फलतः संवहन धाराएँ अधिक नीचे नहीं जातीं, बल्कि (पृष्ठ २०३ देखिए) इसके अन्तर्गत केवल छिछली तह आती है। उच्च अक्षांशों में ताप कम रहते हैं; (और) इसलिए घनत्व बढ़ता है तथा प्रायः घनी वृष्टि होती है; अतः इससे अधिक गहराई तक जाने वाली धाराएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इन कारणों (factors) से वह जल जो वास्तव में महासागरों की खाइयों तक जाता है, केवल दो विधियों से बनता है: पहली विधि के अनुसार अधिक खारा जल ध्रुवों की ओर अभिप्रेरित हो कर जाने पर शीतल हो जाता है, और इसलिए यह नीचे चला जाता है तथा दूसरी विधि के अनुसार अत्यधिक खारे जल के जमने से। गल्फस्ट्रीम ड्रिफ्ट (Gulf Stream Drift) के उत्तर-पूर्व की ओर प्रवहमान जल द्वारा पहला प्रक्रम चित्रित हो जाता है, क्योंकि उनके खारेपन के फलस्वरूप और चूँकि व ध्रुव प्रदेश के ठंढे जल से मिश्रित होते हैं, इसलिए ये तल में नीचे चले जाते हैं। दूसरा प्रक्रम ऐंटार्कटिक महादेश के चारों ओर होता है जहाँ स्थानीय वर्षा कम होती है और शरद् ऋतु में जल के जमने से अधिक घनत्व का जल प्रादुर्भूत होता है जो महादेशीय ढाल से नीचे खिसक कर महासागर के तल तक चला जाता है। नीचे जाते समय यह जल अपेक्षाकृत कुछ अधिक खारापन तथा घनत्व वाले जल के साथ मिल जाता है, और इसलिए इसमें हिमांक से तनिक ज्यादा ताप आ जाता है। यह गंभीर महासागरीय जल इन विधियों से उत्पन्न होने के कारण ही है कि ये इतने सर्द होते हैं।

महासागरी संचार बृहत्तम प्रयोग की दृष्टि से विवेचन में अभिबिन्दुताओं (convergence) का महत्वपूर्ण स्थान है। अभिबिन्दुता उस स्थान पर होगी जहाँ दो अभिबिन्दुता वाली धाराएँ (converging currents) मिलती हों; वहाँ जल भी नीचे अवश्य चला जायगा। ऐंटार्कटिक प्रदेश में अभिबिन्दुता स्पष्ट रूप से होती है। (चित्र ७२ देखिए)। अत्यल्प खारा किन्तु कम ताप वाला जल नीचे चला जायगा क्योंकि इसका घनत्व आपेक्षतया ऊँचा रहता है। इसी प्रकार ऐंटार्कटिक के माध्यमिक जल की उत्पत्ति होती है; यह जल ८०० तथा १२०० मीटर की गहराइयों के बीच वाले जल पर अनुप्रस्थ गति से प्रवाहित होता है। अधिकांशतः उत्तरी अटलांटिक के विभिन्न अनुन्यास (configuration) के कारण आर्कटिक महासागर में अधिक स्पष्ट अभिबिन्दुता नहीं होती है, किन्तु यह प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग में अपेक्षाकृत अधिक विकसित रहती है। उप-ऐंटार्कटिक तथा उप-उष्णकटिबन्धीय जलों में एक दूसरी महत्वपूर्ण अभिबिन्दुता होती है; और सम्भवतः उप-उष्ण कटिबन्धीय तथा उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों के बीच के जल में तीसरी अभिबिन्दुता भी होती है जो सुनिश्चित नहीं है। ऐंटार्कटिक अभिबिन्दुता की अपेक्षा दोनों स्थिति की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तनीय हैं। चूँकि उप-उष्ण कटिबन्धीय अभिबिन्दुता उन अक्षांशों में होती है जहाँ ताप तथा खारापन ध्रुवों की [illegible] जाते हैं; इसके ताप और खारापन दोनों में बहुत अधिक भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं। उष्ण कटिबन्धीय अभिबिन्दुता और भी विखण्डित (fragmentary) प्रकृति की होती है। दोनों उन्हीं क्षेत्रों में होती हैं जहाँ अभिबिन्दुता वाली धाराएँ मिलती हैं।

यह स्पष्ट है कि अभिबिन्दुताओं के मध्य नीचे गये जल को प्रतितोल करने के लिए अपबिन्दुता वाली धाराओं के क्षेत्रों में (diverging currents) जल ऊपर की ओर



चित्र ७२—ऐंटार्कटिक और उपउष्णकटिबंधीय अभिविन्दुताएँ (After Deacon).

अवश्य उठता रहेगा। ये अपबिन्दुताएँ अभिबिन्दुताओं की भाँति उतनी नियमित रूप से उत्पन्न नहीं होतीं। किन्तु इनका प्रभाव महादेशों के पश्चिमी तटों पर जल के ऊपर आने से अत्यधिक स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह अधिकांशतः तट से दूर बहने वाली हवाओं के परिणाम स्वरूप होता है तथा ऊपर की ओर उठते हुए जल

का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक और ताप उस जल की अपेक्षा जिसे यह प्रतिस्थापित करता है, कम रहता है। ऐंटार्कटिक के चारों ओर भी गंभीर जल उछाल के कारण ऊपर आता है, किन्तु यह विशेषकर अटलांटिक महासागर के सामने वाले भाग में होता है।

इस बात को स्थगित करने के पूर्व यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जहाँ, जैसा कि जिब्राल्टर की जल-प्रणालियों से होकर होता है,घना जल निकटवर्ती समुद्र से महासागर के अन्दर निमग्न उभरे हुए भाग पर बहता है और यह जल खुले महासागर के समान घनत्व वाले जल की माध्यमिक तह से जा मिलता है।

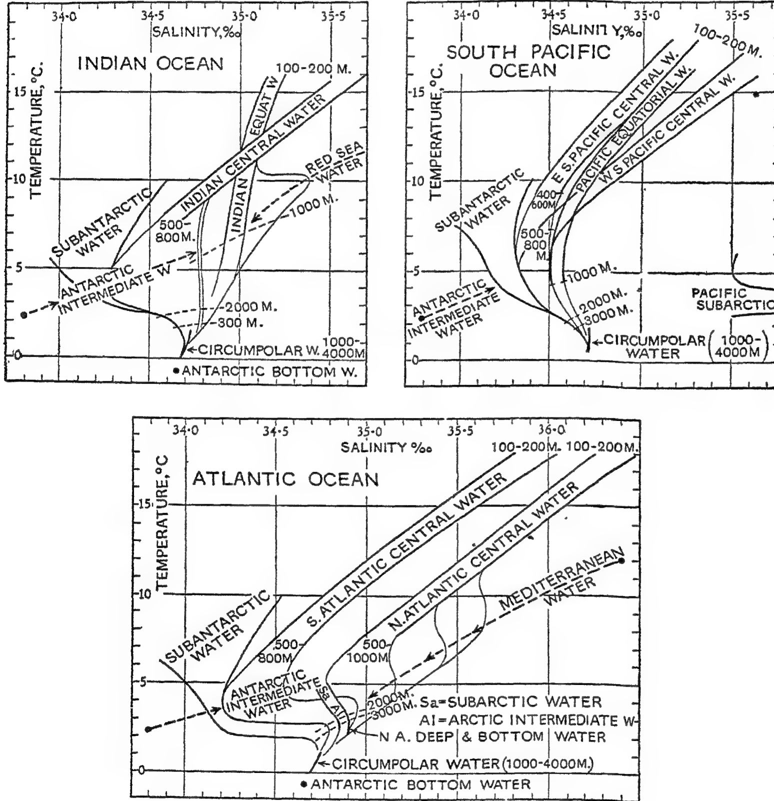
अब यह स्पष्ट हो जायगा कि खुले महासागरों में लिए गये किसी भी लम्बवत् स्तम्भ (vertical column) में विभिन्न घनत्व तथा विभिन्न उत्पत्ति के जल मिलेंगे। इन विभिन्न प्रकार के जलों की उत्पत्ति कहीं पर सतह के पास या सतह पर हुई थी। यह जल [illegible] पर नीचे चले गये थे और आगे चल कर विभिन्न गहराइयों से प्रवाहित हुए थे। वास्तविक महासागरों में किस प्रकार ये दशाएँ परिवर्तित होती हैं; अभी भी इस बात का विवेचन करना है।

मोटे तौरं से ताप और खारापन के वितरण के बीच पर्याप्त रूप से गहरा सम्बन्ध है, अधिक सर्द क्षेत्रों में ताप ऊपर से नीचे तक निम्न रहता है और सर्द जल जो उन क्षेत्रों में नीचे चले जाते हैं; अपने उत्पत्ति-स्थान से बहुत दूर तक निम्न ताप को ले जाते हैं। उष्णसमशीतोष्ण तथा उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में सतह पर जल की उष्णतर तह रहती है जिसकी मोटाई अधिक नहीं रहती है; यह एक पृथक् करने वाली तह से नीचे के सर्द गहरे जल से पृथक् होती है। इस पार्थक्य से वायुमंडल के साथ इसका सादृश्य उत्पन्न होता है। डिफैंट ने संसार के अपेक्षाकृत अधिक गर्म भागों के जल की ऊपरी तथा उष्णतर तह को परिवर्तमंडल (Troposphere) कहा है, और समताप मंडल (Stratosphere) के अन्तर्गत सर्द एवं गहरे जल की विशाल राशि आती है जो महासागरों के तल तक जाती है। परिवर्तमंडल तथा समताप मंडल के बीच का अन्तर कुछ महत्व अवश्य रखता है, किन्तु इस विषय को अधिक दूर तक नहीं ले जाना चाहिए; वायुमंडल के साथ इसकी तुलना किसी भी तरह पूर्ण नहीं है।

आधुनिक महासागरीय शास्त्र में यदि हम जल के खारापन तथा ताप की विशेषताओं को जानते हों तो जलराशियों का वर्गीकरण करना सरल है। चूँकि इन दो कारणों के अनेक संयोगों से एक ही या बराबर घनत्व का ही पता लगेगा, इसलिए यह मान लेना आवश्यक है कि स्वयं घनत्व ही भेदकरण (differentiation) के आधार के रूप में पर्याप्त हैं। हेलैंड-हैनसेन का ध्यान सर्वप्रथम इस बात की ओर गया और उसने ताप तथा खारापन (T—S) की आकृति का प्रणयन (introduced) किया (चित्र ७३)। यथार्थतः इसके अन्तर्गत सतह का वास्तविक जल नहीं आ सकता क्योंकि वहाँ भी एक या दूसरे प्रकार का जबर्दस्त परिणमन होता है।

फिर भी यदि महासागर के किसी भाग के उप-सतह के जल का खारापन तथा ताप को चित्र (graph) पर अंकित किया जाता है, तो यह पता चलता है कि बिन्दु प्रायः पर्याप्त रूप से करीब-करीब एक वक्र का संरूपण (conform) करते हैं—जिसे (T–S) वक्र कहते हैं। खारापन तथा ताप के ये मान गहराई के साथ बदलते

हैं जिसमें यदि प्रेक्षणों (observations) की गहराइयाँ भी वक्रों में प्रदर्शित की जाती हैं, तो हमें किसी भी गहराई पर पाये जाने वाले ताप तथा खारापन की दशाओं का निर्देश (indication) मिल जाता है। इस प्रकार बनने वाले वक्र साधारण,



चित्र ७३—सागरीय जलराशियों में ताप तथा खारापन का सम्बन्ध।
(from Sverdrup, Oceanography for Meteorologists)

प्रायः सीधी रेखा वाले या जटिल हो सकते हैं। विभिन्न गुणों वाले दो या अधिक जलराशियों के मिलने के परिणाम स्वरूप ही अन्तर होते हैं। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जलराशियों में मूलतः बिलगाव (individuality) इनके वायुमंडल के सम्पर्क में आने के समय हुआ।

जलराशियों के विषय में यह धारणा आधुनिक महासागरीय कार्य के लिए अत्यन्त

महत्वपूर्ण है। इसलिए सर्वप्रथम इनमें अधिक महत्वपूर्ण जलराशियों के प्रमुख गुणों तथा उत्पत्ति-स्थानों पर ध्यान आकर्षित करना सुविधाजनक होगा (चित्र ७४ देखिए)। ऐंटार्कटिक तल का जल ऐंटार्कटिक के निकट विशेषकर वेडेल (Weddel) सागर में उत्पन्न होता है। महादेशीय छज्जा पर इसमें C·३४.६५% खारापन तथा C.–१·६° सेंटीग्रेड ताप रहता है। चूँकि यह (जल) परिध्रुवीय जल (circumpolar waters) की अपेक्षा अधिक घना होता है इसलिए यह नीचे चला जाता है और कुछ हद तक इन जलों से मिल भी जाता है जिसमें अन्त में ऐंटार्कटिक तल के जल का खारापन C. ३४.६६°— और ताप C.—०.४° सेंटीग्रेड हो जाता है। जब यह महासागरीय तल पर उत्तर की ओर फैल जाता है तब इसमें सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं।

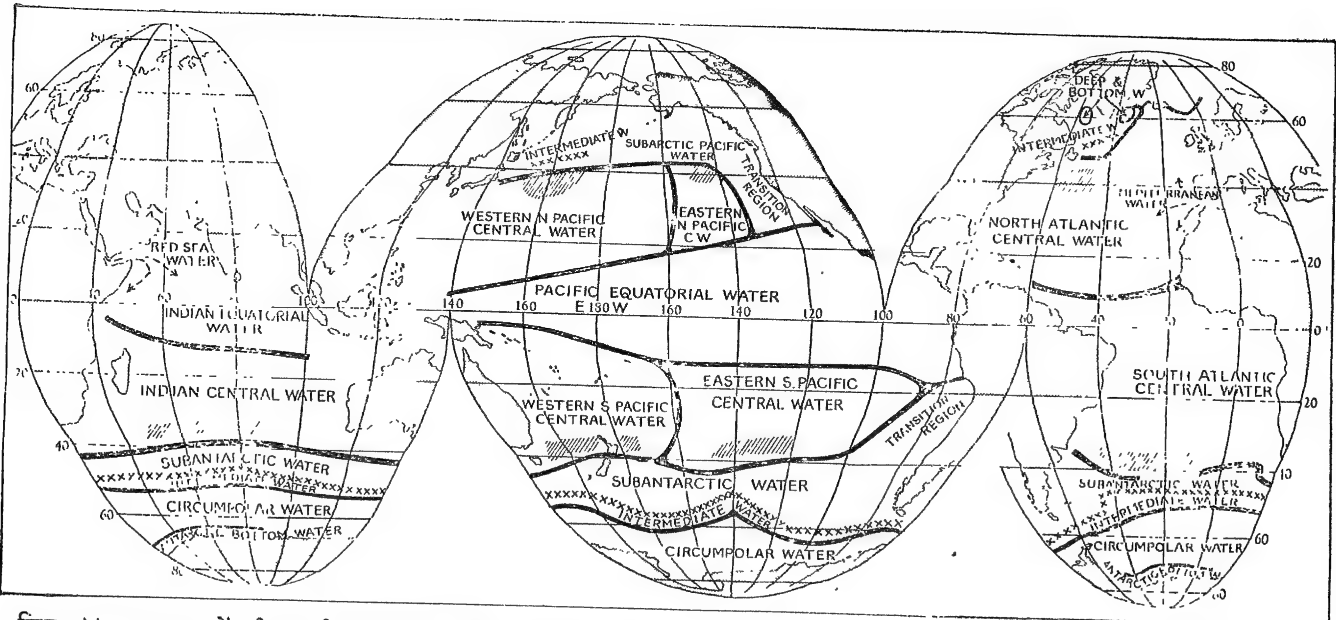
उत्तरी अटलांटिक गंभीर तथा तलीय जल की उत्पत्ति लैब्राडोर समुद्र तथा आइसलैंड और ग्रीनलैंड के बीच होती है। T – S के गुणों में प्रतिवर्ष कुछ परिणमन होता रहता है, क्योंकि सतह वाली धाराओं के सांनिध्य के कारण इनमें बहुत अधिक सम्पर्क होता है। १००० मीटर से अधिक नीचे जाने वाले जल का ताप २.८ तथा ३.३° सेंटीग्रेड के बीच रहता है और खारापन ३४·९० तथा ३४·९६% के बीच।

ऐंटार्कटिक अभिबिन्दुता ऐंटार्कटिक के माध्यमिक जल के नीचे जाने की जगह है। नीचे जाते हुए जल का खारापन C. ३३·८°% रहता है तथा ताप C. २·२° सेंटीग्रेड। नीचे चले जाने के पश्चात् संलग्न जल के साथ इसका कुछ और सम्पर्क (mixing) होता है। उत्तरी अटलांटिक में अनुरूप (corresponding) माध्यमिक जल लैब्राडोर समुद्र में अपेक्षाकृत कम स्पष्ट अभिबिन्दुता के स्थान में नीचे जाता है। उत्तरी प्रशान्त में माध्यमिक जल उस महासागर के उत्तरी-पूर्वी भाग में लगभग ४०° उत्तर अक्षांश के चारों ओर प्रादुर्भूत होता है, किन्तु फैलते समय यह मिश्रित (adulterated) हो जाता है; अतः इसकी अधिकांश मौलिक प्रकृति नष्ट हो जाती है।

भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण—दोनों तरफ ३५ तथा ४०° के बीच उप-उष्ण कटिबन्धीय अभिबिन्दुताओं के मध्य भी जल नीचे की ओर जाता है। ध्रुवों के अधिक समीप वाली अभिबिन्दुताओं की अपेक्षा ये बहुत कम सुनिश्चित हैं। स्पष्टतः इन क्षेत्रों में ताप तथा खारापन दोनों अक्षांश की वृद्धि के साथ-साथ कम होते जाते हैं, और इसलिए घनत्व भी उसी दिशा में बढ़ता जाता है। इन्हीं स्थानों में महासागरों की केन्द्रीय जलराशियाँ उत्पन्न होती हैं।

कुछ महासागरों में संलग्न समुद्रों से पर्याप्त मात्रा में जल आता है। भूमध्य-सागर का अपेक्षाकृत अधिक घना जल (१३·०—१३·६°C; ३८.४–३८ ७°%) जिब्राल्टर में उसके निकट वाले उभरे हुए समुद्र-तल के ऊपर से बह कर आता है तथा ऐंटार्कटिक के माध्यमिक जल के नीचे बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। इसी प्रकार बैबेल-मंडेब की जल प्रणाली से जल का उत्प्रवाह (efflux) होता है: लाल सागर का जल (२१·५-२२° C.; ४०·५-४१°%) हिन्द महासागर में फैल जाता है, किन्तु बहुत कम दूर तक।

उप-सतह पर होनेवाला मिश्रण कुछ जलराशियों के उत्पन्न होने का भी कारण बनता है। ऐंटार्कटिक परिध्रुवीय जल वस्तुतः प्रथमतः अटलांटिक का गंभीर जल



चित्र ७४—महासागरों की ऊपरी जलराशियों की अनुमानत सीमाएँ। गहरे रंगवाले भाग वे भाग हैं जहाँ मध्य जलराशियाँ बनती हैं, और गुणित चिह्न वे रेखाएँ दर्शाते हैं, जहाँ ऐंटार्कटिक और आर्कटिक के माध्यमिक जल नीचे की ओर जाते हैं।

तथा ऐंटार्कटिक का तलीय जल और दूसरे अत्यल्प भूमध्यसागरीय जल एवं ऐंटार्कटिक के कुछ माध्यमिक जल का मिश्रण ही है। उप-ऐंटार्कटिक क्षेत्रीय जल ऐंटार्कटिक तथा दक्षिणी उप-उष्णकटिबन्धीय [illegible] के बीच पाया जाता है और यह अन्तर्वर्ती (transitional) प्रकार का होता है। उप-आर्कटिक जलराशियाँ कुछ सदृश होती हैं तथा मिश्रण, शीतकालीन शीतन और अधिक वर्षा के कारण उत्पन्न होती है। अमेरिका के तटों से दूर भूमध्यरेखा की ओर होता है; तथा इस प्रक्रिया में वाष्पीकरण और ताप के बढ़ने से इसमें परिवर्तन होते हैं। प्रशान्त तथा हिन्द महासागरों में भी भूमध्य-रेखीय जल राशियाँ हैं : किन्तु अटलांटिक महासागर में इस प्रकार की जलराशि नहीं पायी जाती।

साधारणतया महासागरों में कुछ सादृश्यता है, किन्तु अटलांटिक और प्रशान्त में स्पष्ट अन्तर भी हैं—इस बात (point) का अधिमूल्यन (appreciation) चित्र ७४ के अध्ययन द्वारा किया जा सकता है। सभी केन्द्रीय जलराशियाँ छिछली (thin) होती हैं और इनकी सब से अधिक मोटाई सरगासो समुद्र (Sargasso Sea) में केवल ६०० मीटर है। प्रशान्त में २००-३०० मीटर की मोटाई से वे आवृत्त रहती हैं। ये जलराशियाँ भूमध्य रेखीय जलराशियों के साथ-साथ १००-२०० मीटर की मोटी तह से आवृत्त हैं जिनमें T—S. गुण स्थान-स्थान पर बदलते रहते हैं। यह सतह वाली तह, सम्पूर्ण केन्द्रीय जलराशियों तथा भूमध्य-रेखीय जलराशियों के ऊपरी भाग परिवर्तमंडल का निर्माण करते हैं (पृष्ठ १७१ देखिए)। यह अधिमूल्यित किया जायगा कि ऐंटार्कटिक महादेश के चारों ओर विभिन्न प्रकार के जल संसार के चारों ओर अपने विलक्षण गुण बनाए रखते हैं; परन्तु इसके विपरीत, अनुरूप उत्तरी जल की अपेक्षाकृत अत्यधिक स्थानीय उत्पत्ति के कारण स्पष्ट अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं।

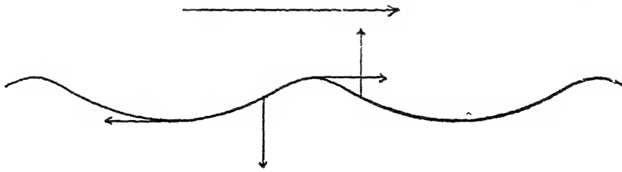
तीसरा अध्याय

तरंगें तथा ज्वारभाटा

महासागर की गतियाँ :—महासागर का जल कभी भी शान्त नहीं रहता है। यह हवा के द्वारा तरंगों के रूप में स्थानान्तरित होता रहता है, ज्वारभाटा के साथ यह उठता और गिरता है, तथा बहुत से स्थानों में निश्चित धाराएँ पायी जाती हैं जो या तो स्थायी रूप से एक दिशा में चलती हैं या ज्वार भाटा अथवा ऋतु के अनुसार बदलती रहती हैं।

तरंगें

जब जल तरंगो के रूप में क्षेपित होता है, तब इसकी सतह की आकृति चित्र ७५[१] में प्रदर्शित ढाँचे (section) की भाँति हो जाती है। तरंगें कुछ निश्चित दिशा की ओर चलती हैं, किन्तु जल में फेंका हुआ कॉर्क तरंगों के साथ नहीं जाता। यह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे चलता है। किन्तु जबतक इसका हवा द्वारा धमन (flows) नहीं होता या धारा द्वारा आगे नहीं बढ़ाया जाता जबतक यह प्रत्येक तरंग के साथ



चित्र ७५—साधारण तरंग की आकृति।
लम्बा तीर तरंग की गति की दिशा दर्शाता है; छोटे तीर तरंग के भिन्न स्थानों पर कणों की गति की दिशा दर्शाते हैं।

उसी स्थिति पर चला आता है और स्थायी रूप से अपना स्थान नहीं छोड़ता। कॉर्क अवश्य ही जिस जल पर उतरता है, उसके साथ चलेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि तरंग आगे की ओर चलती है, किन्तु जल के सूक्ष्म कण आगे नहीं बढ़ते। तरंग के सर्वोच्च भाग को श्रृंग (crest) और निम्नतम भाग को गर्त (trough) कहते हैं। एक श्रृंग से दूसरे श्रृंग या गर्त से दूसरे गर्त तक की दूरी तरंग की दूरी कहलाती है तथा गर्त से ऊपर श्रृंग की ऊँचाई को ऊँचाई या आयाम (amplitude) कहा जाता है।

---

१ जल में साधारण तरंग की आकृति निकटत: गोल (trochoid) होती है। यह उस वक्र के सदृश होता है जो गाड़ी के पहिये पर जब वह समतल सड़क पर सीधी चलती है, अंकित बिन्दु से बनता है, किन्तु इस वक्र की तुलना में उसकी (वक्र की) स्थिति उलटी (inverted) होती है।

गंभीर जल में किसी भी गहराई पर सूक्ष्म कणों की गति चक्रवत् होती है। शृंग पर सूक्ष्म कणों की गति आगे की ओर होती है, पिछली ढाल के बीच में नीचे की ओर, गर्त में पीछे की ओर और आगे वाली ढाल के बीच में ऊपर की ओर।

तरंग सतह के नीचे अनुभूत होती है, किन्तु छिछले जल में गति नीचे की ओर तेजी से कम होती जाती है। ऊपर-नीचे वाली गति आगे-पीछे की ओर वाली गति की अपेक्षा अधिक तेजी से घटती है और इस प्रकार सतह के नीचे सूक्ष्म कणों की गति ऊनेन्द्रीय (elliptical) हो जाती है। तरंग की लम्बाई के बराबर गहराई में गति सतह पर की गति के केवल करीब-करीब $\frac{१}{८००}$ वाँ भाग के बराबर है। फलतः सतह के निकट वाले भाग को छोड़ तरंगों का प्रभाव बहुत थोड़ा होता है और यहाँ तक कि सर्वाधिक तूफान वाले समुद्रों में भी विक्षोभ जल की छिछली तह तक ही सीमित रहता है।

तरंगों की ऊँचाई के विषय में हमारी प्राकृत धारणाओं का अत्यधिक अतिशयन होता है। जब कोई तरंग उच्छृंग से टकराती है तब जल १०० से लेकर २०० फुट या इससे भी अधिक ऊँचाई तक क्षेपित (thrown) हो जा सकता है; किन्तु इसके बाद तरंग का अंश बिलकुल नहीं रहता। जहाज पर से उपगमन करती हुई तरंग जितनी ऊँची रहती है, उससे अधिक ऊँची मालूम होती है, क्योंकि जहाज आगे वाली तरंग की ढ़ाल पर रहता है तथा उपगमन करती हुई। तरंग की ओर झुका रहता है। वस्तुतः स्कोर्सबी द्वारा मापित सर्वोच्च तरंग ४३½ फुट थी, और यह संभव है कि खुले महासागर में हवा द्वारा प्रादुर्भूत तरंगों की ऊँचाई ५० फुट से अधिक कदाचित् ही होती है।

तरंगों की चाल :—तरंगों की चाल अंशतः उनकी लम्बाई और अंशतः जल की गहराई पर निर्भर करती है।

जब तरंग की लम्बाई से जल आपेक्षतया छिछला रहता है तब वेग (velocity) केवल गहराई पर निर्भर करता है और गहराई के वर्गमूल (square root) के समानुपातिक होता है।

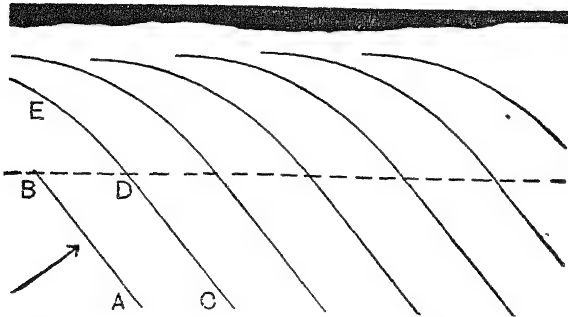
इसके विपरीत, जब जल तरंग की लम्बाई से आपेक्षतया गहरा होता है, तब वेग केवल लम्बाई पर निर्भर करता है और यह लम्बाई के वर्गमूल के समानुपातिक होता है।

यदि जल तरंग की लम्बाई से आपेक्षतया न तो छिछला और न गहरा हो, तो वेग गहराई तथा लम्बाई दोनों से प्रभावित होगा। मोटे तौर से हम कह सकते हैं कि यदि जल की गहराई तरंग की आधी लम्बाई से अधिक गहरा है तब वेग प्रधानतः लम्बाई पर निर्भर करता है; और यदि जल की गहराई तरंग की आधी लम्बाई से कम गहरा है तो वेग प्रधानतः गहराई पर निर्भर करता है।

फलतः खुले महासागर में हवा वाली तरंग की चाल इसकी लम्बाई पर निर्भर करती है। किन्तु महादेशीय छज्जावाले तट पर यह जल की गहराई पर निर्भर करती है। यही कारण है कि बालुकातट (sandy beach) पर तरंगों के शृंग प्रायः तट के समानान्तर होते हैं, हवा की दिशा चाहे जो भी हो।

ऐसे तट पर जल की गहराई बाहर की ओर क्रमशः बढ़ती ही जाती है। खुले समुद्र में तरंगों के शृंग हवा की दिशा पर समकोण पर रहते हैं, जैसा कि AB और CD

रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है (चित्र ७६)। किन्तु जब वे तट की ओर उपगमन करती है, तब CDE तरंग का अन्त E, अन्त C से पहले छिछले जल में होगा और तदनुसार वे अपेक्षाकृत अधिक धीरे-धीरे भ्रमण करेंगे। फलतः जब तक तरंग का शृंग तट के प्रायः समानान्तर नहीं हो जाता है, तब तक यह (तरंग) क्रमशः चक्कर काटती रहेगी।[1]



चित्र ७६—छज्जे वाले तट की ओर उपगमन करती हुई तरंगें। तीर वायु की दिशा दिखाता है। भग्न रेखा वह स्थान दिखाती है जहाँ पानी इतना छिछला हो जाता है कि छिछलापन तरंगों के वेग को प्रभावित कर देता है।

यदि तट खड़ा रहे और जल उच्छृंगी के निम्न भाग तक भरा रहे, तो तरंगें उपगमन करते समय अवरुद्ध नहीं होंगी और अपनी मौलिक किंवा प्रारंभिक दिशा बनाए रहेंगी।

तरंगों का विनष्ट होना (विभंजन–Breaking of waves):—जब तरंग महादेशीय छज्जावाले तट की ओर उपगमन करती है, तब यह तरंग के रूप में तब तक रहती है जब तक यह स्थल के पास पहुँचती है; तब इसका शीर्ष आगे की ओर गिरता है और तरंग खंडित हो जाती है। यह भी तरंग के चक्कर काटने के समान अंशतः इस कारण से होता है कि जल के अपेक्षाकृत अधिक छिछले होने पर अधिक धीमी गति से चलती है। पश्चातार्द्ध की अपेक्षा अग्रार्द्ध अधिक छिछले जल में रहता है, इसलिए यह अधिक धीमी गति से बढ़ती है। वस्तुतः शृंग जब तक संभाव्यतया (practically) आधाररहित नहीं हो जाता तब तक पश्चातार्द्ध इसके ऊपर आ जाता है और अग्रार्द्ध अपेक्षाकृत अधिक खड़ा हो जाता है, तथा तब तरंग के शीर्ष पर कणों के आगे की ओर की गति के कारण शृंग गिर जाता है।[2]

---

१ बालूतट के द्रव्य (material) के गतिशील होने पर इस पर (बालूतट) तरंगों के तिरछी होकर टकराने के प्रभाव का विवेचन पृष्ठ २८७ पर किया गया है।

२ पृष्ठ २८६ की तुलना कीजिए: दोनों दृष्टिकोण भिन्न हैं क्योंकि द्रव्य (matter) पूर्णरूप से निश्चित नहीं किया गया है।

जब जल तट तक गहरा रहता है, तब तरंगें, यदि वे किसी प्रकार खंडित भी होती हैं, तो वे विभिन्न प्रकार से खंडित होती हैं। वे उच्छृंग पर अपने को क्षेपित करती हुई प्रतीत होती हैं और जल उच्छृंग के अग्रभाग पर टकराता है, कभी-कभी बहुत ऊँचाई तक।

ज्वारभाटा

ज्वारभाटा वाले समुद्रों के तटों पर रहने वालों को निःसंदेह प्रारंभ से ही विदित है कि ज्वारभाटा तथा चन्द्रमा के बीच कुछ सम्बन्ध है। ज्वार तब सर्वोच्च होता है जब चन्द्रमा या तो नवीन या पूर्ण रहता है, तथा पूर्ण चन्द्र के समय, उच्च ज्वार के समय और उस समय जब कि चन्द्रमा देशान्तर पर रहता है, के बीच का अन्तर निकटतः प्रत्येक स्थानविशेष के लिए बराबर रहता है। किन्तु यह अन्तर सर्वत्र एक-सा नहीं रहता। कुछेक स्थानों में यह अन्तर एक घण्टे का, कुछ में दो घंटे का तो कुछ में इससे भी अधिक होता है। और इसके अतिरिक्त, यहाँ तक कि एक ही स्थान में यह कुछ हद तक बदलता रहता है। इसलिए यह जानना सरल है कि ज्वारभाटा तथा चन्द्रमा के बीच कुछ सम्बन्ध है, किन्तु यह जानना सरल नहीं है कि वह सम्बन्ध क्या है।

न्यूटन के समय के पहले तक सम्बन्ध का कारण नहीं मालूम था। गुरुत्वाकर्षण (gravitation) वह पारस्परिक आकर्षण शक्ति है जो विश्व में द्रव्य के कणों के बीच वर्तमान है। पृथ्वी चन्द्रमा को आकृष्ट करती है और चन्द्रमा पृथ्वी को। चन्द्रमा पृथ्वी के प्रत्येक कण को आकृष्ट करता है, आकर्षण की मात्रा दूरी के वर्ग के बराबर प्रतीपक्रमेण (inversely) बदलती है, और इसलिए चन्द्रमा पृथ्वी के उस भाग को जो इसके निकटतम रहता है दूरतम भागों की अपेक्षा अधिक जोर से आकृष्ट करता है।

संतुलन का सिद्धान्त :—पृथ्वी का व्यास लगभग ८००० मील का है। फलतः चन्द्रमा की ओर वाला भाग केन्द्र की अपेक्षा ४००० मील इसके निकटतर है; और विपरीत भाग की अपेक्षा ८००० मील अधिक निकट। इसलिए चन्द्रमा केन्द्र की अपेक्षा पृथ्वी के निकट वाले भाग को अधिक बल से खींचता है, और दूरवाले भाग को कम बल से।

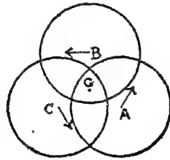
हम मान लें कि पृथ्वी तरल महासागर द्वारा परिवेष्टित है, और जल अनुनमन (yield) करता यानी प्रभावित होता तथा चन्द्रमा के समक्ष एकत्रित हो जाता है। दूसरी तरफ आकर्षण केन्द्र की अपेक्षा कम होता है, इसलिए जल ठोस पृथ्वी से कम आकर्षित होने के कारण चन्द्रमा से दूर वाले भाग में उभर आता है।

चन्द्रमा से विपरीत यानी दूसरी तरफ वाले भाग में जल के उभरने की व्याख्या का अधिमूल्यन करना कठिन है। पृथ्वी चन्द्रमा की ओर उपगमन नहीं करती, और इसलिए स्वभावतः हम इसे चन्द्रमा को ध्यान में रखते हुए, अपनी स्थिति पर स्थिर मान लें, तथा हम कल्पना कर लें कि चन्द्रमा इसके चारों ओर घूमता है। यदि ऐसा होता तो इसका अर्थ यह होता कि ठोस पृथ्वी चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से तनिक भी प्रभावित नहीं हुई है। उस दशा में इसके चन्द्रमा की ओर मुड़े हुए भाग में जल उभरता किन्तु दूसरे भाग में ऐसा बिलकुल नहीं होता।

किन्तु सूर्य के चारों ओर परिक्रमण करने के अतिरिक्त, पृथ्वी अपनी स्थिति पर स्थिर नहीं है, बल्कि यह चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से प्रभावित होती है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर परिक्रमण नहीं करता, प्रत्युत पृथ्वी तथा चन्द्रमा दोनों अपने एक ही गुरुत्वाकर्षण वाले केन्द्र के चारों ओर परिक्रमण करते हैं।





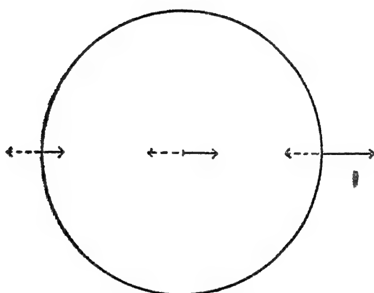




चित्र ७७—पृथ्वी और चन्द्रमा की आपेक्षिक गतियाँ।

पृथ्वी के विशाल पिण्ड (संहृति) के कारण यह सामान्य केन्द्र पृथ्वी की सतह से लगभग १००० मील नीचे है। पृथ्वी तथा चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओं में आपेक्षिक स्थितियाँ पूर्ण परिक्रमण में, चित्र ७७ में प्रदर्शित की गयी हैं जिसमें गुरुत्वाकर्षण वाले सामान्य केन्द्र G एक स्थिर बिन्दु है जो अपनी स्थिति नहीं बदलता है। जब चन्द्रमा a पर रहता है तब पृथ्वी A पर रहती है, जब चन्द्रमा b पर रहता है, तब पृथ्वी B पर रहती है और जब चन्द्रमा c पर रहता है तब पृथ्वी C पर रहती है। इस रेखाचित्र में यदि पारस्परिक आकर्षण शक्ति अचानक रुक जाती, तो पृथ्वी एवं चन्द्रमा तीरों की दिशा में तेजी से भाग जाते (अर्थात् वह दिशा जिसमें वे वस्तुतः उस समय चल रहे हों) तथा एक दूसरे से अलग हो जाते। किन्तु पारस्परिक आकर्षण से वे एक दूसरे की ओर खींचे जाते हैं या खिंचे रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे अलग नहीं होते बल्कि केन्द्र G के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार यद्यपि वे एक दूसरे की ओर उपगमन नहीं करते परन्तु वे अविराम एक दूसरे की आकर्षण शक्ति से प्रभावित होते तथा उस पथ का अनुसरण नहीं करते जिसका वे भिन्न परिस्थिति में अनुसरण करते। जब यह एक बार स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि पृथ्वी चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से प्रभावित हो रही तो यह समझना सरल हो जाता है

तदनुसार पृथ्वी के सभी बिन्दुओं पर दो बल लगते हैं—एक आकर्षक बल जो चन्द्रमा की ओर उन्मुख रहता है और दूसरा अपकेन्द्रीय बल जो चन्द्रमा से दूर की ओर उन्मुख रहता है। दूसरा बल सर्वत्र बराबर रहता है, किन्तु पहला बल पृथ्वी को चन्द्रमा की ओर मुड़े हुए भाग में सर्वाधिक रहता है।



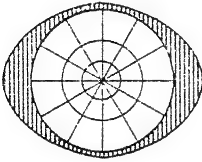
चित्र ७९—चन्द्रमा का ज्वार-भाटा उत्पन्न करने वाला बल। चन्द्रमा आकृति की दायीं ओर है। पूर्ण तीर चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति दर्शाता है; भग्न तीर अपकेन्द्रीय बल दिखाते हैं।

चूँकि पृथ्वी और चन्द्रमा न तो एक दूसरे की ओर उपगमन करते हैं और न एक दूसरे से दूर हटते हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के केन्द्र पर अपकेन्द्रीय बल आकर्षक बल के ठीक बराबर है। चन्द्रमा के निकटतम वाले भाग में आकर्षक बल केन्द्र की अपेक्षा अधिक रहता है, और इसलिए यह अपकेन्द्रीय बल से भी अधिक रहता है, और इसलिए वहाँ पर आकर्षक बल का आधिक्य रहता है जिससे जल चन्द्रमा की ओर खिंच जाता है। चन्द्रमा से दूरतम वाले भाग में केन्द्र की अपेक्षा आकर्षक बल कम रहता है, अतः यह अपकेन्द्रीय बल से भी कम रहता है, और इसलिए वहाँ पर चन्द्रमा से दूर उन्मुख बल का आधिक्य रहता है। इसलिए चन्द्रमा के नीचे जल का उभार (bulge) वहाँ पर अपकेद्रीय बल पर आकर्षक बल के आधिक्य (excess) के कारण ही होता है और ठीक इसके विपरीत दूसरी ओर आकर्षक बल पर अपकेन्द्रीय बल के आधिक्य के कारण जल का उभार होता है (चित्र ७९)।

इस प्रकार संतुलन सिद्धान्त (equilibrium theory) के अनुसार चन्द्रमा अपनी ओर मुड़े हुए पृथ्वी के भाग की ओर जल को खिंच जाने को वाध्य करता है और इसी प्रकार दूसरी ओर भी; और इस प्रकार उच्च ज्वार (high tide) उत्पन्न करता है (चित्र ८०)। किन्तु पृथ्वी के अन्य भागों से जल खिंच आता है, इसलिए दो उच्च ज्वार (high tide) के बीचोबीच समुद्र की सतह साधारण स्तर से नीची हो जाती है जिससे वहाँ भाटा (low tide) होता है। चूँकि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है (घूर्णन करती है), इसलिए प्रत्येक मध्याह्न रेखा (meridian) बारी-बारी से प्रत्येक ज्वार (high tide) तथा प्रत्येक भाटा (low tide) के

सामने आती है और इसलिए अधिकांश स्थानों में दिन भर में दो ज्वार तथा दो भाटे (उत्पन्न) होते हैं।

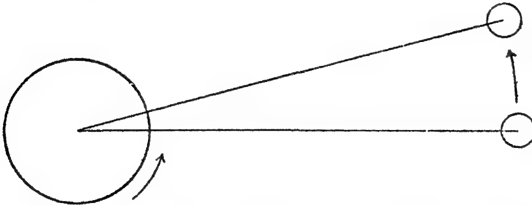
परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इस व्याख्या का यह अर्थ है कि जब चन्द्रमा किसी निर्दिष्ट स्थान पर रहता है तब यह जल को पृथ्वी के ऊपर से खींचता है, और इसके विपरीत दूसरी ओर यह पृथ्वी को जल से अपनी ओर खींचता है। प्रथमतः सूर्य के ठीक सिर के सामने ऊपर रहने पर जल ऊँचा नहीं उठेगा बल्कि यह चन्द्रमा के मध्याह्न रेखीय यात्रा (Moon's meridian passage) के पूर्व या पश्चात् किसी




चित्र ८०—चन्द्रमा का ज्वारभाटा उत्पन्न करने वाला प्रभाव।

समय भी उठ सकता है। दूसरे चन्द्रमा के ठीक सिर के सामने ऊपर रहने पर यदि चन्द्रमा का कर्षण (pull) पृथ्वी के कर्षण से अधिक रहता तो यह केवल जल को पृथ्वी से दूर खींच लेता, किन्तु यह वात स्पष्टतः नहीं है। इस आभास के खण्डन (apparent contradiction) की शुद्ध व्याख्या यह है कि P_1 तथा P_3 और P_3 एवं P_1 के बीच चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति का अनुप्रस्थ घटक (horizontal component) है। यह वही अनुप्रस्थ घटक है जो जल को गतिशील कर देता है तथा उभार उत्पन्न करता है। P_4 और P_3 के बीच तथा P_2 एवं P_3 के बीच भी इसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है जिससे P_3 पर (जल का) उभार होता है, जहाँ पर शक्ति पुनः लम्बवत् बहती है (चित्र ८२)।

किन्तु जिस समय पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है, उसी समय चन्द्रमा भी पृथ्वी तथा अपने गुरुत्वाकर्षण वाले केन्द्र के चारों ओर उसी दिशा में चलता रहता है। फलतः पृथ्वी को एक चक्कर पूरा कर लेने के वाद भी थोड़ा और अधिक घूमना पड़ता

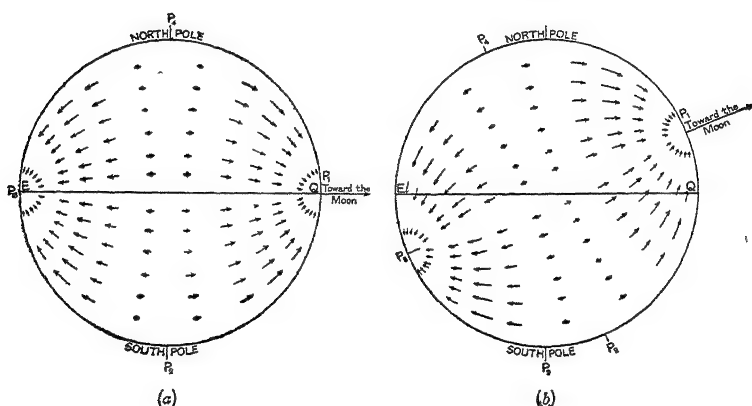


चित्र ८१—ऊँचे ज्वार के होने के समय में दैनिक परिवर्तन।

है जिसमें वही मध्याह्न रेखा पुनः चन्द्रमा के सामने आ जाय (चित्र ८१)। इसलिए ज्वार प्रत्येक दिन पहले दिन की अपेक्षा कुछ देर के बाद होता है। यह अन्तर स्थूल

रूप से करीब ५० मिनट का होता, परन्तु कभी-कभी यह उससे भी अधिक और कभी-कभी कम भी होता है।

अभी तक यह मान लिया गया है कि सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा पूर्णरूप से या प्रायः एक सीध (one plane) में हैं। फिर भी पृथ्वी की मध्यरेखा की दृष्टि से सूर्य और चन्द्रमा—दोनों उत्तर और दक्षिण की ओर चलते रहते हैं। ग्रीष्म में सूर्य इसके उत्तर में रहता है और शीत ऋतु में इसके दक्षिण में और चन्द्रमा भूमध्य रेखा को चान्द्रमास में दो बार पार करता है। इन दोनों पिण्डों (bodies) की भूमध्य रेखा से परिवर्त्तनीय दूरी को दिक्पात (declination) कहते हैं।



चित्र ८२—ज्वारभाटा उत्पन्न करने वाली शक्ति का वितरण (a) भूमध्य रेखा पर और (b) भूमध्य रेखा के उत्तर में।

जब चन्द्रमा दिक्पात पर अथवा सर्वाधिक दिक्पात के निकट रहता है तब भूमध्य रेखा के आस-पास ज्वार भाटा संमित (Symmetrical) बिलकुल नहीं होते और एक निर्दिष्ट अक्षांशीय समानान्तर रेखा के आपेक्षतया वहाँ पर हमेशा की अपेक्षा एक बार जल ऊँचा उठेगा और एक बार नीचे गिरेगा। जब चन्द्रमा शून्य दिकपात पर रहेगा तब भूमध्य रेखा पर ज्वार भाटा एक बार पुनः संमित होंगे (चित्र-८२)।

सूर्य के आकर्षण का प्रभाव :—केवल चन्द्रमा ही एक नक्षत्र नहीं है जो महासागर के जल को अपनी ओर खींचता है। सूर्य भी अपना स्पष्ट प्रभाव डालता है। किन्तु यद्यपि सूर्य द्वारा डाला गया आकर्षण चन्द्रमा द्वारा डाले गये आकर्षण की अपेक्षा बहुत अधिक रहता है, फिर भी ज्वार भाटा पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है। ज्वाराभाटा आकर्षक बल (attractive force) की मात्रा से निर्धारित नहीं होते, बल्कि एक ओर पृथ्वी के केन्द्र और दूसरी ओर इसके चन्द्रमा के निकट वाले तथा दूरवाले भागों के आकर्षण में अन्तर से निर्धारित होते हैं। चन्द्रमा का केन्द्र पृथ्वी के केन्द्र से लगभग २४०,००० मील दूर है अथवा २३६,००० मील इसके निकट वाले भाग से। इसके निकट वाले भाग पर इसका आकर्षक बल इसके केन्द्र पर पड़ने वाले आकर्षक बल के अनुपात में $२४०,०००^{२}$ से $२३६,०००^{२}$ अथवा ३१ से ३० के

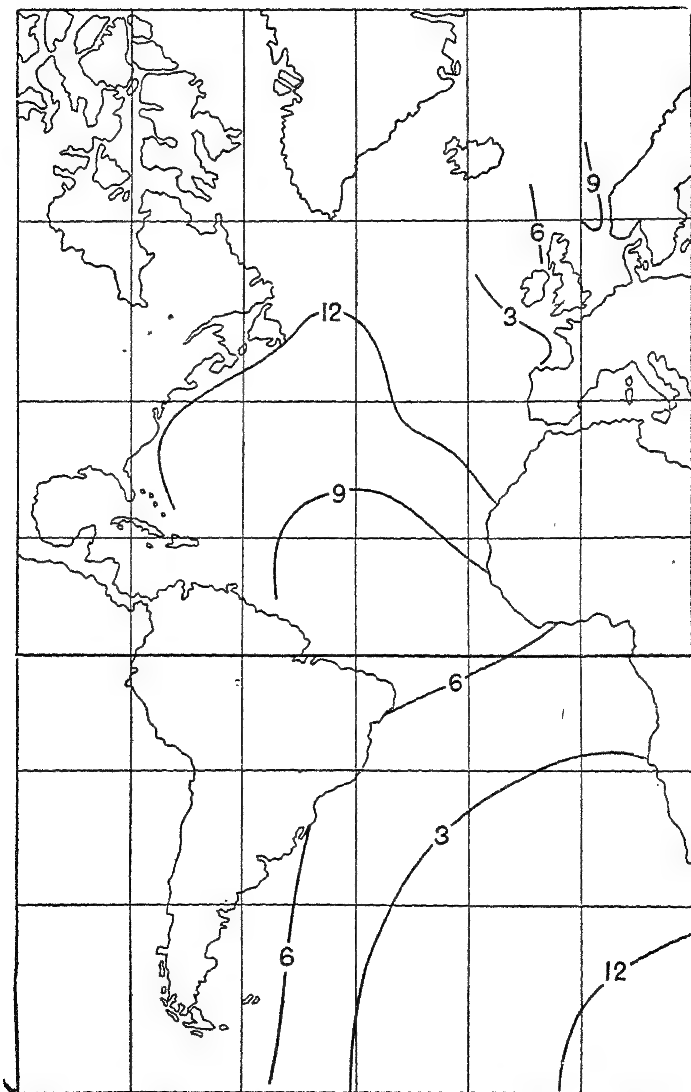
और चन्द्रमा अपने दैनिक पथ पर भ्रमण करते दीख पड़ते हैं, उसकी अपेक्षा यह कम रहती है। इस बात का सरलता से पता चल जायगा कि तरंग की स्वाभाविक गति तथा सूर्य और चन्द्रमा के द्वारा जो गति इसमें आती है—दोनों के बीच के अन्तर से इसमें जटिलताएँ आ जायेंगी, किन्तु ये जटिलताएँ इतनी गहन होती है कि इन पर यहाँ विचार नहीं किया जा सकता।

ज्वारभाटा की तरंग की गति महादेशीय तथा अन्य स्थलीय संहतियों से भी अत्यधिक प्रभावित होती है। यदि भूमंडल पूर्ण रूपसे जलावृत्त रहता तो ज्वारभाटा सरलता से इसके चारों ओर पूर्व से पश्चिम की ओर चलता। किन्तु बृहत् स्थलीय संहतियाँ उत्तर से दक्षिण तक फैली हैं जिससे इसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। चूँकि ऐंटार्कटिक महासागर में खुला और अबाध मार्ग है, इसलिए यह सिद्ध किया गया था कि केवल इसी दक्षिण सागर में ज्वारभाटा मुक्त रूपसे चन्द्रमा का अनुसरण करता तथा दो लम्बी और अत्यन्त मन्द तरंगों की भाँति संसार के चारों ओर पूर्व से पश्चिम की ओर चल सकते हैं। जब तरंग अटलांटिक के मुहाने को पार कर आगे बढ़ती है तब इसमें से एक शाखा निकलती है जो अटलांटिक में दक्षिण से उत्तर तक जाती है। प्रशान्त तथा हिन्दमहासागरों में भी इसी प्रकार शाखावाली तरंगे उत्पन्न होती हैं।

अटलांटिक में प्रगामी तरंग के सिद्धान्त के अनुसार ज्वारभाटा की तरंग का साधारण मार्ग चित्र ८४ में इसी अनुरूप ज्वारभाटा की रेखाओं (co-tidal lines) के सहारे प्रदर्शित किया गया है। अनुरूप ज्वारभाटा की रेखा वह रेखा है जो उन स्थानों को मिलाती हुई खींची जाती है जहाँ ज्वार (high tide) एक ही समय में होता हो तथा रेखाओं के सामने लिखित अंक पूर्णचन्द्रवाले समय में होता हो तथा रेखाओं के सामने लिखित अंक पूर्णचन्द्रवाले दिनों में उत्पन्न होनेवाले ज्वार का ग्रीनविच-समय (Greenwich time) के द्योतक हैं। फिर भी अनुरूप ज्वारभाटा की लकीरें खींचने के लिए प्राप्त ज्ञान आज तक भी प्रायः तटीय जल तक ही सीमित है और जब प्रगामी तरंग का सिद्धान्त प्रचलित था तब यह कहना पर्याप्त था कि आधुनिक अशुद्ध धारणा पर आधारित व्युत्पन्न कल्पना की अपेक्षा इन रेखाओं द्वारा ज्ञान का कुछ अधिक प्रदर्शन हुआ।

इस मानचित्र तथा सिद्धान्त से यह मालूम होता है कि अटलांटिक महासागरीय ज्वारभाटा की तरंग तटवर्ती छिछले जलकी अपेक्षा महासागर के बीच वाले गंभीर जल में अधिक तेजी से चलती है, तथा शृंग वक्र हो जाता है। जब यह उत्तर की ओर आगे बढ़ती है तब वक्र की उतलता (convexity) बढ़ती जाती है और यूरोप तक पहुँचने पर तरंग का रुख (trend) उत्तर-दक्षिण हो जाता है तथा तरंग पश्चिम दिशा से उपगमन करती है। महासागर के दूसरी ओर भी रूख प्रायः उत्तर-दक्षिण रहता है, किन्तु तरंग तट पर पूर्व दिशा से उपगमन करती है।

तदनुसार यह अनुमान किया गया था कि ज्वारभाटा ब्रिटिश द्वीप समूह में पश्चिम से आता है और ब्रिटिश द्वीप-समूह के निकटवाले समुद्रों में इसका पथ चित्र ८५ में अनुरूप ज्वारभाटा की रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि तरंग आयरलैंड पहुँचने पर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। उत्तरी भाग से एक छोटी शाखा निकलकर आयरिश समुद्र में चली जाती है किन्तु प्रमुख



चित्र ८४—प्रगामी तरंग के सिद्धान्त के आधार पर, अटलांटिक महासागर की अनुरूप ज्वारभाटा की रेखाएँ (Airy के आधार पर)

तरंग स्कॉटलैंड के उत्तर में चक्कर काटती है जिससे एक तरंग प्रादुर्भूत होती है जो ग्रेट ब्रिटेन के पूर्वी तट पर उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है। अटलांटिक से उठनेवाली पूर्वी तट पर उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है। तरंग की दक्षिण शाखा कॉर्निस प्रायः द्वीप से पुनः विभाजित हो जाती है जिसकी एक शाखा तो आयरिश समुद्र तथा ब्रिस्टल चैनेल तक जाती है और दूसरी शाखा इंगलिश चैनेल के ऊपर तक चलती है।

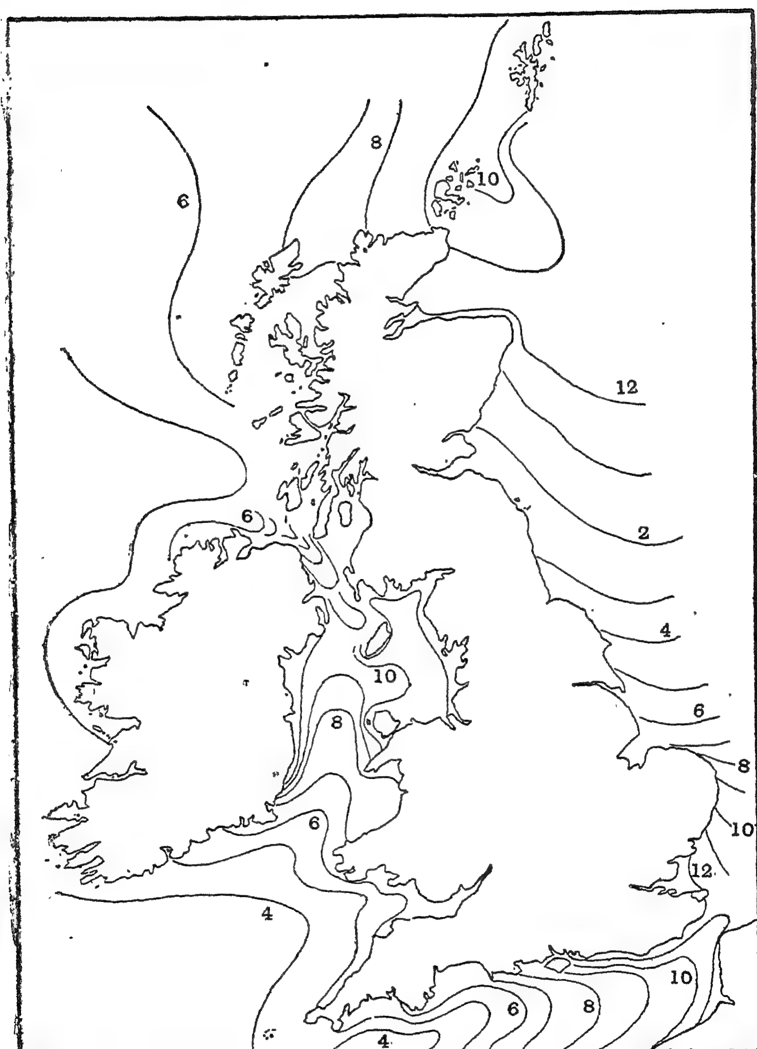
यदि प्रगामी तरंगें एक या दो मुहाने वाले समुद्र में प्रवेश करती हैं तो कभी-कभी ज्वारभाटों में बहुत से व्यतिक्रम तथा जटिलताओं का प्रत्येक्ष रूप से सरलतापूर्वक तथा कृत्रिम रूप से प्रतिपादन हो जाता है। इस प्रकार के जल का सर्वोत्तम उदाहरण आइल ऑफ वाइट (Isle of Wight) तथा प्रधान स्थल के बीच वाले संकीर्ण जल-भाग हैं जिसके विषय में स्पिटहेड तथा सोलेंट (Spithead and Solent) होकर ज्वार भाटा की तरंगों द्वारा पहुँचने का अनुमान लगाया जाता है। इसके विपरीत किसी स्थान में एक छोर से ज्वारभाटा से उत्पन्न ज्वार दूसरे छोर से आनेवाले ज्वारभाटा से उत्पन्न भाटा के साथ संपतन (coincide) हो तो ऐसा समझा जाता है कि दोनों एक दूसरे को प्रायः पूर्णरूप से विनष्ट कर देंगे और वहाँ ज्वारभाटा बिल्कुल नहीं होगा।

अनुरूप ज्वारभाटा वाले मानचित्रों से यह स्पष्ट हो जायगा कि ज्वारभाटा की तरंग की चाल खुले महासागर में छिछले समुद्रों की अपेक्षा कहीं बहुत ज्यादा रहती है। अटलांटिक के बीच में इसका वेग प्रतिघंटे ६०० या ७०० मील है, और इंगलैंड के पूर्वी तट पर ४० मील। तरंग की लम्बाई जो मानचित्र में अनुरूप ज्वारभाटा की रेखाओं में किसी एक रेखा से दूसरी रेखा तक की दूरी है और जो एक ही अंक से चिन्हित है, वह महासागर की गहराई की तुलना में अधिक है और इसलिए अध्याय ३ पर हमने देखा है कि वेग गहराई के वर्गमूल के बराबर परिवर्तित हुआ है।

अप्रगामी तरंग का सिद्धान्त (Stationary Wave Theory):—ज्वार-भाटा सम्बन्धी ज्ञान का विकास हाल में तेजी से हुआ; और इसलिए सर्वप्रथम प्रगामी तरंग के सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्याप्त रूप से वर्णित अधिकांश घटनाओं (phenomena) का प्रत्यक्षरूप से दिये गये साधारण विवरण (explanations) को मान लेना बिल्कुल सम्भव नहीं है। उस परिकल्पना (hypothesis) के अनुसार दक्षिणी महासागर के चारों ओर ज्वारभाटा चलता है तथा उससे तरंगें निकलकर प्रशान्त हिन्द तथा अटलांटिक महासागरों में आती हैं। फलतः किसी भी महासागर में ज्वारभाटों[1] की अवधि (age) तरंग और अधिक उत्तर की ओर जाने पर अपेक्षाकृत बड़ी हो जाती है।

---

१ यह देखा जाता है कि सूर्य पृथ्वी की स्थितियों की दृष्टि से चन्द्रमा की स्थिति में जो परिवर्तन होते हैं, ज्वारभाटा तत्क्षण उनका अनुसरण नहीं करता। ज्वार (springs) के समय होनेवाले सर्वाधिक चढ़ाव-उतार यथार्थतः अमावस्या तथा पूर्णचन्द्र के समय ही नहीं होते। साथ ही चन्द्रमा के भू-समीपक रहने के समय सर्वाधिक चढ़ाव उतार में भी १$\frac{१}{२}$ दिनों का पश्चायन अंकित किया गया है। ज्वारभाटा के प्रतिचार (tidal response) इस मंदन (retardation) को ज्वार-भाटा की अवधि (age) कहते हैं और यह प्रायः संघर्ष (friction) के फलस्वरूप उत्पन्न माना जाता है।



चित्र ८५—प्रगामी तरंग के सिद्धान्त के अनुसार ब्रिटिश समुद्र में अनुरूप ज्वारभाटा की रेखाएँ।

किन्तु, संकीर्ण खाड़ियों तथा सागर-संगम अथवा नदियों के मुहानों में (gulfs & estuaries) स्थानीय उत्पन्न होने वाले स्थानीय अन्तर के अतिरिक्त अटलांटिक के पश्चिमी भाग पर हौर्न अन्तरीय तथा फेयरवेल अन्तरीय के बीच ज्वारभाटा की अवधि में बहुत कम अन्तर होता है। इसके अलावे साधारणतः होने वाले ज्वारभाटा के भेद अध्याय ३ भी सर्वत्र एक-सा नहीं होता। उदाहरणार्थ अटलांटिक में अर्द्ध दनिक ज्वारभाटा जिसमें अत्यल्प दनिक विषमता पायी जाती है, कलिफोर्निया के तटपर होने वाले ज्वारभाटा जिनमें स्पष्ट दैनिक विषमता पायी जाती है अथवा टहिटी (Tahiti) में उठने वाले ज्वारभाटा, जहाँ ज्वार (high water) नियमित रूप से प्रायः दोपहर (मध्याह्न) तथा अर्धरात्रि के समय एक फुट से कम विस्तार (range) के साथ उठता है, इन सबों से भिन्न होते हैं। स्पष्टतः ज्वारभाटा यहाँ सूर्य का अनुसरण करते हैं, चन्द्रमा का नहीं। इसके अतिरिक्त यह मान लेना भी उचित ही है कि हिन्द, अटलांटिक तथा प्रशान्त महासागर के आकार की जलराशियों में ज्वारभाटा उत्पन्न करने की क्षमता है।

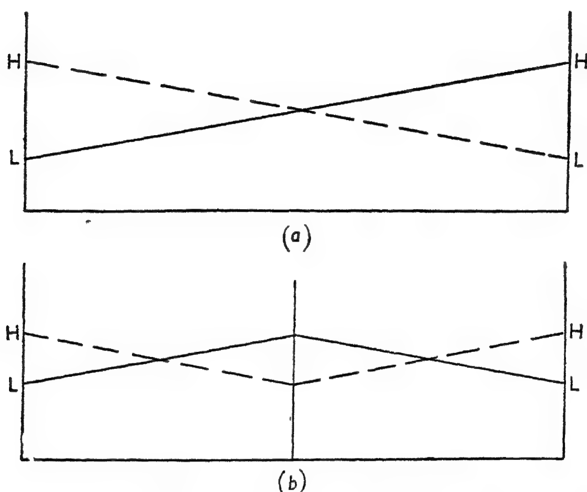
ज्वारभाटा पर हुए आधुनिक कार्य प्रादेशिक या यहाँ तक कि स्थानीय घटना के द्वारा संसार में होने वाली घटना को प्रतिस्थापित (replace) कर देती है; और संसार अथवा किसी खास महासागर के लिए प्रगामी तरंग को मानने के बदले अप्रगामी तरंग उपग्रहीत की गयी है। कल्पना साधारण है और साथ ही सरलता से निर्दशित भी की जाती है। यदि एक पर्याप्तरूप से छिछले आयताकार तालाब को अंशतः जल से भर दिया जाय तो जल को आन्दोलित कर देना नितान्त सरल है ताकि (जल) एक छोर पर ऊँचा और दूसरे छोर पर नीचा रहे। साथ ही जल को इस प्रकार आन्दोलित कर देना भी कठिन नहीं है (चित्र ८६ a, b) जिसमें वह एक ही समय बीच में ऊँचा और दोनों छोरों पर नीचा रहे। पहली दशा में एक रेखा है जो निष्पंदीय (nodal line) रेखा कहलाती है।

उस पर जल दोलित (oscillate) होता है; और दूसरी दशा में दो निष्पंदीय रेखाएँ हैं। और भी जटिलताओं की भी कल्पना की जा सकती है। दोलन की अवधि एक साधारण सूत्र (formula) द्वारा व्यक्त की जाती है: $T = \frac{2L}{\sqrt{gh}}$, जहाँ l तालाब की लम्बाई, h जल की गहराई तथा g गुरुत्व (gravity) का त्वरण (Acceleration) है। इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रत्येक जल-राशि में दोलन की निश्चित और प्राकृतिक अवधि रहती है जो जलराशि की लम्बाई तथा गहराई पर निर्भर करती है।

यदि प्रयोगशाला में तालाब को लेकर प्रयोग किया जाय तो यह शीघ्र ही पता चलेगा कि यदि कोई दोलन की अवधि को तेज अथवा कम करता है तो गड़बड़ी का उत्पन्न होना उचित ही है। एक बार जब यह प्राकृतिक अवधि को प्राप्त हो जाती है तो इसे बनाए रखने के (maintain) अत्यल्प प्रयास की आवश्यकता होती है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रकृति में ये कौनसे आवर्ती बल (periodic forces) हैं जो महासागरों के भागों को इस प्रकार दोलित रख सकें? ये वस्तुतः सूर्य और चन्द्रमा की ज्वारभाटा उत्पन्न करने वाले बल ही हैं जिनका वर्णन पहले ही हो चुका है।

इनमें चार प्रधान वल ये हैं : सूर्य २४ घंटे में पृथ्वी के चारों ओर घूमता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु सौर बलों का आवर्तन प्रत्येक बारह घंटे में होता है। फलतः, सौर



चित्र ८६—(a) एकनिष्पंदीय और (b) द्विनिष्पंदीय दोलन प्रणालियाँ।

ज्वारभाटा का आवर्तन प्रतिदिन एक ही समय पर होता है। चन्द्रमा के परिक्रमण की अवधि २४ घंटे ५० मिनट हैं, और आधी अवधियाँ १२ घंटे २५ मिनट की होती हैं। इसलिए [illegible] ज्वारभाटा से कुछ पहले या बाद में होता है, अतः संयुक्त (combined) ज्वारभाटा के समय[1] में थोड़ा अन्तर होता है।

अप्रगामी तरंग सिद्धान्त की पुष्टि की यह कल्पना है कि महासागरों में ऐसी जल-राशियाँ रहती हैं जिनके दोलन की अवधियाँ ठीक-ठीक या सन्निकटतः इन अवधियों के सदृश होती हैं, तथा अप्रगामी तरंगों का सबसे अधिक विकास महासागरों के उन भागों में होता है जिनके जल के दोलन की अवधि ज्वारभाटा उत्पन्न करनेवाले बल की अवधि से अत्यधिक मिलती-जुलती है।

चित्र ८७ अर्द्ध दैनिक ज्वारभाटा उत्पन्न करनेवाले बलों की दोलन प्रणालियों को प्रदर्शित करता है जैसा कि इस शताब्दी में हेरिस द्वारा माना गया है। तालाब वाले प्रयोगों में तालाब की चौड़ाई का कोई महत्व नहीं था, अतः महासागरीय दोलन-क्षेत्रों की चौड़ाई का भी कोई महत्व नहीं है। चित्र ८७ में प्रदर्शित प्रणालियाँ (systems) गणितिक एवं प्राकृतिक सिद्धान्तों (principles) के अनुसार, अंकित की गयी हैं जिनका विवेचन यहाँ पर नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी इस बात पर जोर देना चाहिए कि इस चित्र में प्रदर्शित क्षेत्र सामान्यतः स्वीकृत नहीं हैं।

---

१ पुस्तक के अन्त में इस सम्बन्ध में टिप्पणी देखिए।

शेमन लिप्यांक चान्द्र घंटों के रूप में चन्द्रमा के ग्रीनविच की मध्याह्न रेखा के परिगमन (transit) के पश्चात् समय का निर्देश करते हैं। क्षेत्र प्रायः अतिच्छादित (overlap) हो जाते हैं। निष्पंदीय रेखाएँ शृंखल-बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं। महासागर के भाग जो सादा छोड़ दिए गये हैं वे हैं जिनमें उनके आकार और गहराई के कारण ज्वारभाटा उत्पन्न करने वाले बल केवल भाटा (little tide) उत्पन्न कर सकते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि इन क्षेत्रों में प्रभावोत्पादक ज्वार-भाटा निकटवर्ती (neighbouring) क्षत्रों में उत्पन्न ज्वारभाटा के प्रत्यक्ष रूप से उनके फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

अगर चित्र ८४ के साथ इसकी तुलना की जाय तो महान् अन्तर दीख पड़ता है। उत्तरी अटलांटिक में निष्पंदीय रेखा लेसर ऐंटिलिज (Lesser Antilles) से उत्तर-पूर्व दिशा की ओर जाती है तथा फ्लोरिडा और न्यूफाउण्डलैंड के बीच उत्तरी अमेरिका का तट दोलन प्रणाली के एक छोर पर रहता है। यह ज्ञात तथ्यों के अनुरूप इस दृष्टि से है कि तट पर ज्वारभाटा की अवधि सर्वत्र प्रायः समकालीन (contemporaneous) रहती है, तथा लेसर ऐंटिलिज के निकट ज्वारभाटा का विस्तार नितान्त सूक्ष्म होता है। प्रसंगवश यह केवल ऐसे द्वीपों में, अथवा यहाँ तक कि और अधिक पृथक् द्वीपों में ही हम खुले महासागर के ज्वारभाटा के चढ़ाव तथा उतार की माप प्रत्यक्ष-रूप से ले सकते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है (remarked) कि टेहिटी में ज्वारभाटा सूर्य का अनुसरण करते हैं तथा ज्वार आधीरात और मध्याह्न के समय होता है। चित्र ८७ में यह द्वीप अर्द्ध-दैनिक ज्वारभाटा में निष्पंदीय रेखा के सन्निकट दीख पड़ता है जिसका तात्पर्य यह होता है कि टेहिटी में ये ज्वारभाटा छोटे होते हैं। इसलिए वास्तविक ज्वारभाटा सौर ज्वारभाटा होता है जिसकी अवधि १२ घंटे की होती है।

दूसरा सुधार (refinement) है पृथ्वी का घूर्णन, जिस पर अब विचार करना आवश्यक है। इसका प्रभाव (effect) अचल तरंग (standing waves) के दोलन में वलयन की गति देना है जो निष्पंदीय रेखा पर दोलित होने के बदले एक बिन्दु के चारों ओर घूम सकती है; इस बिन्दु को ऐम्फीड्रोमिक बिन्दु कहते हैं। यह स्पष्टतः चित्र ८७ में प्रदर्शित योजना में बहुत हद तक परिवर्तन ला देता है। और संसार के इस प्रकार के मानचित्र का प्रदर्शन करने के लिए प्रयत्न करना वस्तुतः असामयिक है। उत्तर सागर जसे छोटे समुद्रों में ज्वारभाटा के होने के कारण जानने में अनुभूत कठिनाइयाँ अत्यधिक गहन हैं और वर्तमान समय में हिन्द तथा प्रशान्त महासागरों की समस्या की प्रासंगिक जानकारी नहीं है।

उत्तरी अटलांटिक के विषय में अपेक्षाकृत अच्छी जानकारी है, तथा स्टरनेक (Sterneck) के मतानुसार यह आधुनिक दृष्टिकोण का चित्र ८८ में सुन्दर निरूपण होता है। यह पता चलेगा कि इससे प्राचीन प्रगामी तरंग-सिद्धान्त के साथ-साथ हेरिस के संसार के विषय में अत्यधिक साधारण योजना के जबर्दस्त विरोध में होगा। संसार के बहुत से भागों में ज्वारभाटा विषयक ज्ञान की अपर्याप्तता के लिए छूट देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त में समस्या की तह में पहुँचने के लिए अपेक्षाकृत कहीं अधिक उचित आधार है। प्रगामी तरंग सिद्धान्त के आधार पर कठिनाइयों तथा अपवादों (exceptions) की या तो विभिन्न दिशाओं से आने वाली तरंगों के

ओर मुड़ कर स्पेन एवं एजोर्स के बीच से चलती हैं। इनमें से आवर्त निकलकर बिस्के की खाड़ी में जाते हैं। इस क्षेत्र में अधिक स्पष्ट धाराएँ नहीं हैं किन्तु जल में दक्षिण की ओर जाने की साधारण गति है। इसमें से कुछ जल तो सतह से होकर भूमध्य सागर में चला जाता है, लेकिन अधिकांशतः यह उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाता है।

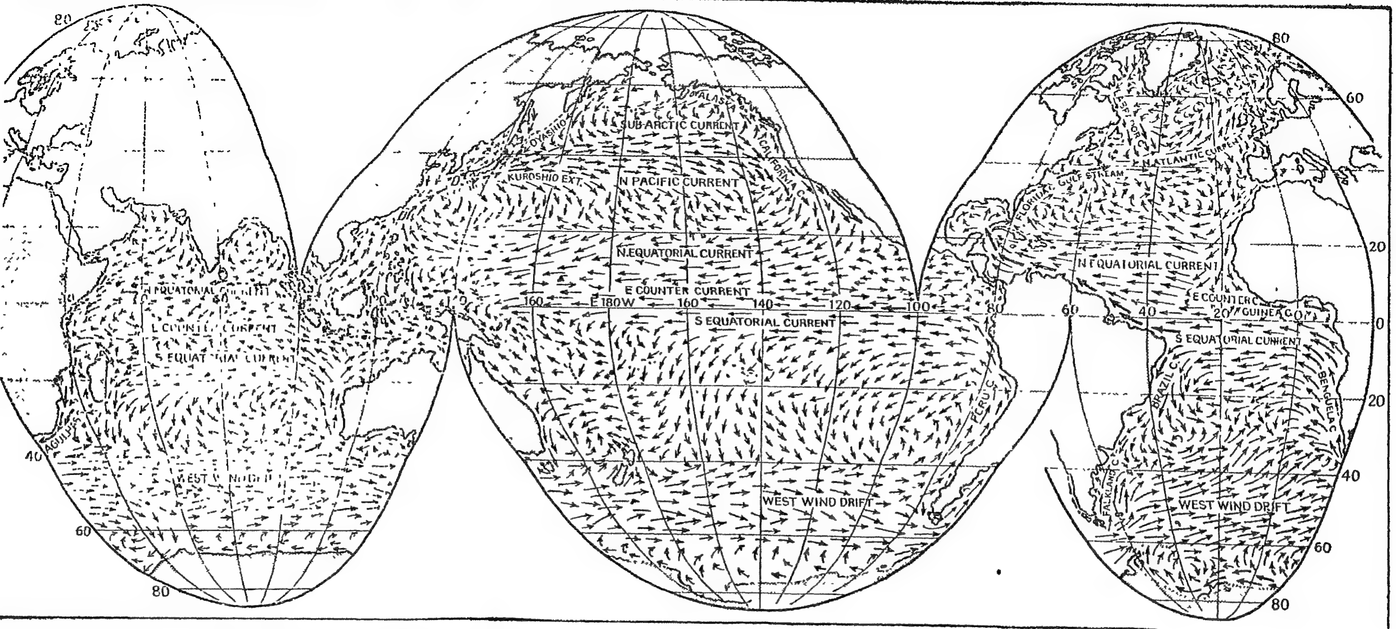
गल्फ़ स्ट्रीम का वह भाग जो नॉर्वे के मिलता है, नॉर्वेजियन धारा के नाम से पुकारा जाता है; इसके पश्चिमी भाग में बहुत से आवर्त्त पाये जाते है जो या तो अग्रगामी या गतिशील हो सकते हैं। और आगे उत्तर जाने पर यह धारा दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है जिनमें एक शाखा चलकर बेरेन्ट्स सागर में प्रवेश करती है और दूसरी शाखा स्वालबार्ड (Svalbard) प्रायद्वीप की ओर जाती है। ग्रीनलैंड के पूर्वी तट पर एक धारा दक्षिण की ओर बहती है जो निम्न ताप तथा निम्न खारापन वाले जल से बनती है; इसकी अधिकांश शाखाएँ डेनमार्क की प्रणाली से होकर जाती हैं किन्तु एक छोटी शाखा दक्षिण-पूर्व की ओर मुड़ती है जो आगे चलकर पूर्वी आइसलैंड-आर्कटिक धारा बन जाती है और अन्त में आवर्तों के साथ मिल जाती है। ये आवर्त्त नॉर्वेजियन धारा के पश्चिम में पाये जाते हैं जिनका जिक्र पहले ही किया जा चुका है।

लैब्राडोर समुद्र में पश्चिमी ग्रीनलैंड धारा ग्रीनलैंड के तट से होकर उत्तर की ओर बहती है किन्तु इसके विपरीत लैब्राडोर धारा प्रमुख स्थली तट पर दक्षिण की ओर बहती है। डेविस प्रणाली (Davis Strait) के निकट पहली धारा का कुछ भाग मुड़कर लैब्राडोर की धारा से मिलता है किन्तु इसका शेष भाग बेफिन की खाड़ी की ओर जाता रहता है। इन दो प्रमुख धाराओं के बीच आवर्त्तों का एक क्षेत्र है जिसकी जानकारी अत्यल्प है। बहिर्मुखी ठंडी लैब्राडोर धारा आगे या पीछे नीचे चली जाती है, और इसके जल का अटलांटिक के अधिक गहरे भाग के संचार में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अटलांटिक के भूमध्यरेखीय क्षेत्रों में ५० से १५० मीटर की गहराई के नीचे एक बड़ा पार्थक्य (discontinuity) है। इसी क्षेत्र में पूर्व की ओर बहनेवाली विरुद्ध भूमध्यरेखीय धारा का प्रादुर्भाव होता है। यह धारा उस ढाल के प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती है जो उत्तरी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक हवाओं के अविराम महासागर के अमरीकी भाग की ओर जल ले जाते रहने के फलस्वरूप बनती है। यह प्रदर्शित किया गया है कि ढाल प्रत्येक १००० किलोमीटर में करीब ४ सेंटीमीटर रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विरुद्ध धारा पार्थक्य के नितान्त ऊपर रहती है; अतः इसमें सतह के जल की केवल एक पतली तह रहती है। यह धारा सबसे अच्छी तरह उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु रहने पर प्रादुर्भूत होती है।

भूमध्य रेखा के दक्षिणी में धाराओं का एक दूसरा संवृत (closed) क्रम है। दक्षिण तथा दक्षिणी-

(prevailing) हवाएँ सतह वाले जल की तहों को तट से दूर ले जाती है जिससे नीचे से अपेक्षाकृत अधिक ठंडा जल तेजी से ऊपर चला आता है, किन्तु यह जल केवल साधारण गहराई से आता है। भूमध्य रेखा के निकट पहुँचने पर बेंगुएला की धारा तट से अधिकाधिक अपसृत (diverge) हो जाती है तथा यह



चित्र ९१—फरवरी-मार्च में महासागरों की सतह पर की धारायें। (Sverdrup के अनुसार)।

वास्तव में दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा का उत्तरी भाग बन जाती है। जैसा कि बताया गया है, यह धारा दो भागों में बँट जाती है। इसका कुछ जल भूमध्य रेखा को पार कर उत्तरी अटलांटिक महासागर में चला जाता है, और शेष भाग ब्राजील तट के निकट ब्राजील की धारा के रूप में दक्षिण की ओर मुड़ जाता है। किन्तु आगे दक्षिण जाने पर निम्न ताप तथा कम खारापन वाली फॉकलैंड की धारा उत्तर की ओर लगभग ३०° दक्षिण अक्षांश तक चलती है। यह संचार पछुवा हवाओं द्वारा दक्षिणी अटलांटिक धारा के पूर्व की ओर खींची जाने के कारण पूरा हो जाता है। यह एक छिछली धारा है और पूर्णरूप से ऐंटार्कटिक के मध्य स्तरीय जल के ऊपर चलती है। इसकी तथा अन्य अधिक गहरे जल की गति का वर्णन नीचे दिया जाता है। इसलिए उत्तरी और दक्षिणी अटलांटिक दोनों में प्रतिचक्रवातीय धारा के क्रम हैं, और इस प्रकार उत्तरी अटलांटिक में परिवेष्टिक सारगासो समुद्र बनता है। इस समुद्र में बहती हुई ~~सरगासम~~ (Sargassum) नामक घास (weed) प्रायः प्रचुर परिणाम में मिलती है। इस धारणा के लिए कोई आधार नहीं है कि घास (weed) की मात्रा तथा मोटाई जहाज की गति को अवरुद्ध कर सकती है, किन्तु फैनी उल्सटन (Fanny Wolston) नामक एक छोटा जहाज सन् १८९१ में सारगासो समुद्र के उत्तरी भाग में छोड़ दिया गया था, जिसे देखने से मालूम पड़ता है कि करीब तीन वर्षों में यह उस सम्पूर्ण क्षेत्र के चारों ओर चक्कर लगा चुका है। दूसरे महासागरों में इस प्रकार की विशेषता (phenomenon) नहीं पायी जाती है। क्रुमेल इस बात को मानते हैं कि पश्चिमी द्वीप समूह में घास की तहों का पाया जाना (घास का महत्वपूर्ण स्रोत), उन द्वीपों के चारों ओर तेज धाराओं का बहना तथा गल्फ स्ट्रीम का उस क्षेत्र से होकर बहना आदि घटनाओं का सुन्दर संयोग ही है जो यहाँ पर वाली घास के लिए भूमंडल में अन्यत्र उपजने वाली घास की अपेक्षा अधिक उपयोगी है।

प्रशान्त महासागर :—प्रशान्त महासागर में भी भूमध्य रेखा के उत्तर उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा है जिसमें कैलिफोर्निया की धारा से तथा इसके उत्तरी खण्ड के पूर्वी और पश्चिमी भागों से जल आकर मिलता है (चित्र ९१ देखिए)। इसके विषय में जहाँ तक जानकारी है, उससे यह ज्ञात है कि यह चौड़ी और पर्याप्त गहरी धारा है जिससे महासागर के पश्चिमी छोर के पास से शाखाएँ निकल कर उत्तर और दक्षिण की ओर जाती हैं। फिलीपाइन द्वीप से दूर यह धारा स्पष्ट रूप से उत्तर तथा दक्षिण की ओर जाने वाले स्रोतों के रूप में विभक्त हो जाती है। उत्तर की ओर जानेवाली शाखा शीघ्र ही क्यूरोशिओ (Kuroshio) का भाग बन जाती है (प्रशान्त महासागर का गल्फ स्ट्रीम)। क्यूराशिवो वस्तुतः एक ऐसी धारा है जो फारमोसा से करीब ३५° उत्तर अक्षांश तक जाती है। प्रत्यक्ष रूप से उष्ण जल-धारा के रूप में इसका आगे की ओर बहना जारी रहता है जो क्यूरोशियो प्रसरण (Kuroshio Extension) के नाम से विख्यात है। करीब १६०° पूर्व देशान्तर तक इसका अनुमार्गण (traced) किया जा सकता है जहाँ से १५०° पश्चिम देशान्तर तक उत्तरी प्रशान्त धारा के रूप में बहना जारी रहता है। वहाँ इससे शाखाएँ निकलकर दक्षिण की ओर जाती हैं। सुशीमा (Tsushima) धारा भी क्यूरोशिओ का ही एक भाग है तथा यह एक उष्ण धारा है जो जापान के पश्चिमी तट पर जापान सागर में चलती है। क्यूरोशिओ के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में उत्पन्न होने वाले गंभीर भँवर (swirl or eddies)

विरुद्ध क्यूरोशिश्रो धारा कहलाते हैं। क्यूरोशिश्रो क्रम तथा गल्फ स्ट्रीम के बीच का क्रम स्पष्ट है, किन्तु यह मनोरंजक विषय है कि जहाँ एक श्रोर क्यूरोशिश्रो तथा फ्लोरिडा की धारा के जल का ताप बहुत हद तक बराबर है, वहीं फ्लोरिडा की धारा (पहली धारा) ३५·००$^\circ/_{00}$ की अपेक्षा १·५$^\circ/_{00}$ अधिक खारा है यानी इसका खारापन ३६·५०$^\circ/_{00}$ है।

क्यूरोशिश्रो के क्रम के उत्तर में एल्यूशियन (Aleutian) अथवा उप-आर्कटिक धारा है जो पूर्व की ओर बहती है। यह जल क्यूरोशिश्रो तथा कमचटका के निकट दक्षिण की ओर बहनेवाली धारा तथा पुनः पूर्व की ओर मुड़ जाने वाली ठंढी जल-धारा का मिश्रण प्रतीत होता है। अमेरिका के तट पर पहुँचने के पूर्व यह एल्यूशियन धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है जिनमें एक शाखा अलास्का की धारा के रूप में उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ जाती है जो दक्षिण की ओर से आने के कारण आपेक्षतया उष्ण रहती है और दूसरी शाखा अमेरिका के तट का अनुसरण करती है तथा कैलिफोर्निया की धारा का भाग बन जाती है जिसकी तुलना पेरू की धारा के साथ की जा सकती है (नीचे)। वसंत तथा ग्रीष्म के प्रारम्भ में उत्तरी-उत्तरी-पश्चिमी हवाएँ कैलिफोर्निया से बहुत दूर हटकर बहती हैं और ये जल के नीचे से ऊपर आने (upwelling) में मदद पहुँचाती हैं जो जुलाई तक जारी रहता है। हाल ही में यह देखा गया है कि इस प्रकार जल का ऊपर आना विशेषकर खास-खास स्थानों (localities) में होती है (अर्थात् ३५° उत्तर तथा ४१° उत्तर) जहाँ से शीतल जल महासागर की ओर आता है। इन स्थानों के बीच उष्णतर जल तटों की ओर चलता है। इसके फलस्वरूप आवर्त्तों का क्रम बनता है। किसी भी दशा में नीचे से ऊपर आने वाला जल केवल लगभग २०० मीटर नीचे से आता है। जिस ऋतु में जल नीचे से ऊपर आता है, उस समय जल की उप-सतह अर्थात् २०० मीटर नीचे से जल की एक धारा तट से होकर चलती है। जब जुलाई में जल का नीचे से ऊपर आना रुक जाता है तब धाराओं का सामान्य रूप शीघ्र ही पुनर्स्थापित हो जाता है तथा सतह पर उत्तर की ओर चलने वाली विशुद्ध धारा (Davidson Current) का प्रादुर्भाव होता है। यह धारा उप-सतह वाली विशुद्ध धारा के अतिरिक्त चलती है जो इसके उत्पन्न हो जाने पर भी चलती रहती है। इसलिए प्रधान अन्तर यह है कि जब जल नीचे से ऊपर आता है, तब सतह पर चलने वाली विरुद्ध धारा लुप्त हो जाती है।

प्रशान्त महासागर के दक्षिणी भाग में अन्य किसी भी धारा की अपेक्षा पेरू की धारा का अनुसंधान अधिक पूर्णता के साथ हुआ है। यह दक्षिण में उत्पन्न होती है जहाँ उप-ऐंटार्कटिक का पूर्व की ओर बहने वाला कुछ जल स्थल के कारण उत्तर की ओर मुड़ जाता है। इस धारा की कोई अधिक स्पष्ट पश्चिमी सीमा नहीं है; किन्तु प्रायः ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसकी पश्चिमी सीमा तट से करीब ६०० किलोमीटर दूर ३०° दक्षिण अक्षांश में है। भूमध्य रेखा से कुछ दक्षिण जाने पर यह पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। इस धारा के तटीय भाग से सम्बद्ध जल साधारण गहराइयों से स्पष्ट रूप से नीचे से ऊपर आता है। कैलिफोर्निया से सुदूर की भाँति वहाँ भी अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति से जल नीचे से ऊपर आने तथा तट से सुदूर में भँवर के आविर्भूत होने वाले क्षेत्र हैं। पेरू की तटीय धारा में कुछ सामयिक मनोरंजक परिवर्तन होते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में यह धारा भूमध्यरेखा को पार कर

आगे बढ़ती है और साधारणतया भूमध्यरेखा विरुद्ध धारा के साथ इसकी अभिविन्दुता होती है (q. v.) ; शरद काल (winter) में यह धारा कुछ दक्षिण की ओर विस्थापित हो जाती है, और इसका कुछ जल जो उष्ण तथा कम खारा रहता है इक्वेडर तट पर दक्षिण की ओर बहती है। यह एल नीनो (El Niño) कहलाती है, और सामान्यतः यह भूमध्य रेखा से कुछ ही अंश दक्षिण तक जाती है। फिर भी, यह प्रायः लगभग १२° दक्षिण अक्षांश तक पहुँच सकती है और इसके पहुँचने में घातक परिणाम उपस्थित होते हैं। मछलियाँ तथा प्लेंकटन अपरिमित मात्रा में नष्ट हो जाती हैं और एक प्रकार के वैष्ठ उत्पन्न करने वाले (guano-producing) पक्षियों का भोजन नष्ट हो जाता है। इसके साथ वर्षा की पट्टी का प्रव्रजन (migration) के कारण सहचरण होता है तथा अर्द्ध सूखे या सूखे प्रदेशों में सामान्यतः बड़ी-बड़ी बाढ़ें आ जाती हैं।

अन्त में उनके तट से हट जाने पर पेरू की धारा का जल दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाता है जो अटलांटिक महासागर की दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा के समान है। प्रशान्त महासागर के दक्षिणी भाग की अन्य धारा के विषय में बहुत कम मालूम है, यद्यपि पेरू की धारा के पश्चिमी तट से ९०० किलोमीटर या इससे भी अधिक दूर खुले महासागर में जल दक्षिण की ओर गतिशील दीख पड़ता है। महासागर का पश्चिमार्द्ध तो और भी अधिक अनिश्चित है। धाराओं के विषयों की दृष्टि से पुराने मानचित्र अतिशय सरल हैं तथा दक्षिणी प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग की विभिन्न तिथियों पर बने आधुनिक मानचित्र की तुलना से इस बात का बड़े सुन्दर ढंग से निदर्शन होगा। ४०° और ५०° दक्षिण अक्षांशों के बीच पछुवाँ हवाओं के अपवहन (drift) का जिक्र दक्षिणी महासागर वाले प्रकरण में किया गया है।

प्रशान्त महासागर के भूमध्यरेखीय भागों में उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्यरेखीय धाराओं के बीच पूर्व की ओर चलने वाली विरुद्ध धारा है। यह प्रशान्त महासागर में बहुत स्पष्ट रहती है और सालभर दृष्टिगोचर होती है। यह सर्वदा भूमध्य रेखा के उत्तर में रहती है, किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में यह उत्तर में दूरतम चली जाती है। अटलांटिक में अपने प्रतिरूप (counterpart) की भाँति, यह महासागर में जल के जमाव होने के फलस्वरूप उत्पन्न होती हुई प्रतीत होती है। यह आश्चर्य का विषय है कि यह धारा अटलांटिक की धारा की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो क्योंकि प्रशान्त में कोई अविछिन्न पश्चिमी अवरोधक (barrier) नहीं है। न्यूगीनी के उत्तर में दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा उस द्वीप के उत्तरी तट का अनुसरण करती है और इसलिए उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा के साथ करीब ५° उत्तर अक्षांश जो विरुद्ध धारा का उत्पत्ति-स्थान है, इसकी अभिविन्दुता होती है। इसके विपरीत दिसम्बर से लेकर फरवरी तक उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा से एक शक्तिशाली शाखा फिलीपाइन्स से न्यूगीनी तक जाती है, और दूसरी शाखा, विरुद्ध धारा के रूप में पूर्व की ओर जाती है। अमरीकी तट पर भी कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि साल के अधिकांश भाग में ५° और ६° उत्तर अक्षांशों के बीच विरुद्ध भूमध्यरेखीय धारा सबसे अधिक स्पष्ट रहती है, और इसका अधिकांश जल उत्तर-पश्चिम की ओर उन्मुख हो जाता है। इस क्षेत्र में होने वाले स्थानीय परिवर्तन हवा की दिशा के परिवर्तनों से संबद्ध हैं।

हिन्द महासागर :—हिन्द महासागर के दक्षिणी भाग में एक संचार (circulation) होता है जो दक्षिणी अटलांटिक के संचार से बहुत मिलता-जुलता है। दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा दक्षिण अफ्रीका के उत्तर में पूर्व से पश्चिम की ओर चलती है; उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में, जब दक्षिणी पूर्वी वाणिज्य हवाओं का भूमध्य रेखा के पार दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवाओं के रूप में वस्तुत: प्रत्यक्ष रूप से बहना जारी रहता है, तब इसका वेग अधिकतम पश्चिम की ओर हो जाता है। इस ऋतु में आस्ट्रेलिया के उत्तर में पश्चिम की ओर बहने वाले जल से भी इसमें कुछ बल आ जाता है। महासागर के अफ्रीकी भाग में पहुँचने पर दक्षिणी भूमध्य रेखीय धारा दक्षिण की ओर मुड़ जाती है जिससे अगुलहास की तेज धारा का प्रादुर्भाव होता है जो वस्तुत: तट से १०० किलोमीटर से अधिक दूर नहीं जाती। अफ्रीका के दक्षिणी छोर वाले अक्षांश के पास यह धारा पूर्व की ओर मुड़ जाती है और (आगे चलकर) सम्पूर्ण महासागर पर बहने वाली पछुआ हवा के अपवहन (West Wind Drift) के भाग का निर्माण करती है। दक्षिणी गोलार्द्ध के ग्रीष्म में इस धारा का कुछ भाग आस्ट्रेलिया तक पहुँचने के पूर्व उत्तर की ओर मुड़ती हुई मालूम पड़ती है (चित्र ६१ देखिए) और आस्ट्रेलिया के दक्षिणी तट पर पश्चिम की ओर बहने वाली धारा इसमें आकर मिल जाती है। शरद् ऋतु में इस धारा का अधिकांश भाग आस्ट्रेलिया के दक्षिण से होकर चलता है। हिन्द महासागर के अधिकांश पुराने मानचित्रों से इस बात का पता चलता है कि यह धारा लिउविन अन्तरीप से बहुत दूर ही में स्पष्ट रूप से दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है, किन्तु इधर हाल के कार्य से पता चलता है कि पश्चिमी तट के पास कोई भी तेज धारा नहीं चलती; तटवर्ती धारा को मन्द तथा परिवर्तनीय धारा कहते हैं जो शीत ऋतु में दक्षिण की ओर और ग्रीष्म में उत्तर की ओर चलती है।

हिन्द महासागर के उत्तरी भाग में एकान्तर (alternating) मौसमी हवाओं के फलस्वरूप शीत ऋतु तथा ग्रीष्म के बीच में धाराओं का पूर्णरूप से उत्क्रमण (reversal) होता है। जब मौसमी हवाएँ एशिया से चलती हैं तब उत्तरी भूमध्य-रेखीय धारा का विकास सबसे अच्छी तरह होता है, फलत: उस समय विरुद्ध भूमध्य-रेखीय धारा ७° दक्षिण अक्षांश के पास चलती है। दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवा के चलने के समय, विशेषकर अगस्त और सितम्बर महीने में एक धारा पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है जिससे उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा पूर्णरूप से विलुप्त हो जाती है। चूँकि यह धारा भूमध्यरेखा के लगभग १०° दक्षिण से चलती है, इसलिए, यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, भूमध्यरेखा के दक्षिण का अधिकांश जल इसे पार करता है और साथ ही अफ्रीकी तट के पास, विशेषकर सुमालीलैंड के तट के पास, अत्यधिक जल नीचे से ऊपर आता है। वर्ष के इस समय में इसमें कोई विरुद्ध भूमध्यरेखीय धारा नहीं चलती।

दक्षिण महासागर :—यह महासागर एक अर्थ में अन्य तीन महासागरों का भाग है। पछुवा हवा का अपवहन (सम्पूर्ण) भूमण्डल के चारों ओर अविछिन्न रूप से होता है, किन्तु महादेशों और सामयिक या ऋतु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण इसकी दिशा में भी कुछ झुकाव उत्पन्न हो जाता है। फॉकलैंड की धारा इसी की शाखा है : न्यूजीलैंड के दक्षिणी द्वीप के पूर्वी तट पर इसके अनुरूप एक धारा उत्तर की ओर चलती

है। यथार्थतः परिध्रुवीय धारा (Circumpolar Current) जो ऐंटार्कटिक अभिबिन्दुता के सन्निकट चलती है, उसे दक्षिणी उप-ऐंटार्कटिक प्रदेश की पछुवा हवा के शेष भाग से पृथक् मानना चाहिए। यह सरलता से माना जा सकता है अर्थात् यह प्रशान्त महासागर में इस अपवहन का उत्तरी भाग सर्वांशतः प्रशान्त महासागरीय घटना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दक्षिण महासागर की कोई परिदृढ़ (rigid) उत्तरी सीमा नहीं है (चित्र ७२ देखिए)।

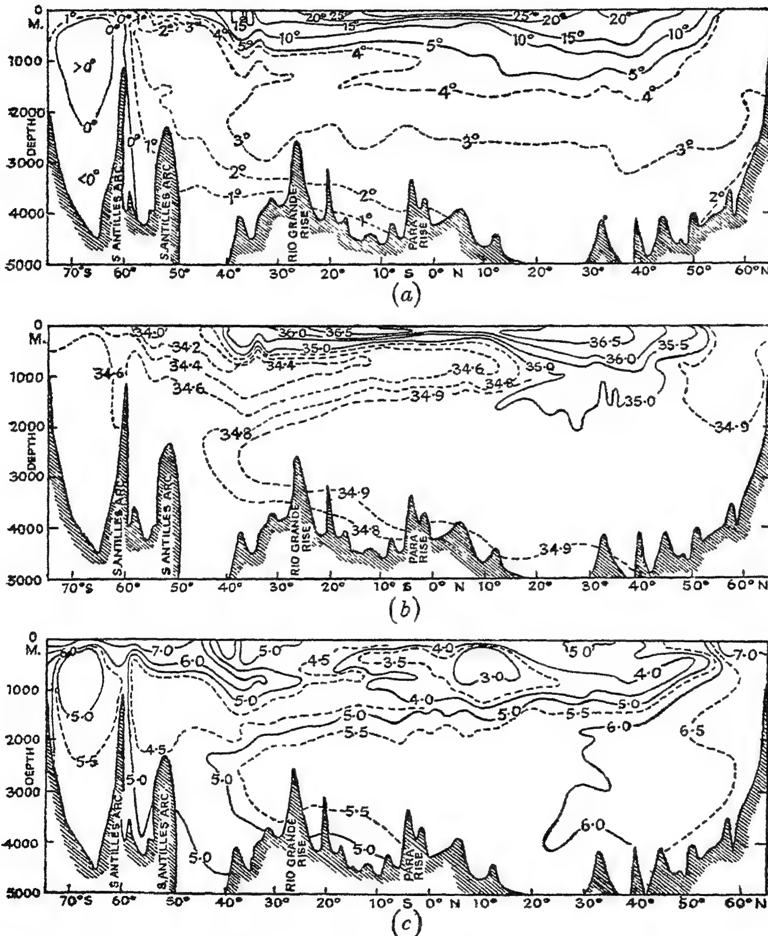
ऐंटार्कटिका महादेश के ठीक बाद ही जल का बहाव स्थानीय रूप से पश्चिम की ओर होता है, विशेषकर वेड्डेल सागर के क्षेत्र में। यह वहिर्मुखी हवाओं के कारण होता है, तथा इसमें बायीं ओर का झुकाव दक्षिणी गोलार्द्ध की विशेषता है। पूर्व और पश्चिम की ओर बहने वाली धारायें अपबिन्दुता (divergence) होती है जो महादेश के सन्निकट में होती है और यह १०० मीटर की गहराई वाले उच्च ताप तथा उच्च खारापन वाले जल द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। महादेश के सन्निकट उप उष्ण कटिबन्धीय तथा ऐंटार्कटिक अभिबिन्दुओं और अपबिन्दुता के होने का अर्थ यह होता है कि जल में जटिल अनुप्रस्थ गतियाँ होती हैं जो पूर्व की ओर के साधारण बहाव पर अध्यारोपित (superimposed) होती है। इस प्रकार के जल में बने ढाँचे इस बात के द्योतक हैं कि ४५° और ६३° दक्षिण अक्षांशों के बीच गहराई वाला जल लगभग ३०० से २०० की गहराई से ऊपर आता है और अनुमानतः यह सतह की वास्तविक तह में योग देता है जो इतना अधिक खारा है कि काफी वर्षा तथा प्रचुर मात्रा में बर्फ के पिघलने वाले क्षेत्र में प्रादुर्भूत नहीं हो सकता। चूँकि अधिक जल परिध्रुवीय हवाओं से उत्तर की ओर मुड़ जाता है, इसलिए संतुलन को बनाए रखने के लिए गंभीर जल के बहाव का दक्षिण की ओर होना आवश्यक है। विशेषकर वेड्डेल सागर में महासागरीय तल की ओर अतिशीलन जल की धारा नीचे की ओर जाती है।

ऐंटार्कटिक की अभिबिन्दुता में धारा और भी नीचे जाती है, किन्तु इस क्षेत्र में आपेक्षयता कम ताप तथा कम खारापन वाला जल मिला रहता है। इसके अधिकांश भाग से ऐंटार्कटिक के अन्तस्थ जल का निर्माण होता है जो मिश्रण के परिणाम स्वरूप कुछ परिवर्तित हो जाता है। फिर भी इसका सभी महासागरों में (नीचे देखिए) ऊपरी और निचली (समुचित) निश्चित सीमाओं के बिना भी सरलता से पता चल जाता है।

यद्यपि यह वास्तविक दशाओंका अतिसरल कथन है तथापि यह इस बात को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि दक्षिण महासागर में जलराशि की समयरहित परिध्रुवीय [illegible]। चूँकि इस क्षेत्र से जल सतह और तल—दोनों पर उत्तर की ओर बहता है, और चूँकि मध्य स्तरों पर जल इसमें अन्दर की ओर आता है अतः वहाँ जल का नवकरण अवश्य होगा भले ही यह विधि अत्यधिक मन्द क्यों न हो।

महासागर की उप-सतह के जल का संचार :—इस बात की पहले अच्छी तरह चर्चा हो चुकी है कि ताप तथा खारापन का सम्बन्ध (समानुपात) सतह के नीचे वाली जलराशियों को पहचानने के लिए पर्याप्त है। प्रस्तुत प्रयोजन के लिए इनमें ऑक्सीजन की मात्रा जोड़ देनी चाहिए। आक्सीजन प्रायः सतह पर अधिक रहता

है, किन्तु नीचे तल में गये हुए जल में कम, अतः सामुद्रिक जीवों को इससे ऑक्सीजन ग्रहण करने का समय मिल जाता है।



चित्र ९२—(a) ताप, (b) खारापन और (c) आक्सीजन का वितरण दिखाने वाले, पश्चिमी अटलांटिक महासागर के उर्ध्वकाट (Vertical section)। (Wüst के अनुसार)

महासागरों के अन्दर प्रवहमान सभी जल एक समय अवश्य ही सतह पर रहता है, उसके बाद यह नीचे जाता है और तत्पश्चात् पार्श्विक रूप से फैल जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वे क्षेत्र जहाँ जल नीचे जाता है, उप-आर्कटिक तथा

ऐंटार्कटिक में विशेषकर अटलांटिक महासागर के इन भागों में पाये जाते हैं जिसमें भूमध्यसागर तथा लाल सागर से तनिक भी सघन जल जाकर नहीं मिलता। यह मानना पड़ेगा कि हमारे महासागर विषयक ज्ञान में आज भी बहुत बड़ी त्रुटि है और आजतक हम केवल अटलांटिक महासागर के विषय में ही सर्वाधिक जानकारी प्राप्त कर सके हैं। अटलांटिक महासागर के उत्तरी खड्ड तथा तल से जल दक्षिण की ओर जाता है और भूमध्यसागर से जल ऊपरी बहाव के रूप में गंभीर जल के ऊपर भाग में जाकर मिल जाता है। खड्ड और तल दोनों के जल में आक्सिजन की मात्रा जैसे-जैसे वे अपने उत्पत्ति स्थान से दूर हटते जाते हैं वैसे-वैसे कम होती जाती है। ऐंटार्कटिक के तल का जल महासागर के तल पर उत्तर की ओर बहता है किन्तु तलाकृति अटलांटिक के पश्चिमी बेसिन में जल के प्रवेश करने में उपयोगी सिद्ध होती है (करीब ३५° उत्तर अक्षांश में), ऐंटार्कटिक तल के इस जल पर उत्तरी अटलांटिक खड्ड का जल बहता है जो ऐंटार्कटिक के मध्य स्तरीय जल के नीचे रहता है। खड्ड वाले जल का खारापन तथा ताप जिन दो प्रकार के जल के बीच में यह बहता है, उनकी अपेक्षा अधिक रहता है।

प्रधान जल-संचार स्थानीय जल-संचार भी कार्य करता हुआ दीख पड़ता है। प्रेक्षणों से पता चलता है कि ऐंटार्कटिक तल तथा मध्य का अधिक जल उसी महादेश में कुछ हद तक दक्षिण की ओर प्रवहमान खड्ड का जल जो उत्तरी अटलांटिक की उत्पत्ति का है, लौटकर चला आता है। तदुद्भूत जल में उत्तरी अटलांटिक के खड्ड के जल की अपेक्षा कम खारापन तथा कम ताप रहता है, किन्तु यह ऐंटार्कटिक महादेश के चारों ओर चक्कर लगानेवाले जल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संघटक भाग है।

चूँकि हिन्द महासागर में आर्कटिक वाला क्षेत्र नहीं पड़ता है, इसलिए स्पष्टतः खड्ड वाले जल में अत्यल्प दृष्टिगोचर होनेवाली दक्षिण की ओर (जाने) की गति रहती है। और दक्षिण की ओर की जो कुछ गति रहती भी है वह प्रधानतः लाल सागरीय उत्पत्ति वाली मालूम पड़ती है। महासागर के दक्षिणी भाग में ऐंटार्कटिक के मध्य स्तरीय तथा तल वाले---दोनों प्रकार के जल को पहचाना जा सकता है। इन दोनों के बीच वाला खड्ड का जल कम से कम अंशतः तो अटलांटिक महासागर से आता है। ऐंटार्कटिक के निकट भी एक प्रकार का जल-संचार पाया जा सकता है जो दक्षिणी अटलांटिक के जल -संचार के सदृश रहता है।

परिध्रुवीय जल-संचार का तात्पर्य यह होता है कि अटलांटिक तथा हिन्द महासागरों से जल प्रशान्त महासागर में आता है। फिर भी मिश्रण हो जाता है और न्यूजीलैंड के क्षेत्र में उनके उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा इनमें खारापन बहुत ही कम रहता है। इसके अतिरिक्त प्रेक्षणों से पता चलता है कि प्रशान्त महासागर में लगभग ४०° दक्षिण अक्षांश के पास सर्वाधिक खारापन तल के निकट रहता है न कि दूसरे महासागरों की भाँति खड्ड वाले जल में। ऐसा सुझाव रखा जाता है कि अन्य महासागरों की भाँति इसमें मध्य स्तरीय तथा तल वाले जल में उत्तर की ओर की गति रहती है और खड्डवाले जल में दक्षिण की ओर। इसके अतिरिक्त इसमें पश्चिम से पूर्व की ओर का बहाव रहता है जिसका अर्थ यह होता है कि प्रशान्त महासागरीय खड्ड वाला कुछ जल अटलांटिक तथा हिन्द महासागरों से आता है जो मिश्रण के कारण पतला हो जाता है जिससे इसका अधिकतम खारापन नष्ट हो जाता है।

प्रशान्त महासागर के ऊत्तरी भाग में खड्ड के जल का निर्माण नहीं होता। इसका अर्थ यह होता है कि उत्तरी प्रशान्त महासागर के अधिक गहरे भागों में दक्षिणी प्रशान्त महासागर के अनुरूप उत्तरी भागों के सदृश जल पाया जाता है। इस महासागर में भूमध्य रेखा के आरपार खड्ड वाले जल का आने-जाने के विषय में जो भी थोड़ा मालूम है उससे यही पता चलता है कि प्रशान्त की पश्चिमी सीमा पर उत्तर की ओर सूक्ष्म गति रहती है और सम्भवतः पूर्व में मन्द प्रत्यावर्तनीय प्रवाह। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रशान्त महासागरी खड्ड का जल गुण की दृष्टि से नितान्ततः एक-सा है।

पाँचवाँ अध्याय

महासागरीय तल के निक्षेप

भूजात तथा तलप्लावी निक्षेप (Terrigenous and pelagic deposits):—ऊँचे-नीचे तट के निकट वाले भाग को छोड़ समुद्र का तल कदाचित् ही ठोस चट्टान से बना होता है। जो चट्टान निस्संदेह नीचे में वर्तमान रहती है, वह प्रायः महासागरीय तल पर एकत्रित ढीले द्रव्य की तह के नीचे ढँकी रहती है।

महादेशीय छज्जा तथा ढाल पर वाले निक्षेप और गंभीर सामुद्रिक मैदान एवं खड्डों के निक्षेप में बड़ा और साधारण अन्तर है। प्रथम प्रकार के निक्षेप में प्रधानतः वह द्रव्य रहता है जो स्थल से आता है, अतः इन्हें भूजात निक्षेप (terrigenous deposits) कहते हैं। और दूसरे प्रकार के निक्षेप को तलप्लावी निक्षेप (pelagic deposits) कहते हैं जो अधिकांशतः जानवरों के कर्पर तथा कंकालों (shells and skeletons) और पौधों के अवशेषों से जो जीवितावस्था में जल की सतह पर तैरते थे, बने होते हैं।

किन्तु यह अन्तर निरपेक्ष नहीं है। महादेशीय छज्जा तथा ढाल वाले निक्षेप पूर्णतः भूजात उत्पत्ति के नहीं है और न तलप्लावी निक्षेप ही पूर्णतः जानवरों एवं पौधों के अवशेषों से बने हैं क्योंकि उदाहरणार्थ पहले से कर्परतट और प्रवाल श्रृंखला पायी जाती है। इसके विपरीत तलप्लावी निक्षेप के अन्तर्गत सर्वाधिक विस्तृत रूप से फैले या पाये जानेवाले निक्षेपों में से एक प्रकार का निक्षेप आता है जिसमें प्रधानतः ज्वालामुखी उद्गार वाले पदार्थ पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इनके बीच सीमा (demarcation) की कोई स्पष्ट रेखा भी नहीं है। तलप्लावी निक्षेप महादेशीय ढाल पर बहुत दूर तक पाये जा सकते हैं, तथा तलछट (sediment) से मुक्त समुद्रों में २०० फैदम की गहराइयों में भी वे कदाचित् ही पाये जाते हैं।

तैरते रहने वाले जानवरों तथा पौधों के अवशेषों से निर्मित तलप्लावी निक्षेप संभवतः महासागर में सर्वत्र एकत्रित होते रहते हैं। महादेशीय समूहों के निकट ये निक्षेप स्थल से इससे अत्यधिक परिणाम में आनेवाले द्रव्य से पूर्णतः ढँके रहते हैं,

किन्तु जहाँ पर भूजात द्रव्य का समानुपात कम हो जाता है वहाँ तलप्लावी निक्षेप दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

इस तरह महादेशों के निकट प्रधानतः भूजात उत्पत्ति वाले निक्षेप पाये जाते हैं; और महादेशों से दूर यहाँ तक कि प्रायः जल की सतह तक उठे रहने वाले कगारों तथा पठारों पर भी तलप्लावी निक्षेप का प्राबल्य अथवा प्रधानता रहती है।

महादेशीय छज्जा और ढाल के छिछले जल में समुद्र के तल में जानवर तथा पौधों की वृद्धि बहुतायत से होती है; इनके अवशेष स्थल से आने वाले द्रव्य में मिल जाते हैं। वास्तव में कभी-कभी ये निक्षेप के अधिकांश भाग का निर्माण करते हैं। किन्तु जल की सतह पर उतरने वाले जानवरों तथा पौधों के अवशेषों से बने वास्तविक निक्षेप से इस प्रकार के निक्षेप को भिन्न मानना चाहिए।

ज्वालामुखी पर्वतों से निक्षिप्त अपेक्षाकृत बड़े टुकड़े अधिकांश स्थल पर अथवा उसके निकट गिरते हैं। किन्तु, फिर भी जब ये टुकड़े झामक की प्रकृति के होते हैं तब वे कई दिनों तक जल पर तैरते रह सकते हैं तथा जल से ढँक जाने और डूबने के पूर्व खुले महासागर में इनका अपवहन हो सकता है। सूक्ष्मतर पदार्थ जो उद्गार के समय निकलते हैं, ज्वालामुखीय धूल कहलाते हैं। और हवा इन्हें हजारों मील दूर उड़ाकर ले जा सकती है। वस्तुतः ऐसा कहा जाता है कि १८८३ में क्राकातुआ के उद्गार के समय अधिकांश धूल भूमि के गिरने के पूर्व भूमंडल के चारों ओर तीन बार (हवा द्वारा) घूम गयी थी। इसलिए महासागर का कोई भी भाग इस प्रकार के द्रव्य की पहुँच से बाहर नहीं है, और ज्वालामुखीय धूल अधिकतम गहराइयों में भी पायी जाती है।

कभी-कभी मरुभूमि से भी मिट्टी के सूक्ष्मतर कण बाहर दूर समुद्र तक उड़ाकर ले जाए जाते हैं। उच्चतर अक्षांशों में तैरती हुई हिमशिलाएँ (icebergs) बालू तथा कीच और यहाँ तक कि पत्थर के घिसे बड़े गोल टुकड़ों को भी अपने साथ ढोकर गहरे महासागर में ले जा सकतीं तथा पिघलने पर अपने बोझ को इसके तल पर डाल दे सकती है। इन विधियों से भूजात द्रव्य तलप्लावी निक्षेप के साथ आधे महासागर तक यथोचित रूप से मिल जा सकता है, किन्तु केवल ज्वालामुखीय धूल ही पर्याप्त मात्रा में रहती है।

इसलिए, साधारणतया महादेशीय छज्जा तथा ढाल वाले निक्षेपों में प्रधानतः ये चीजें रहती हैं :—

(१) स्थल के घिसने से प्राप्त द्रव्य।
(२) समुद्र-तल में रहने वाले जानवरों तथा पौधों के अवशेष।
(३) ज्वालामुखीय द्रव्य।

गंभीर-सामुद्रिक मैदान तथा खड्डों में पाये जानेवाले निक्षेप प्रधानतः निम्नांकित पदार्थों से बने होते हैं :—

(१) जल की सतह पर तैरने वाले जानवरों तथा पौधों के अवशेष।
(२) ज्वालामुखीय धूल।

फिर भी, यदि महादेशीय छज्जा अथवा ढाल के किसी भाग में सामान्य द्रव्य के प्रदाय (supply) की कमी या अपर्याप्तता रहे, तो तलप्लावी प्रकार के निक्षेप दृष्टि-गोचर होंगे।

महादेशीय छज्जा तथा ढाल वाले निक्षेप स्थल के क्षय होने से प्राप्त द्रव्य :— महादेशीय छज्जा तथा ढाल पर पाये जाने वाले निक्षेपों के अधिकांश में वह द्रव्य रहता है जो नदियों द्वारा बहकर के समुद्र में आया है अथवा इसके (महादेश) किनारे से समुद्र द्वारा कटकर। अपेक्षाकृत बड़े टुकड़े तट के निकट जमा हो जाते हैं, क्योंकि केवल छिछले जल की तरंगों या धाराओं में उन्हें ढोकर ले जाने की शक्ति रहती है। किन्तु सूक्ष्मतर कण बहकर समुद्रों में बहुत दूर तक जा सकते हैं। ये कण जितने ही अधिक सूक्ष्म रहेंगे, वे उतने ही अधिक दूर तक बहकर जा सकते हैं। इस प्रकार कुछ हदतक द्रव्य परिमाण के मुताबिक छँटते हैं। बड़े-बड़े टुकड़े (blocks) जो उच्छृंगों (cliffs) से टूटकर गिरते हैं, वे इतने भारी रहते हैं कि तनिक भी खिसकाए नहीं जा सकते, इसलिए जबतक वे टूटकर और छोटे नहीं हो जाते तबतक वे जहाँ गिरते हैं वहीं रह भी जाते हैं। लघुतर बोल्डर्स (boulders) तथा कंकड़ों से कंकड़ीले तटों का प्राय: ज्वारभाटा वाले चिन्हों के बीच निर्माण होता है जहाँ तरंगें प्रचण्ड रूप से टकराती है। तरंगों के बीच अविराम आगे-पीछे होते रहने से बोल्डर्स घिसकर चिकने और गोल हो जाते हैं और साथ ही क्रमश: परिमाण में भी छोटे हो जाते हैं। बालू अधिक सरलता से परिवाहित हो जाती है, इसलिए यह भाटा वाले चिन्हों के बाहर वास्तव में प्राय: महादेशीय छज्जा के किनारे तक फैल जाती है। सूक्ष्मतम द्रव्य जिसका वर्गीकरण साधारण कीच के अन्तर्गत किया जा सकता है, और भी बहुत आगे बहकर चला जाता है तथा बालू वाली सीमा के बाहर महादेशीय छज्जा तथा ढाल के बड़े भाग पर फैल जाता है।

इस प्रकार तट से बाहर की ओर निक्षेप के रूखड़ापन में क्रमश: ह्रास होता जाता है। किन्तु जिस दूरी तक यह (निक्षेप) जाता है, वह दूरी पूर्णत: टुकड़ों के परिमाण से ही निर्धारित नहीं होती, बल्कि यह तरंगों तथा धाराओं की शक्ति पर भी निर्भर करती है, और चूँकि यह परिवर्तनीय है इसलिए द्रव्य का छँटना पूर्णरूप से[1] नहीं होता। फिर भी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भी अल्पतम समानुपात में ही महादेशीय ढाल से परिवाहित होकर बाहर जाता है।

प्राय: ऐसा होता है कि प्रबलतम धाराएँ तट के समानान्तर चलती हैं। ऐसी दशा में बाकी द्रव्य जो स्थल से बहकर आते हैं वे बाहर की ओर बहकर नहीं जाते बल्कि तट पर परिवाहित हो जाते हैं। इसलिए बालू तथा कीच जिन्हें नदी अपनी धारा के साथ बहाकर लाती है,वे प्राय: नदी के मुहाने पर जमा नहीं होती, बल्कि ये तट पर मीलों आगे बढ़ सकती हैं तथा किसी शान्त खाड़ी में पहुँचने पर उसमें जमा हो जाती हैं। स्थल से प्राप्त द्रव्य के इस प्रकार पार्श्विक रूप से बहने के कारण नदियों के मुहाने पर पाये जाने वाले निक्षेप की चौड़ाई में स्पष्ट रूप से वृद्धि नहीं होती है।

---

१ अब यह ज्ञात (स्पष्ट) है कि महादेशीय छज्जा वाले निक्षेप कदाचित् ही नियमित रूप से विन्यस्त रहते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से कणों तथा टुकड़ों का आकार बाहर की ओर क्रमश: छोटा होता जाता है। यह मान लेना पड़ेगा कि हिमयुग के समय समुद्र के स्तरों के अपेक्षाकृत नीचे रहने पर छज्जा वाले निक्षेप पुन: (resorted) छँट जाते जिसमें वर्त्तमान समय में थोड़ा भी निश्चित विन्यास रह पाता।

स्थल से घिसकर आनेवाली बालू में स्थल के निर्माण में सहायक होनेवाली किसी भी चट्टान अथवा धातुओं के टुकड़े रह सकते हैं। किन्तु इनमें से कुछ मुलायम (कमजोर) रहते हैं, अतः ये शीघ्र ही चूर होकर धूल में परिणत हो जाते हैं जिससे ये बालू के बदले कीच का निर्माण करते हैं; कुछ अनायास (सरलता से) विबद्ध (decompose) हो जाते हैं तथा बिबद्ध होने के फलस्वरूप जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह प्रायः शीघ्र ही विचूर्ण जाने वाला रहता है, और कुछ केवल थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं अथवा वे केवल कहीं-कहीं (स्थानीय रूप से) प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। यह केवल यत्र-तत्र बालू के पर्याप्त समानुपात का निर्माण करता है। इस प्रकार ऐसा परिवर्तन होता है कि साधारण बालू का अधिकांश भाग स्फटिक (Quartz) के कणों से बनता है, क्योंकि स्फटिक पृथ्वी की पपड़ी के प्रचुरतम संघटकों में एक है। साथ ही यह एक ऐसी धातु है जो सर्वाधिक कठिन तथा प्रतिशोधक होती है और इस पर रासायनिक परिवर्तन का अत्यल्प प्रभाव पड़ता है।

कीच बालुओं की अपेक्षा अधिक बारीक कणों से बनी होती है। उसमें अधिकांशतः चट्टान का निर्माण करने वाली विभिन्न प्रकार के खनिज के सूक्ष्म कण रहते हैं जिनमें स्फटिक प्रचुरतम परिमाण में पाया जाता है, किन्तु नियमानुसार उसमें पर्याप्त मात्रा में बारीक मिट्टी के सदृश पदार्थ (matter) पाया जाता है जिसका समानुपात स्थल से दूर जाने पर बढ़ता जाता है।

नील कीच अधिकांशतः सर्वाधिक विस्तृत प्रकार की है, किन्तु लाल कीच (Red mud) पीत सागर में तथा ब्राजील तट से दूर में पायी जाती है। दोनों में कीच का रंग लौह-यौगिकों के कारण होता है, किन्तु लाल कीच में लोहा अपेक्षाकृत अत्यधिक आक्सीकृत (oxidised) दशा में पाया जाता है।

हरी कीच कुछेक स्थानों में पायी जाती है, विशेषकर प्रस्तरीय तटों से दूर महादेशीय ढाल पर जहाँ बड़ी नदियाँ समुद्र में प्रवेश नहीं करतीं। इसका हरा रंग आहरितिज नामक खनिज (Glauconite) के कणों के कारण होता है। आहरितिज लोहे का सिलिकेट है और यह उन्हीं स्थानों में बनता हुआ मालूम पड़ता है जहाँ क्षय होता हुआ जैविक पदार्थ पाया जाता है। यह प्रायः पादछिद्रि-गण नामक जन्तु (Foraminifera) के कर्पर के अन्दर के रिक्त स्थानों को भर देता है, और कर्पर घुल जाता है तब आहरितिज के ढाँचे (casts) छोटे तथा गोल कणों के रूप में रह जाते हैं। जहाँ कीच तेजी से एकत्रित होती है वहाँ आहरितिज का समानुपात इतना कम रहता है कि यह इसके साधारण रंग को प्रभावित नहीं करता, किन्तु जहाँ कीच कम मात्रा में आती है वहाँ आहरितिज के कण आपेक्षतया अधिक प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। आहरितिज बालू में भी पर्याप्त मात्रा में पाया जा सकता है जिससे उनका रंग थोड़ा हरा (greenish) हो जाता है। जहाँ उष्ण तथा सर्द धाराएँ बारी-बारी से एक दूसरे के क्षेत्र में चलती हैं वहाँ यह फॉस्फेटिक ग्रन्थिकाओं के साथ संबद्ध रहती है जिन्हें अपने निर्माण के लिए जैविक पदार्थ की आवश्यकता होती है।

जैविक निक्षेप :—महादेशी छज्जा के बहुत से भागों में जानवर तथा पौधे रहते और बड़ी संख्या में परिवर्द्धित होते हैं, और उनके कर्पर और कंकालों से अधिकांश निक्षेप का निर्माण हो सकता है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश द्वीप के तटों पर शुक्ति सीप,

घोंघा (oyster) के तट, तथा शम्बुक-तल (mussel-beds) पाये जाते हैं और उष्णतर समुद्रों में प्रवाल एवं चूनेदार (शैवाल) काई (algae) खूब बढ़ते हैं। कर्पर और कंकाल तरंगों द्वारा भग्न हो जाते हैं जिनसे बालू तथा कीच का निर्माण होता है। ये बालू और कीच भूजात निक्षेपों से इस दृष्टि से भिन्न होती हैं कि इनमें प्रायः पूर्णतः चूने का कार्बोनेट (carbonate of lime) रहता है।

ये पश्चिमी भारतीय सागर ही हैं जहाँ ऐसे जैविक निक्षेपों (organic deposits) का पूर्णतम विकास होता है। बहामा द्वीप प्रायः पूर्णतः हवा द्वारा ऊपर ले जाये गये कर्पर और प्रवाल वाली बालू से बने हैं, तथा इसी प्रकार की संघटन वाली बालू एवं कीच से चतुर्दिक समुद्र का तल आवृत्त है। इसी प्रकार की बालू और कीच मेक्सिको की खाड़ी तथा कैरिबियन सागर में भी विस्तृत रूप से पाये जाते हैं।

ज्वालामुखीय निक्षेप :—ज्वालामुखीय क्षेत्रों में महादेशीय छज्जा तथा ढाल पर वाले निक्षेपों में प्रधानतः उद्गार के समय ऊपर निक्षिप्त टुकड़े रहते हैं, और ये सदा की भाँति बहुत अंश तक स्थल के क्षय होने से नहीं बनते हैं। द्रव्य का छँटना और वितरण दोनों उसी प्रकार से होते हैं, किन्तु रचना में अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ, ज्वालामुखीय बालू में स्फटिक के कणों के बदले लावा के टुकड़े रहते हैं।

गंभीर सामुद्रिक मैदान तथा खड्ड पर पाये जाने वाले निक्षेप :—बहुत बारीक प्रकार की ज्वालामुखीय धूल को छोड़ महादेशीय ढाल के निम्नभाग के बाहर अत्यल्प भूजात द्रव्य बहकर जाता है, तथा गंभीर सामुद्रिक मैदान का अधिक भाग तलप्लावी निक्षेपों से ढँका है। यहाँ तक कि ढाल (महादेशीय) पर भी जहाँ कहीं भी भूजात कीच अपर्याप्त मात्रा में आकर जमा होती है वहाँ निक्षेप न्यूनाधिक रूप से तलप्लावी प्रकार का हो जाता है।

तलप्लावी निक्षेपों में अंशतः समुद्र-सतह पर तैरने वाले जानवरों तथा पौधों के अवशेष रहते हैं और अंशतः हवा द्वारा लायी गयी ज्वालामुखीय धूल रहती है। जल के निम्न ताप तथा अन्य कारणों से भी महासागर के गंभीरतर भागों के तल पर वास्तविक रूप से रहने वाले जानवर तथा पौधे अपेक्षाकृत कम संख्या में पाये जाते हैं, अतः उनके अवशेष निक्षेप के निर्माण में कम सहायक होते हैं।

सतह पर लाए जाने पर सर्वप्रथम तलप्लावी निक्षेप तरल कीच के रूप में रहते हैं, जो प्रायः निकर्दम कहलाती है। सूख जाने पर निकर्दम बारीक कणों तथा धूल वाला पुंज का रूप धर लेता है जो अंशतः अकेलास (amorphous) रहता है और अंशतः छोटे कर्परों से बना होता है। ये कभी-कभी खाली आँखों से दृष्टिगोचर होते हैं और कभी-कभी ये कर्पर इतने सूक्ष्म आकार के होते हैं कि ये अणुवीक्षण यंत्र में दृष्टिगोचर होते हैं। ये कर्पर विभिन्न प्रकार के अनेक जीवों के रहते हैं तथा बहुलता से पाये जाने वाले जीव के नाम पर निकर्दम का नामकरण होता है। कुछ में कर्पर चूने के कार्बोनेट से बना होता है और कुछ में सिलिका (silica) से; और इसलिए तदनुसार निकर्दम चूनेदार (calcareous) अथवा सिलिकामय (siliceous) हो सकता है।

जानवरों तथा पौधों के अवशेषों से निर्मित जैविक निकर्दम के अतिरिक्त एक और प्रकार का निक्षेप होता है जिसे लाल मिट्टी कहते हैं, इसमें प्रधानतः अजैलिवक द्रव्य रहता है और यह प्रत्यक्ष रूप से ज्वालामुखीय उत्पत्ति का होता है।

इसलिए तलप्लावी निक्षेपों को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

जैविक	चूनेदार	टेरो पॉड निकर्दम	(Pteropod ooze)
		ग्लोविजेरिना ,,	(Globigerina ,,)
	सिलिकामय	रेडियोलैरियन ,,	(Radiolarian ooze)
		डायटम निकर्दम	(Diatom ooze)
अजैविक		लाल मिट्टी	(Red clay)

टेरोपॉड निकर्दम (Pteropod ooze) :—इस प्रकार के निकर्दम में जल में तैरने वाले एक विशेप प्रकार के चूर्णप्रावारा की (molluscs) श्रेणी जिन्हें टेरोपॉड कहते हैं, के कर्पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण संघटक रहते हैं। ये कर्पर हमेशा पतले तथा कोमल होते हैं और साथ ही आकार में प्रायः थोड़ा बहुत शुंडाकार होते हैं। ये लम्बाई में चौथाई अथवा आधा इंच के हो सकते हैं और हमेशा चूने के कार्बोनेट से बने होते हैं।

टेरोपॉड नामक निकर्दम प्रधानतः गंभीर सामुद्रिक मैदान से ऊपर उठने वाले कगारों तथा पठारों पर-पाये जाते हैं, जहाँ जल अपेक्षाकृत छिछला रहता है। किन्तु साथ ही ये महादेशीय पुंज से दूर में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, यह मध्य अटलांटिक कगार पर कई स्थानों में पाया जाता है। करीब ८०० से लेकर १००० फैदम की गहराइयों में सर्वाधिक विशिष्ट रूप से इसका विकास होता है, किन्तु यह प्रायः अपेक्षाकृत अधिक छिछले जल में पाया जाता है तथा यह नीचे की ओर १८०० फैदम की गहराई तक भी पाया जा सकता है।

टेरोपॉड उन स्थानों में सर्वाधिक प्रचुरता से परिवर्द्धित होते हैं जहाँ पर सतह का जल उष्ण रहता है और वार्षिक तापान्तर कम। और इसलिए निक्षेप अधिकांशतः उष्ण कटिबन्धों के अन्तर्गत अथवा उनके निकट पाये जाते हैं। किन्तु यह विस्तृत रूप से फैला नहीं है तथा प्रधानतः यह अटलांटिक महासागर ही है जिसमें यह पाया जाता है।

ग्लोबीजेरिना निकर्दम :—ग्लोबीजेरिना निकर्दम प्रधानतः फोरामिनीफेरा (Foraminifera) के चूनेदार कर्पर से बने होते हैं जिसमें, ग्लोबीजेरिना सर्वाधिक रूप से प्रचुर तथा विस्तृत रूप से फैला प्रजाति (genus) है। ये कर्पर हमेशा छोटे होते हैं, और ये प्रायः साधारण पीन के शीर्ष के आकार के होते हैं, किन्तु प्रायः अपेक्षाकृत अधिक छोटे और कभी-कभी बड़े होते हैं।

यह निकर्दम ऐसा है जो अटलांटिक तथा हिन्द महासागर में अधिकतम विस्तृत रूप से फैला है और दक्षिणी प्रशान्त महासागर के बड़े भाग को आवृत्त करता है। साधारणतः यह उष्ण या समशीतोष्ण समुद्रों में पाया जाने वाला विक्षेप है, किन्तु ग्रीनलैंड और नॉर्वे के बीच यह आर्कटिक वृत्त के भी बाहर तक फैला है। फिर भी इस भाग में सतह पर वाले जल का ताप उस अक्षांश के औसत ताप की अपेक्षा बहुत ज्यादा है।

ग्लोबीजेरिना निकर्दम १५०० से लेकर २००० फैदम की गहराइयों तक अधिकतम प्रचुरता तथा विशिष्ट रूप से विकसित होता है। किन्तु जहाँ यह भूजात द्रव्य के बहुत ज्यादा एकत्रीकरण से ढँका नहीं है, वहाँ अपेक्षाकृत कहीं अधिक छिछले जल में पाया जा सकता है। किन्तु इसकी निचली सीमा परिवर्तित होती रहती है। गहराई बढ़ने पर यह लुप्त हो जाता है और इसका स्थान लाल मिट्टी ग्रहण कर लेती

है। यदा कदा यह ३००० फैदम के नीचे भी पाया गया है। किन्तु यह वास्तविक खड्डों में नहीं पाया जाता है।

डायटाम नामक निकर्दम :—डायटॉम वानस्पतिक जगत् के रहने वाले हैं और इनका आकार साधारणतः इतना छोटा होता है कि ये अनुवक्षिण यंत्र द्वारा ही दृष्टि-गोचर होते हैं। इनकी हड्डियाँ (कंकाल) या शंकपाट (Frustules) सिलिका से वने होते हैं। ये अपेक्षाकृत अधिक ठंडे समुद्रों में प्रधानतः परिवर्द्धित होते हैं।

इस प्रकार का निकर्दम प्रधानतः ६०० से लेकर २००० फैदम की गहराइयों तक पाया जाता है, किन्तु यह ४००० फैदम की गहराई तक भी फैल सकता है। यह ऐंटार्कटिक महादेश के भूजात निक्षेपों के बाहर (बाद) दक्षिण महासागर में एक विस्तृत पट्टी का निर्माण करता है तथा प्रशान्त महासागर की उत्तरी सीमा पर अपेक्षा-कृत अधिक संकीर्ण पट्टी का निर्माण करता है।

रेडियोलैरियन निकर्दम :—फोरामिनीफेरा की भाँति रेडियोलैरिया भी जानवरों की दुनियाँ के वृहत् भाग के सूक्ष्म जीव हैं। अस्तु, इनके कर्पर अथवा हड्डियाँ चूने के कार्बोनेट के बदले सिलिका से बने होते हैं और इनकी विशेषता यह है कि इनका बाहरी ढाँचा स्पष्ट रूप से सूराखदार होता है, जिससे जाल मार्ग (lattice) का निर्माण होता है जो इसे आवृत्त करने के बदले जानवर की देह को सहारा देता है।

रेडियोलैरियन निकर्दम केवल गंभीर जल में ही पाया जाता है, और २००० फैदम से कम गहराई में यह कदाचित ही पाया जाता है। यह नीचे की ओर ५००० फैदम या इससे भी अधिक गहराई तक फैला है और तदनुसार यह खड्डों तथा साथ ही गंभीर सामुद्रिक मैदान में पाया जाता है।

यह उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों तक सीमित है और प्रधानतः प्रशान्त महासागर में पाया जाता है तथा उससे बहुत कम अंश में हिन्द महासागर में पाया जाता है। लेकिन अटलांटिक में यह बिल्कुल नहीं पाया जाता है।

जैविक निकर्दम का वितरण :—जैविक निकर्दम का वितरण अंशतः महासागर की गहराई और अंशतः सतह वाले जल के ताप से निर्धारित होता है। चूनेदार निक-र्दम महासागर के गंभीरतम भागों में कभी नहीं पाया जाता है। इन बड़ी गहराइयों में चूने का कार्बोनेट या तो गिरने में या तल पर पहुँचने के पश्चात् ही घुल जाता है। फलतः, यद्यपि कि टेरोपॉड तथा ग्लोबीजेरिना सतह पर रहते और नीचे के जल की गहराई से प्रभावित नहीं होते तथापि इनके कर्पर खड्डों में निक्षेप का निर्माण नहीं करते। ग्लोबीजेरिना के कर्पर की अपेक्षा टेरोपॉड के कर्पर अधिक सरलता से घुल जाते हैं और इसीलिए जितना नीचे तक ग्लोबीजेरिना निकर्दम फैलता है उतना नीचे तक टेरोपॉड निकर्दम नहीं फैलता। इसके अतिरिक्त टेरोपॉड या कम से कम कर्पर वाले टेरोपॉड उष्ण जल को छोड़, ज्यादा परिवर्द्धित नहीं होते, किन्तु ग्लोबीजेरिना अपेक्षाकृत अधिक ठंडे समुद्रों में भी रहता है। इसलिए टेरोपॉड निकर्दम उष्ण तथा उप उष्ण कटिवन्धीय क्षेत्रों में सीमित रहता है, किन्तु ग्लोबीजेरिना निकर्दम उष्ण कटिबन्धीय तथा सम शीतोष्ण कटिबन्धीय समुद्रों में फैला है।

सिलिकामय द्रव्य उतनी सरलता से नहीं घुलता, अतः सिलिकामय निकर्दम चूने-दार निक्षेपों की अपेक्षा अधिक गहराइयों तक फैला है। परन्तु वे केवल वहीं पाये जा सकते हैं, जहाँ इनका निर्माण करनेवाले जीव प्रचुरता से सतह वाले जल में पाये

जाते हैं। रेंडियोलैरिया प्रधानतः उष्णतर समुद्रों में तथा डायटॉम अपेक्षाकृत ठंडे जल में परिवर्द्धित होते हैं। फलतः रेडियोलैरिया निकर्दम उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत पाये जाते हैं तथा डायटॉम नामक निकर्दम ध्रुवीय समुद्रों के अन्तर्गत और उनके निकट पाये जाते हैं। फिर भी यहाँ तक कि उष्ण जल में भी रेडियोलैरिया साधारणतः उतने बहुतायत से नहीं पाये जाते जितने बहुतायत से फोरामिनीफेरा। और तदनुसार केवल गंभीर जल में, जहाँ फोरामिनीफेरा के कर्पर घुल जाते हैं, रेडियोलैरिया के अवशेषों का समानुपात पर्याप्त रूप से बढ़ता है जिससे वास्तविक रेडियोलैरिया निकर्दम का निर्माण होता है।

लाल मिट्टी :—लाल मिट्टी तलप्लावी निक्षेपों में सबसे अधिक विस्तृत रूप से फैली है। रचना की दृष्टि से यह असली मिट्टी है जिसमें लौह आक्साइड से रंगा प्रधानतः एल्यूमिनियम का जलयोजित सिलिकेट (hydrated silicate of aluminium) वर्तमान रहता है। यह २००० फैदम से ऊपर नहीं पाया जाता है किन्तु यह निक्षेप विशेष कर महासागर के गंभीरतर भागों में पाप जाता है। है। साथ ही हिन्द तथा अटलांटिक महासागरों में बड़े क्षेत्रों में नीचे की ओर सर्वाधिक गहराइयों तक इसका प्रेक्षण किया गया है।

लाल मिट्टी प्रत्यक्ष रूप से समुद्र तक लाये गये ज्वालामुखीद्रव्य जो या तो झामक के रूप में तरंगों पर तैरता रहता है या धूल के रूप में हवा द्वारा बहाकर लाया जाता है, के विच्छेदन (decomposition) से बनती है। इस प्रकार का द्रव्य सम्पूर्ण महासागरीय तल पर गिरता है। ज्वालामुखीय क्षेत्रों को छोड़, यह द्रव्य कम आता है और एकीकरण की गति नितान्त धीमी रहती है।

चूनेदार निकर्दम बहुत अधिक तीव्रता से जमा होते हैं, और जहाँ जल बहुत ज्यादा गहरा नहीं रहता वहाँ ये अपने साथ अपेक्षाकृत लघुमात्रा में गिरनेवाले ज्वालामुखीय द्रव्य को ढँक लेते हैं। फिर भी, ग्लोबिजेरिना या टेरोपॉड निकर्दम पर तनु उद-नीरिक अम्ल (dilute hydrochloric acid) का प्रयोग किये जाने पर चूने का कार्बोनेट घुल जाता है और अवशिष्ट द्रव्य बहुत अंश तक लाल मिट्टी के समान रहता है। ज्वालामुखीय द्रव्य वहाँ वर्तमान रहता है किन्तु चूने के कार्बोनेट की तुलना में इसकी मात्रा कम रहती है। महासागर में अधिक गहराइयों में इस प्रकार की क्रिया हमेशा जारी रहती है; चूने का कार्बोनेट घुल जाता है और लाल मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रहता है। मध्य वाली गहराइयों में ग्लोबीजेरिना निकर्दम का स्थान क्रमशः मिट्टी लेने लगती है।

चूँकि सिलिका उतनी सरलता से नहीं घुलती है, इसलिए सिलिकामय निकर्दम खड्डों तक फैल सकता है, तथा रेडियोलैरिया निकर्दम ५००० फैदम के नीचे भी पाया गया है। इस प्रकार से निर्मित निक्षेप रेडियोलैरिया निकर्दम है या लाल मिट्टी, यह जल की गहराई पर उतना ज्यादा निर्भर नहीं करता बल्कि यह सतह पर रेडियोलैरिया की प्रचुरता पर निर्भर करता है।

लाल मिट्टी का मध्य महासागर में अत्यन्त मन्द गति से एकत्रीकरण इस बात से प्रदर्शित किया गया है कि ग्राह (Shark) के दाँत तथा ह्वेल के कान की हड्डियाँ, कभी-कभी परिमृत जातियों की, लाल मिट्टी वाले क्षेत्रों में तल से कीचादि निकालते और ध्वनन करते समय प्रायः ऊपर निकाले जाते हैं। उनके बहुत लम्बे अरसे से

वहाँ पर जमा रहने के कारण हड्डियों (skeletons) का अवशेष घुल जाता है। परिमृत जातियों की हडिडयों के अवशेष वहाँ पर अनेको हजारों वर्षों तक अवश्य पड़े रहे होंगे। फिर भी निक्षेप को अधिक से अधिक परिमाण में मान लेने पर भी वे मुश्किल से इससे (निक्षेप) ढँक सकी हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी उल्कापात (meteoric showers) के रूप में पृथ्वी पर गिरने वाली धूल के समान लोहे तथा अन्य खनिजों के गोलक भी पाये गये हैं। ऐसा अनुमान का कोई कारण नहीं है कि यह स्थल की अपेक्षा महासागर में अधिक प्रचूरता से गिरती है। (किन्तु) स्थल पर यह अन्य द्रव्य के पुँज में विलीन हो जाती है; लाल मिट्टी के क्षेत्र में यह धीरे-धीरे ढँक जाती है और सम्पूर्ण निक्षेप के बहुत बड़े (भाग) समानुपात का निर्माण करती है।

छठा अध्याय

प्रवाल शैलमाला तथा द्वीप

उष्ण कटिबन्धीय समुद्रों के बहुत भागों में प्रवाल की इतनी अधिक वृद्धि होती है कि चट्टानी शैलमाला (rocky reefs) का निर्माण होता है। इसका आकार प्रायः बड़ा होता है और यह जल की सतह तक ऊपर उठा रहता है। ऐसी शैल-मालाएँ स्थल के तटों को, जो प्रवाल के नहीं बने होते हैं मगजी के रूप में परिवेष्टित कर सकती हैं अथवा ये अन्य किसी प्रकार के स्थल से बहुत दूर में द्वीपों का निर्माण कर सकती है। उन स्थानों को छोड़कर जहाँ भूसंचलन हुए हैं, शायद ही प्रवाल ज्वार के स्तर से १० या २० फुट से ऊपर उठकर आता है, और यहाँ तक कि यह ऊँचाई भी केवल भग्न प्रवाल तथा प्रवाल से बनी हुई बालू के ढेरों को शैलमाला (reef) पर तरंगों द्वारा निक्षिप्त होने से होती है। जीवित प्रवाल जल के ऊपर परिवर्द्धित नहीं होते। किन्तु हाँ, भाटा के चिन्ह (सीमा) के ऊपर भी वास्तव में यह मुश्किल से परिवर्द्धित होता है। केवल उन्हीं स्थानों में जहाँ जमीन उठी है, शैलमाला तरंगों से ऊपर रहती है (Plate 5b से तुलना कीजिए)।

प्रवाल शैलमालाएँ तथा द्वीप नितान्त रूप से प्रवालों से ही नहीं बनते। दूसरे प्राणियों का भी उनके निर्माण में बहुत बड़ा हाथ रहता है। चूनेदार काई (Algae) भी प्रवालों के बराबर ही महत्वपूर्ण होती है, और निक्षेप के अधिकांश भाग में फोरा-मिनीफेरा, चूर्णप्रावाराः (Molluscs) शल्यचर्म (Echinoderms) तथा अन्य जीव रहते हैं।

प्रवाल ऐसे जन्तुओं से बनते हैं जो बहुत अंशों में ब्रिटिश द्वीप के तट के सामुद्रिक कुसुमाभ (sea-anemones) के सदृश होते हैं। उनमें से कुछ अलग-अलग रहते हैं जिनमें प्रत्येक अपने छोटे प्रवालीय भाग पर रहता है; किन्तु शैलमालाओं का निर्माण करनेवाले वास्तविक प्रवालों के शरीर एक दूसरे से जुड़े रहते हैं जिससे झुण्डों अथवा नये प्रवाल क्षेत्रों का निर्माण होता है। प्रवाल उनके आधारों पर जमा हो जाता है जिससे एक दृढ़ तथा प्रस्तरीय स्थान बन जाता है जिस पर वे ठहरे रहते हैं और वहाँ से कभी भी नहीं हटते। यह प्रायः विशुद्ध चूने के कार्बोनेट से बना होता है।

प्रवाल शैलमालाओं का वितरण :—प्रवाल शैलमालाएँ उष्णतर समुद्रों में पायी जाती हैं तथा ये प्रायः नितान्त रूप से ३०° उत्तर से लेकर ३०° दक्षिण अक्षांश के बीच वाली पट्टी के अन्तर्गत सीमित है। ३२° उत्तर अक्षांश पर अवस्थित बरमुडा में पायी जानेवाली शैलमालाएँ अंशतः प्रवाल से बनी होती हैं, किन्तु चूनेदार काई तथा अन्य जीव उनके निर्माण में हमेशा की अपेक्षाकृत बड़ा हाथ बँटाते हैं।

महादेशों के पश्चिमी तटों पर यहाँ तक कि ३०° उत्तर तथा ३०° दक्षिण अक्षांश के बीच वाली पट्टी में वास्तविक प्रवाल शैलमालाएँ बिल्कुल नहीं पायी जाती हैं। प्रवाल-पुंज पाये जा सकते हैं किन्तु वे या तो अमेरिका, अफ्रीका या अ स्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर विशेष प्रकार की शैलमालाओं का निर्माण नहीं करते यद्यपि इन महादेशों के पूर्वी (भागों) तटों पर ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ शैलमालाएँ काफी पायी जाती हैं। व्यापारिक हवाओं की पट्टी तथा पश्चिमी भाग में वृष्टि-छाया वाला भाग (leeward side) रहता है जहाँ सर्द जल नीचे से ऊपर आता है। सम्भवतः वहाँ पर शैल-मालाओं के नहीं पाये जाने का यही प्रधान कारण है; किन्तु केवल इसे ही एकमात्र कारण मुश्किल से माना जा सकता है, क्योंकि विषुवत् रेखा के पास यहाँ तक कि इन तटों पर भी सतह पर का जल प्रवाल के लिए पर्याप्त रूप से उष्ण रहता है।

प्रवाल शैलमालाएँ विशेषकर प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर में बहुत ज्यादा पायी जाती हैं। अटलांटिक महासागर में ये पश्चिमी भारतीय समुद्रों में बहुतायत से पायी जाती हैं, तथा ब्राजील के तट से दूर में भी मिलती हैं, किन्तु मध्य अटलांटिक में पायी जानेवाली मात्र शैलमालाएँ बरमुडा में हैं।

आस्ट्रेलिया का ग्रेट बैरियर रीफ प्रवाल शैलमालाओं में सबसे बड़े हैं। ये शैलमालाएँ क्वीन्सलैंड के तट पर एक हजार मील से अधिक दूर तक फैली हैं। 'घेरा' (Barrier) तटीय चबूतरे पर फैले सभी आकार की हजारों शैलमालाओं से बनता है। उत्तर में बाहरी घेरा प्रमुख स्थल (आस्ट्रेलिया) से करीब ८० मील दूर पड़ता है। दक्षिण की ओर मेलविल (Melville) अन्तरीप तक दूरी घटती जाती है। इस बिन्दु से बैरियर का भीतरी किनारा केवल सात मील दूर है। और आगे दक्षिण जाने पर दूरी बढ़ती जाती है। केअर्न्स के दक्षिण यह सन्निकटतः भी अविछिन्न नहीं रहता, बल्कि यह भग्न शैलमालाओं की विस्तृत पट्टी में टूट जाता है, तथा सुदूर दक्षिण में तथा कथित बैरियर कैप्रीकॉर्न चैनेल के समुद्र की ओर फैला है और बंकर (Bunker) एवं कैप्रीकॉर्न द्वीप क्वीन्सलैंड के तट पर सुदूरतम दक्षिण में प्रवाल द्वीप हैं। वे विशेष शैलमालाओं की श्रेणी हैं जिनमें कुछेक के शीर्ष पर द्वीप हैं। यद्यपि ये प्रायः बैरियर के भाग के रूप में मानचित्रों में अंकित किए जाते हैं, किन्तु ये केअर्न्स (cairns) से दूर में ट्रिनिटी नामक विवर (Trinity opening) के उत्तर से प्रारम्भ होने वाले वास्तविक बैरियर से नितान्त भिन्न हैं।

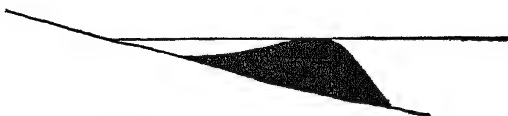
यहाँ तक कि उत्तरी सागरों में तथा गंभीर जल में भी प्रवाल पाये जाते हैं, किन्तु वहाँ वे किसी बड़े आकार के पुंज का निर्माण नहीं करते। शैलमाला का[१] वास्तविक निर्माण करने वाले प्रवाल को सतह पर वाले इतने ताप की जरूरत होती है जो ७०°F से एक या दो अंश से अधिक नीचे नहीं गिरता। ये ३० फैदम से अधिक गहराई पर स्वच्छन्द रूप से परिवर्द्धित नहीं होते हालांकि इनके अपकीर्ण (scattered) खण्ड नीचे की ओर ५० फैदम की गहराई तक फैल सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे

किसी भी प्रकार के तलछट[1] के जमने से शीघ्र ही मर जाते हैं, और इसलिए वे उन्हीं स्थानों में पाए जाते हैं जहाँ समुद्र स्वच्छ रहता है। ये उन स्थानों में कभी भी परिवर्द्धित नहीं होते जहाँ नदी अपनी धारा के साथ स्थल से कीच बहाकर लाती है।

इसलिए यह समझना सरल है कि प्रवाल शैलमालाएँ क्यों प्रायः ३०° उत्तर तथा ३०° दक्षिण अक्षांशों के बीच वाली पट्टी के अन्तर्गत सीमित हैं और उस पट्टी के अन्तर्गत स्थल पूंजों के पूर्वी तटों पर ही क्यों अधिक होते हैं। किन्तु महासागर के मध्यभाग में हजारों प्रवाल शैलमालाएँ पायी जाती हैं जिनके देखने से पता चलता है कि वे गहरे समुद्र की तल से बढ़कर ऊपर उठ आयी हैं। यह प्रमाणित करना सरल नहीं है कि इन शैलमालाओं के आधारों का निर्माण जिन गहराइयों में प्रवाल रह सकते हैं, उन अत्यधिक गहराइयों पर किस प्रकार हुआ था। यह एक ऐसी समस्या है जिसके सम्बन्ध में अभी भी बड़े-बड़े विभिन्न मत प्रचलित हैं।

प्रवाल शैलमालाओं की रचना :—प्रायः तीन प्रकार की प्रवाल शैलमालाएँ न्यूनाधिक रूप से स्पष्ट मानी जाती हैं जिनमें अनुतट शैलमालाएँ (fringing), परातट शैलमालाएँ (barrier reefs) तथा वृत्ताकार प्रवाल पर्वत (atoll) हैं।

चित्र ९३—अनुतट शैलमाला।



चित्र ९४—परातट शैलमाला।



चित्र ९५—वृत्ताकार प्रवाल पर्वत।

अनुतट शैलमाला वह है जो किसी महादेश अथवा द्वीप के तट के सन्निकट अवस्थित रहती है। इसकी सतह तट के चारों ओर निम्न जल-स्तर के पास ऊबड़-खाबड़ तथा विषम धरातल वाले चबूतरे का निर्माण करती है। इस चबूतरे का बाहरी किनारा

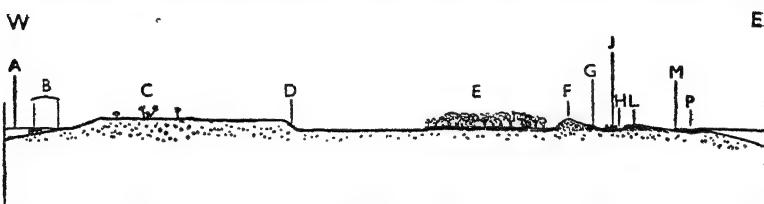
---

१ इस बात में सावधानी रखनी चाहिए। यों तो प्रवाल अपने को बहुत ही जबर्दस्त तरीके से विनष्ट कर सकते हैं। लेकिन मन्द और न्यूनाधिक रूप से तलछट का अविराम आते रहना उसके वहाँ पर अचानक प्रवेश करने से बहुत कम घातक होता है। आस्ट्रेलिया के निकट का अधिकांश जल, जहाँ प्रवाल बहुतायत से बढ़ते हैं, कम से कम इंगलिश चैनेल के जल के बराबर गन्दा होता है।

समुद्र में नीचे की ओर ढालुवाँ होता जाता है। प्रवाल से निर्मित चबूतरे तथा स्थल के बीच कभी-कभी छिछली जल-प्रणाली अथवा छिछली झील रहती है जो यहाँ तक कि भाटा के समय (चित्र ९३) भी जल से भर जाता है।

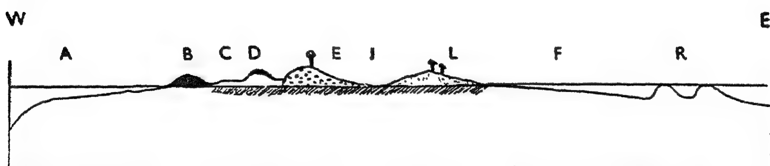
जब (छिछली) झील चौड़ी तथा गहरी रहती है, शैलमाला तट से दूर अवस्थित रहती है और गंभीर जल से बढ़कर ऊपर आ जाती है, तब इसे परातट शैल माला कहते हैं (चित्र ९४)।

एटॉल अथवा वृत्ताकार प्रवाल पर्वत अंगुठी या खुरेप (horseshoe) के आकार की शैलमाला है जिसके केन्द्र में छिछली झील (lagoon) रहती है (चित्र ९५)। कभी-कभी छिछली झील के बीच छोटा द्वीप रहता है और शैलमाला वस्तुतः उसके



चित्र ९६ (a)—क्वीनलैंड के ग्रेट बेरियर रीफ के साथ छोटे वृक्षों वाले द्वीप (द्वीप शैलमाला) की अनुमानतः आकृति।

A, दीर्घज्वार का निम्न समुद्र सतह, B, प्रवालशीर्ष; C, प्रवालद्वीप का किनारा; D, तटीय प्रस्तर; E, दलदलीय वृक्ष; F, बालुका स्तूप; G, प्रवाल टुकड़ों से निर्मित उच्चभूमि; H, एविसिनिया (दलदलीय वृक्ष); L, उच्च प्रशस्त स्तूप; M, वायुमुखी प्रवाल प्रस्तर की चट्टान; P, प्रवालशीर्ष। (Plate 5a देखिए)



चित्र ९६ (b)—फुनाफुटी वृत्ताकार प्रवाल पर्वत के आरपार अनुमानित काट (Section) A, सर्वदा निमग्न अंश; B, नलीपोर किनारा; C, प्रवाल प्रस्तर का समतल क्षेत्र; D, प्रवाल प्रस्तर का छज्जा; E, समुद्र मुखी (बाह्य) पर्वत शाखा; F, छिछली झील का तल; F, केन्द्रीय समतल क्षुद्रद्वीप; L, छिछली झील को घेरे हुए ढूह; R, छिछली झील की विकासमान शैलमालाएँ।

चारों ओर परातट शैलमाला के रूप में रहती है। लेकिन वास्तविक एटॉल में केन्द्रीय द्वीप नहीं रहता है; बल्कि अंगुठी के आकार की एक शैलमाला रहती है जो छिछली झील को परिवेष्टित करती है।

ऐसी शैलमालाएँ भी हैं जो लघुतम भाटे (lowest tides) के समय भी अनावृत्त नहीं होती हैं तथा तरंगों के नीचे उनके छिपे हुए नुकीले शीर्ष चलते हुए जहाजों

के लिए बड़े खतरे का काम करते हैं। किन्तु, नियम के मुताबिक अनुकूल परिस्थितियों में प्रवाल शैलमाला ऊपर तथा बाहर दोनों ओर परिवर्द्धित होती है जबतक कि यह जल के निम्न स्तर तक न पहुँच जाय। तत्पश्चात् इसका ऊपर की ओर बढ़ना रुक-सा जाता है, किन्तु इसका बाहर की ओर बढ़ना जारी रह सकता है। इसलिए चाहे यह अनुतट शैलमाला हो, या परातट शैलमाला अथवा एटॉल, परन्तु शैलमाला का शीर्ष ऊँचा-नीचा तथा विषम रूप से विस्तृत रहता है जो भाटा के समय केवल लुक-झुक नजर आता है। इसमें एक छोर से लेकर और खासकर किनारे के निकट दरारें (fissures) होती हैं जिनसे होकर समुद्र ऊपर बढ़ता तथा तरंगों के इसके बाहरी किनारे पर टकराते समय पीछे हटता है। बाहरी किनारा तो प्रायः थोड़ा उठा रहता है जिससे निम्नतट का निर्माण होता है जो प्रवाल का नहीं बल्कि काई का बना होता है।

शैलमाला का समुद्र की ओर वाला भाग खड़ा तथा ठोस रहता है, किन्तु इसका शीर्ष (भाग) प्रायः गोल अथवा ढालुआँ (bevelled) रहता है, जिसमें २० या ३० फैदम तक ढाल कम रहती है (चित्र ९६b)। सम्भवतः प्रबाल सतह से कुछ दूर नीचे सबसे बहुतायत से परिवर्द्धित होता है और किसी भी अवस्था में गंभीरतर स्थानों में पाये जाने वाले प्रवाल के तरंगों द्वारा भग्न होने की कम सम्भावना रहती है। अधिक गहराइयों में ढाल का कोण ४०° या ५०° या इससे भी अधिक हो सकता है।

छिछली झील की तरफ चौरस भाग जल के अन्दर कुछ-कुछ ढालुआँ हो सकता है, अथवा यह सीढ़ी के रूप में सीमित हो सकता है जो अधिक गहरी नहीं होगी। किन्तु छिछली झील का तट प्रायः बालुकामयी रहता है तथा खुद शैलमाला भी पूर्णतः ढँकी रहती है। छिछली झील में पूर्वोक्त सीढ़ी को छोड़ जल प्रायः धीरे-धीरे गहरा होता जाता है, और यहाँ तक कि गंभीरतम छिछली झीलों में भी ५० फैदम से अधिक गहराई वाले ध्वनन विरले ही पाये जाते हैं। छिछली झील के तल से प्रवाल के बढ़ने से प्रवाल-वाले चबूतरे का निर्माण हो सकता है।

शैलमाला वाले चबूतरे पर प्रवाल प्रायः मृत रहता है। किन्तु छिछली झील म जीवित प्रवाल रहेंगे तथा चूनेदार काई और फोरामिनीफेरा की प्रचुरता रहेगी। परन्तु शैलमाला का निर्माण करने वाले प्रवाल इसके (शलमाला) समुद्र तरफ वाले भाग में ज्यादा अच्छी तरह पनपते हैं क्योंकि वहाँ तलछट कम रहता है तथा खाद्य पदार्थ की पूर्ति प्रचुर मात्रा में होती रहती है। इसके विपरीत यह स्पष्ट है कि अपेक्षाकृत अधिक कमजोर प्रवाल शैलमाला के खुले भाग पर नहीं पनप सकते हैं। अतः शैलमाला का विकास बाहर की ओर होता है। कुछेक दशाओं में ऐसा प्रतीत होता है कि छिछली झील भरती जाती है और कुछेक अवस्थाओं में गहरी होती जाती है।

प्रवाल द्वीप :—शैलमाला वाले चबूतरे के बाहरी किनारे के अन्तर्गत पत्थर के गोल चिकने टुकड़ों की एक पट्टी रहती है जिसमें समुद्र द्वारा क्षिप्त भग्न प्रवाल-पुँज रहते हैं तथा कभी-कभी ये ज्वारांक के ऊपर तक स्थित रहते हैं। शैलमाला के संकीर्ण रहने पर पत्थर के गोल चिकने टुकड़े की पट्टी छिछली झील के किनारे पर बन सकती है; किन्तु छिद्रों को छोड़ प्रवाल की बालू का निर्माण करनेवाले लघुतर टुकड़ों को चबूतरे पर जमा होने का स्थान नहीं मिलता है और इसलिए ये बहकर इसके पार छिछली झील में चले जाते हैं अथवा पीछे की ओर समुद्र में चले जाते हैं। किन्तु

शैलमाला के विस्तृत रहने पर तरंगों बालू को इसके पार ले जाने में असमर्थ रहती हैं जिसके फलस्वरूप यह ढूहों (mounds) के रूप में पत्थर के गोल चिकने टुकड़ों की पट्टी के पीछे एकत्रित हो जाती है जिससे द्वीपों का निर्माण होता है जो प्रवाल वाले चबूतरे पर उपस्थित रहते हैं। हवा की दिशा अनुकूल रहने पर छिछली झील से भी बालू आकर इन ढूहों (mounds) में मिल जा सकती है। फोरामिनीफेरा प्रायः प्रवाल तथा चूनेदार काई के टुकड़ों के अतिरिक्त बड़े [illegible] निर्माण करते हैं। पानी के टपकने से यह पूरा का पूरा ठोस बन जाता है। पानी के टपकने से चूने का कार्बोनेट घुलता तथा कणों के साथ जुड़ जाने से पुनः जमा हो जाता है। इस तरह बालु तटीय चट्टान अथवा बालुतटीय कॉंगलोमरेट का निर्माण होता है। इस घटना (बात) की कोई पूर्ण विस्तृत व्याख्या नहीं हो सकी है। यह प्रायः अधिकतर द्वीपों के अनुवात पार्श्वो पर ज्वारभाटा के बाह्यतम सीमा के अन्तर्गत होती है। इसके विपरीत यह छिटपुट अंशों में पायी जाती है तथा शायद ही कभी अधिक दूर तक अविछिन्न रूप से पायी जाती हो। अधिक बारीक प्रवाल पाटने वाले पत्थरों के सदृश होते हैं; और अधिक खुरदरे प्रवाल वास्तव में बहुत रुखड़े होते हैं। यह पर्याप्त रूप से स्थायी होता है, और बालुतटीय चट्टान की पुरानी श्रेणियाँ (lines) साधारण रूप से पायी जाती हैं। इनके अन्दर से ढीली बालू अथवा गोल चिकने पत्थर के टुकड़े (boulders) बहकर दूर चले गये हैं।

कभी-कभी चट्टान या कॉंगलीमरेट अवश्य ही सीढ़ीनुमा होती है जो समुद्र-स्तर में सूक्ष्म परिवर्तन के द्योतक हैं।

बहुत से प्रवाल द्वीप (समूह) ऐसे हैं जो बालू के ढूहों से बड़े नहीं होते हैं। ये शैलमाला के चबूतरे पर अवस्थित रहते हैं। वैसी दशा में वे कई मील लम्बे तथा यहाँ तक कि पर्याप्त रूप से चौड़े भी होते हैं। किन्तु वे सदा लम्बे होते हैं। फिर भी जब भूमि उठती है तब खुद शैलमाला भी समुद्र से ऊपर उठ जाती है तथा द्वीप की ऊँचाई कई सौ फुट हो जाती है।

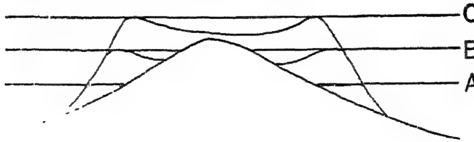
कालान्तर में हवाओं तथा धाराओं अथवा पक्षियों द्वारा लाये गये बीज जम जाते हैं [illegible] वनस्पति के प्रचुरता से बढ़ने से आच्छादित हो जाता है। निम्नस्थित द्वीप वृक्षों से अच्छादित रहते हैं। कुछ दूर से देखने से ऐसा मालूम होता है कि ये वृक्ष जल में ही खड़े हों। ये द्वीप प्रवाल वाले समुद्रों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आकृतियाँ हैं।

प्रवाल शैलमालाओं के निर्माण की विधि :—अनुतट शैलमालाओं का निर्माण प्रवालों से होता है। इनके निर्माण में महादेश अथवा द्वीप के चारों ओर छिछले समुद्रों के तल पर बढ़ने वाले अन्य चूनेवाले जीवधारियों से मदद मिलती है। प्रवाल तट से लगभग ३० फैदम की गहराई तक बाहर की ओर बढ़ते हैं, किन्तु उस गहराई के बाहर ये वस्तुतः बिल्कुल नहीं पाये जाते हैं। प्रवाल-पुंज निम्न-जल-स्तर तक पहुँचने के पहले ऊपर की ओर बढ़ते रहते हैं; और इस प्रकार एक चबूतरे का निर्माण होता है जिसका अन्त ३० फैदम की मौलिक रेखा की स्थिति के अन्तर्गत ही हो जाता है और चबूतरे के किनारे का प्रारम्भ करीब उसी गहराई से होता है। बाहरी प्रवाल तट के समीपतर रहने वाले प्रवाल की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्दता से बढ़ते हैं। सम्भवतः उनके अधिक अनुकूल रूप से अवस्थित होने के कारण समुद्र से

खाद्य पदार्थ के मिलते रहने से होता है क्योंकि इनके तलछट से ढँक जाने की कम सम्भावना रहती है और साथ ही आक्सिजन युक्त होने के कारण भी। फलतः शैलमाला का बाहरी भाग सतह पर पहले आता है तथा छिछली प्रणाली (shallow channel) अथवा छिछली झील चबूतरा तथा स्थल के बीच में छूट जाती है।

इतना तो प्रायः माना ही जाता है; किन्तु परातट शैलमालाएँ तथा एटॉल में शैलमाला का बाहरी भाग उन गहराइयों से प्रारम्भ होता है जहाँ शैलमाला का निर्माण करने वाले प्रवाल बिल्कुल नहीं रहते। इसे स्पष्ट करने के लिए विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं, किन्तु अब तक भी यह समस्या पूर्णरूप से हल नहीं हुई है। इन प्रस्तुत किए गये सिद्धान्तों और विचारों की विवेचना सरलता से चार प्रधान शीर्षकों में की जा सकती है। इनमें प्रथम परिकल्पना (hypothesis) डार्विन तथा डना के अधोगमन (subsidence) की है जो विगत शताब्दी के चालीसवें वर्षों में प्रतिपादित की गयी थी; दूसरी में न-डूबने वाले विचार (views) जो मर्रे (Murray), सेम्पर (Semper), अगासिज तथा दूसरों के विचारों से सम्बद्ध हैं, तीसरी डैली (Daly) द्वारा प्रतिपादित हिम्य-नियंत्रण परिकल्पना है, और अन्तिम में तटों, जिनके चारों ओर शैलमालाएँ पायी जाती हैं, के प्रकृति-वर्णन के महत्त्व का अधिक व्यापक प्रयोग है (application) है। सर्व प्रथम डेविस (Davis) ने इस बात पर जोर दिया जो अब बड़े महत्व की मानी गयी है।

डार्विन और डना की परिकल्पना:—अधोगमन का सिद्धान्त पहले-पहल डार्विन[1] द्वारा प्रस्तावित किया गया था। उन्होंने सोचा कि सभी शैलमालाओं का प्रारम्भ



चित्र ९७—डार्विन का वृत्ताकार प्रवाल पर्वतों के बनने का सिद्धान्त। A, B, C, शैलमाला के विकास के समय समुद्र के स्तर की एक के बाद एक स्थितियाँ बताते हैं।

महादेश अथवा द्वीप के चारों ओर (चित्र ९७) अनुतट के रूप में हुआ। जब तक स्थल और समुद्र का आपेक्षिक स्तर अपरिवर्तित रहता है, तब तक शैलमाला अनुतट शैलमाला के रूप में रहेगा। किन्तु यदि स्थल तथा समुद्र के तल का अधोगमन[2] हो

---

१ करीब-करीब उसी समय डना ने भी स्वतंत्र तथा नितान्त रूप से इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया; अतः यह अधिक न्यायसंगत है कि यह परिकल्पना संयुक्त नामों से अभिहित हो।

२ समुद्र के स्तर के ऊपर उठने से भी वैसे ही प्रभाव उत्पन्न होंगे। स्थल के डूबने तथा समुद्र के उठने के बीचके अन्तर का पता लगाना बहुत कठिन तथा प्रायः असम्भव होता है। और इसलिए निम्नांकित वर्णन में अधोगमन शब्द का दोनों अर्थों में प्रयुक्त होना समझा जाना चाहिए।

जिसमें अनुतट जल के नीचे डूब जाय, तो प्रवाल पुनः ऊपर की ओर पनपने लगेंगे। जैसा पहले बतलाया जा चुका है, इनका विकास सबसे अधिक शैलमाला के बाहरी किनारे पर होता है। लेकिन तट के अधिक निकट वाले भाग में इनका विकास नितान्त मन्द गति से होता है। तदनुसार प्रायः ऐसा होगा कि शैलमाला का केवल बाहरी भाग का जिस गति से अधोगमन होता है उस गति से ऊपर उठ सकता है। भीतरी भाग समुद्र से जलप्लावित हो जाता है और इस प्रकार इससे शैलमाला वाले चबूतरे तथा स्थल के बीच छिछली झील का निर्माण होता है। जब अधोगमन होता रहता है तब छिछली झील का विस्तार तथा उसकी गहराई—दोनों में वृद्धि होती है और शैलमाला परातट शैलमाला के रूप में परिणत हो जाती है। शैलमाला के द्वीप के चारों ओर रहने पर द्वीप अन्त में पूर्णरूप से डब जा सकता है, और छिछली झील को परिवेष्टित करनेवाली शैलमाला की मुँदरी के सिवा और कुछ भी शेष नहीं रह जायगा।

इस विचार के अनुसार परातट शैलमालाएँ तथा एटॉल केवल वहीं पर हो सकते हैं जहाँ अधोगमन हुआ हो क्योंकि प्रत्येक एटॉल प्रथम द्वीप की स्थिति को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त, एटॉल के बाहर समुद्र प्रायः गहरा रहेगा क्योंकि अधोगमन पर्याप्त रूप से हुआ होगा जिससे केन्द्रीय द्वीप जलमग्न हुआ होगा,।

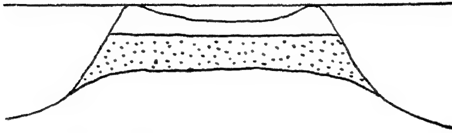
अधोगमन न होने के सिद्धान्त :—अगर गंभीर जल से प्रारम्भ होने वाले एटॉल तथा परातट शैलमालाओं का निर्माण डार्विन द्वारा वर्णित रीति से अधोगमन के फलस्वरूप न हुआ हो तो इसके लिए विकल्प (alternative) यह है कि उनके आधार का निर्माण जीवित प्रवाल से नहीं हुआ था। और यही मत है जिसकी पुष्टि अगासिज, मर्रे, सेम्पर तथा दूसरों द्वारा होती है।

जॉन मर्रे महोदय का मत है कि कालान्तर में अनुतट शैलमाला का प्रसार ३० फैदम की मौलिक (original) रेखा के बाहर हो सकता है, क्योंकि इस सीमा के आ जाने पर प्रवाल के छोटे-बड़े—सभी टुकड़े शैलमाला के निम्न भाग में एकत्रित हो जायेंगे तथा पत्थरों के टुकड़ों के ढेर पर प्रवाल बाहर की ओर पनपेंगे। इस प्रकार बिना किसी अधोगमन के शैलमाला का प्रसार गंभीर जल में हो सकता है; किन्तु शैलमाला के केवल ३० फैदम वाले ऊपरी भाग का ही निर्माण जीवित प्रवाल से होगा और अधिक गंभीर जल में इसकी नीवों में शैलमाला से टूटकर अलग हुए टुकड़े रहेंगे जो जलीय क्रिया के द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं।

शैलमाला के बाहर की ओर पनपने पर अन्दर वाले प्रवाल मर जाते हैं; तथा मर्रे का विश्वास है कि ये मृत प्रवाल धीरे-धीरे घुल जाते हैं। इस प्रकार शैलमाला की भीतरी परिधि तथा तट के बीच एक छिछली झील का निर्माण होता है तथा अनुतट शैलमाला धीरे-धीरे परातट शैलमाला में परिणत हो जाती है।

मर्रे के मतानुसार एटॉल का निर्माण उन पठारों तथा पहाड़ियों के शीर्षों पर होता है जो समुद्र-तल से लेकर उन गहराइयों तक उठे रहते हैं जहाँ शैलमाला का निर्माण वाले प्रवाल रहते हैं। प्रवाल समूह स्थापित होंगे तथा ऊपर और बाहर की ओर बढ़ेंगे जिसके फलस्वरूप बहुत-. से समूहों के एक साथ मिलने से शैलमाला रूपी एक पुंज का निर्माण होता है। इस प्रकार के किसी भी ुंज में बाहरी प्रवाल सबसे अधिक स्वच्छन्दता से बढ़ेंगे और सर्वप्रथम बढ़कर सतह तक बढ़ेंगे जिसके फलस्वरूप मुँदरी

अथवा एटॉल का निर्माण होगा जो छिछली झील को परिवेष्टित करेगा। जब शैलमाला इस अवस्था में पहुँच जाती है, अथवा यहाँ तक कि इसके पूर्व भी जीवित प्रवाल



चित्र ९८—मरे का वृत्ताकार प्रवाल पर्वतों के बनने का सिद्धान्त। बिन्दुओं वाला भाग निकर्दम और दूसरे निक्षेप प्रदर्शित करता है, जो कि ऊपर प्रवाल के विकास के स्तर तक बढ़ रहे हैं।

इसके समुद्र की ओर के बाहरी भाग तक ही सीमित रहेंगे और शैलमाला के भीतरी भाग वाले प्रवाल मृत रहेंगे। इस बात पर तर्क वितर्क हुआ था कि मृत[1] प्रवाल के घुलने से छिछली झील बड़ी तथा गहरी हो जायगी किन्तु इसके बाहरी भाग में प्रवाल बढ़ते ही जायेंगे। लेकिन यह बात सिद्ध नहीं हुई। प्रवाल की मुँदरी अधिक विस्तृत रूप से फैलेगी और समय के साथ-साथ एटॉल का आकार भी बढ़ता जायगा।

मर्रे के सिद्धान्त के मुताबिक बहुत-सी सामुद्रिक पहाड़ियों अथवा पठार रहते हैं जिनमें सबके सब करीब-करीब उसी स्तर तक उठते हैं; इनके सबके सब शीर्ष अवश्य ही जल की सतह से १५ से लेकर ३० फैदम नीचे रहे हैं। ऊँचाई में इस प्रकार के स्पष्ट संपात के लिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। और मर्रे ने दो विधियाँ प्रस्तावित की हैं जिनसे यहाँ तक कि मौलिक ऊँचाइयों के भिन्न रहने पर भी यह घटित होता है।

प्रवाल द्वीप-समूहों को छोड़ महासागर के बीच ऐसे अधिकांश द्वीप-समूह हैं जिनकी उत्पत्ति ज्वालामुखी के विस्फोट के फलस्वरूप हुई है। और उसका विश्वास है कि समुद्र तल के ऊँचे स्थान भी प्रधानतः ज्वालामुखीय उत्पत्ति के हैं। उनमें से बहुत तो समुद्र से ऊपर उठ गये और बहुत से आज भी तरंगों से ऊपर खड़े हैं। किन्तु क्योंकि ज्वालामुखी अग्न्युत्पात के समय निक्षिप्त टुकड़ों के ढेर मात्र होते हैं, इसलिए उनमें से बहुत समुद्र द्वारा तब तक शीघ्रता से नष्ट होते जायेंगे जबतक केवल एक छिछला समुद्र उस स्थान को अंकित करने के लिए न रह जाय। यह बात वास्तव में एक या दो उन ज्वालामुखीय द्वीपों में घटित हुई है जो गत सौ वर्षों के बीच उत्पन्न तथा विनष्ट हुए हैं।

---

१ यह देखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि किस प्रकार मर्रे द्वारा प्रस्तावित विधि से एकत्रित होनेवाले निकर्दम खड़े कोण पर टिक सकते हैं, जो (यह खड़ा कोण) प्रवाल शैलमालाओं की बाहरी ढालों पर विशेष कर पाया जाता है।

दूसरी पहाड़ियाँ मौलिक रूप से ३० फैदम वाली रेखा तक नहीं भी पहुँच सकी हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि तलप्लावी निक्षेप उन पर अपने चारों ओर के अधिक गहरे समुद्र की अपेक्षा अधिक तेजी से एकत्रित होंगे क्योंकि वहाँ चूने के कार्बोनेट[1] का घोल कम होगा। कालान्तर में उनके शीर्ष ऐसे स्तर तक उठ जाने जिस पर घोंघे तथा गंभीर समुद्र में निवास करनेवाले प्रवाल रहते हैं। और अन्त में उनके शीर्ष उस गहराई तक पहुँच जाते हैं जहाँ शैलमाला का निर्माण करनेवाले प्रवाल पनपना प्रारम्भ कर सकते हैं (चित्र ९८)।

इन दोनों विधियों से अर्थात् समुद्र से ऊपर खड़ी रहने वाली पहाड़ियों के क्षय होने से तथा उन पहाड़ियों पर जो सतह से बहुत नीचे है, निक्षेप के एकत्रित होने से पर्याप्त संख्या में ऊँचे स्थानों का निर्माण हो सकता है जिनपर शैलमाला का निर्माण करनेवाले प्रवाल रह सकते हैं।

डैली का हिम-सम्बन्धी नियंत्रण का सिद्धान्त :—डैली हवाई द्वीप-समूह को देखने गया था जहाँ वह शैलमालाओं की संकीर्णता को देखकर चकित हो गया था। उसके पश्चात् ही सर्वप्रथम १९१५ में यह सिद्धान्त प्रकाशित हुआ था। उसने द्वीपों के पर्वतों पर पूर्व हिम-घर्षण के चिन्ह भी देखे थे। इस प्रकार उसे अनुमान हुआ कि शैलमाला के विकास तथा ताप में कुछ सम्बन्ध हो सकता है। हवाई द्वीप के पास शीतकाल में जल का ताप वर्तमान समय में केवल प्रवाल के पनपने भर रहता है, इसलिए ऐसा अनुमान लगाना निसंदेह ठीक है कि हम-युग के समय जल (समुद्र) बहुत ज्यादा ठंडा था; इसलिए कोई भी पूर्व हिम सम्बन्धी शैलमाला नष्ट हो जाती। इसके अतिरिक्त यह साधारणतः माना जाता है कि प्लेस्टोसीन युग में हिम टोपों (ice-caps) के बहुत रूप से बढ़ने तथा प्रत्यावर्तन की वास्तविक संख्या के विषय में जो भी मत माना जाय; लेकिन समुद्र का स्तर सर्वाधिक हिम-घर्षण के समयों में संभवतः २०० से ३०० फुट तक नीचे गिरा था और पुनः उष्णतर समयों में उठ गया था। ठंडे जल तथा निम्न समुद्र स्तर के मेल से शैलमालाएँ केवल नष्ट नहीं हो जातीं बल्कि इससे उस स्तर पर चबूतरों तथा पौरस स्थल (benches) का निर्माण भी होता जो वर्तमान समुद्र-स्तर से पर्याप्त रूप से नीचे हैं। दशाओं के अच्छी होने (सुधरने पर) पर प्रवाल पुनः उस क्षेत्र में निवास कर सके होंगे तथा नव निर्मित छज्जों पर पनपने लगे होंगे। यदि प्रवालों के वहाँ पुनः निवास करने के दिन से अधिक समय नहीं बीता है तो ऐसी आशा करना नितान्त युक्तिपूर्ण है कि वर्तमान की तरह हवाई द्वीप की शैलमालाएँ जिस छज्जा पर यह द्वीप अवस्थित है, उसके आकार के समानुपात में अच्छी तरह बढ़कर ऊपर आ जाती।

ताप और साथ ही साथ जल का स्तर सारे संसार में अवश्य गिरा होगा किन्तु ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त कारण है कि भूमध्य रेखीय क्षेत्रों में निम्नतर ताप जितने ताप की आवश्यकता प्रवाल के विकास के लिए होती है उससे कम नहीं हुआ और

---

१ यह पता चलेगा कि मर्रे ने घोल का अधिक गहराइयों तथा छिछली झीलों में रहना सम्भव माना है, किन्तु उसके ऐसा अनुमान लगाने का भी पता लगता है कि खुले स्थानवाले सामुद्रिक पर्वतों के शीर्षों पर तथा उनके निकट थोड़ा या बिल्कुल घोलनहीं हुआ था।

ऐसा केवल प्रवाल के विकास की सीमाओं के निकट (अर्थात् पार्श्ववर्ती पट्टियाँ) हुआ। इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि भूमध्य रेखा के पास जल के स्तर के गिरने से शैलमालाएँ अस्थायी रूप से अनावृत्त हो गयीं, जो प्रवाल तथा अन्य जीवों के मरणोपरान्त शीघ्र ही कटकर नष्ट हो गयीं। इसके विपरीत समुद्र-स्तर के पास बढ़ते हुए पर्याप्त प्रवाल थे जिसमें पार्श्ववर्ती क्षेत्रों की भाँति इन समुद्रों में, यदि होता भी, चबूतरे का शीघ्रता से अधिक निर्माण नहीं होता।

डार्विन तथा डना द्वारा प्रतिपादित ऊर्ध्वाधर गतियों की भाँति इस सिद्धान्त में किसी प्रकार की ऊर्ध्वाधर गतियाँ सन्निहित नहीं हैं। और न अतिशय यात्रा में क्षयीकरण (erosion) ही निहित है। और यह प्रायः उस क्षय से ज्यादा नहीं होता जितने की उचित आधारों पर घटित होने की आशा की जाती है। इस अवस्था में केवल दो अन्य बातों के उद्धृत करने की आवश्यकता है—पहली बात यह है कि डैली ने स्थानीय अन्तःकृत गतियों की सम्भावना को मान लिया, और दूसरी बात यह है कि अब यह नितान्त स्पष्ट है कि प्रवाल शैलमाला की समस्या का सुलझाव जो भी हो, लेकिन प्लेस्टोसीन युग में हुए समुद्र के स्तर के उच्चावयन (fluctuation) के महत्व को इससे निकाल देना असम्भव है।

तटीय प्राकृतिक बनावट का महत्वः—१९१४-१८ की लड़ाई के पश्चात् डेविस (Davis) को प्रवाल शैलमाला की समस्या में दिलचस्पी हो गयी, और यद्यपि कि उसने किसी विशेष परिकल्पना का प्रणयन नहीं किया जिसे उसके नाम के साथ सम्बद्ध किया जा सके, लेकिन फिर भी उसने हमारे सामने एक दृष्टिकोण रखा है। यह सत्य है कि डना तथा और लोगों ने प्रायः प्रसंगवश अपने ध्यान जलमग्न घाटियों की ओर आकर्षित किए थे; किन्तु वस्तुतः किसी का भी ध्यान परातट शैलमाला के अन्तर्गत वाली तटरेखाओं की प्राकृतिक बनावट के यथार्थ अर्थ की ओर नहीं गया था। इस विषय को एक या दो परिच्छेदों में सीमित कर देना सरल नहीं है; अतः दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है। जलमग्न घाटियों अथवा खाड़ी वाली तटरेखाओं का तात्पर्य स्थल अथवा समुद्र के स्तर में परिवर्तन से है। लेकिन यह सत्य है कि डैली के सिद्धान्त में समुद्र स्तर का हिम युग के पश्चात् उठने का तात्पर्य जलमग्न घाटियों के वर्तमान रहने से होगा, किन्तु ये जलमग्न घाटियाँ अधिक से अधिक ३०० फुट से अधिक नीचे नहीं जायेंगी। और यदि यह प्रमाणित कर दिया जाय कि भूतलिक जलमग्न घाटियाँ परातट शैलमाला के अन्तर्गत इसकी अपेक्षा पर्याप्त रूप से अधिक गहराइयों में वर्तमान हैं, तो इसका मतलब यह है कि हमें अधोगमन के लिये अच्छा प्रमाण मिल जाता है। विपरीत साथ ही इस बात पर पूरा ध्यान देना चाहिए क्योंकि ऐसा हो सकता है कि किसी खास घाटी का अधोगमन कई सौ फुट हुआ, किन्तु ध्वनन से केवल २०० फुट से भी कम गहरे जल का पता लगता है क्योंकि घाटी का निम्न भाग तलहट से भर गया है। इसे प्रमाणित करना हमेशा सरल नहीं है, किन्तु इसके लिए यथार्थ नकशे स्पष्ट रूप से आवश्यक हैं, और यदि उनसे खड़े किनारे तथा चौरस तल वाली जलमग्न घाटी का अनुमान हो, तो ऐसा सोचने के लिए यह सर्वप्रथम कारण हो जाता है कि वहाँ पर तलछट जमा हुआ है। किन्तु फिर भी सम्पूर्ण भूम्याकार पर सावधानी से विचार करना चाहिए।

दूसरी महत्वपूर्ण बात उच्छृंगों (cliffs) से सम्बन्ध रखती है। यह विषय

भी डैली के सिद्धान्त से सन्निकटता से सम्बद्ध है जिसके अनुसार यह स्पष्ट है कि यदि चबूतरे हिम युग में निम्न स्तरों पर बने थे, तो स्पष्टत: उच्छृंग भी साथ-साथ बने थे। अत: उच्छृंग सम्पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से जलमग्न हो गये और शैलमालाओं के पीछे उनका पाया जाना अपेक्षाकृत अधिक पार्श्ववर्ती प्रवाल क्षेत्रों की विशेषता मानी जानी चाहिए। संसार के उन भागों में जहाँ समुद्र-स्तर के उच्चावचन के बावजूद भी प्रवाल का अविराम गति से विकास हुआ, वहाँ शैलमालाएँ अपने अन्तर्गत वाले स्थल को बचाए होतीं, तथा छिछली झील की तरंगों द्वारा सूक्ष्म कटान (nipping) के अतिरिक्त, उच्छृंगों को वहाँ नहीं पाया जाना चाहिए।

डेविस ने भी दो अन्य बातों पर जोर दिया जिनमें पहली बात शैलमालाओं का अपने आधारों के साथ असमान स्पर्श तथा दूसरी बात शैलमाला द्वारा परिवेष्टित द्वीपों से कटकर घर्षित चूर्ण का परिचालन है। ये दोनों बातें उपरोक्त बातों के साथ-साथ प्रवाल शैलमालाओं के अधोगमन के सिद्धान्त की पुष्टि में उसके द्वारा व्यवहृत हुई थीं। यहाँ उन पर अधिक विवेचन नहीं होगा क्योंकि वे प्रमुखत: अध्ययन सम्बन्धी अभिरुचि तथा जलमग्न घाटियों और उच्छृंगों के निर्माण से कम महत्वपूर्ण मालूम पड़ते हैं।

प्रमाण का विवेचन :—सीमित स्थान जो यहाँ प्राप्य है, उसमें इन सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए दिए गये तर्कों में से कुछ की ओर निर्देश कर देने से अधिक कार्य करना असम्भव है।

कुछ एटॉल तथा परातट शैलमालाएँ अधोगमन वाले क्षेत्रों में बनी हैं; इसके लिए प्रबल प्रमाण है। क्वीनस्लैंड का तट जो ग्रेट बैरियर रीफ के अन्तर्गत है, जलमग्न घाटियाँ प्रदर्शित करता है और बाह्यस्थित द्वीप डूबते हुए स्थल के परिचायक हैं। बहुत से गोलाकार शैलमालाओं के केन्द्र में द्वीप है जिसमें अनुरूप भग्न तटरेखा है और यह स्पष्ट है कि थोड़ा और डूबने से अधोगमन होने से शैलमाला एटॉल में परिवर्तित हो जायँगी। किन्तु यदि वास्तविक अधोगमन हुआ हो तो स्पष्टत: यह दिखाना होगा कि निमग्नता (submergence) हिम सम्बन्धी नियंत्रण सिद्धान्त में सन्निहित निमग्नता की अपेक्षा अधिक हुई है।

यह समान रूप से स्पष्ट है कि दूसरे एटॉल अधोगमन के बिना ही बने हैं। डार्विन ने खुद स्वीकार किया है कि छिछले समुद्रों में प्रवाल पुजों का बाहर की ओर की प्राकृतिक बाढ़ से गोलाकार शैलममलाओं का निर्माण होगा। उसने सोचा कि एटॉल तथा पश्चिमी भारतीय समुद्रों की परातट के समान शैलमालाएँ धाराओं के द्वारा एकत्रित तलछट के तटों पर इसी प्रकार बनीं। किन्तु उसने इन शैलमालाओं और हिन्द तथा प्रशान्त महासागरों में स्थित गंभीर नीव वाली शैलमालाओं के बीच अन्तर निकाला जिस पर उसे विश्वास हुआ कि इनकी ठोस नींव प्रवाल की बनी है।

फिर भी, यहाँ तक कि प्रशान्त महासागर में भी बहुत से एटॉल उन क्षेत्रों में पाए जाते हैं जहाँ अधोगमन का कोई प्रमाण नहीं मिलता है; बल्कि इसके विपरीत वहाँ ऊँचाई का निश्चित प्रमाण मिलता है। पिलिउ द्वीप समूह (Pelew Islands) तथा प्रशान्त महासागर के और भी बहुत से द्वीपीय समूहों में प्रवाल शैलमालाएँ हैं जो समुद्र सतह से ऊपर उठ आयी हैं जो स्पष्ट रूप से ऊँचाई की ओर संकेत हैं, और तो भी उन्हीं समूहों में एटॉल भी आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त एटॉल कभी-कभी थोड़ी

गहराई वाले जल में भी पाए जाते हैं जो पठार पर खड़े रहते हैं; और प्रत्यक्ष रूप से डूबी हुई चोटियों पर अवस्थित नहीं रहते।

डार्विन के मतानुसार परातट शैलमालाओं और एटॉल वाली शैलमालाओं को पर्याप्त रूप से काफी मोटी होनी चाहिए—तथा यह मोटाई प्राय: २००० फुट अथवा इससे भी अधिक होनी चाहिए। मर्रे के मतानुसार ऐसी शैलमालाओं का केवल ऊपर वाला ३० फैदम (अर्थात् २०० फुट से कम) वाला भाग प्रवाल से बना है जो उस स्थान में उत्पन्न हुआ है। ऐसा देखा गया है कि बहुत सी उठी हुई शैलमालाओं में प्रवाल की मोटाई २०० फुट से अधिक नहीं है, और इस बात का अपर्याप्त प्रमाण के वावजूद भी यहाँ तक समर्थन किया गया है कि यह मोटाई शायद ही कभी ३० फैदम से ज्यादा हुई है। ऐसे एटॉल के बहुत से उदाहरण हैं जो समुद्र-सतह से ऊपर उठ आए हैं, और परीक्षित एटॉल में प्रवाल वाले निक्षेप की मोटाई २०० फुट से कम है। सोलोमोन द्वीप समूह में सान्ता आना, और सम्भवत: जावा के दक्षिण में क्रिस्टमास द्वीप इसके उदाहरण हैं।

मर्रे की परिकल्पना के आधार पर बहुत-सी शैलमालाओं की बाहरी ढाल के खड़ापन का स्पष्टीकरण करना कुछ कठिन है। यह समझना सरल है कि पनपते हुए प्रवाल से दृढ़ता से निर्मित पुंज में लम्ब रूपी दीवारें हो सकती हैं लेकिन उसके मतानुसार शैलमाला का केवल ३० फैदम वाले ऊपरी भाग ही इस प्रकार बनते हैं। निचले भाग में तलप्लावी निक्षेप ३० फैदम के नीचे समुद्र-तल पर निवास करनेवाले जीवधारियों के कर्पर तथा हड्डियाँ, पौधे एवं शैलमाला से घर्षित चूर्ण रहते हैं। यह वास्तव में टुकड़ों के जमा होने से बना है; और इस वात पर विश्वास करना कठिन है कि इस प्रकार के संचय में बाहरी ढाल हो सकती है जो ७५° तक का भी हो। फिर भी ३० फैदम से बहुत अधिक गहराइयों में प्रवाल शैलमालाओं के समुद्र वाले भागों की ओर खड़ी और बहुत ज्यादा खड़ी ढालें मिलती हैं परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि चूनेदार काई अथवा अन्य अचल जीवधारी ठोस निक्षेप का निर्माण करते और वास्तव में प्रवाल नहीं बल्कि शैलमालाओं का निर्माण करने वाले जीवधारी गंभीर जल में पनप सकते हैं।

बहुत सी शैलमालाओं के अन्तर्गत वाली छिछली झील की गहराई का भी मर की व्याख्या से संतोषजनक पता नहीं लगता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि शैलमाला का निर्माण उस चबूतरे पर हुआ है जो या तो क्षयीकरण द्वारा घिस कर नीचा हो गया है या तलछट के एकत्रीकरण द्वारा ३० फैदम की गहराई तक उठ गया है। अत: छिछली झील की प्राकृतिक गहराई ३० फैदम से कम होनी चाहिए; किन्तु यह (गहराई) प्राय: ४० या यहाँ तक कि ५० फैदम या इससे भी अधिक बढ़ जाती है। मर्रे समुद्र के जल द्वारा मृत प्रवाल का घुलना इसके गहरी होने का कारण वतलाते हैं किन्तु जिसमें गहराई ४० फैदम हो सके, उसके लिये छिछली झील वाली केवल सम्पूर्ण प्रवालीय चट्टान ही नहीं हट गयी है बल्कि उस नींव का भी १० फैदम का भाग हट गया है जिस पर प्रवाल का निर्माण होता है। साधारणतया यह नींव ज्वालामुखीय उत्पत्ति वाली थी, अथवा इसका निर्माण समुद्र में तलछट के एकत्रीकरण से हुआ था; परन्तु ऐसा कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि यह क्यों खुले महासागर के जल की अपेक्षा छिछली झील के जल से अधिक सरलता से घुल जाय। ऐसा सिद्ध किया जा सकता है

कि छिछली झील की अपेक्षा खुले महासागर में तलछट का एकत्रीकरण अधिक तेजी से होता गया, और इसलिए घुलने की गति अपेक्षाकृत अधिक हो गयी; किन्तु इसके प्रस्तुत प्रमाण कुछ विवादास्पद हैं। प्रेक्षणों से पता चलता है कि कुछेक एटॉल के अन्तर्गत वाली छिछली झील भरती जा रही है और इसके विपरीत हो सकता है कि दूसरे एटॉल में यह दिनों-दिन गहरी भी होती जा रही हो।

प्रवाल का नाश भी, जो निस्संदेह जारी रहता है, अधिकांशतः छिद्र करने वाले जीवधारियों तथा पौधों के कारण ही होता है और धाराओं के कार्य एवं घुलनशीलता को छिछली झील के गहरी और बड़ी होते जाने का कारण बतलाया जाता है।

डार्विन के सिद्धान्त का तात्पर्य स्थायित्व (stability) से है। उसने तर्क पेश किया कि ऐसे बहुत से सामुद्रिक पर्वत तथा तट हैं जो प्लेस्टोसीन युग में बेंच के आकार की स्थलाकृति बनने के फलस्वरूप उस स्तर तक कट गये थे जिसपर ताप तथा अन्य दशाओं के अनुकूल होने पर प्रवाल पनपकर निर्माण का कार्य करते। इसमें मर्रे के सिद्धान्त के साथ स्पष्ट सादृश्य मिलते हैं और उसने भी उसी प्रकार छिछली झीलों के गहराई के पूर्वानुमानित निम्न समुद्र-स्तर के अनुरूप (accordant) होने के विषय में तर्क पेश किया। किन्तु गहराई की सादृश्यता पर आधारित तर्क मर्रे के सिद्धान्त की अपेक्षा डैली के सिद्धान्त के कहीं अधिक विपक्ष में जाता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि बहुत से सामुद्रिक तट बहुधा बहुत चौड़े होते हैं (अर्थात् मैक्लिस फिल्ड नामक तट ५५ किलोमीटर चौड़ा है और इसपर ५५ तथा ६० फैदम की गहराइयाँ भी मिलती हैं)। इसलिए ऐसा अनुमान करना कठिन है कि वे क्वाटरनरी युग में इस स्तर तक कटे थे। यह भी स्मरण रखना है कि जहाँ सर्वप्रथम डैली की परिकल्पना द्वारा छिछली झीलों के चौरस तलों का समर्थन होता है, वहाँ चट्टान वाले वास्तविक चबूतरों के प्रमाणित होने पर यह तर्क अपेक्षाकृत अधिक जबर्दस्त होता। फिर भी, यह सम्भव है कि बहुत सी छिछली झीलों के तलों का चौरसपन तथा उनकी ऊँचाई बहुत हदतक तलछट के जमाव के कारण है।

उच्छृंगों के बनने की चर्चा पहले ही हो चुकी है। यह स्पष्ट है कि समुद्र-स्तर के दोलनों का वर्णन किसी भी सिद्धान्त में अवश्य होना चाहिए। और इसी अर्थ में डैली के सिद्धान्त का सबसे बड़ा हाथ बँटाता है। डार्विन के तर्कों की प्रमुख रूप-रेखाएँ पहले ही दी जा चुकी हैं। प्लेस्टोसीन युग के समुद्र-स [illegible] बहुत अधिक जलमग्न घाटियों को निश्चित रूप से सिद्ध किया जा चुका है जिसका भू-प्रकृति सम्बन्धी तर्क का मूल परिणाम बहुत से स्थानों में अधोगमन के आधार पर डार्विन के मत को पुष्टि करता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि किसी भी सिद्धान्त के व्यापक होने की आवश्यकता नहीं है। अतः वर्तमान समय में जहाँ तक हमारी जानकारी है, उसके आधार पर हम उचित रूप से यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रशान्त और हिन्द महासागरों के भागों में अधोगमन हुआ है और वहीं पर हम यह भी जानते हैं कि दूसरे भाग अचल रहे हैं अथवा उठ गये हैं। फिर भी किसी भी दशा में हमें अभी-तक यह विदित नहीं है कि क्यों और किस प्रकार अधिक गहराइयों तक ये डूब गये हैं।

इन सभी अनिश्चयात्मक तर्कों की दृष्टि से ऐसा विचार किया जा सकता है कि शैलमालाओं से होकर नीचे जाने वाले छेद उनकी प्रकृति का निरुपण करते। मर्रे के मतानुसार केवल ऊपर वाले ३० फैदम तक प्रवाल को रहना चाहिये और इसे सीधे

या तो ज्वालामुखीय चट्टान वाली नींव पर, भग्न प्रवाल के चूर्ण के ढेर पर, या शैलमाला का निर्माण करने वाले प्रवाल से भिन्न तलप्लावी तथा अन्य जैविक अवशेषों के ढेर पर स्थित रहना चाहिये। डार्विन के सिद्धान्त के मुताबिक प्रवाल तथा शैलमाला का निर्माण करनेवाले अन्य जीवधारियों को ३० फैदम से बहुत नीचे तक रहना तथा सीधे उस चोटी के किनारों पर स्थित रहना चाहिये जिसके चारों ओर एटॉल का निर्माण हुआ था।

१९०४ में दक्षिण प्रशान्त महासागर में अवस्थित एलिस समूह (Ellice group) के फूनाफुत्ती के एटॉल को चुना गया था और बहुत प्रयत्न के बाद ११४$\frac{1}{2}$ फुट की गहराई तक एक छेद किया गया था। अधिकांश द्रव्य जो बरमा (borer) से होकर गुजरा, खासकर छिद्र के ऊपरी भाग में, पर्याप्त रूप से ठोस नहीं था ताकि वह बरमा (borer) के कार्य को सह सके; इसलिये वह टुकड़ों के रूप में ऊपर चला आया। करीब-करीब उसका एक तिहाई भाग पर्याप्त रूप से कठिन था जिससे भीतरी ठोस भाग का निर्माण हो। द्रव्य को विस्तार के साथ जाँच करने से पता चला कि उसका सम्पूर्ण भाग प्रमुखतः फोरामिनीफेरा, प्रवाल और चूनेदार काई से बना था तथा उसी प्रकार के द्रव्य ऊपर से नीचे तक फैले हैं। शैलमाला का निर्माण करनेवाले प्रवाल सभी जगह पाये गये थे। और यहाँ तक कि छिद्र के निम्न भाग में भी वे परिवर्द्धन की स्थिति में ही दिखाई पड़े लेकिन प्रवाल के संरक्षण की अपूर्ण अवस्था के कारण यह निष्कर्ष संदेहात्मक है। इसके अतिरिक्त जिन चट्टानों से होकर छिद्र हुआ, वे प्रायः सबके सब रासायनिक विधि से डोलोमाइट में परिणत हो गये, और यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि डोलोमाइट छिछले जल में बनता है। यहाँ तक प्रमाण मिलता है; अतः यह निश्चित रूप से डार्विन के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। यह संभव है कि शैलमाला का निम्न भाग पत्थर के टुकड़ों के ढेर से बना हो सकता है; किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए एक भी प्रमाण नहीं है। और न तो और किसी दूसरी तरह के निक्षेप के चिन्ह ही थे जिनकी मर्रे के सिद्धान्त के लिए जरूरत पड़ती है।

छिछली झील में दो छेद किए गये थे जहाँ भाटा के समय जल की गहराई १०१ फुट थी। एक छेद छिछली झील के तल के ११३ फुट नीचे तक गया और दूसरा १४४ फुट नीचे और इन गहराइयों तक पहुँचने पर चूने का पत्थर (limestone) मिला जो इतना कड़ा था कि प्रयुक्त यंत्र उसमें प्रवेश न कर सका। प्रत्येक छेद में ३० फुट तक वाला ऊपरी भाग प्रधानतः चूनेदार काई के टुकड़ों से बना था तथा साधारण गुण की दृष्टि से यह छिछली झील में एकत्रित होने वाले निक्षेप के समान था।

और भी अन्य छेद ग्रेट बैरियर रीफ में बनाए गये हैं। मिचेलमास वाले छेद से अप्रत्याशित परिणाम निकले हैं। वहाँ पर कुछ फुट की गहराई तक ठोस द्रव्य था जिसके नीचे ४०० फुट मोटा ढीले रूप में सम्बद्ध द्रव्य मिला और अन्त में स्फटिकीय बालू (Quartz Sand) फोरामिनीफेरा। दूसरा छेद शैलमालाओं के दक्षिणी छोर पर हेरॉन द्वीप (Heron Island) में किया गया। यहाँ भी परिणाम कुछ उसी तरह के थे। ५०० फुट के नीचे छेद स्फटिकीय-फोरामिनीफेरा वाली बालू से होकर गुजरा तथा ५०० फुट से ऊपर में प्रधानतः शैलमाला का निर्माण करने वाले द्रव्यों से होकर। यह अनुमान किया जाता है कि प्रमाण का तात्पर्य कम से कम ६० फैदम अधोगमन से है। (दूसरे पृष्ठ पर नोट देखिए)।

छेदों से निकाले जाने वाले साधारण प्रमाण से अधोगमन की पुष्टि होती है, लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि तर्कों से स्पष्ट रूप से डार्विन सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

सामान्य निष्कर्ष :—प्रमाण के विवादास्पद प्रकृति के कारण कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना कठिन है, केवल इस बात को छोड़कर कि एटॉल तथा परातट शैल-मालाएँ कई तरह से बन सकती हैं। कुछ का विकास तो अधोगमन वाले क्षेत्रों में हुआ है और कुछ का ऐसे क्षेत्रों में जहाँ जमीन नीचे नहीं धँसी है।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता है कि एटॉल जलमग्न द्वीपों को परिवेष्टित करते हैं। समुद्र के किसी भी विस्तृत छिछले भाग पर प्रवाल पुंजों के बाहर की ओर पनपने से बहुत-सी गोलाकार शैलमालाएँ बन सकती हैं; और यदि समुद्र के छिछले भाग धीरे-धीरे (का अवनमन) नीचे की ओर धँस जाता है तो भी प्रत्येक शैलमाला का ऊपर की ओर बढ़ना जारी रहेगा जिसके फलस्वरूप एक एटॉल का निर्माण होगा जिसका आधार गंभीर समुद्र तल पर होगा।

लेकिन इस बात का कुछ प्रमाण मिलता है कि सामुद्रिक उत्सेधों के शीर्षों (summit of submarine elevations) को प्रवाल के पनपने वाले स्तर तक ऊपर उठाने में तलप्लावी निक्षेपों के एकत्रीकरण का बड़ा हाथ रहा है। ग्लोबीजेरिना वाले चूने के पत्थर तथा इसी तरह के निक्षेप उन्नत (raised) शैलमालाओं के आधार पर पाये गये हैं; तथा सॉलमॉन द्वीप-समूह की एक शैलमाला के विषय में ऐसा जिक्र किया गया है कि वह ऐसे द्रव्य पर अवस्थित है जो बहुत अंशों में खड्डों (deeps) में पायी जानेवाली लाल मिट्टी के समान है। लेकिन यह समुद्र तल के पृथ्वी की गति (movement) द्वारा उठने का प्रमाण है न कि तलछट के जमाव द्वारा। इस बात का समर्थन मुश्किल से किया जा सकता है कि महासागरीय लाल मिट्टी के अधिकाधिक निक्षेप का जमाव समुद्र-स्तर को उस स्तर के ऊपर उठा सकता था जिसपर शैलमाला का निर्माण करनेवाले प्रवाल रहते हैं।

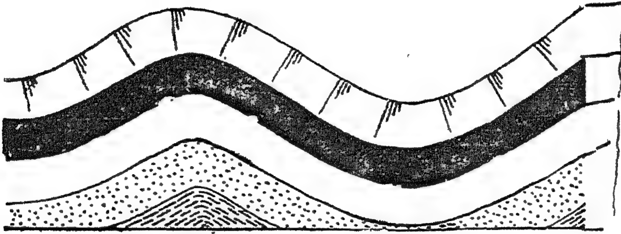
यह कहा जा सकता है कि इस बात का कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि छिछली झीलों में साधारणतः विलयन (solution) तथा क्षयीकरण द्वारा निक्षेप के जमाव द्वारा छिछली होने की अपेक्षा गहरी होती है।

बिकनी के छिद्रों पर टिप्पणी—इस अध्याय के लिखे जाने के बाद से प्रवाल द्वीपों में किए गये छिद्रों के विषय में अतिरिक्त सूचना प्राप्त हुई है। १९४७ में बिकनी
थे जिनमें एक २५५६ फुट की गहराई तक है। अभिलेखों (records) की संख्या बढ़ती जाती है लेकिन ये वास्तवमें किसी सिद्धान्त को प्रमाणित नहीं करते। सतह से लेकर ज्वार के ठीक नीचे असम्बद्ध (unconsolidated) बालू तथा कंकड़-पत्थर वहाँ पाये गये। इसके नीचे दो फुट मोटी तह वाले चूनेदार बालू के पत्थर और कॉग्लोमरेट मिले। और उसके नीचे ६५ से लेकर ७५ फुट मोटी तह वाली शैलमाला वाला चूने का पत्थर मिला जो केवल अंशतः ठोस था। इस पर्त से लेकर ४२५ फुटकी गहराई तक एक पट्टी मिली जो काई तथा अन्य जीवावशेषों के साथ सरन्ध्र (porous) अत्यल्प सम्बन्ध उजला अथवा मलाई के सदृश उजला प्रवाल वाला चूने के पत्थर की बनी थी। ४२५ फुट तथा ७२५ फुट के बीच जिस द्रव्यसे होकर छिद्र हुआ है, वह क्रमानुसार विन्यास्त है और उसमें सर्वप्रथम उजला, अत्यल्प ठोस चूने का पत्थर और उसके बाद आ ीत भूरे रंग का (tan-coloured)

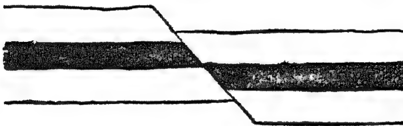
कभी-कभी मोड़दार होने के बदले पर्तें टूट जाती हैं और तोड़ के एक तरफ तहें दूसरी तरफ वाली तहों से सापेक्षतया नीचे चली जाती हैं। इस प्रकार के टूटने को दराज (fault) कहते हैं (चित्र १०२)।

जब दराज प्रायः अनुप्रस्थ रहता है, और उसके ऊपरवाली तहें अपने से नीचे वाली तहों पर धक्का द्वारा आगे की ओर बढ़ जाती हैं, तो उस दराज को वितोदन सतह (thrust-plane) कहते हैं (चित्र ११३)। वितोदन सतह मोड़दार तहों में विकसित हो जाती है। धक्का के एक तरफ से बहुत प्रबल रहने पर परिवर्तित मोड़ वितोदन सतह पर टूट जाती है जिससे ऊपरी संहति वितोदन की सतह पर काफी आगे बढ़ जाती है।

जोड़ (joints)—अधिकांश चट्टानें, चाहे वे आग्नेय हों या परतदार, कुछ दिशाओं में अन्य दिशाओं की अपेक्षा अधिक सरलता से टूटती हैं। बहुत प्रकार की



चित्र १०१—अपनति और अभिनति



चित्र १०२—दराज

स्तरित चट्टानें अनायास तह पर अलग हो जाती हैं अर्थात् परत या तहों के बीच जिनसे वे बनती हैं। लेकिन सामान्यतः वे सुन्दर ढंग से आसानी से तह पर समकोण पर रहने वाली सतहों की दो संहितियों पर टूटती हैं। शक्तिहीनता की इन सतहों को जोड़ (joint) कहते हैं, जो पहाड़ या पहाड़ी की उबड़-खाबड़ चोटी के ढालुएँ भागों और उच्छृंगों (crags & cliffs) पर जहाँ चट्टानें मौसम में अनावृत्त रहती हैं, (प्लेट ६), काफी प्रभाव डालती हैं। ज्यादातर जोड़ों की एक संहिति तहों के नमन के समानान्तर रहती है और दूसरी संहिति (set) स्ट्राइक के समानान्तर रहती है।

आग्नेय चट्टानों में जोड़ों का रूप परिवर्तित होता रहता है। बैसाल्ट, जैसा कि जाइन्ट काउजवे में (Giant's Causeway) बहुधा षट्भुजीय स्तम्भों की श्रेणी में टूटता है, और साथ ही स्तम्भों के आरपार बहुधा अनुप्रस्थ जोड़ भी रहते हैं (प्लेट ६)।

ग्रेनाइटों में जोड़ चट्टान को अधिकतर आयताकार विशाल टुकड़ों के रूप में टूटने को वाध्य करते हैं, जो मौसम में अनावृत्त रहने के कारण गोल हो जाते हैं जिससे डेवॉन कॉर्नवाल के विशिष्ट टॉर्स का निर्माण हुआ है (प्लेट ६)।

फटन (cleavage)—जोड़ों की उपस्थिति चट्टानों की संहति को विभिन्न रूप और आकार के वड़े-बड़े टुकड़ों के रूप में टुटने को वाध्य करेगी। लेकिन कुछ प्रकार की चट्टानें जिनपर अधिक दाव का असर पड़ा है, वे भी पतली चादरों या छोटे चौरस शिला के रूप में आसानी से अलग हो या फट जाती हैं। कभी-कभी फटन समकोण पर रहती है। जोड़ पड़ने की भाँति फटन भी चट्टान में शक्ति हीनता की सतहों के कारण उत्पन्न होती है, लेकिन फटन की सतहों की प्रकृति तथा उत्पत्ति जोड़ की सतहों से भिन्न हुआ करती हैं। छत पाटने वाली साधारण स्लेट एक ऐसी चट्टान है जिसमें फटन अच्छी तरह विकसित रहती है। ऐसी चट्टानों में तह पर अलग होने की सारी प्रवृत्ति नष्ट हो गयी है।

चट्टानें और भूम्याकृति :—उच्चावचन (relief) की साधारण आकृतियाँ प्रदेशीय बनावट (structure) तथा क्षयीकरण के उन प्रक्रमों से निर्धारित होती हैं जो खुद भी जलवायु पर निर्भर करते हैं। लेकिन उच्चावचन (सम्बन्धी सारी बातों) के विवरण (details) चट्टानों के कुछेक विशेष गुणों के द्वारा निर्धारित होते हैं बशर्ते कि चट्टानें सम्बन्द्ध प्रदेश में नग्न हों (exposed)। ये गुण भौतिक तथा रासायनिक है और खास समूहों की चट्टानों में खूब पाए जाते हैं। महत्वपूर्ण गुण है पारगम्यता (permeability) विलेयता (solubility) दाने का आकार (grain size) संसंजन (cohesion) तथा चट्टानों में पाए जाने वाले तड़कन के क्रम (fracture systems) जैसे जोड़ और उनके अंतरण। पारगम्यता ऐसा गुण (property) है जो जल को चट्टान में छिद्र वाली जगहों या तहों या जोड़ों के तलों (bedding or joint planes) से होकर टपक-टपक कर नीचे गिरने लायक बनाता है। बालू के पत्थर अत्यधिक सरंध्र चट्टानें हैं लेकिन शेल और मिट्टी—ये दोनों जल के लिए असरंध्र (impervious) हैं। मिट्टी की वास्तविक सरंध्रता (porosity) बालू के पत्थर से अधिक है लेकिन इसकी छिद्र वाली जगहें इतनी सूक्ष्म होती है कि वे जल को बहने नहीं देती हैं, परन्तु जल मिट्टी के बारीक कणों में चिपक जाता है। जमीन के अन्दर जल के टपक-टपक कर नीचे गिरने के कारण बालू के पत्थर या अबलुआही मिट्टी वाले क्षेत्रों में नदियाँ बहुत ही कम पायी जाती हैं और सहायक नदियाँ तो और भी कम पायी जाती हैं। घाटियाँ गहरी नहीं होती हैं और भूम्याकृति सुनिश्चित नहीं होती है। इसके विपरीत शेल चट्टान वाले क्षेत्र में सतह पर जल की प्रचुरता रहती है और नदियों में बहुत सी सहायक नदियाँ आकर मिलती है। जलप्रवाह का ढाँचा वृक्ष के समान (dendritic) या सुन्दर शाखादार (fine branching pattern) होता है तथा घाटियाँ गहरी होती हैं।

पारगम्यता को चट्टानों के जोड़ों तथा तहों के तलों से मदद मिलती है। जमीन पर वाला जल इनसे होकर विशाल चट्टानों में जैसे, ग्रेनाइट या नीस तथा विशेषकर चूने के पत्थर में बहता है।

विलेयता (solubility) खास चट्टानों का गुण है जिसके सहारे वे विलयन

(solution) में कार्बन डाइऑक्साइड वाले जल में घुल (dissolve) जाती है। इस विषय पर जमीन के अन्दर के जल वाले खंड में विशेष प्रकाश डाला गया है।

बारीक वाली चट्टानें (fine-grained rocks) बड़े दाने वाली चट्टानों (coarse-grained rocks) की अपेक्षा अधिक ठोस होती हैं और इसलिए धात्विक रचना में वे बहुत अधिक एक समान दिखाई पड़ती हैं जिसके लिए वे समांग (homogeneous) चट्टानों की तरह कार्य करते हैं। भिन्न खनिजों के बारीक दाने सौयिक ताप के प्रभाव में कम या ज्यादा एक रूप से फैलते तथा सिकुड़ते हैं और इसलिए वे अनायास ही विघटित (disintegrate) नहीं हो जाते। बारीक दाने वाली आग्नेय चट्टानें, जैसे, बैसाल्ट और डोलेराइट विघटन को बड़े दाने वाली चट्टानों, जैसे, गैब्रो या ग्रेनाइट, की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह रोकती है। दूसरे प्रकार की चट्टानों में (coarse-grained rocks) स्फतीय और अबरक (felspars and micas) के रासायनिक परिवर्तन (chemical alteration) ऋतु संघर्षण के दूतों को अधिक गहरे भागों पर आक्रमण करने देता है।

विशाल चट्टानों का, जैसे ग्रेनाइट, गैब्रो, नीस आदि का रूप उनके तलागत भागों (outcrops) में गोल हुआ करता है। चूँकि उनके कोने और किनारे अधिक सरलता से ऋतुअपक्षयण द्वारा घिसकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जुड़े हुए आयताकार बड़े टुकड़े गोल बन जाते हैं। (तिर्यक) तिरछे जोड़ों से मदद मिलने पर इन चट्टानों के बर्क (exfoliation) अलग होकर टूटने लगते हैं। बर्क के अलग होकर टूटने से बने ग्रेनाइट तथा नीस के गुम्बद छोटानागपुर, राजस्थान और दक्षिणी भारत की ग्रेनाइट तथा नीस के भूप्रदेशों (terrains) में काफी पाए जाते हैं। राजस्थान जैसे सूखे क्षेत्रों में बारी-बारी से तापन तथा शीतन (alternate heating & cooling) और ताप के मौसमी परिवर्तन के कारण सतह बारी-बारी से फैलती तथा सिकुड़ती है। इस प्रक्रम की पुनरावृत्ति के कारण बाहरी पर्त ढीली हो जाती है जो कालान्तर में जिस प्रकार पयाज के छिलके अलग हो जाते हैं उसी प्रकार अलग हो-हो कर नष्ट हो जाती है। दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में एरिनपुरा ग्रेनाइट से विचित्र भूम्याकृति बनी है। इदर शहर के निकट ग्रेनाइट (की उभरी हुई आकृति) के उत्थ (granite boss) से विलक्षण स्तम्भ (monolith) बनता है जिसका निर्माण उष्ण जलवायु में चट्टान की बर्क या परत के अलग होने से हुआ है। खोहों तथा दीर्घाओं का निर्माण अधोकर्त्तन के द्वारा हुआ है। ऐसी तुलित चट्टानें तथा चिपकते हुए बड़े टुकड़े (perched blocks) खूब पाए जाते हैं जो बड़े तथा छोटे टुकड़ों के निचले भाग पर ऋतुअपक्षयण के होने तथा घर्षित पदार्थों के वहाँ से हटने के कारण बने हैं (प्लेट ८ तथा ९ देखिए)।

आर्द्र-उष्ण जलवायु में चट्टान के बर्क का पृथक्करण चट्टानों के वर्तमान स्फतीय (felspar) के जलयोजन (hydration) के यांत्रिक प्रभाव के कारण होता है जिसके फलस्वरूप आयतन बढ़ जाता है जिससे बाहरी परत चट्टान की प्रधान संहति (mass) से अलग हो जाती है। परतों के अलग होने से बने इस प्रकार के गुम्बद (exfoliation domes) छोटानागपुर और दक्षिण भारत में खूब पाए जाते हैं।

कम विशाल, अधिक बारीक तथा स्वाभाविक रूप से एक समान के दाने वाली आग्नेय चट्टानों पर गोलामीय ऋतु अपक्षयण (spheroidal weathering) होता है

जिससे गोल टुकड़े बन जाते हैं जैसा कि सिंहभूमि के डोलेराइट डाइक में पाते हैं जिनमें ऐसे टुकड़े बड़ी संख्याओं में पाये जाते हैं।



चित्र १०३—दक्कन ट्रेप भूमि का दृश्य।

पश्चिम तथा मध्य भारत का विस्तृत क्षेत्र बैसाल्ट के ऐसे लावा से आवृत्त है जिन्हें दक्कन ट्रैप (Deccan Traps) कहते हैं। लावा की अनुप्रस्थता से विभिन्न ऊँचाइयों पर ऐसे चौरस-शीर्ष वाले पठार बन गये हैं। जिनमें या तो खड़ी दीवारें हैं या (अधिक) निचले बहावों पर पुश्ते (terraces) होते हैं जिनमें सीढ़ी के समान विन्यास (arrangement) है। पश्चिमी घाट के पूर्व वाले क्षेत्र में चौरस शीर्ष वाली पहाड़ियाँ तथा स्तूपगिरि ((Mesas & buttes) वाले प्रदेश जैसा दृश्य पाया जाता है क्योंकि यह क्षेत्र भी अर्द्ध-सूखा है जिससे वहाँ आर्द्र जलवायु वाली पहाड़ियों की ढालों के धीमे वक्र नहीं बन सकते थे। इसके जल-प्रवाह का ढाँचा रेखीय (linear) है क्योंकि यह तड़कनों के द्वारा नियंत्रित होता है। खुले विस्तृत मैदान पठारों के बीच पाए जाते हैं। नर्बदा और ताप्ती पश्चिम की ओर अरब सागर में गिरने को (ग्रस्त-उपत्यका) दरार के फटने से बनने वाली उन घाटियों से होकर बहती हैं जो लावा के उद्‌गार के बाद बनी थीं।

मध्य प्रदेश और राजस्थान के बड़े-बड़े क्षेत्रों में विन्ध्य पर्वत वाले बालू के पत्थर हैं तथा बम्बई राज्य में सतपुड़ा पर्वत श्रेणी पर वाले पंचमढ़ी के उच्च स्थल अपर गोंडवाना वाले बालू के पत्थरों (Upper Gondwana sandstones) से बने हैं। इन दोनों क्षेत्रों में भूम्याकृति की विशिष्ट आकृतियाँ जोड़ों के क्रम तथा परतों के नीचे वाली तह या धरातल के कारण बनी हैं जिनसे ऐसे चौरस-शीर्ष वाले पठा बने हैं

जिनमें खड़े अन्तः स्थल शृंग (scarps) पाए जाते हैं जो कुछ स्थितियों में पठार वाले क्षेत्रों में दराज बनने और उनके उन्नयन के फलस्वरूप बने हैं।

विन्ध्य पर्वत का विशाल पठार प्रधानतः बालू के पत्थरों से बना है; इसके निचले भाग में शेल और चूने के पत्थर बारी-बारी से विन्यस्त हैं। इसकी दक्षिणी ढालें बहुत खड़ी हैं जिनसे अन्तः स्थल शृंगों की श्रेणी का निर्माण हुआ है जिनको अधिक उपयुक्तता से विन्ध्य पर्वत नाम दिया जाता है। उत्तरी ढालें अधिक धीमी हैं और इन दोनों ढालों के बीच कमूर, रेवा तथा भंडार आदि के विस्तृत पठार फैले ह। इसमें बड़ी संख्या में पाए जाने वाले अन्तः स्थल-शृंग (escarpments) इस पर भौगोलिक गण की छाप दे देते हैं जो विशिष्ट रूप से इसका अपना गुण है। जहाँ निचला भाग शेल से बना है और ऊपर वाला (भाग) बालू के पत्थर से, वहाँ निचली ढाल का झुकाव ऊपरी बलुआही (upper sandstones) पत्थर के प्रायः खड़े करारे (precipices) की अपेक्षा अधिक धीमा है। जहाँ शेल बालू के पत्थर को दो पट्टियों (bands) के बीच पड़ती है वहाँ अन्तः-स्थल-शृंग में दो स्पष्ट पुश्ते (terraces) होते हैं। स्तूपगिरि के आकार के अधिक छोटे-छोटे पठार खूब पाए जाते हैं। ये पठार बालू के पत्थर के शेषांश से ढँकी हुई शेल के अधोकर्तन के फलस्वरूप बने हैं।

जहाँ परतें अन्तः-स्थल-शृंग के शीर्ष से दूर तक झुकी हैं, वहाँ उच्छृंग का खड़ापन समाप्त हो जाता है और पठार की सतह किनारे से दूर तक झुकी रहती है तथा उसका झुकाव तल के झुकाव के बराबर रहता है।

क्वार्जाइट अधिक प्रतिरोधक होती हैं; इसलिये ये खड़े उच्छृगों का निर्माण करती हैं। खड़ेपन के साथ झुकी हुई क्वार्जाइट शंकाकार पहाड़ियों तथा सुअर की पीठ के समान पर्वत श्रेणियों का निर्माण करती हैं। पहले वर्ग की स्थलाकृति राजस्थान में पायी जाती है जहाँ रणथम्भौर का किला क्वार्जाइट चट्टान पर बना है। दूसरे वर्ग की स्थलाकृति दक्षिण बिहार के राजगीर, खरकपुर तथा अन्य पहाड़ियों में खूब पायी जाती हैं। क्वार्जाइट की बनी खड़े पार्श्व वाली पर्वत श्रेणियाँ भी आन्ध्र प्रदेश की नलामलाई पर्वत श्रेणी में पायी जाती हैं।

दूसरा अध्याय

भू-संचलन

उन्नयन तथा अधोगमन

स्तर में परिवर्तन :— बहुत से तटों पर समुद्र के आक्रमण के लेख तथा वर्तमान समय में जल के अन्दर अवस्थित प्राचीन नगरों की कहानियाँ मिलती हैं। यदि इन लेखों का कोई वास्तविक आधार है तो इसका मतलब है कि आक्रमण प्रायः स्थल के तरंगों द्वारा-क्षय होने के कारण हुआ है; लेकिन कुछेक दशाओं में स्तर में वास्तविक परिवतन का प्रमाण मिलता है। इससे पता चलता है कि या तो स्थल धँस गया है या समुद्र उठ गया है।

इसके विपरीत कभी-कभी, एक नगर जो एक समय तट पर था, अब समुद्र से कुछ दूर है और स्थल प्रत्यक्ष रूप से बाहर की ओर बढ़ गया है। ऐसा साधारणतः समुद्र में द्रव्य के निक्षेप के कारण हुआ करता है, लेकिन कभी-कभी यह समुद्र से आपेक्षतया स्थल के वास्तविक उन्नयन का ही प्रभाव के फलस्वरूप हो होता है। स्थल का घटना या बढ़ना दोनों ससेक्स और केन्ट की सीमा पर अवस्थित विंचेलसी के भाग्य द्वारा निर्दशित होते ह। वह प्राचीन नगर जिस पर कुछ समय तक खतरा था, अन्त में १२८७ की भयंकर आँधी में समुद्र में खो (विलीन) गया। नया नगर मौलिक या पुराने नगर के स्थान से करीब दो मील पश्चिम एक स्पर की ऊँची भूमि पर एडवर्ड प्रथम द्वारा बनवाया गया था। लेकिन नदी का तट जिस पर यह बन्दरगाह के रूप में निर्भर करता था, लगातार भरता गया जैसा कि ब्रिटेन के दक्षिणी तथा पूर्वी तटों पर रोमनों के जमाने से होता रहा है। निकट ही में डंजीनेस में अग्रभाग (foreland) का निर्माण करनेवाले बालु तटीय कगार (beach-ridges) की ऊँचाई में उत्पन्न अल्प परिणमनों (variations) के द्वारा स्थल तथा समुद्र के आपेक्षिक स्तर के परिवर्तन व्यक्त हो सकते हैं।

स्तर के ये परिवर्तन प्रायः स्थल की अर्द्धमुखी या अधोमुखी संचलनों के द्वारा उत्पन्न माने जाते ह, लेकिन समुद्र के स्तर के परिवर्तन का भी वैसा ही परिणाम होना। फिर भी एक महत्वपूर्ण अन्तर है। समुद्र की सतह भी केवल लगभग ही समतल या चौरस है, पर बिलकुल चौरस तो नहीं है। विशाल पर्वत-श्रेणियों के निकट महादेशीय तटों पर यह स्थलपुंजों के आकर्षण के द्वारा जो गुरुत्व का आकर्षण है थोड़ा ऊपर उठ आया है, जैसा कि वर्तमान समय मे पूर्वी भारतीय द्वीपों में हुआ है। फिर भी समुद्र के स्तर में १० या २० फुट या इससे भी अधिक परिवर्तन अवश्य ही सारे संसार में होगा।

इसके विपरीत भू-संचलन का एक समान होना सम्भव नहीं है क्योंकि कुछ भाग उठ जायँगे या दूसरे भागों की अपेक्षा अधिक धँस जायँगे और विशेषकर ज्वालामुखी वाले क्षेत्रों में एक जगह में जमीन ऊपर उठ सकती है तो दूसरी तरफ नीचे धँस सकती है।

फिर भी बहुधा यह निर्धारित करना बहुत ही कठिन हो जाता है कि स्तर में परिवर्तन किस कारण से होता है, और इसलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि स्थल में समुद्र से आपेक्षतया उन्नयन ऋणात्मक संचलन के रूप में हुआ है; और स्थल का अवनमन समुद्र से आपेक्षतया धनात्मक संचलन के रूप में हुआ है चाहे इसका कारण स्थल की वास्तविक गति हो या समुद्र के स्तर में परिवर्तन। फिर भी अगले पृष्ठों में उन्नयन और अधोगमन (अवनमन) इन दोनों शब्दों का प्रयोग सामान्य महत्व के साथ होगा जिसमें उन्नयन और अधोगमन का अर्थ समुद्र स्तर से आपेक्षिक रूप में होगा।

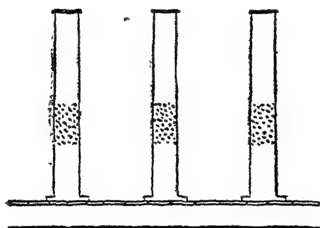
स्तर में परिवर्तन या तो अचानक या धीरे-धीरे हो सकते हैं। अचानक परिवर्तन केवल भूकम्प के समय होते हैं। सामुद्रिक तट पर उनके रहने पर भी उनका प्रभाव सबसे ज्यादा पड़ता है और तदनुसार वे बहुधा देखे भी गये हैं। सर चार्ल्स लिचेल ने अपने 'भूगर्भ के सिद्धान्त' में बहुत से उदाहरणों का वर्णन कियां है। १८५५ में न्यूज़ीलैंड के भूकम्प में ९ फुट का उन्नयन (upheaval) अभिलिखित किया गया था। कहा जाता है कि १८२२ में चिलियन (Chilean) के भूकम्प के बाद तट काफी दूर तक पहले से ३-४ फुट ऊँचा उठ गया था।

देश के अन्दर ऐसे परिवर्तन आसानी से नहीं दिखाई पड़ते। लेकिन केवल एक घटना का जिक्र करना है कि २८ अक्टूबर, १८९१ में जापान के भूकम्प के समय सतह में एक टूटन उत्पन्न हुआ। टूटन के एक तरफ दूसरी तरफ से आपेक्षतया जमीन २० फुट नीचे धँस गयी।

अनुक्रमिक या उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तन को प्रमाणित करना और भी कठिन है। सामुद्रिक उच्छृंग पर चिन्हांकन करना तथा जल की सतह के ऊपर इसकी ऊँचाई को नापना आसान बात समझी जा सकती थी। लेकिन उदाहरणार्थ अपने ही तटों पर (ब्रिटिश द्वीप समूह के तटों पर) समुद्र का स्तर लगातार या बराबर बढ़ता-घटता रहता (बदलता रहता है) है। यह केवल ज्वारभाटाओं के समय ही नहीं परिवर्तित होता बल्कि हवाओं की दिशा और सामर्थ्य के साथ भी परिवर्तित होता है। और इसलिए मध्यमान समुद्र-स्तर को निर्धारित करने के लिए लगातार बहुत से प्रेक्षणों के करने की आवश्यकता है। बाल्टिक में ज्वारभाटाओं के न होने तथा सुरक्षित खाड़ियों या प्रवेश मार्गों (inlets) के कारण उतनी बड़ी कठिनाइयाँ नहीं होती हैं। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शेलसियस (Celsius) इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बाल्टिक का जल धीरे-धीरे नीचे गिर रहा है; लेकिन दूसरे लेखकों के द्वारा उसके दृष्टिकोण के विपक्ष में अनेक आपत्तियाँ पेश की गयीं। उदाहरण के लिए यह बतलाया गया था कि डेंजिग (Danzig) नगर का निचला भाग अभी भी समुद्र-स्तर पर अवस्थित है और वह १००० ईसवी सन् से अवस्थित है। इन वादविवादों के द्वारा उत्पन्न अभिरुचि के फलस्वरूप चट्टानों पर चिन्ह लगाये जाने लगे जिसमें शान्त दिन में जल का स्तर अंकित कर दिया जाता था; और उन चिन्हों की जाँच समय-समय पर की गयी है। इन प्रेक्षणों से निष्कर्ष के रूप में पता चला है कि वहाँ समुद्र के आपेक्षिक स्तर में परिवर्तन हुआ है, लेकिन चूँकि स्थान-भेद से परिवर्तन बढ़ता-घटता है, इसलिये यह जल के संचलन के कारण नहीं बल्कि स्थल के संचलन के कारण हुआ है। स्टॉकहोम में स्थल प्रत्येक शताब्दी में १८$\frac{3}{4}$ इंच की चाल से उठा है, उससे और उत्तर उससे दूनी चाल से लेकिन दक्षिणी स्वेडेन में स्थल केवल उसकी

आधी चाल से उठा था। विगत कुछ वर्षों में स्टॉकहोम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन ऐसा होना समुद्र का जमीन के उठने की चाल के बराबर चाल से उठने के कारण बताया जाता है।

वाल्टिक में स्थल का अनुक्रमिक उन्नयन वास्तविक प्रेक्षणों तथा मापों के द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है। लेकिन अधिकांश दशाओं में स्तर के परिवर्तन केवल अनुमिति के द्वारा ही प्रमाणित किए जा सकते हैं। नेपुल्स के निकट (Temple of Serapis at Pozzuoli) पोज्जौली में अवस्थित सेरापिस का मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरणों में से एक है (चित्र १०४)। मकान का फर्श अब ज्वार से कुछ नीचा रहता है और उसी पर (फर्श) मौलिक खम्भों में तीन खम्भे आज भी खड़े हैं। वर्तमान फर्श के नीचे की खुदाइयों से पता चला है कि उसके नीचे (फर्श) करीब ५ फुट की गहराई पर एक और दूसरा अधिक प्राचीन फर्श है। खम्भे १२ फुट की ऊँचाई तक चिकने हैं और उसके ऊपर ९ फुट (की ऊँचाई) तक उनमें अनेक सूराखें हैं जो कछुओं या घोंघों के आकार की मछली (species of shell-fish) के द्वारा बनाई गयी थीं। वह मछली ज्वार या ऊँचे जल चिन्ह के ऊपर नहीं रहती है। खम्भों का ऊपरी भाग छिद्रों से रहित है।



चित्र १०४—सेरापिस का मंदिर

जिस समय पहला फर्श बना था, उस समय स्थल अनुमानतः वर्तमान स्तर से कम से कम ५ फुट ऊपर था। और जब सूराखें बनी थीं, उस समय स्थल डूबा हुआ था तथा दूसरा फर्श २१ फुट की गहराई में मग्न हो गया था। खम्भों के निचले भागों में सूराखों के रहने का कारण बतलाने के लिए ऐसा सोचा जाता है कि मकान पहले विसुवियस के किसी विस्फोट के समय ज्वालामुखीय राख के ऊपर निकल आने से १२ फुट की गहराई तक ढँक गया था।

इस तरह भग्नावशेषों से स्थल के वर्तमान स्तर से कम से कम ५ फुट ऊपर से लेकर १२ फुट नीचे तक २६ फुट के दोलन (oscillation) का पता लगता है।

उन्नयन का भूतात्विक प्रमाण (geological evidence of elevation):—मनुष्य द्वारा प्रस्तुत किए गये प्रमाण के अलावे खुद समुद्र भी बहुधा अपनी पूर्व स्थिति के चिन्ह छोड़ता या प्रस्तुत करता है। लेकिन निक्षेप के प्रभाव और उन्नयन के प्रभाव के बीच का अन्तर निकालना महत्वपूर्ण है क्योंकि दोनों में किसी के द्वारा समुद्र का प्रत्यावर्तन प्रत्यक्ष रूप से हो सकता है। उदाहरण के लिए रोमनी मार्श तथा वाश (Romney Marsh and in the Wash) में स्थल समुद्र की ओर बढ़ता जा रहा है। लेकिन ऐसा केवल तरंगों तथा कुछ कम हद तक धाराओं के द्वारा तट के पास बहाकर लायी गयी बालू, कीच और ग्रेवेल के निक्षेप के कारण होता है। ठीक इसी प्रकार, एड्रियाटिक में पो के डेल्टा के बढ़ने या घुसने के कारण, एड्रियाटिक नगर जो प्राचीन काल में एक बन्दरगाह था, इस समय समुद्र से १४ मील दूर है। ऐसी दशाओं में जैसा कि उपर्युक्त दशाओं में प्रदर्शित किया गया है, नव निर्मित स्थल हमेशा ही

निम्न स्थित रहा करता है तथा कीच, बालू और दूसरी निक्षेपों से बना होता है जिसमें तटीय महापंकों तथा खारा दल दल के एकत्रीकरण के जैविक पदार्थ बहुधा काफी मात्रा में पाये जाते हैं।

फिर भी ऐसे विभिन्न प्रकार के प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि संसार के कुछ भागों में समुद्र अधिक ऊँचा उठा हुआ था या स्थल आज की अपेक्षा अधिक नीचा था।

वर्तमान वालूतट के ऊपर और तरंगों की पहुँच के बाहर भीषणतम आँधियों के समय एक प्रकार की सीढ़ीनुमा ढाल बन जाती है जो सामुद्रिक किनारे की भाँति (चित्र १०५) वालू या ग्रेवेल से ढँका रहता है। यदि, जैसा कि हमेशा हुआ करता है, सामुद्रिक-कर्पर बालू के अन्दर पाये जाते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समय सीढ़ीनुमा ढाल ही वास्तविक बालूतट थी और उस समय से स्थल अवश्य ही उठ गया है। इस प्रकार के उत्थापित सामुद्रिक बालूतट ग्रेट ब्रिटेन के बहुत से भागों में पाए जाते हैं (प्लेट 7a)। स्कॉटलैंड में कभी-कभी दो या तीन बालूतट पाए गये हैं जो एक दूसरे के ऊपर २५ फुट से लेकर १०० फुट की परिवर्तनीय ऊँचाइयों पर अवस्थित हैं। नॉर्वे के बहुत से फियोर्डस से कम से कम ६०० फुट की ऊँचाई तक इसी प्रकार की सीढ़ी-नुमा ढालों का पता लगता है।

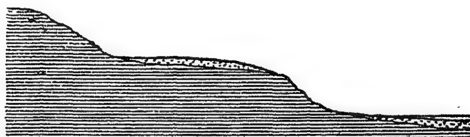
वर्तमान तट रेखा के पीछे तथा सर्वोच्च ज्वार के स्तर से ऊपर कभी-कभी उच्छृंग की रेखा रहती है जिसके आधार पर कभी-कभी खोह बने होते हैं (३ प्लेट ७)। एक समय उच्छृंग ज्वारभाटाओं की सीमा प्रदर्शित करता था, और इसकी वर्तमान-स्थिति उन्नयन के कारण है। फिर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक सामुद्रिक उच्छृंग जहाँ तक या जिसके पास तरंगें नहीं पहुँच पाती हैं, उत्थापि हो चुका है। कभी-कभी तो यह केवल अपने आधार के पास बालूतट वाले उस द्रव्य के एकत्रीकरण से बना होता है जो समुद्र को इसके पहुँचने से रोकता है।

बारनेकिल जैसे जानबर जो समुद्र में रहते हैं और स्वयं चट्टानों से चिपक जाते हैं, उनके कर्पर कभी-कभी उन ऊँचाइयों पर चिपके हुए पाए जाते हैं जहाँ अब जल नहीं पहुँच पाता है। ऐसी दशाओं में समुद्र से आपेक्षतया स्थल जरूर उठा है। इसी प्रकार का तर्क सेरापिस के मन्दिर के खम्भों के छिद्रक कर्पर जैसे छिद्रक कर्परों के साथ लागू होता है।

शैलमाला का निर्माण करनेवाले प्रवाल धूप तथा वायु में कुछ घंटों से अधिक खुले नहीं रह सकते। इसलिए जब प्रवाल शैलमाला (coral reef) समुद्र से ऊपर पायी जाती है, तो वह समुद्र-स्तर के परिवर्तन का स्पष्ट प्रमाण हो जाती है। प्रशान्त तथा हिन्द महासागरों और साथ ही पश्चिमी भारतीय द्वीप-समूहों में उत्था-पित प्रवाल शैलमालाओं के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

काठियावाड़ प्रायद्वीप के तट पर पाटन में छोटी नदी (खाड़ी) (creek) के बगल में स्थित पुराने मकानों की नीवों पर वाले खण्डाबरों (barnocles) के सामने उन्नयन के ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिस पर अब बड़ी बाढ़ों के समय जल पहुँच जाता है। हाल में पोरबन्दर में बहुत-सी छोटी-छोटी खाड़ियों (creeks) में सीप (oysters) जिस स्तर पर इन दिनों रहते हैं उससे करीब दो फुट ऊपर उनके मृत कर्पर पाए गये थे।

हाल में होने वाले उन्नयन का दूसरा प्रमाण चूनेदार 'ग्रिट चट्टान' (grit) का पाया जाना है जिसमें सामुद्रिक कर्पर तथा प्रवाल पाए जाते हैं और इस श्रेणी के जीव



चित्र १०५—उत्थापित सामुद्रिक बालूतट

इन दिनों तट पर रहा करते हैं। इसकी (grit) मोटाई कभी-कभी करीब-करीब ६० फुट तक रहती है। यह मिलियोलाइट चट्टान पर स्थित है।

स्थल उन्नयन कभी-कभी तट की आकृति के द्वारा व्यक्त होती है। बहुत दूर तक उन्नयन होने से महादेशीय छज्जा का एक भाग समुद्र से ऊपर उठ जायगा और उसके फलस्वरूप या तदनुसार स्थल के चारों ओर तटीय मैदान की झल्लरी बन जायगी। उसकी रूपरेखा चिकनी तथा कटान-छटान से रहित होगी। तटीय मैदान के पीछे प्रायः जमीन एकाएक ऊँचे उठ जायगी और यहाँ तक कि उससे उच्छृंग का निर्माण होगा जो तट रेखा की पूर्व स्थिति अंकित करेगा। इस विषय का और अधिक पूर्ण-रूप से आगे के किसी अध्याय में वर्णन होगा।

अधोगमन का भूतात्विक प्रमाण (geological evidence of subsidence):—अधोगमन का पता लगाना तथा प्रमाणित करना साधारणतः उन्नयन की अपेक्षा अधिक कठिन है क्योंकि समुद्र की पूर्व स्थिति का प्रमाण या तो नष्ट हो जाता है या छिप जाता है। पुराने सामुद्रिक बालुका तट और पुराने सामुद्रिक-उच्छृंग तरंगों के नीचे डूब तथा नजर से ओझल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधोगमन तथा क्षयी करण के प्रभावों के बीच का अन्तर निकालना बहुधा कठिन होता है। समुद्र पहले (former) नगर की जगह को आवृत्त कर लेगा; लेकिन यह भी अधोगमन का कोई प्रमाण नहीं क्योंकि यह बहुधा स्थल के तरंगों द्वारा कटने से होता है। उदाहरण के लिए, ऐसी दशा क्रोमर, डनविच, तथा पूर्वी ऐंगलिया के तट पर बहुत से स्थानों में पायी जाती हैं, जहाँ प्राचीन नगरों के भग्नावशेष अब जल के अन्दर निमग्न या स्थित हैं।

हमलोगों के अपने ही तटों पर (इगलैंड के तटों पर) हाल में होनेवाले अधोगमन के पक्ष में सर्वाधिक युक्तिपूर्ण तर्कोंमें से एक तर्क है भाटा के ऊपरी चिन्ह पर या उसके नीचे जलमग्न जंगलों तथा पिट या पत्तों के साँचे (leaf-mould) का एकत्रीकरण की उपस्थिति या पाया जाना। वहाँ केवल पेड़ों के ठूंठ छूटे हुए हैं, लेकिन कुछेक स्थानों में ये परिवर्द्धन की स्थिति में हैं और इनसे इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि जंगलों पर समुद्र का आक्रमण हुआ था। डेवॉन और कॉर्नवाल के तटों तथा ग्रेट ब्रिटेन के दूसरे स्थानों में जलमग्न जंगल पाए जाते हैं जिनके महत्वपूर्ण खंड बेरी (Glam) तथा दूसरी जगहों में डॉक के बनते समय ऊपर आ गये हैं।

फिर भी (यह सम्भव है कि) जीर्ण काष्ठ खंड वाले तथा वानस्पतिक द्रव्य के

एकत्रीकरण का समुद्र के स्तर के नीचे खुले जल से विछिन्न लैगून में बनना सम्भव है। ऐसा भी सुझाव रखा गया है कि भूमि के अन्दर बहने हुए जल के द्वारा बालू वाली उपपर्त के धीरे-धीरे हटने की क्रिया द्वारा परिवर्द्धित होता हुआ जंगल समुद्र के अन्दर डूबने को बाध्य किया जा सकता है। इस तरह का अधोगमन बिलकुल स्थानीय होगा और इसलिए इससे पूरे स्थल के अवनमन का बोध नहीं होगा। स्थल के अवनमन या उन्नयन का प्रदर्शन कई स्थानों से लिए गये प्रमाण के सावधानता पूर्ण तथा पूर्ण विश्लेषण से होना चाहिए।

१८७८ में बम्बई के द्वीप के पूर्वी-भाग में प्रिंसेज डॉक (Princes' Dock) की खुदाई के समय मध्यमान समुद्र-स्तर के करीब २० फुट नीचे जलमग्न पेड़ों के ठूँठ तथा गिरे हुए काष्ठ के भारी कुन्दे (stumps of trees and fallen logs) बड़ी संख्या में प्रकाश में लाए गये थे। उनमें से कुछ वृक्ष अब तक भी सीधे खड़े (स्थिति में) पाए जाते हैं, पेड़ों के ठूंठ टेरेडो (Teredo) के छेदों के द्वारा अलग किए गये थे। १९१० में जब प्रिंसेज डॉक के दक्षिण अवस्थित अलेजेंड्रा डॉक के विस्तार के लिए खुदाई के कार्य चल रहे थे, तो नीली मिट्टी में गड़े हुए छः से सात फुट लम्बे चार पेड़ों के ठूँठ अनावृत्त किए गये थे। उच्च-जल-चिन्ह या ज्वार (high water mark) के नीचे उस सतह की गहराई, जिस पर वृक्ष उगे थे, करीब ४० फुट है। ऐसा पता चलेगा कि चट्टानी तटीय समतल मैदान पर वाली पतली तह वाली मिट्टी में जंगल उत्पन्न हुआ होगा। और आगे चलकर सम्पूर्ण तटीय क्षेत्र के क्रमशः अधोगमन होने के कारण जंगल खारा जल के अन्दर आप्लावित हो गया जिसमें सीप पेड़ों की जड़ों में चिपक सकते थे। आगे चलकर जमीन पूरब की ओर झुक गयी जिससे समुद्र और आगे पूरब बढ़ गया जहाँ उन पेड़ों में से बहुत पेड़ सिल्ट पर उभरे हुए अपने धड़ के साथ खड़े थे। काष्ठ छेदक कीड़ों (Teredo) ने आकर पेड़ों के धड़ों पर (trunks) आक्रमण किया जिससे ये सिल्ट के स्तर से ऊपर टूटकर बह गये। इसके बाद उल्टी संचलन (reverse movement) प्रारम्भ हुआ और द्वीप के समुद्र की ओर वाले धरातल के उठने से कर्पर वाले कंकड़ (shell gravels) तथा मिट्टियाँ अपनी वर्तमान स्थिति में उच्च-जल-चिन्ह या ज्वार के निकट चली आईं और द्वीप के निम्नस्थ भागों को लैगून (lagoons & back waters) तथा परिवेष्टित जल खंड या जलाशय में परिणत कर दिया। यह हाल में जमीन के जलमग्न होने के उदाहरणों में से एक हैं; और सर चार्ल्स लायल ने भी अपने 'भूगर्भ शास्त्र के सिद्धान्त' में इसकी चर्चा की है (भाग दो, पृष्ठ ९७)।

अवनमन के बाद हाल में होने वाले उन्नयन के लिए भी उठे हुए बालुकातट से प्रमाण मिल जाता है जो बम्बई द्वीप के पश्चिमी भाग में बहुत से स्थानों में यहाँ तक कि उच्च-जल चिन्ह के करीब १२ फुट ऊपर सामुद्रिक कर्पर, और कर्पर वाले कंकड़ के सामुद्रिक बालू-कंकड़ से बना है।

ठीक इसी प्रकार का जल-मग्न जंगल जो फैलाव में करीब आधा एकड़ है, तिनेवली के निकट पूर्वी भारतीय तट से दूर ठीक उच्च-जल चिन्ह ज्वार के नीचे दिखाई पड़ता है। पांडीचेरी के आगे लिगनाइट की मोटी तह, सड़ी हुई लकड़ी के टुकड़े और वानस्पतिक टुकड़े जो कलकत्ता के निकट गंगा के डेल्टा में पाए जाते हैं, इन सबों से इस बात का पता चलता है धीमी गति के साथ सिल्ट और

बालू का एकत्रीकरण होने के साथ-साथ पूर्वी तट का कुछ हद तक अधोगमन हुआ है।

१८१९ के जून महीने के भूकम्प के बाद कच्छ के रन के दक्षिणी भाग के अधोगमन होने से रन में बाढ़ आ गयी थी था सिन्दरी शहर औ र किला—दोनों के दोनों जल-मग्न हो गये थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रन पहले खाड़ी था जो धीरे-धीरे बनास (Banas), लूनी तथा अन्य नदियों के द्वारा लाए गये सिल्ट से भर गया। दक्षिणी पश्चिमी मानसून के समय यह जल से भर (या ढँक) जाता है जबकि इन नदियों तथा दक्षिणी कच्छ की छोटी-छोटी नदियों का जल कच्छ की खाड़ी के जल द्वारा पीछे की ओर बहने को बाध्य होता है; लेकिन इसके विपरित साल के शेष दिनों में यह प्राय: सूखा रहता है तथा खारा सिल्ट से ढँका रहता है। हाल के भूतात्विक समय में काम्बे की खाड़ी रन से मिली हुई थी, और नाल (Nal) नामक, वह निम्न स्थल जिसमें खारा दलदलदार जमीन है, आजतक भी उन्हें एक साथ जोड़े हुए हैं ? ।

वह जल जिससे १८१९ के भूकम्प के बाद रन में बाढ़ आ गयी थी, वह धीरे-धीरे पीछे हट गया जिसके फलस्वरूप जलप्लावित क्षेत्र सिल्ट के जमा होने से पुन: शुष्क-स्थल में परिणत हो गया।

डार्विन के प्रवाल-शैलमाला के सिद्धान्त के अनुसार, अवरोधक शैलमाला तथा एटॉल—दोनों अधोगमन के प्रमाण हैं। लेकिन यह सिद्धान्त सर्वत्र सत्य नहीं है। इस प्रश्न पर पहले ही वादविवाद हो चुका है (अध्याय ६, भाग २)।

नियमानुसार अधोगमन या जमीन के नीचे धँसने का सर्वाधिक निर्णयात्मक प्रमाण तट की आकृति या रूप से मिलता है। जब कभी भी स्थल-पुंज नीचे धँसता है या उसका अधोगमन होता है तो समुद्र घाटी में प्रवेश कर जाता है जिससे ऐसी खाड़ियों का निर्माण होता है जो बहुधा शाखाओं के रूप में जमीन में अन्दर की ओर घुस जाती हैं। एक नदी प्राय: प्रत्येक खाड़ी के शीर्ष भाग में गिरेगी और प्रत्येक खाड़ी प्रत्यक्ष रूप से घाटी के रूप में स्थल के अन्दर लगातार बढ़ती जायगी। वह टूटी-फूटी या टेढ़ी-मेढ़ी (indented) रूप रेखा जो इस प्रकार बनती है, वह कोर्निस तथा इसेक्स के तटों पर और अन्य जगहों में अच्छी तरह दिखाई पड़ती है। तट रेखा पर उत्सेध (उन्नयन) तथा अधोगमन के प्रभावों के पूरे विषय का वर्णन आगे के अध्याय में किया गया है।

भूसंचलन की प्रकृति

(Nature of Earth Movements)

पिछले पृष्ठों में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि ठोस पृथ्वी की सतह स्थिर नहीं है। यहाँ तक कि अतीत के कुछ सौ वर्षों में स्कैंडिनेविया का प्रायद्वीप प्रत्यक्ष-रूप से ऊपर उठा है; सेरापिस का मन्दिर नीचे धँस तथा फिर ऊपर उठा है और इसी तरह के परिवर्तन संसार[1] के अन्य भागों में हुए हैं। कालान्तर में ऐसे संचलन अगर जारी रहें तो इनसे महादेशों और महासागरों के ऊपर अवश्य ही बहुत बड़े

१ ऐसा सोचने का हरेक कारण है कि इस प्रकार के संचलन अब भी हो रहे हैं। दक्षिण-पूर्वी इंगलैंड धीरे-धीरे नीचे धँसता जा रहा है।

असर पड़ेंगे और भूगर्भ शास्त्र से पता चलता है कि पृथ्वी के बहुत से भाग जो अभी स्थल के रूप में हैं, वे एक समय समुद्र के अन्दर थे। बहुत-सी चट्टानें जो अभी स्थल खंड का निर्माण कर रही हैं, उनमें समुद्री जानवरों के अवशेष हैं, अतः ये स्पष्टतः समुद्र के नीचे निक्षेपित हुए थे। दक्षिणी-इंगलैंड के खड़िया पत्थर में कछुए के आकार वाले बिना हाथ-पैर वाले समुद्री जीव (sea-urchins) पाए जाते हैं और डर्बीशायर के चूने के पत्थर में प्रवाल तथा कर्पर बहुतायत से पाए जाते हैं। आल्प्स तथा हिमालय पर्वत में, यहाँ तक कि उनके सबसे ऊँची चोटियों पर भी, जीवों के अवशेष (fossils) पाए जाते हैं।

परतदार चट्टानें (stratified rocks) जो भूमंडल की अधिकांश सतह का निर्माण करती हैं, वे प्रारम्भ में अनुप्रस्थ या प्रायः अनुप्रस्थ रूप में जमा हुई थीं और वह भी ज्यादातर समुद्र के नीचे। अतः वे उन संचलनों की प्रकृति की ओर निर्देश का काम करती हैं, जो घटित हुई हैं। ये दो तरह की हैं जो गति की प्रधान दिशा के अनुसार खड़ी या त्रिज्यात्म (radial) और अनुप्रस्थ (tangential) (या स्पर्शरैखिक) के रूप में एक दूसरी से पृथक की जा सकती है। खड़ी संचलन में पृथ्वी की पपड़ी के बहुत बड़े भाग में साधारण उत्सेध (उन्नयन) या अधोगमन होता है, किन्तु फिर भी पपड़ी की तहें प्रायः अनुस्थ ही रह जाती हैं। इसका एकमात्र परिणाम पठार का निर्माण करना या स्थल के बहुत बड़े भाग को समुद्र के ऊपर उठा देना रहता है, और इसलिए इस प्रकार के संचलन को पठार-निर्माण करने वाला या पर्वत-निर्माण करनेवाला संचलन कहते हैं।

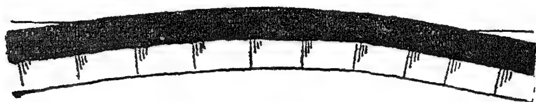
अनुप्रस्थ संचलन पृथ्वी की पपड़ी की उन शक्तियोंके कारण होती है जो न्यूनाधिक रूप से सतह पर स्पर्श रेखा के रूप में काम करती हैं। मौलिक अनुप्रस्थ पर्तें दोनों तरफ से दव जाती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि या तो उनमें पुटी बन जाती है या वे भाड़ेदार हो जाती हैं। पुटीकरण वहाँ होता है जहाँ पृथ्वी की पपड़ी सबसे कमजोर होती है। ऐसा प्रायः उस पट्टी में होता है जहाँ हाल में काफी तलछट जमा हुआ है जिससे निम्नस्थ अधिक कड़ी चट्टानें पपड़ी के उन अधिक गहरे तथा अधिक उष्ण भागों में धँस गयी हैं जहाँ उनकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है। पुटीकरण के परिणाम स्वरूप मोड़दार (मंगिल) पर्तों की संकीर्ण पट्टी ऊपर उठ जाती है जिससे पर्वत श्रेणी का निर्माण होता है। इस प्रकार का संचलन पर्वत-निर्माण करनेवाली या पर्वत-निर्माणकारी (mountain-building or orogenic) संचलन के नाम से विदित है।

लम्बवत् संचलन (vertical movements) :—इन संचलनों की साधारण विशेषता यह है कि इनसे पर्तों में पुटीकरण नहीं होता है, वे अधिकांशतः अनुप्रस्थ हीं रह जाती हैं लेकिन जैसा कि साथ वाले चित्रों से मालूम होगा, तहें जगह-ब-जगह खड़ी स्थिति में भी टेढ़ी हो जायेंगी।

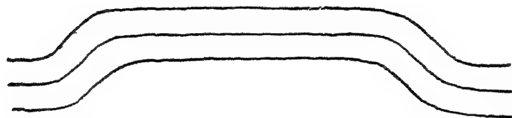
कभी-कभी पृथ्वी की पपड़ी का एक भाग चौड़ी समतल भूमि या मेहराब के रूप में उठ जाता है या विस्तृत छिछली बेसिन के रूप में नीचे धँस जाता है। पर्तों में मुश्किल से विक्षोभन उत्पन्न होगा लेकिन केन्द्र की ओर या केन्द्र से बाहर की ओर अत्यल्प नमन या झुकाव होगा (चित्र १०६)। इस प्रकार के संचलन से एक महा-देश का उत्सेध (उन्नयन) हो सकता है और यदि इससे समुद्र के नीचे अधोगमन होता

है, तो यह समुद्र के स्तर को नीचा कर देगा और चारों ओर के स्थल अपात गति से ऊपर उठेंगे।

कभी-कभी ऊपर उठे हुए तथा नीचे धँसे हुए क्षेत्रों के बीच की सीमा बहुत ही स्पष्टता के साथ चिन्हित हो जाती है और तब हमें पर्तों का वह रूप मिलता है जो



चित्र १०६—लंबवत संचलन, अल्प मोड़ के साथ।



चित्र १०७—लंबवत संचलन स्थानीय आकस्मिक मोड़ के साथ।

चित्र १०७ में दिखाया गया है। पर्तें साधारणतया अनुप्रस्थ रहती है लेकिन उन क्षेत्रों के किनारे पर जो ऊपर उठे या नीचे दब गये हैं, प्रायः खड़े होते हैं।

बहुत दशाओं में तो तहें जरूरत के मुताबिक पड़नेवाले मोड़ की मात्रा को सहन करने लायक भी नहीं रही हैं और इसलिए वे टूट-फूट गयी हैं। बड़े-बड़े खंड ऊपर उठ गये हैं और वहीं पर दूसरे खंड एक दूसरे से आपेक्षतया नीचे धँस गये ह, और ये दराज़ों के द्वारा सीमित हो जाते हैं (चित्र १०८)। वे बड़े-बड़े (शैल) खंड एक खास हद तक टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं और तब पर्तें अनुप्रस्थ नहीं रह जातीं, लेकिन साथ ही वे पुटीकृत भी नहीं होतीं। इस प्रकार की गति संयुक्त राज्य अमेरिका के ग्रेट बेसिन



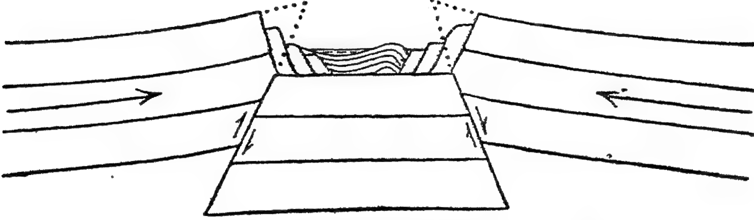
चित्र १०८—लंबवत संचलन, और दराजों का बनना।



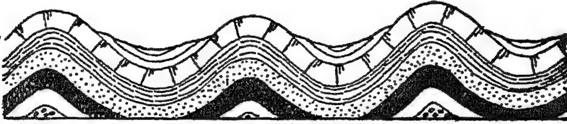
चित्र १०९—ग्रस्त उपत्यका।

(Great Basin) तथा आइसलैंड में विस्तृत रूप से हुआ करती है (प्लेट १२ b)।

कभी-कभी किसी क्षेत्र (country) का ऊपरी भाग (strip) दो दराजों के बीच नीचे धँस जाता है जिससे एक लम्बा और संकीर्ण गड्ढा (depression) बन जाता है (चित्र १०९)। इस प्रकार का गड्ढा जो प्रत्यक्ष रूप से भूसंचलनों के द्वारा बनता है, और जो अन्य अधिकांश घाटियों की तरह, क्षयीकरण के द्वारा नहीं बना है,

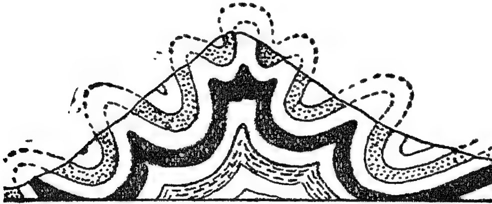


चित्र ११०—संपीड़न के कारण बनी हुई ग्रस्त उपत्यका।
(वेलेंड और वलार्ड के अनुसार)



चित्र १११—ज्युरा सदृश्य मोड़।

बहुधा ग्रस्त उपत्यका (rift-valley) कहलाता है। जार्डन इसी प्रकार की घाटी में बहती है। अब ऐसा समझा जाता है कि अफ्रीका की ग्रस्त उपत्यका के बहुत से भाग अनुप्रस्थ दाब से पर्तों के टूटने-फूटने के कारण बने उल्टे दराजों (reverse faults) के पास केन्द्रीय खंड के नीचे धँसने के फलस्वरूप बने हैं (चित्र ११०)। संपीडन (compression) के द्वारा बनी इस प्रकार की घाटियाँ रैम्प घाटियाँ (ramp-valleys) कहलाती हैं। आसाम की घाटी जिससे होकर ब्रह्मपुत्र बहती है, एक रैम्प



चित्र ११२—पंखे की आकार की संरचना।

घाटी है जो हिमालय के दक्षिण तरफ बढ़ने वाली उस संचलन के संपीड़न के समय बनी थी जिसकी दक्षिणी सीमा आसाम के पठार के अवरोधी पिण्ड (horst) (उत्तरी भाग) तक पहुँच जाती है (फॉक्स तथा इवैन्स)। वर्तमान घाटी की चौड़ाई अब

मूल घाटी के अंशमात्र रह गयी है। फलस्वरूप, शिलांग का पठार जिसमें उत्तर की ओर धीमी ढाल और दक्षिण की ओर खड़े अन्तः स्थल शृंग हैं, वह उत्तर दक्षिण जाने-



चित्र ११३—आर्डेनिज और बेल्जियन कोयला क्षेत्र की आकृति।
(कोरनेट और ब्रिआर्ट के आधार पर)

A A, जमीन की वर्तमान सतह। इस रेखा के ऊपर वाले चट्टानों का क्षयीकरण हो गया है। T T, महा वितोदन तल। T T, रेखा के ऊपर वाली पर्तें नीचे वाली पर्त्तों पर सामने की ओर उत्क्षेपित हो गई है।

वाले क्रासनुमा (cross-fault) दराजों से फट गया है। इन क्रास-दराजों ने पठार को बड़े-बड़े (शैल) खंडों में काट दिया है और उन्हें एक साथ दक्षिण की ओर धक्का देकर हटा दिया है।

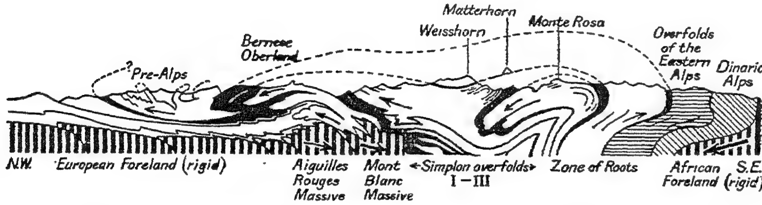
ऊपर दिये गए उदाहरणों में पर्तें भूसंचलनों के आने के पहले तक सन्निकटतः अनुप्रस्थ थीं। लेकिन ठीक उसी प्रकार के संचलन कभी-कभी उन क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं जो पहले से भंगिल (मोड़दार) बन गये थे, जैसे, मध्य राइन के दोनों तरफ विशाल शैलखंड दराज के द्वारा (टूट कर) उसी समय बने थे जिस समय आल्पस पर्वत भंगिल हुए थे।

अनुप्रस्थ संचलन (horizontal movements) :—इनकी विशेषता यह है कि इनसे पर्तें पुटीकृत या भंगिल हो जाती हैं लेकिन इनके द्वारा बननेवाले प्राकृतिक रूपों तथा संरचनाओं में बड़ी विभिन्नता पायी जाती है। अगर संपीड़न की मात्रा अल्प रहे, तो तहें ऊपर चली या फेंकी जा सकती हैं जिससे साधारण मेहराबों और घाटी गर्तों की (चित्र १११) श्रेणी बन सकती है। यह दशा जूरा पर्वत के बहुत से भागों में पायी जाती है।

जब संपीड़न अपेक्षाकृत अधिक होता है तो भंगिल पट्टी का केन्द्र ऊपर उठ जाता है और पार्श्ववर्ती मोड़ (folds) बाहर की ओर झुक जाते हैं। संरचना चित्र ११२ में प्रदर्शित संरचना की तरह हो जा सकती है, और चूँकि साधारणतः तहों की ढाल

दोनों तरफ से भीतर की ओर रहती है। इसलिए इसे पंखे के आकारवाली संरचना (fan-structure) कहते हैं। मोड़ पड़ने के प्रक्रम जो हमेशा मन्द गति से होती है, के समय समूचा भाग नग्नीकरण के द्वारा प्रभावित हो जाता है और मोड़ों के बाहरी भाग बन जाते पर घिसकर नष्ट हो जाते हैं।

कभी-कभी पार्श्ववर्ती संपीड़न से पपड़ी टूट जाती है, और एक तरफ वाला भाग प्रक्रम के द्वारा पुटीकृत होकर दूसरी तरफ वाले भाग पर उत्क्षेपित हो जाता है। यह आर्डेनिज में अच्छी तरह प्रदर्शित होता है (चित्र ११३) जो उस प्राचीन पर्वत श्रेणी के अवशेष हैं जो अब अत्यधिक अनावृत हो चुकी है जिससे उसकी भीतरी संरचना अनावृत हो गयी हैं। इनके अतिरिक्त इस दशा में संरचना के बारे में हमारी जानकारी कोयले के बनाए गये छिद्रों (borings) से और भी बढ़ गयी है।

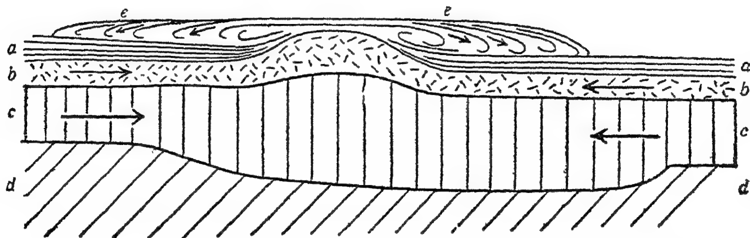


चित्र ११४–पश्चिमी आल्प्स के उल्टे हुए मोड़ के बीच से काट (section)। (स्टॉव के अनुसार)

आल्प्स पर्वत की संरचना का अनुसंधान और किसी भी अन्य बड़ी पर्वत श्रेणी की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ हुआ है। पश्चिमी आल्पस विशेषकर मोड़ पड़ने की क्रिया से बहुत ही तीव्रता के साथ प्रभावित हुआ है। वे दो दृढ़ (स्थान) पुंजों के बीच संपीड़ित हो गये (दब गये) थे। उन दोनों (स्थल) पुंजों में से जो दक्षिण में था वह अब अंशतः पोर्ट बेसिन की तलछट के नीचे दब गया है और दूसरा जो उत्तर में है उसका प्रतिनिधित्व मध्यवर्ती पठार, मौसजेस तथा ब्लैकफौरेस्ट के द्वारा होता है। पश्चिमी आल्पस का विशाल वक्र इन्हीं पुराने दृढ़ (स्थल) पुंजों के प्रकृत विन्यास (disposition) के फलस्वरूप बना है।

चित्र ११४ में प्रदर्शित ढाँचा माउण्ट रोसा होते हुए उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर जाता है। मोड़ों का विन्यास (arrangement of folds) उन अवशेषों के प्रमाण के आधार पर निर्णीत हुआ है जो क्षयीकरण के द्वारा अलग नहीं हुए हैं। मोड़ों की यांत्रिकता अभी भी अत्यल्प स्पष्ट है क्योंकि ऐसी कल्पना करना कठिन है कि धक्के (thrust) किस प्रकार आपेक्षतया प्रभावित होनेवाली पर्तों से होकर बहुत मीलों दूर तक संचारित हुए थे और विशेषकर अगर जैसा कि सुझाव पेश किया जाता है, कुछ निम्नस्थ मोड़ पूर्व भंगिल या पहले वाली मोड़दार तहों में आगे की ओर घुस जाते हैं। ऐसा हो सकता है कि भंगिल तलछट शिकंजा के दाँताओं अर्थात् उत्तर तथा दक्षिण तरफ वाले दृढ़ पुंजों के बीच संपीड़ित हो गये थे जिसके फलस्वरूप वे (तलछट ऊपर की ओर उमड़ गये। उभार (bulge) के दोनों पार्श्वों की ढाल के करीब १५° से अधिक होने पर तहें टूट कर अलग हो गयी होंगी तथा पहाड़ी के नीचे की ओर

खिसकने लगी होंगी। पुनः बाद में (आगे चलकर) दाब पड़ने से उभार और भी ज्यादा हुआ जिससे दूसरे उल्टे हुए मोड़ का निर्माण हुआ। और यह प्रक्रम (process) तब तक चलता रहा जब तक कि सम्पूर्ण जटिल श्रेणी का निर्माण न हो गया (चित्र ११५)।

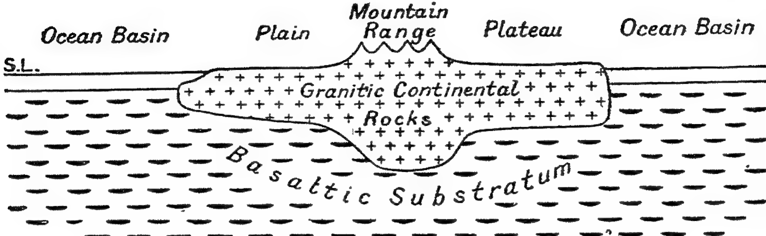


चित्र ११५—पर्वत श्रेणी में पपड़ी के संकुचन द्वारा बने एक समान उल्टे हुए मोड़ों के बनने की अंतिम दशा। (जैफ्रीस के अनुसार)
aa, पर्त्तें; bb, ग्रेनाइट की तह, cc, बीच की तह; dd, नीचे की तह; ee, भंगिल पर्त्तें।

इस व्याख्या से दो मुख्य फायदे हैं। वह दूरी जिसे दृढ़ पुंज घिसकर तय करते, वह उतनी अधिक नहीं होती जितनी की तय करने की आवश्यकता दृढ़ पुंजों के तबतक खिचकर अलग होने पर होती जबतक कि सभी मोड़ अनावृत नहीं हो जाते और चित्र ११४ में भग्न रेखा द्वारा अंकित विशाल द्रव पुंज क्षयीकरण के द्वारा वहाँ से हट नहीं जाता और साथ ही मोड़ कभी भी शीर्ष पर अविच्छिन्न नहीं रहे हैं। वहाँ पर उन विशाल निक्षेपों के रहने का अपर्याप्त प्रमाण जिनके वहाँ पाने की कोई उम्मीद करता बशर्तें कि मोड़ के बनने के समय की अवधि से निक्षेप इतनी मात्रा में वास्तव में वहाँ से दूर हट जाते। कुछेक विद्वानों का मत है कि संपीड़क शक्तियाँ पपड़ी के नीचे तहों के ठंडी होने पर सिकुड़ने से उत्पन्न होती हैं और इसलिए वे पपड़ी के दृढ़ पुंजों की बहुत बड़ी गतियों के पक्ष में नहीं हैं। दूसरे लोगों का विचार है कि यहाँ तक महादेशों के आकार के पुंज तक कभी धीरे-धीरे घिसकर बहुत दूर तक जा सकते हैं।

महादेशीय अपवहन तथा पर्वत-निर्माण के कारणों के सम्बन्ध में जो भी भिन्न मत हों, लेकिन यह कारण कि पर्वत पठारों और मैदानों से ऊँचे रहते हैं और इसी तरह पठार तथा मैदान महासागरीय तलों से ऊपर हैं, अब साधारणतया मान लिया गया है। अधिक ऊँचे पुंजों के मूल (जड़ें) ऐसे हैं जो आपेक्षतया हल्के द्रव के हैं और नीचे की अधिक भारी तहों में नीचे तक जाते हैं। मूल (जड़ों) जितनी ही अधिक गहराई तक जायगा और जितनी ही अधिक विशाल या बड़ा रहेगा, स्थल पुंज भी उतना ही ऊँचा खड़ा रहेगा (चित्र ११६)। ऐसा अधिकतर उसी सिद्धान्त के आधार पर होता है जिसके मुताबिक विभिन्न मोटाई के हिमशैल जल में ऊँचे या नीचे होकर तैरते रहते हैं। महादेशीय पुंज सम्भवतः ग्रेनाइट नामक चट्टानों से बने हुए हैं जिनका घनत्व २.६५

के लगभग है, और महासागरीय तल तथा अधिक (गहराई) नीचे वाली चट्टानें जो सम्भवतः बैसाल्ट की प्रकृति वाली हैं, उनका घनत्व ३·० के लगभग है।



चित्र ११६–ग्रेनाइट चट्टान और बेसाल्ट निर्मित तल का वितरण।

पूर्वी भारतीय द्वीप समूह में, जावा और सुमात्रा के दक्षिण में लोलक (pendulum) के प्रेक्षणों से एक संकीर्ण तथा विस्तृत भूभाग का पता चलता है जहाँ गुरुत्व का मूल्य उचित से भी कम है, जिसका अर्थ यह है मानो समुद्र-तल के नीचे असामान्य रूप से हल्के द्रव का घना पुंज स्थित है। ऐसा सुझाव पेश किया गया है कि यह ग्रेनाइट से बनी पपड़ी के नीचे धँसे मोड़ के कारण होता है जिससे सतह या धरातल से बहुत ऊँची उठी पर्वत श्रेणी के बनने के पहले ही उसके (पर्वत श्रेणी) मूल (जड़ों) का निर्माण होता है। उन मोड़दार पर्तों के उत्क्षेपित पुंज जो वितादेन तलों पर बहुत दूर-तक आगे की ओर सामने वाली मोड़दार पर्तों पर खिसककर चले गये हैं, उन्हें नेपी (फ्रेंच) या चादर (sheets) कहते हैं। वह कटिबन्ध जहाँ से नेपी टूटकर अलग हुए थे वह मूलों (जड़ों) के कटिबन्ध (zone of root) के नाम से विदित है। चित्र ११४ में पेनाइन आल्पस के नेपी हैं। ये विशाल चादरों (gigantic sheets) के रूप में धक्का द्वारा आगे की ओर उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ गये थे; ये मूल के कटिबन्ध में लम्बवत् मुड़ते हैं और वहाँ ये बहुत ही संपीड़ित हो जाते हैं।

पर्तों का वह कटिबन्ध जिस पर नेपी अनुप्रस्थ संचलन या धक्के के बाद आकर स्थिर हो जाते हैं, वह आउटोक्थोन कटिबन्ध के नाम से विदित है; अर्थात् वह कटिबन्ध जहाँ से चट्टानें, यद्यपि कि वे मोड़दार (भंगिल) तथा दराजयुक्त रहती हैं, अपने मूल से अलग नहीं हुई हैं।

स्थायी स्थल-पुंज जो तलछट के जमा होकर पर्तकरण वाले उस भू-द्रोणी के दोनों ओर पाए जाते हैं जिसकी पर्तें उपरोक्त स्थल-पुंजों के एक दूसरे की ओर गतिशील होने के कारण संपीड़न द्वारा मोडदार हो जाती हैं, वे अग्रभाग (foreland) कहलाते हैं (चित्र ११४ देखिए)।

हिमालय पर्वत श्रेणी आल्पस की संरचना सम्बन्धी बहुत-सी स्थलाकृतियों को निरूपित करती है। ऊँची श्रेणियों के सबसे भीतर वाला कटिबन्ध (बड़ा हिमालय) और बड़ी-बड़ी चोटियाँ, जैसे, माउण्ट एवरेस्ट, कंचनजंगा, नंगापर्वत इत्यादि में अधिकांशतः दानेदार तथा परिवर्तित चट्टानें है, जैसे ग्रेनाइट, नीस तथा सिस्ट जिस पर परतदार चट्टान का आवरण था जो अधिकांश स्थानों में

नग्नीकरण के द्वारा नष्ट हो गया है। यह कटिबन्ध स्थायी हिम की सीमा से ऊपर तक जाता है। हिमालय की अवशेषांशीय परतदार चट्टानें सबसे अधिक ऊँचाई वाले कटिवन्ध के उत्तर में पायी जाती हैं; हाँ, केवल काश्मीर को छोड़कर (काश्मीर में ये चट्टानें नहीं पायी जातीं) जो तिब्बती कटिवन्ध के नाम से ज्ञात है। मध्य श्रेणियाँ जो छोटे हिमालय के नाम से (Lesser Himalaya) अभिहित हैं, उनकी ऊँचाई कम है और ये मुश्किल से १५,००० फुट से ऊँची हैं। ये प्रधानतः दानेदार तथा परिवर्तित चट्टानों से बनी हुई हैं जिनमें प्रारम्भिक तथा पूर्व-प्राचीनतम युगों की (Palaeozoic & Pre-Cambrian ages) अवशेषांश रहित परतदार चट्टानें मिली हुई हैं। सबसे बाहरी कटिबन्ध जो बाहरी हिमालय (Outer Himalaya) के नाम से ज्ञात है, उसमें शिवालिक पर्वत श्रेणी है और इसमें टर्शियरी तथा हाल की बनी चट्टानें पायी जाती हैं। उनकी ऊँचाइयाँ बहुत ही कम, करीब ३००० से ४००० फुट तक हैं।

हिमालय के संरचना सम्बन्धी मानचित्र (plan) का पश्चिमी हिमालय के कुछ भागों में, जैसे काश्मीर, शिमला, गढ़वाल तथा कुमायू में विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है। पूर्वी हिमालय के नेपाल, सिक्किम और दार्जिलिंग क्षेत्र में कुछ कार्य हुआ है। काश्मीरी हिमालय में वाडिया (Wadia) ने संरचना सम्बन्धी तीन तत्वों (elements) को पहचाना इनमें से पहला तत्व प्राद्वीपीय भारत के अग्रभाग (foreland) की जिह्वा के समान निकला हुआ भाग है जो अब नवीनतर टर्शियरी युग के उन तलछटों के नीचे गड़ा है (ढँका है) जो मरी श्रेणी (Murree Series) (मायोशिन Miocene) तथा प्लेस्टोशिन युग के निक्षेपों के नाम से विदित हैं। दूसरा तत्व आउटोक्थोन सम्बन्धी अत्यधिक मोड़दार (भंगिल) चट्टानें हैं जो कारवोनिफेरस से लेकर इयोशिन युग की हैं और धक्के के द्वारा अग्रभाग पर आगे की ओर अध्यारोपित (उत्क्षेपित) हो गयी हैं। इसे मरी का वितोदन (Murree thrust) कहा जाता है। तीसरा तत्व भीतरी हिमालय की नेपी वाला कटिबन्ध है जो प्रायः अनुप्रस्थ वितोदन-तल पर बहुत दूर तक खिसककर चला गया; यह पंजाल-वितोदन के नाम से विदित है। कभी-कभी तो यह अग्रभाग कि आमने-सामने रहता है। काश्मीर के नेपी में प्राचीन पूर्व कैम्ब्रियन युग की पर्तें तथा नवीनतर स्लेट हैं तथा साथ ही इसमें बहुत-सी अभिनति वाली घाटियाँ हैं जिनमें प्रारंभिक एवं ट्रायसिक युग (Palaeozoic & Triassic) की सामुद्रिक पर्तें हैं। यह काश्मीर नेपी उस गढ़वाल हिमालय के तिब्बत वाले कटिबन्ध (मूल वाला कटिबन्ध) से अलग हो गया था जिसकी चट्टानें, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हिमालय के मध्यवर्ती अक्ष (central axis) से उत्तर वाले उसके (हिमालय) शेष भाग में सीमित है।

इन दो बड़े वितोदनों का पता करीब २५० मीलों तक लगा है; ये पश्चिमी पाकिस्तान के हजारा की सीमा से लेकर डलहौजी, जो प्रायद्विपीय अग्रभाग के छोर पर बसा हुआ एक शैलावास है, तक फैले हैं। मरी का बाह्य वितोदन में अपेक्षाकृत अधिक खड़ा उत्क्षेपण है और साथ ही अपेक्षाकृत अधिक खड़ा झुकाव है; लेकिन पंजाल के आभ्यन्तरिक वितोदन उससे अधिक महत्वपूर्ण हैं और इसके द्वारा ऊपरस्थ पर्तों बहुत पैमाने पर अनुप्रस्थ रूप से गतिशील हुई हैं। मध्य हिमालय की पर्तें अपनी प्रकृत

स्थिति में नहीं हैं बल्कि ये जटिल वितोदनकरण तथा दोहरी मोड़करण से प्रभावित हुई हैं जिसके फलस्वरूप पुरानी पर्तें नयी पर्तों के ऊपरी भाग पर आकर स्थित हो गयी हैं।

लघु हिमालय के बाह्य पार्श्व पर अवस्थित शिमला तथा चकराता—इन दो शैलावासों के बीच वाले क्षेत्र में प्राचीनतर युग की अत्यधिक परिवर्तित चट्टानें, जैसे, शिस्ट तथा ऐम्फीबोलाइट शिमला की स्लेट जैसी प्रायः अपरिवर्तित नवीनतर चट्टानों पर अवस्थित हैं। वेस्ट तथा पिलग्रिम ने यह प्रमाणित कर दिखाया है कि परिवर्तित चट्टानें दक्षिण की ओर प्रायः एक अनुप्रस्थ वितोदन-तल पर प्रेरित हुई हैं जिसमें कि वे अपरिवर्तित नवीनतर चट्टानों पर अवस्थित रहें। प्राचीनतर परिवर्तित चट्टानों से उस कगार के ऊपरी भाग का निर्माण होता है जिस पर शिमला अवस्थित है; यह जुतॉघ हिल के नाम से विदित है। और जिस वितोदन-तल पर वह (चट्टान) पुंज खिसका है, वह जुतॉघ के वितोदन के नाम से विदित है। अधिक पुरानी चट्टानें एक समय सम्पूर्ण क्षेत्र को अविछिन्न रूप से ढँके हुई थीं लेकिन अब वे पथक् अवशेषों के रूप में पायी जाती हैं जिनसे पहाड़ियों तथा पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ है; और सतलज की गहरी घाटी द्वारा मूलों (जड़ों) से अलग हो गयी हैं। ऊपरी स्थित पर्तों के अधिक प्राचीन पुंज जो खिसककर नवीनतर पर्तों के वितोदनतलों पर चला गया है, उसके नग्नीकरण के द्वारा कटने से एक पहाड़ी या पर्वत श्रेणी का निर्माण होता है। अधिक प्राचीन पर्तों से बनी ऐसी पहाड़ी नवीनतर पर्तों से घिरी रहती है; और यह क्लीपे (Klippe) के नाम से विदित है। शिमला का कगार एक क्लीपे है जो खिसककर जुतॉघ के वितोदन पर चला गया है। इस क्षेत्र में इस प्रकार की और भी पहाड़ियाँ तथा (पर्वत) श्रेणियाँ हैं, जैसे चौर की चोटी। इस बड़े वितोदन के अलावे शिमला के नीचे वाली चट्टानों में और भी दूसरे-दूसरे वितोदन के तल हैं। सम्भवतः जुतॉघ की तहों के आगे बढ़ने से, जैसे, उत्तर से आनेवाली विशाल तरंग, निम्नस्थ वितोदनों का निर्माण हुआ तथा जबर्दस्त अनुप्रस्थ संपीड़न के फलस्वरूप पर्तें एक दूसरी के शीर्ष पर ढेर हो गयीं। बाह्यतम वितोदन जो नेंगे वाले कटिबन्ध को परमो-कार्बोनिफेरस युग की नवीनतर चट्टानों से (क्रौल की पट्टी) अलग करता है, गिरि नदी के नाम पर गिरि वितोदन के नाम से विदित है। जुतॉघ तथा गिरि वितोदन काश्मीरी हिमालय के पंजाल वाले वितोदनों से मिलता जुलता है। क्रौल की पट्टी का आउटोक्थोन काश्मीर की पंजाल श्रेणी की आउटोक्थोनी सम्बन्धी मोड़दार (भंगिल) पट्टी से मिलता-जुलता है। क्रौल की पट्टी की बाह्यतम सीमा एक वितोदन-दराज (Thrust fault) से चिन्हित है जो क्रौल-वितोदन के नाम से ज्ञात है; क्रौल का वितोदन काश्मीर के मरी वाले वितोदन से मिलता-जुलता है। नवीनतर चट्टानें जो जुतॉघ की परिवर्तित अधिक प्राचीन चट्टानों के नीचे थीं, वे शाली (पर्वत) श्रेणी तथा सतलज की घाटी के उस भाग में दिखाई पड़ती हैं, जहाँ ऊपर वाली अधिक प्राचीन चट्टानों ने काटकर एक टेकटोनिक खिड़की के रूप में परिणत कर दिया है जिससे नवीनतर चट्टानें दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

क्रॉलवाला वितोदन शिमला हिमालय के गिरि वाले वितोदन के साथ मिला हुआ है, और कुमायूँ में नैनीताल के शैलाबास से आगे तक उत्तर-पूर्व की ओर फैला (स्थिति) है। यहाँ की आउटोक्थोन वाली इकाई शिमला की स्लेट है जिसको

ऊपर से टर्शियरी युग की पर्तें ढंके हुई हैं। क्रॉल का नेपे आउटोक्थोन पर उत्क्षेपित हैं। यह शिमला क्षेत्र के क्रॉल की पट्टी से मिलता-जुलता है। गढ़वाल वाले नेपे क्रॉल वाले नेपे पर उत्क्षेपित हो गये हैं। प्रमुख गढ़वाली नेपे का मूल प्रमुख हिमालय पर्वत श्रेणी में है। खिड़कियाँ (windows) जिनसे क्रॉल नेपे में नवीनतर चट्टानें दृष्टिगोचर होती हैं (प्रारंभिक टर्शियरी युग की न्यूमूलिटिक) वे देहरादून तथा ऋषिकेश में पायी जाती है।

इधर हाल के काम से कई नेपे का पता लगा है जिनमें काठमांडू वाले नेपी सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। काठमांडू वाले नेपे के मूल (जड़ें) हिमालय की प्रमुख पर्वत श्रेणी में है। काठमांडू वाले क्षेत्र में वे उल्टे वितोदन के रूप में हैं और उत्तर से दक्षिण करीब ४० मील तक फैले हैं।

पूर्वी हिमालय में भी दो प्रधान विलगाव (dislocations) है जो क्रॉल वाले वितोदन तथा गढ़वाली वितोदनों में से एक वितोदन से मिलते-जुलते हैं। बाह्य वितोदन के द्वारा गोंडवाना वाली पर्तें (क्रॉल) शिवालिक वाली चट्टानों पर आकर स्थित हो गयी हैं, और आभ्यन्तरिक वितोदन के द्वारा प्राचीनतम युग की परिवर्तित चट्टानें (Archaean rocks) गोंडवाना वाली चट्टानों पर स्थित हो गयी हैं। ऊपर वाली प्राचीनतर चट्टानों के क्षय होने से सिक्किम स्थित रंगित की घाटी की कोयले की खान वाली जैसी गोंडवाना वाली नवीनतर चट्टानों की 'खिड़कियाँ' दृष्तिटगोचर होने लगी हैं।

उपर्युक्त सभी दराज मायोशिन युग में प्रधान हिमालय पर्वत के निर्माण (orogenesis) के समय बने थे। टर्शियरी युग के उत्तरार्द्ध में तथा प्लेस्टोसिन युग में अत्यल्प तीव्रता के साथ धक्के वाले और भी संचलनों का बाहरी हिमालय पर असर पड़ा और इनके द्वारा प्रारम्भिक तथा मध्य टर्शियरी युग की पर्तें पूर्वार्द्ध टर्शियरी तथा प्लेस्टोसिन युग की पर्तें धक्के खाकर आगे बढ़ गयीं। ये नवीनतर उल्टे दराज (reversed faults) एक छोर से दूसरे छोर तक हिमालय की बाहरी सीमा को चिन्हित करते हैं तथा ये प्रधान सीमान्त दराजों (Main Boundary Faults) के नाम से विदित हैं।

भूकम्प

भूकम्प, जैसा कि इस शब्द से सूचित होता है, पृथ्वी की पपड़ी का प्रकम्पन है। कभी-कभी इसके साथ जमीन के स्थायी उन्नयन या अवनमन (elevation or depression) हुआ करता है; लेकिन प्रकम्पन के द्वारा होनेवाली क्षति को छोड़ धरातल पर इसका बहुधा कोई स्थायी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

बहुत दशाओं में भूकम्प निस्संदेह सन्निकटतः पृथ्वी की पूर्व वर्णित वर्गीय शक्तियों के साथ संबद्ध है, और ये पृथ्वी की पपड़ी के अन्दर वाली दृढ़ तहों के टूटने के फलस्वरूप उत्पन्न होते दिखाई पड़ते हैं। ये उन स्थानों में सबसे ज्यादा होते हैं जहाँ हाल में होनेवाले (भंगीकरण) मोड़ या दराज के बनने का प्रमाण मिलता है और जहाँ यह सम्भव है कि संचलन अभी तक स्थगित नहीं हुए हैं। जापान में १८९१ के २८ अक्टूबर को होनेवाले भूकम्प तथा सैनफ्रांसिसको के १८ अप्रैल, १९०६ वाले भूकम्प से धरातल पर दृश्य दराज बन गये थे लेकिन ये भूकम्पों के कारण की अपेक्षा उनके (भूकम्प)

सामान्य प्रयोजनों के लिए अस्थायी रूप से मध्यस्थ पर्त मान लें, जिसका आपेक्षिक घनत्व ३·०[१] मान लें, तो यह दिखलाना सरल है कि इसके डूबे हुए भाग का ऊपर वाले भाग के साथ करीब आठ और एक का संबन्ध है।

ऊपर वाले तथा डूबे हुए भागों का यथार्थ गणितीय अनुपात (ratio) जो भी हो, लेकिन यदि इनके आपेक्षिक अंशों को ध्यान में रखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सतह वाली चट्टानों की बहुत मोटी तहों के नीचे अथवा जहाँ ये भंजित (folded) हो गयी हैं तथा पुनर्भंजित (refolded) होने से पर्वत श्रेणियों में परिणत हो गयी हैं वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा ये अधिक गहराई में प्रवेश करेंगे। इसके विपरीत ऐसा सोचने का कारण है कि महासागरों के नीचे अन्तःस्तर अपेक्षाकृत ऊँचा है। स्पष्टतः महासागरों के जल से संहति (mass) में बहुत बड़ी अपूर्णता का पता लगता है। और देखा जाता है कि यदि किसी महादेश के चारों ओर वाले तटों पर लोलक (pendulum) द्वारा प्रेक्षण किये जायँ तो साहुल-गोलक (plumb-bob) महासागर की ओर आकर्षित होगा। इसका यही तात्पर्य हो सकता है कि उपमहासागरीय चट्टानें महादेशीय पुंज का निर्माण करने वाली चट्टानों की अपेक्षा अधिक घनी हैं। इस बात के महत्व पर नीचे विचार किया जाता है।

स्पष्टतः यदि प्लवन का विचार ठीक है, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि भूमंडल के अमुक क्षेत्रों पर अधिक बोझ हो तो उन्हें नीचे की ओर डूबना चाहिए तथा निचली पर्तों को विस्थापित (displace) करना चाहिए। दूसरे भाग के चौथे अध्याय में यह कहा गया है कि हिम युग में महासागरों के स्तर का पर्याप्त रूप से उच्चावयन (fluctuation) हुआ। इसका सबसे अधिक संभव कारण यह है कि अत्यधिक सर्दी के समय बड़े-बड़े हिमाटोपों (ice-caps) का निर्माण हुआ और स्वभावतः प्रारम्भ में महासागरों से आनेवाली भाप से इसमें वृद्धि होती गयी। लेकिन अगर हिमवर्षण के कुछ ज्ञात प्रधान केन्द्रों की ध्यान से जाँच की जाय तो बहुत-सी मनोरंजक घटनाओं का पता लगेगा। इनके अन्तर्गत बहुत-सी तट रेखाएँ सम्मिलित रहेंगी जो प्रायः इतनी अधिक झुकी रहती हैं कि उच्चतम तट रेखा वहीं पर पायी जाती है कि जहाँ बर्फ प्रारम्भ (originally) में सबसे मोटी तह वाली थी। दूसरे शब्दों में समुद्र स्तर उच्चावयनों के अतिरिक्त, जो सारे संसार में होते हैं, सिकुड़ने वाली स्थल की गतियाँ भी हुईं; ये स्थान भाग बर्फ के भार से नीचे दब गये और पुनः तदुपरान्त उठ गये। स्थल का इस प्रकार पुनः उठना अभी भी हो रहा है। ज्वार वाले तथा अन्य प्रकार के सावधानी से किए गये प्रेक्षणों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि स्कैंडिनेविया और उत्तरी अमेरिका के भाग अभी भी उठ रहे हैं। इसी प्रकार एक विशाल तथा परिवर्द्धिनी डेल्टा में जमीन नीचे दब सकती है। लेकिन इसके विपरीत किसी भी तरह जिन क्षेत्रों में क्षयीकरण होता है, उनमें उठने की प्रवृत्ति रहेगी क्योंकि ऐसे क्षेत्र हल्के होते जाते हैं।

सम्पूर्ण विषय एक बड़ी कठिनाई का विषय है; परन्तु यदि हम स्वेस के अपेक्षाकृत अधिक पुराने विचार की ओर लौटें और यह मानें कि सियाल सिमा पर प्लवन कर रहा

---

१ अन्तःस्तर वाली चट्टान की वास्तविक प्रकृति के अनुमान को जानबूझकर हटा दिया गया है। किसी भी दशा में उदाहरण को अत्यधिक सरल बना दिया गया है।

है, तो इसको आँकना अधिक सरल हो जाता है। फिर भी भूकम्प विज्ञान (seismology) से यह अनुमान निकलता है कि पपड़ी की रचना बहुत ज्यादा जटिल है। तौभी भूसंतोल (isostasy) का सिद्धान्त टिका हुआ है, और वास्तव में यह समझना चाहिए कि यह बहुत सी कठिनाइयों के बावजूद भी सिद्धान्त की अवस्था से गुजर कर तथ्य बन गया है।

केवल गुरुत्व के प्रेक्षणों से ही नहीं बल्कि उप-महासागरीय क्षेत्रों में प्रायः पर्याप्त रूप से अधिक रहनेवाली भूकम्प की तरंगों के संचरण (transmission) की चाल से भी यह अनुमान होता है कि गंभीर महासागरीय तल उस द्रव से बना है जो महादेशों का निर्माण करने वाले द्रव्य से अधिक घने (denser) हैं। भौगोलिक दृष्टि से प्रशान्त तथा अटलांटिक महासागरों में स्पष्ट रूप से भिन्नता पायी जाती है। पहला प्रायः उन पहाड़ों से घिरा है जो भंगिल (folded) हैं और महासागरीय किनारे के समानान्तर हैं। कभी-कभी ये पहाड़ आंशिक रूप से डूब सकते हैं जैसा कि पूर्वी एशिया से दूर में पाया जाता है। और दूसरे स्थानों में ये महादेशों में मिल जाते हैं जैसा कि दक्षिणी अमेरिका में। परिवेष्टित करनेवाले पर्वत अटलांटिक महासागर में बिलकुल नहीं पाये जाते; बल्कि यह तो विशेष रूप से पठारों से घिरा है। यही नहीं, बल्कि ब्रिटेनी, दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैंड मेन (Maine) तथा दूसरे स्थानों में यह पर्वत श्रेणियों से घिरा है जो अनुप्रस्थ रूप से (transversely) बाहर की ओर महासागर में बढ़ती हैं। कुछ और भिन्नताएँ दूसरे भाग के पहले अध्याय में लिखी जा चुकी हैं। अटलांटिक तथा प्रशान्त महासागरों में यह भिन्नता मौलिक रूप से पायी जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्द महासागर के अधिकांश भाग तथा आर्कटिक महासागर के कुछ भाग अटलांटिक महासागर की श्रेणी में आते हैं।

चित्र ६५ के निर्देश से पता चलता है कि दो स्तर बहुत महत्त्व के हैं जिनमें एक वर्तमान समुद्र-स्तर के निकट है और दूसरा इससे करीब ५ किलोमीटर नीचे। इतनी ही बात पर्याप्त है जिसकी सहायता से हम वास्तविक महासागरों को छिछले समुद्रों से भिन्न बतलाते हैं। इन समुद्रों के नीचे महादेशीय भाग फैले हैं। इससे और विशेष अध्ययन से अन्त में इस बात का पता लगता है कि गंभीर प्रशान्त महासागरीय खड्ड (basin) भूमंडल के शेष भागों से अलग है। आखिर यह गंभीर प्रशान्त महासागरीय खड्ड क्या है? स्वेस ने इस बात को स्वीकार किया है कि प्रशान्त के पश्चिमी भाग में एक रेखा है जो दो अत्यन्त भिन्न प्रकार को स्थलाकृति (structure) को अलग करती है। यह रेखा अब प्रायः ऐंडीसाइट[1] की रेखा कहलाती है क्योंकि इसके पश्चिम में पायी जाने वाली नवीनतर चट्टानें प्रमुखतः ऐंडीसाइट हैं लेकिन इसके पूर्व में पायी जानेवाली चट्टानें प्रमुखतः बैसॉल्ट हैं, यद्यपि कि संरचना का यथार्थ विवरण (details) स्पष्ट नहीं है। तौभी यह रेखा रचना की एक महत्वद्पूर्ण सीमा-रेखा का काम करती है। इसके पश्चिम में द्वीपीय चाँपों के साथ-साथ सभी रचनाएँ वास्तव में महादेशीय है अथवा महादेशीय चट्टानों से बनी हैं। इसके पूर्व में पाये जाने

१ ऐंडीसाइट एक बारीक दानों वाली आग्नेय चट्टान है; यह प्रायः बीच की रचना वाला लावा है और इसमें प्लेजियोक्लेज नामक फेल्सपार का बाहुल्य रहता है। ऐन्डीज पर्वत के नाम पर इसका नाम ऐंडीसाइट पड़ा।

वाले द्वीप ज्वालामुखीय हैं; वे प्रायः श्रृंखलाओं में विन्यस्त हैं लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि वे भंगिल हैं या नहीं।

प्रशान्त महासागर की वास्तविक सीमा अंशतः चित्र १२५ में दिखलाई गयी है: उत्तर में यह जापानी द्वीपों कमचटका तथा एलुशियन द्वीप से लेकर उत्तरी अमेरिका जाती है। उसके आगे रचना की पृथक्ता स्पष्ट नहीं है, तथा भूकम्पीय प्रमाण से निनान्त प्रबलता से अनुमान होता है कि प्रशान्त महासागर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में बहुत बड़े क्षेत्र हैं जिनमें महादेशीय रचना है। यह क्षेत्र उतनी दूर उत्तर तक नहीं फैला है जिसमें इस्टर द्वीप इसके अन्तर्गत आ सके। इसकी दक्षिणी सीमा अनिश्चित है, लेकिन सम्भवतः यह ऐंटार्कटिका के निकट है।

कुछेक और दूसरे क्षेत्र भी हैं जिनकी रचना प्रशान्त महासागर की रचना के समान है। पश्चिमी भारतीय चाप इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और इसका दूसरा उदाहरण आर्कटिक महासागर का गंभीर खड्ड (basin) हो सकता है।

केवल प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र चाप के सदृश श्रृंखलाओं से जो प्रायः महासागर की ओर भंगिल हैं, से घिरा ही नहीं है, बल्कि इसका पार्श्ववर्ती भाग भूकम्पीय कार्य की पट्टी भी है। और यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वे भूकम्प जिनका फोकस गहराई में या बहुत नीचे रहता है (सतह से २०० से लेकर ७०० किलोमीटर नीचे) इसी पट्टी में सीमित होते दिखाई पड़ते हैं। उनके (भूकम्प) ऊपरि केन्द्र (epicentres) हमेशा चारों ओर वाली महादेशीय रचनाओं पर रहते हैं, लेकिन उनकी पंक्तिबद्धता हमेशा महासागर की सीमा से संबद्ध नहीं रहती है। भूकम्प की तरंगें पुनः वास्तविक प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र तथा चारों ओर के क्षेत्रों में अत्यधिक स्पष्ट अन्तर उपस्थित करती हैं। प्रशान्त महासागरीय चट्टानों की दृढ़ता अपेक्षाकृत अधिक रहती है।

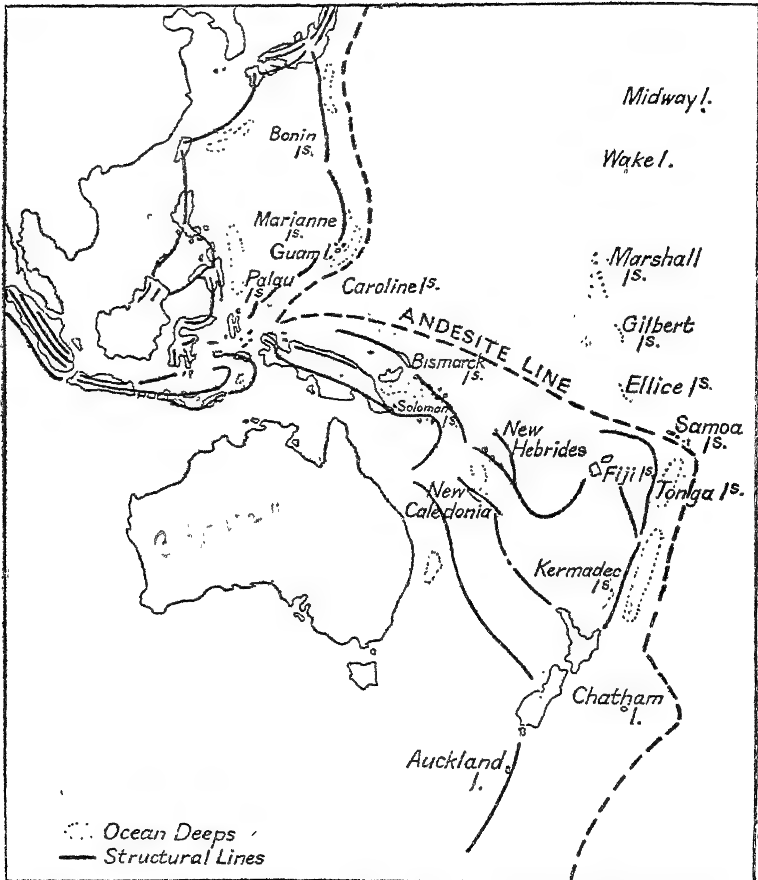
यह अटलांटिक महासागर से स्पष्ट रूप से भिन्न है। उस महासागर के तल से गुजरने वाली भूकम्पीय तरंगों से प्रबलता से अनुमान होता है कि इसके नीचे पर्याप्त रूप से मोटी तह वाली चट्टानें हैं और साथ ही इस बात पर भी जोर देता है कि अटलांटिक महासागर के खड्ड (Basin) के पार्श्व में वास्तव में एक भी रचनात्मक महत्व की वस्तु नहीं है जैसा कि प्रशान्त महासागर में मिलती है।

वास्तव में यह सुझाव पेश किया गया है कि अधिकांश उप-अटलांटिक महासागरीय रचना का हेमन्त युग के पूर्व (pre-Cambrsian) तथा पुराकल्पीय (Palaeozoic) युगों की उन सिद्धान्तों के नीचे दबने के कारण निर्माण हुआ है जो चारों ओर वाले महादेशी चट्टानों के समान है। बहुत-से भूकम्प केन्द्र ऐसे हैं जो अटलांटिक महासागर के बीच वाले कगार (ridge) से सम्बद्ध हैं; विशेष कर भूमध्य रेखा के उत्तर। यह कगार वर्तमान अन्तकृत (tectonic) कार्य की रेखा बन सकती है।

हिन्द महासागर अटलांटिक महासागर के समान है। केवल उत्तरी-पूर्वी किनारे, मलाया प्रायद्वीप तथा दूर्वी भारतीय चाप के पास यह उससे भिन्न है। इस क्षेत्र के अलावे भूकम्पों से प्राप्त तथ्यों से महादेशीय रचनाओं के वर्तमान रहने का पता लगता है।

संक्षेप में ऐसा मालूम पड़ता है कि पृथ्वी स्पष्ट रूप से दो भिन्न रचनात्मक क्षेत्रों में बँटी हुई है। इसके पहले क्षेत्र में प्रशान्त महासागर का प्रमुख खड्ड (basin) आता है और सम्भवतः बहुत कम दूसरे क्षेत्र इसके अन्तर्गत आते हैं। दूसरे क्षेत्र में भूतल

का शेष भाग है जिसके अन्तर्गत छिछले समुद्रों तथा झीलों समेत महादेश और अटलांटिक महासागर और यहाँ तक कि प्रशान्त महासागर के पार्श्व पर अवस्थित पर्याप्त क्षेत्र भी आते हैं।



चित्र १२५—दक्षिणी-पश्चिमी प्रशान्त महासागर की आकृति का नक्शा (ए० बौर्न के अनुसार)।

महासागरीय खड्ड, महादेश, और पर्वत श्रृंखलाएँ सम्भवतः भूमण्डल की प्रमुख स्थलाकृतियाँ हैं। स्वभावतः उनकी उत्पत्ति से बहुत-सी परिकल्पनाओं (speculations) का प्रादुर्भाव हुआ है। लेकिन ऐसा महसूस करना आवश्यक है कि उनकी उत्पत्ति की कोई व्याख्या नहीं है जिसे किसी भी अर्थ में अंशतः भी

पूर्ण माना जा सके। साधारणतः सिद्धान्तः दो भागों (groups) में बँट जाते हैं। पहला भाग भूमंडल के आकुँचन (contraction) वाली कल्पना (notion) पर आधारित है और दूसरा कुछ दृष्टियों से अधिक आधुनिक मत (view') पर; इसमे इस बात की संभावना का पता चलना है कि महादेशीय संहतियाँ पार्श्विक रूप से, उस अन्तःस्तर पर अथवा उसमे होकर, जिसका सिद्धान्त विशेष में जो भी महत्व हो सके, खिसक रही है। इस प्रकार की कल्पना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। पर्वत श्रेणियों में हमें बड़े तथा अनायास दृष्टिगोचर होनेवाले मोड़ (folding) मिलते है जिनमे यह तथ्य निकलता है कि विभिन्न प्रकार के जीव विस्तृत क्षेत्रों में बिखरे पड़े हैं। ये विस्तृत क्षेत्र विस्तृत महासागरों के द्वारा पृथक हो गये हैं जिनके आधार पर यदि ऐसा सोचना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि वे जीवधारी तभी तक भ्रमण करते रहे जबतक कि पृथ्वी के इतिहास की किसी अवस्था में स्थल भाग एक दूसरे से मिले हुए थे। इसके अतिरिक्त हिमयुग के विस्तृत रूप से पृथक दक्षिणी महादेशों के बहुत से भागों में उनके चिन्ह मिलते है जो प्रायः उत्तरी गोलार्द्ध के कोयले के निक्षेपों के निर्माण के समय में हुआ था।

इस पर भी इन बातों की विवेचना करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह समझना सरल है कि गतिशील महादेशों की धारणा से इसकी बड़ी पुष्टि होगी। लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा ज्ञात पर्याप्त कारण नही है जिससे गति उत्पन्न हो। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि इस प्रकार की गति मौजूद है तो मृत तथा जीवित जीवधारियों के बहुत से वितरणों की विवेचना करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। लेकिन इस अनुमान पर कि वर्तमान समय में विस्तृत रूप से पृथक् स्थल जिनपर वे पाये जाते हैं, एक समय सटे हुए थे, किसी प्रकार भी उनके सभी वितरणों की विवेचना करना सरल नही है। दूसरे विद्वान् तर्क उपस्थित करेंगे कि चूँकि महादेशीय गति का होना असम्भव है, स्थलीय सम्पर्क पहले उन क्षेत्रों के बीच रहा होगा जो आज महासागरों द्वारा अलग हो गये हैं। लेकिन हमने देखा है कि भूसंतोल (Isostasy) एक सिद्धान्त से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि, जैसा कि हमारे पास अविश्वास करने का पर्याप्त कारण है, वाहरी पपड़ी वाली चट्टाने नीचे वाली चट्टानों की अपेक्षा द्रव्य से बनी हों तो यह समझना कठिन है कि गंभीर महासागर के ऊपर का स्थलीय सम्पर्क किस प्रकार लुप्त हो सकता है। और यहाँ तक कि अगर, जैसा कि कभी-कभी अनुमान किया जाता है, चट्टानें चौरस होकर फैल जायें तो भी ऐसा समझना कठिन है। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश द्वीप समूह तथा यूरोप महादेश के बीच वाले पूर्व कालीन स्थलीय सम्पर्कों की विवेचना करने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यह अटलांटिक के आरपार वाले स्थलीय सम्पर्क (trans-Atlantic connection) से अत्यधिक भिन्न बात है।

फिर भी द्वेषरहित विचार रखना आवश्यक है। चूँकि गतिशील महादेशों की विवेचना करने के लिए प्रस्तुत किए गये सुझाव अपूर्ण माने गये हैं, इसलिए इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महादेश अपनी जगह से हटे नहीं हैं; सम्भवतः अभी भी इसके पर्याप्त रूप से जबर्दस्त ताकत की गवेपणा (खोज) की जायगी। आकुंचन के सिद्धांत से (Contraction theories) से पर्याप्त मात्रा में स्पर्श करने वाले दाब (tangential pressure) का बोध होता है जिसके फलस्वरूप पार्श्विक गति का उत्पन्न होना आवश्यक है, और ऐसा तर्क पेश किया गया है कि प्रेक्षित पपड़ी वाली आकुंचन

(shortening) की विवेचना के लिए स्पर्श करने वाला दाब अपर्याप्त है। लेकिन हमें इस बात का इतनी जल्द अनुमान नहीं कर लेना चाहिए कि पर्वत शृंखलाओं में उत्पन्न होने वाले बड़े मोड़ वृहत् पपड़ी वाली आकुंचन का उतना ही परिचायक है जितना कभी-कभी माना जाता है। पर्वत श्रेणियों में उत्पन्न होनेवाले मोड़ के लिए की गई बहुत-सी गणनाएँ जरूरत से ज्यादा हो सकती हैं, क्योंकि वे प्रायः इस अनुमान पर आधारित रहती हैं कि उक्षिप्त पुंज (overthrust masses) जो अब क्षयीकरण द्वारा अपने उत्पत्ति-स्थान से अलग हो गये हैं, एक समय अविछिन्न थे। इस बात को (अप्रमाणित) असिद्ध नहीं किया गया है कि ऐसी दशा उत्पन्न हो सकी होगी। लेकिन यह भी सम्भव है कि ऐसे पुंज, दबकर ऊपर आने की विधि की विशेष अवस्था में टूट गये और अपने भार के नीचे आगे की ओर धीरे-धीरे खिसक गये। यदि ऐसी बात होती तो यह स्पष्ट है कि संपीड़न के फलस्वरूप वास्तविक आंकुंचन प्रत्यक्ष आकुंचन की अपेक्षा अत्यल्प हो सकता है (पृष्ठ २५४) तथा चित्र ११५ देखिए)।

इस प्रकार की अनिश्चितताओं के कारण पर्वत निर्माण सम्बन्धी और भी बहुत-सी अनिश्चितताओं के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं; और पृथ्वी की पपड़ी तथा उसमें काम करने वाले बलों के सम्बन्ध में सम्भाव्य विचार की भिन्नता के कारण, और साथ ही स्थानाभाव को लेकर यहाँ पर पृथ्वी सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन असंगत है। इसके अतिरिक्त उनका मूल्यांकन भूगर्भशास्त्र तथा उन अन्य विज्ञानों के ज्ञान पर निर्भर करता है जिनका इस पुस्तक की विषय वस्तु से कोई प्रसंग नहीं है।

चौथा अध्याय

तटरेखाएँ

तट के रूप और लक्षण (character) अंशतः उन्नयन तथा अवनमन (depression) जिनसे पृथ्वी की पपड़ी प्रभावित हुई है, से (निर्धारित होते हैं) और अंशतः समुद्र के कार्य एवं नग्नीकरण वाले अन्य दूतो से निर्धारित होते हैं और बहुत अंशों में वे स्थल का निर्माण करने वाले द्रव्यों पर भी निर्भर करते हैं।

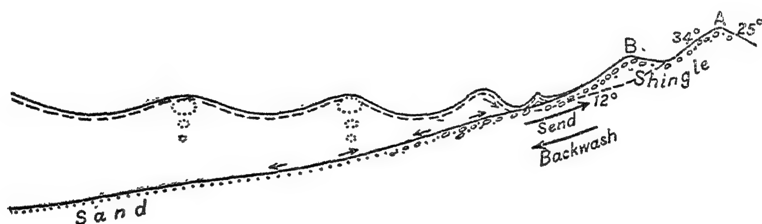
तरंगों का कार्य––तरंगें प्रायः तटरेखा में परिवर्तन लाने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण दूत हैं। ज्वारभाटा प्रथमतः तो इसलिये प्रभावोत्पादक हैं कि वे तरंगों के कार्य का स्तर ऊँचा-नीचा करते हैं और दूसरे धाराओं के चलते जो इनसे सम्बद्ध हैं। ज्वारभाटा से उत्पन्न धाराओं की दिशा प्रत्यावर्तित होती रहती है जिसके फलस्वरूप वे तट के निकट अपवहन (longshore drift) वाले दूतों के रूप में अपनी अधिकांश प्रभावोत्पादकता खो देती हैं। छिछली झीलों (लैगून) के संकीर्ण मुहानों में तथा उन स्थानों में जहाँ ज्वारभाटा वाली प्रबल-धाराओं का निर्माण तट के सन्निकट होता है, वहाँ ज्वारभाटा वाली धाराओं का प्रभाव अधिक होता है। हवाओं के द्वारा उत्पन्न धाराएँ प्रायः जहाँ कहीं किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये वे वास्तव में तट से टकराती है, अत्यधिक मंद होती हैं। इसके विपरीत ज्वारभाटा वाली तथा संभवतः दूसरे प्रकार की धाराएँ जो तट के निकट बहती हैं, चक्र के रूप में घूम-घूम कर अपने साथ उन बारीक द्रव्यों को ले जाती हैं जो तरंगों द्वारा उद्वेलित कर दिए गये हैं। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रक्रम है जिसे उस धीमी ढाल तथा महादेशीय छज्जा वाले बालुका-तट पर कोई भी आदमी स्नान करते समय प्रायः अनायास देख सकता है, जहाँ छोटी तरंगें चलती रहती हैं।

गंभीर जल की साधारण तरंग में जल-कणों की गति का विवेचन १६९ पृष्ठ पर हो चुका है। यहाँ पर इस बात पर विचार करना सरल है कि तरंगों के छिछले जल में प्रवेश करने तथा बालुतटों पर टकराने से क्या होता है।

तरंगों के छिछले जल में प्रवेश करने पर उनकी चाल कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप वे अपेक्षाकृत अधिक सन्निविष्ट (packed) होकर जुट जाती हैं। उनकी कक्षीय (orbital) गति दीर्घ वृताकार हो जाती है। दीर्घ वृत्तों के अक्ष अनुप्रस्थ रहते हैं (चित्र १२४)। उनके शीर्ष अधिक खड़े तथा अधिक ऊँचे हो जाते हैं और द्रोणियाँ (troughs) अधिक चौरस। अन्त में शीर्ष खाली हो जाते हैं, उसके पश्चात् वे वक्र होकर मुड़ जाते हैं तथा तत्पश्चात नष्ट हो जाते हैं। इसका कारण नितान्त रूप से स्पष्ट नहीं है, लेकिन इसके होने का कारण यह माना जा सकता है कि पूर्ण तरंग शीर्ष निर्माण के लिये वहाँ अपर्याप्त जल रहता है जिसमें तरंग वाली शक्ति संचरित हो सकती है। शीर्षो के अधिक खड़े होने पर तल पर वाली अग्रोन्मुखी चंचलन की चाल बढ़ जाती है तथा द्रोणियों के नीचे प्रत्यावर्तनीय संचलन अधिक धीमा हो जाता है। तो भी जल कणों द्वारा तय की गयी दोनों ओर की कुल दूरी बराबर ही हो सकती है। मन्द प्रत्यावर्तनीय संचलन जल को ठीक उतनी ही दूर ले जाता है जितनी दूर छोटी तथा तेज अग्रोन्मुखी संचलन।

विशाल तरंगों के स्थल की ओर वाले भाग में जल वारी-वारी से धक्का (पानी का छींटा) और उलटे प्रवाह् के रूप में बालुका तट पर आगे बढ़ता तथा पीछे नीचे की ओर हटता है।

तरंगों से टकराने वाले स्थान से ठीक समुद्र की ओर समुद्र-तल को वास्तविक रूप से स्पर्श करने वाली जल की आगे पीछे जाने वाली गति का बालू तथा पत्थर के टुकड़ों को ढोने (या विस्थापित) में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। शीर्ष के नीचे जमीन की ओर जाने वाला धक्का अपेक्षाकृत अधिक मन्द लौटने वाले संचलन से तल पर वाले द्रव्य को ढोने में अधिक प्रभावशाली होता है। इस प्रकार द्रव्य तवतक स्थल की ओर बढ़ता रहता है जवतक ढाल इतनी रहती है कि जितना द्रव्य अधिक जवर्दस्त धक्कों के द्वारा तट की ओर जाता है उतना ही द्रव्य लौटने वाली मन्द धाराएँ ढोकर ले जाती हैं। इसे संतुलन की ढाल (slope of equilibrium) कहते हैं।



चित्र १२६—तरंगों के टूटने के पहले और बाद जल के कणों की गति और बालूतट कगारों का निर्माण।

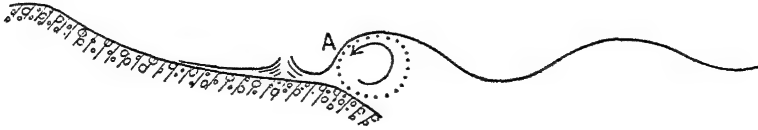
तरंगों के स्थल की ओर वाले भाग के जल का संचलन काफी ढालुओं पत्थर के टुकड़ों से निर्मित बालुकातट पर सबसे अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। तरंगों से आने वाला धक्का (send) गुरुत्व, घर्षण, तथा (जल के) टपकने के कारण जल के क्षय होने से मन्द हो जाता है। जल सीधे ढलान की ओर लौट जाता है तथा घर्षण के कारण लगातार मन्द होता जाता है। पुनः पत्थर के टुकड़ों से टपक कर वाहर आने वाले जल के लौटने में अल्प सहायता मिल सकती है। इस प्रकार वालुकातट की संतुलन की ढाल स्थल के निकट तथा उन स्थानों में जहाँ लौटने वाले जल का आयतन तथा वेग (velocity) कम रहते हैं, सवसे ज्यादा खड़ी होती है।

बालुका तट की प्रवणता (gradient) का विकास इसके समान नितान्त सरल नहीं है क्योंकि विभिन्न ऊँचाई तथा लम्बाई वाली तरंगों से संतुलन की विभिन्न रूप रेखाओं या खाकाओं (profile) का निर्माण होता है, और ज्वार भाटा वाले जल में तरंग के कार्य का स्तर अविराम वदलता रहता है। फलतः पत्थर के टुकड़ों से बना हुआ वालुकातट जो बालू वाले वन्ध या बालुकातट की अपेक्षा तरंग के कार्य द्वारा अधिक तेजी से परिवर्तित हो सकता है, उस पर जल-प्रवाह (flux) वरावर जारी रहता है।

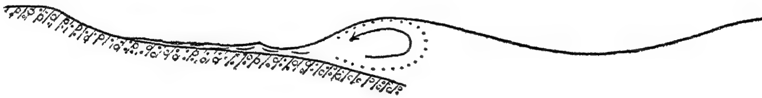
स्थानीय हवाओं के द्वारा उत्पन्न होने वाली तरंगों में बहुत वड़ा अन्तर होता है लेकिन अपनी लम्बाई के समानुपात की दृष्टि से वे प्रायः ऊँची होती हैं। इसके

कक्ष पर वेग अधिक रहता है लेकिन आगे बढ़ने की गति (rate) कम रहती है क्योंकि यह तरंग की लम्बाई के समानुपात में रहती है। तरंगों के प्रायः लम्बरूप से (vertical) गिरने के कारण (चित्र १२७) उनके उछलने (bounce) में अधिकांश शक्ति क्षय हो जाती है तथा इसमे भी अधिक शक्ति आवर्तो या बेलनाकार तरंगों के धक्कों के साथ बालुकातट पर ऊपर बढ़ने के समय क्षय हो जाती है। यद्यपि इस कारण से धक्का मन्द रहता है तौ भी यह विशाल जल राशि को बालुकातट पर ढोकर ले जाता है जो आपेक्षिक रूप से उल्टे जल प्रवाह के रूप में पीछे की ओर लौटता है। यह उल्टा जल प्रवाह ऊपर बढ़ने वाले धक्के से मिलता है और उसके प्रभाव को कम कर देता है। फलतः ये तरंगें बालुकातट के नीचे द्रव्य को ढोकर ले जाती हैं और इसलिए इन्हें विनाशकारी तरंगें कह सकते हैं।

जब तरंगें आँधी के केन्द्र से दूर हटने लगती हैं तब उनकी लम्बाई का अनुपात ऊँचाई के अनुपात से बढ़ जाता है और अपेक्षाकृत छोटी तरंगें शीघ्र ही विलीन हो जाती



चित्र १२७—विनाशकारी तरंगों का टूटना।



चित्र १२८—निर्माणकारी तरंगों का टूटना।

हैं। इस प्रकार दूर वाली आँधी से लम्बी स्थलीय तरंग (long ground-swell) का निर्माण होता हो बालुकातट पर उत्पन्न होनेवाली ये तरंगें, अत्यधिक विशाल न रहने पर भी रचनात्मक तरंगें[1] कहीं जा सकती हैं। (चित्र १२८)।

उनके चलने की गति तेज रहती है तथा कक्ष पर वाला वेग मन्द रहता है। एक तरंक का उलटा जल प्रवाह प्रायः आने वाली तरंग के पृथक् होने के पूर्व ही लौटा करता है। तेजी से चलने वाली तरंग अपनी सारी शक्ति तेज धक्के में बदलती हुई दीख पड़ती है, जो उतनी ही ऊँची विनाशकारी तरंग के धक्के की अपेक्षा बालुकातट पर बहुत ऊपर तक जाता है। इसका कक्ष पर वाला वेग भी पृथक् होने वाले स्थान पर अचानक समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त उल्टा जल-प्रवाह तट से नीचे की ओर अपनी लम्बी दौड़ में घर्षण द्वारा बहुत मन्द हो जाता है।

---

१ करीब तीन फुट ऊँची विनाशकारी तरंगों की आवृत्ति (frequency) अलग होने पर १२ से लेकर १४ बार तक एक मिनट में होती है और रचनात्मक तरंगों की आवृत्ति अलग होने पर एक मिनट में ५६ से लेकर ८ बार तक होती है।

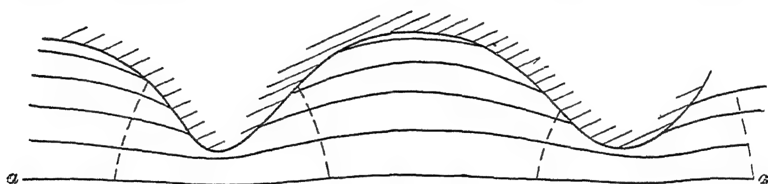
ये दो प्रकार की तरंगें प्रयोगशाला (laboratory) में उत्पन्न की जा सकती हैं, और तब यह देखा जा सकता है कि इनके विनाशकारी तथा रचनात्मक कार्य पृथक् होने के स्थान से समुद्र की ओर ही होते हैं।

आँधी से उत्पन्न होने वाली तरंगें अपनी ऊँचाई के समानुपात में छोटी होती हैं, तथा अपने आकार के कारण वे अत्यधिक विनाशकारी होती हैं। १८५२ में केवल एक भीषण आँधी से चेसिल नामक बालुकातट (Chesil Beach) से ४५ लाख टन पत्थर के टुकड़ों को कोरकर उड़ा ले गयी थी, जिनमें से अधिकांश कुछ दिनों में अधिक संभव है कि आँधी के बाद स्थलवाले उमड़ाव (ground-swell) की लम्बी रचनात्मक तरंगों के द्वारा लौट आये थे। छोटी तरंगों का प्रकार जो भी हो, किन्तु वे आँधी के बाद समुद्र के छिछले भाग (shingle) से बालुकातट पर लौट आती हैं।

यद्यपि आँधी से उत्पन्न होनेवाली तरंगें प्रधानतः विनाशकारी होती हैं, तौभी वे बालुकातट के शीर्ष पर पत्थर के टुकड़े उठाकर फेंक सकती हैं और इस प्रकार उनसे एक नया कगार[1] (ridge) बन जायगा (चित्र A १२६)।

अपेक्षाकृत छोटे कगार, जैसे B, छोटी आधियों के कार्य के द्योतक हैं।

तरंग का वर्त्तन—छिछले जल में तरंग के आगे बढ़ने की गति जल[2] की गहराई पर निर्भर करती है। एक तरंग (aa, चित्र १२९) जो कटी-छटी तट रेखा के सन्निकट गंभीर जल में खाड़ियों की विपरीत दिशा में बहुत अधिक तेजी से चलती है, और तट पर पहुँचने पर यह ठीक उसी तरह मुड़ जाती है जिस तरह चित्र में दिखाया गया है। इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम



चित्र १२९—कटे हुए समुद्रतट पर तरंगों का परावर्तन।

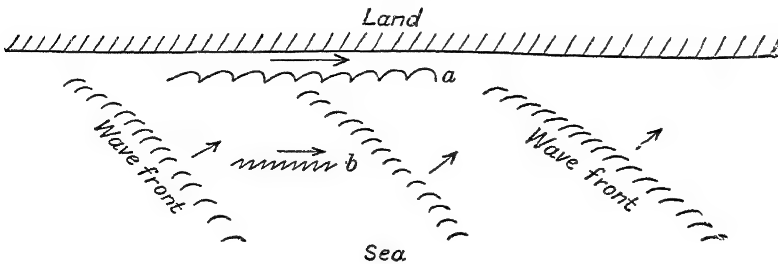
होते हैं। तरंग की शक्ति ऐसी दिशा में संचारित होती है जो अग्र पर लम्ब होती है, और इसलिये शक्ति का अधिकांश समानुपात में खाड़ियों की अपेक्षा अन्तरीपों (head lands) को ओर सांद्रित (concentrated) रहती है। तरंगें अन्तरीपों तथा खाड़ियों के पार्श्वों (sides) से किसी कोण पर टकराती

१ ज्वारभाटा के चिन्हों के बीच बालुकातट की रूपरेखा की ढाल समुद्र की ओर करीब १२° हो सकती है, जो क्रमशः बढ़कर शीर्ष (crest) के निकट ३४° हो जाती है। जल के साथ स्थल पर बहकर आनेवाले पत्थर के टुकड़े करीब २५° की ढाल वाले स्थान पर आकर स्थिर हो जाते हैं।

२ यदि गहराई (h) तरंग की लम्बाई के छठे भाग से कम हो, तो $c=2gh$ जहाँ c वेग है और g गुरुत्व।

हैं और यह बालू और पत्थर के टुकड़ों को तट पर अपवाहित होने को बाध्य करती है। किसी खुले तट पर हवाएँ तरंगों को बालुकातट पर तिरछी होकर उपगमन करने को बाध्य कर सकती हैं। तरंगों के पृथक् होने पर धक्का भी बालुकातट पर तिरछी होकर जायगा, और अपने अबद्ध (loose) द्रव्य को ढोकर ले जायगा। किन्तु उल्टा जल-प्रवाह अधिकतम ढाल के नीचे की ओर सीधे लौट जायगा; और यह भी अपने साथ बालू तथा पत्थर के टुकड़े ढोकर ले जायगा (a चित्र १३०)। पृथक् होने के स्थानों से समुद्र की ओर भी कुछ अंशों में इसी प्रकार का कार्य होता है जिसके परिणामस्वरूप आरे के दाँत जैसे मार्ग (b) पर संचलन उत्पन्न होता है। अब इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तिर्यक तरंगों के बालुकातट पर कुछ समय तक कार्य करने पर उनकी पहुँच के अन्दर वाले पत्थर के टुकड़े तथा बालू ऊपर (बालुका-तट) तिरछी होकर बढ़ती हैं। इस प्रक्रम को तट या बालुकातट का अपवहन (long-shore of beach drifting) कहते हैं और यह बहुत महत्त्वपूर्ण भी है।

यहाँ प्रचलित तथा प्रबल तरंगों के बीच का अन्तर स्पष्ट कर देना चाहिए। प्रचलित तरंगें वे हैं जो प्रायः सबसे ज्यादा बालुकातट पर दिखाई पड़ती हैं। यह शब्द उनके आकार से अधिक सम्बन्ध नहीं रखता, यही नहीं, यह उनके उत्पन्न होने की आवृत्ति तथा जिस दशा से वे आती हैं उनके बारे में भी अधिक निर्देश नहीं करता है। प्रबल तरंगें वे हैं जो कार्य करने के समय के समानुपात से बाहर बालुकातट पर प्रभाव डाल सकती है। ब्रिटिश द्वीप-समूह के पश्चिमी तक के बहुत से भागों में दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम दिशा से तरंगों के आने की प्रत्याशा की जा सकती है। लेकिन शान्त मौसम में इनसे कोई ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता, यद्यपि कि कुछ समय के लिये उनका



चित्र १३०—तिरछी तरंगों से बालुकातट का अपवहन।

सामूहिक प्रभाव पर्याप्त हो सकता है। आँधी के समय उसी दिशा से प्रबल तरंगें आ सकती हैं जो (तरंगें) एक ही ज्वारभाटा में महान् परिवर्तन ला सकती हैं। ये तरंगें प्रबल कही जा सकती हैं। ब्रिटिश द्वीप-समूह के पूर्वी तटों पर प्रबल तरंगें उत्तर और पूर्व से आती हैं तथा अन्य स्थानों की भाँति वे तट के किसी विशेष फैलाव से सुदूर खुले जल की पहुँच से सन्निकटता से सम्बद्ध रहती हैं।

तट पर द्रव्य का अपवहन प्रायः प्रचलित तरंगों के कार्य के कारण होता है क्योंकि वे बराबर कार्य करती रहती हैं, तथा जल रेखा के निकट उनमें प्रायः बालू तथा पत्थर

के टुकड़ों को गतिशील करने की पर्याप्त शक्ति रहती है। बालुकातट पर का यह अपवहन समुद्र के किनारे वाले बहुत शहरों में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है जहाँ उच्छृंगों (cliffs) तथा समतल भूमि को सुरक्षित रखने के लिये बाहर में लकड़ी की दीवारें (groynes) बना दी गयी हैं। यह (groyne) लकड़ी, पत्थर अथवा कंकरीट की दीवार है जो समुद्र की ओर बनायी जाती है तथा यह प्रायः तट पर समकोण बनाती है। तट पर अपवाहित होने वाली बालू और पत्थर के टुकड़ों का दीवार के एक ओर ढेर लग जाता है। इसके दूसरों ओर, जहाँ पूर्वोक्त, पदार्थों का ढेर नहीं लगता बालुकातट उस स्थान तक अपेक्षाकृत नीचा रहता है जहाँ से दूसरी दीवार (groyne) का प्रभाव मालूम होने लगता है। इन दीवारों का उद्देश्य अवद्ध द्रव्य को आगे जाने से रोकना है और जिससे द्रव्य के एकत्रीकरण से बालुकातट का निर्माण इस प्रकार हो, (बालुकातट का एकत्रीकरण हो) जो तरंगों को उच्छृंगों तक पहुँचने से रोकेगा।

बालुकातट वाला इस प्रकार का अपवहन खाड़ियों के ऊपरी सिरों पर रुक जाता है जहाँ तरंगों के अग्रभाग तट रेखा के समानान्तर रहते हैं, और इसलिये तरंगों के धक्के तथा उल्टा जल-प्रवाह बालुकातट के सीधे ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं। अपवहन नदियों के मुहानों पर भी अवरुद्ध हो जाता है, जहाँ अधिक गहरा जल तथा नदी की धारा तटीय गति को अवरुद्ध कर देती है। तट के स्थल की ओर थोड़ा दबे रहने पर तरंगें चारों ओर चक्कर काटती हैं और द्रव्य को आगे की ओर ढोना जारी रखती हैं, लेकिन ये तरंगें इस कार्य को मन्द गति से करती हैं क्योंकि मोड़ के चारों ओर चक्कर काटने में इनकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है।

तट का कोई भाग जहाँ से द्रव्य, जमा होते रहने की गति की अपेक्षा अधिक तेजी से हटता रहता है, क्षयीकरण से प्रभावित होता है, और ठीक इसके विपरीत तट का कोई भाग, जहाँ, द्रव्य के बाहर चले जाने की मात्रा की अपेक्षा अधिक द्रव्य आता है, अर्थात् तटीय अपवहन की चाल कम होने जाने या अवरुद्ध हो जाने पर निक्षेप (deposition) की पट्टी बन जाती है।

उच्छृंगों तथा तरंग द्वारा निर्मित चबूतरे का विकास :—अविराम गति से तट पर टकराने वाली तरंगें, क्रमशः स्थल को काटती जाती हैं चाहे उसका किनारा महादेशीय छज्जा वाला बालुकातट हो अथवा खड़ा चट्टानी उच्छृंग। तट के अवद्ध द्रव्य बने रहने पर स्वयं तरंगें टुकड़ों को बहाकर ले जा सकती हैं, लेकिन इसके मजबूत तथा ठोस चट्टान से बने रहने पर इनका कार्य अप्रत्यक्ष रूप से होता है। कंकड़ तथा जल में

र टूट जाता है, विशेषकर आधार के निकट (प्लेट १०a)। इसके अतिरिक्त अधिकांश चट्टानों में दरारें फट जाती हैं जो वायु से भर जाती हैं। जब तरंग शिलाखंड अथवा उच्छृंग से टकराकर ऊपर उठती हैं, तब वायु संपीड़ित (compressed) हो जाती है। इस प्रकार बारी-बारी से संपीड़न होने तथा उसके बाद फैलाव होने से दरारें बड़ी हो जाती हैं और चट्टान समूह धीरे-धीरे टूट कर अलग हो जाते हैं।

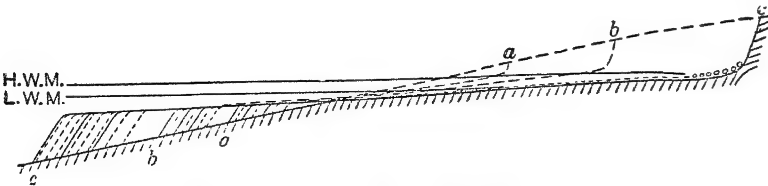
गुफाएँ जो एक रूप से कमजोर भाग वाली रेखाओं, जैसे विभंगों (faults) अथवा बड़े जोड़ों पर अवस्थित हैं, अंशतः दरार के मुँह के जल से बन्द हो जाने पर

उसके अन्दर वाली वायु के संपीड़न तथा फैलाव के कारण कट जाती हैं। गुफाएँ कभी-कभी संकीर्ण अन्तरीप से होकर बनती हैं जिससे मेहराब का निर्माण होता है। उसके पश्चात् मेहराब के टूट कर गिर जाने पर वहाँ चट्टान का एक स्तम्भ छूट जाता है जो तदन्तर तरंगों के आक्रमण से टूट कर नष्ट हो जायगा। वहाँ पर सूराखों (below-holes) का भी इसी प्रकार निर्माण हुआ है (अग्रभाग)।

हाल के डूबे हुए स्थल की सतह पर कार्य करने वाली तरंगें सर्वप्रथम a पर कटाव का निर्माण करेगी (चित्र १३१)। यही निर्माण की अवस्था वाले उच्छृंग तथा चबूतरा है। तरंगें ज्वार के चिन्ह के निकट सबसे अधिक विनाशकारी होती हैं, लेकिन जब वे उच्छृंग को नीचे से काटने का प्रयत्न करने लगती हैं तब ऊपर से झुके हुए भाग टूट कर गिर जाते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न टुकड़े (चट्टान के) बराबर घिसते रहने से आकार में छोटे हो जाते हैं तथा बहकर समुद्र की ओर अथवा तट पर चले जाते हैं जिससे वे अन्यत्र जमा हो जाते हैं। लगातार क्षयीकरण होते रहने से उच्छृंग की ऊँचाई[1] बढ़ जाती है तथा तरंग द्वारा निर्मित कुछ झुके हुए चबूतरे की चौड़ाई बढ़ जाती है।

यदि चट्टान चूने का पत्थर (limestone) रहे तो विलयन (solution) का इसमें हाथ रहता है। टेनबी (Tenby) के पश्चिम अंगार युग के चूने का पत्थर वाला तट के जटिल छोटे भाग किसी भी प्रकार पूर्ण रूप से तरंग के क्षयीकरण के फलस्वरूप नहीं बने हैं, बल्कि ये अतीत में भूमितलिक तथा भूमि के अन्दर होने वाले नग्नीकरण (denudation) द्वारा बृहत् रूप से प्रभावित चट्टानों पर कार्य करनेवाली तरंगों के फलस्वरूप बने हैं।

(cc) अवस्था पर तट से दूर अपेक्षाकृत अधिक छिछला जल उच्छृंग तक पहुँचने वाली तरंगों की शक्ति को कम कर देता है; वहाँ पर गिरे हुए टुकड़े अधिक समय तक उच्छृंग के निम्न भाग में रह जाते हैं और बालुकातट का निर्माण करते हैं।



चित्र १३१—तट की आकृति का विकास।

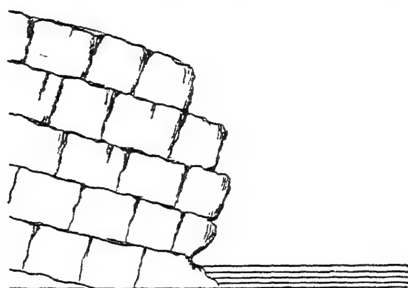
कंकड़ (gravel) अथवा बालू की तह समुद्र तक फैली रहती हैं जो तरंग से निर्मित चबूतरे को ढँके रहती हैं। उच्छृंग की ढाल बहुत अंशों में सामुद्रिक तथा भूतलिक क्षयीकरण की आपेक्षिक गतियों पर निर्भर करती है। भूतलिक क्षयीकरण के किसी

---

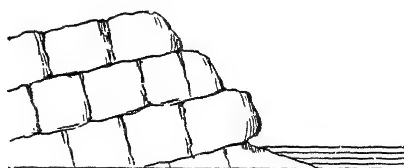
१ इससे यह अनुमान होता है कि स्थल समुद्र की ओर झुका हुआ है। यहाँ पर इस बात की चर्चा कर देना उचित है कि उच्छृंग के क्षयीकरण सम्बन्धी अतिशयोक्त मत साधारण हैं। स्थल की रूप रेखा (configuration) तथा चट्टानों की प्रकृति का ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

कारण से कुछ काल तक तेजी से होने पर ढाल कम हो जायगी और इसके विपरीत समुद्र से क्षयीकरण की गति के किसी कारण से कुछ काल तक तेजी से होने पर ढाल बढ़ जायगी।

उच्छृंग का रूप भी बहुत अंगों में चट्टान के स्तर निर्माण (stratification) तथा जोड़ों के बनने से प्रभावित होता है क्योंकि तल्प-तलों (planes of bedding) तथा जोड़ वाले स्थानों पर ही चट्टानें प्रायः सबसे अधिक सरलता से टूटती हैं। तहों की ढाल समुद्र की ओर तथा जोड़ों की ढाल स्थल की ओर रहने से चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े सरलता से अलग हो जायेंगे और बालुकातट पर जा गिरेंगे तथा उच्छृंग लटकती सीढ़ियों के रूप में श्रेणियों में खड़े रहेंगे (चित्र १३२)। इसके विपरीत यदि तहों



चित्र १३२—कगार का खनन (तहों का नमन समुद्र की ओर)।

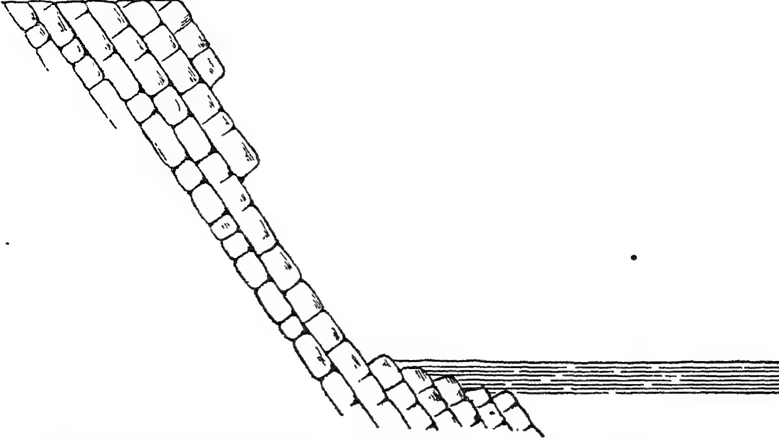


चित्र १३३—कगार का खनन (तहों का नमन समुद्र के विपरीत ओर)।

की ढाल स्थल की ओर हो और जोड़ों की ढाल समुद्र की ओर, तो बड़े टुकड़े, यहाँ तक कि अबद्ध हो जाने पर भी तब तक नहीं गिरेंगे जब तक वे नीचे से वास्तव में कट नहीं जाते। इस दशा में आधार पर क्षयीकरण कम प्रभावोत्पादक होता है और उच्छृंग के आगे वाले भाग की ढाल समुद्र की ओर होगी (चित्र १३३)। तहों की ढाल के समुद्र की ओर खड़ी रहने पर बड़े टुकड़े तल्प स्तरों के नीचे की ओर खिसकते हैं जिससे उच्छृंग के चिकने अग्रभाग का निर्माण हो सकता है जो तरंग द्वारा होने वाले क्षयीकरण को बहुत अधिक सहता है (चित्र १३४)।

दक्षिणी ग्लैमोर्गन के लियासिक नामक उच्छृंगों में जहाँ चूने के पत्थर की पतली पट्टियाँ तथा शेल (shale) की अपेक्षाकृत अधिक कमजोर तहें बारी-बारी से पायी जाती हैं, उच्छृंग कहकर पीछे की ओर अपेक्षाकृत तेजी से हटता है (प्लेट १०a)।

तटीय चबूतरा चौथाई मील अथवा इससे भी अधिक चौड़ा होता है, किन्तु यह ज्वारभाटा के विशाल विस्तार (range) और साथ ही तरंग के जबर्दस्त आक्रमण से सम्बद्ध



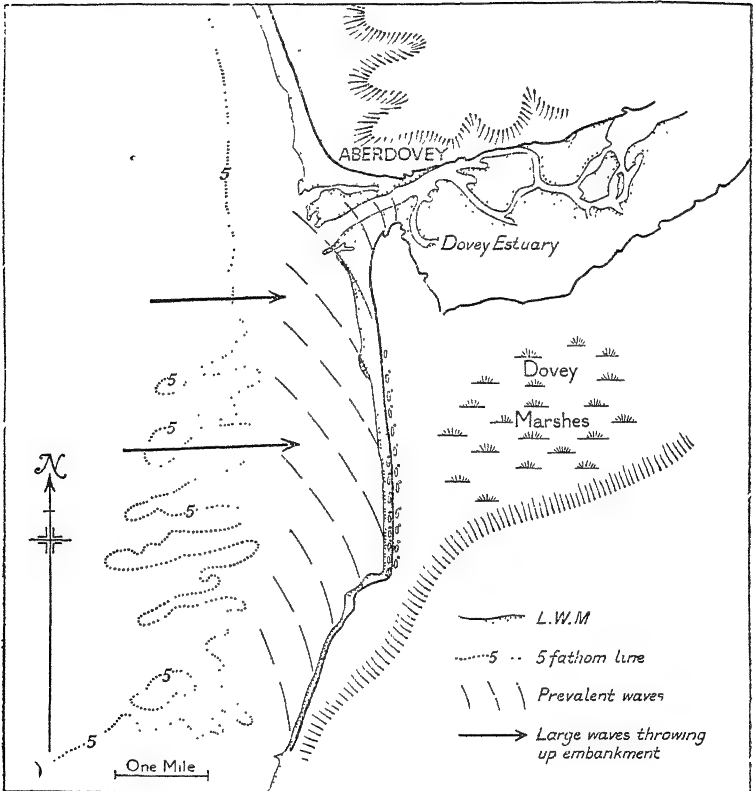
चित्र १३४—कगार का खनन (तहों का खड़ा नमन, समुद्र की ओर)।

रहता है। कड़े बालू के पत्थर (hard sandstones) चूने के पत्थर तथा ग्रेनाइट यदि विशाल रहते हैं और उनमें बहुत कम जोड़ तथा तल्प-स्तर रहते हैं, तो वे बहुत धीरे-धीरे कटकर पीछे की ओर हटते हैं। सम्भवतः सबसे अधिक सरलता से क्षय होने वालों में बालू कंकड़, तथा मिट्टी है जो होल्डरनेस (Holderness) तथा पूर्वी ऐंग्लिया के हिम उच्छृंगों में पाये जाने वाले इसी प्रकार के पदार्थों के समान हैं। वहाँ पर सौ फुट अथवा इससे भी अधिक ऊँचे उच्छृंग कभी-कभी एक साल में कटकर दो-या तीन गज पीछे जाते हैं।

निक्षेप से निर्मित होने वाली तटीय स्थलाकृतियाँ:—संभवतः सभी तटीय स्थलाकृतियों में पत्थर के टुकड़े, बालू के उभरे हुए लम्बे भाग (spits) स्थल के संकीर्ण समुद्र में घुसे हुए भाग (foreland) तथा बन्ध (embankment) ये सबसे अधिक मनोरंजक हैं जिनके बहुत से सुन्दर उदाहरण ब्रिटिश द्वीप के तटों के चारों ओर पाये जाते हैं। ये तट रेखा में कुछ आश्चर्यजनक परिवर्तन लाते हैं जो समुद्र के कार्य से उत्पन्न होते हैं।

अब हम सर्व प्रथम नदी के मुहाना द्वारा तटरेखा में बने मोड़ पर वाले निर्मित उभरे हुए (spit) भाग पर विचार करें। कार्डिगन की खाड़ी में बोर्थ नामक स्पिट (चित्र १३५) इसका अच्छा उदाहरण है। यह दक्षिण से उत्तर प्रायः डोवी के मुहाने (mouth of the Dovey estuary) को पार करता हुआ चार मील तक फैला है। इसके पीछे सुरक्षित जल में विस्तृत दलदलदार भूमि बन गयी है जो बहुत हद तक मुहाने में पंकीली मिट्टी (silt) के जमने का कारण है। प्रचलित दक्षिणी-पश्चिमी तरंगें बालू और पत्थर के टुकड़ों को दक्षिण से उत्तर बहाकर ले जाती हैं और पश्चिम से कुछ हटकर दक्षिण दिशा से आने वाली बड़ी तरंगों ने इन द्रव्यों को लाकर बन्ध पर इकट्ठा कर दिया है—जिनमें बालू निम्नतर तट पर जमा हो गयी है

और पत्थर के टुकड़े ज्वार वाले चिन्ह पर तथा उसके ऊपर। पत्थर के टुकड़ों के ऊपरी भाग पर, विशेष कर उत्तरी छोर पर टीलों (dunes) का निर्माण हुआ है, जहाँ विस्तृत बालुकामयी समतल भू-खंड भाटों के (low water) चिन्ह पर सूख जाते हैं जिनसे बालू आती तथा स्थल की ओर तब तक उड़ती रहती है जबतक वह टीलों के मैरेम नामक घास मे रुक नहीं जाती।



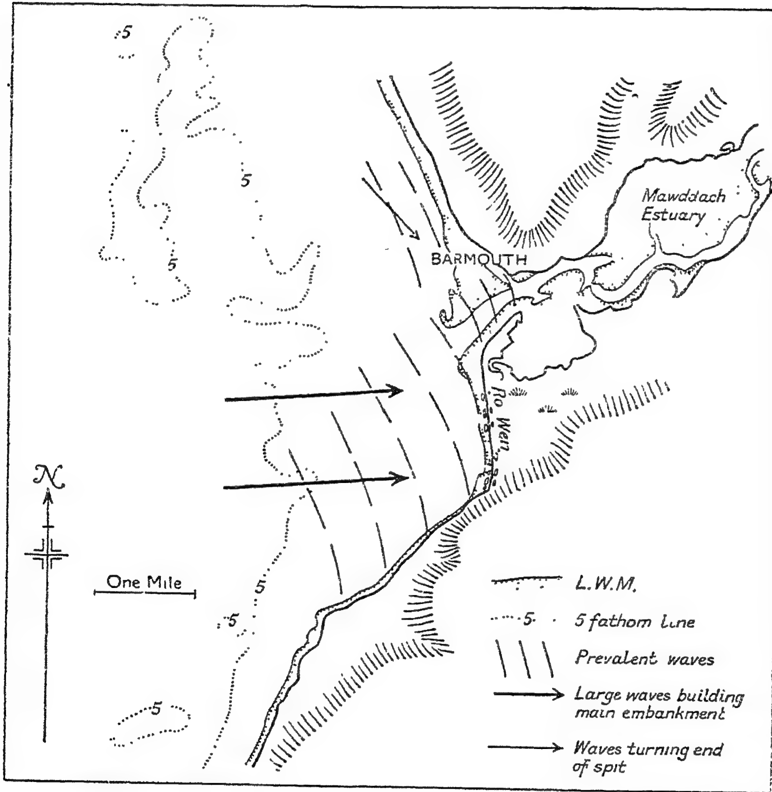
चित्र १३५—बौर्थ स्पिट, कार्डिगन की खाड़ी।

इससे दस मील उत्तर माडैक नामक मुहाना है जिसके प्रवेश द्वार को रो वेन (Ro Wen) (चित्र १३६) बालू तथा पत्थर के टुकड़ों का अपेक्षाकृत छोटा स्पिट (spit) पार करता है। लेकिन एक दृष्टि से यह बोर्थ नामक स्पिट से अधिक जटिल है। दो मील तक फैलने के बाद रोवेन एकाएक उत्तर पूर्व की ओर मुड़ जाता है और एक मील तक उसी दिशा में आगे बढ़ने के बाद दूसरे तट से केवल कुछ सौ गज इधर ही समाप्त हो जाता है। स्पिट का यह मुड़ा हुआ भाग सम्भवतः उत्तर-

पश्चिम से आनेवाली आकस्मिक भयंकर तरंगों से बना है। जब तक इन तरंगों में सम्पूर्ण स्पिट को मोड़ देने लायक पर्याप्त ताकत नहीं आती है तब तक ये अपेक्षाकृत विशाल तथा पृथक् छोर को पीछे मोड़कर ऐसी स्थिति में ला देती हैं जिनमें पछुआ वाली आँधियाँ इसे प्रभावित नहीं कर सकतीं।

प्रवेश द्वार के दोनों ओर वाले विस्तृत बालुकामयी समतल भूखंड तरंगों के अग्र-भागों को मोड़ देते हैं और वैसा करने में वे स्पिट की रूपरेखा को प्रभावित कर सकते है।

वॉर्थ की भाँति रो वेन में भी खारा जलयुक्त दलदलदार भूमि के निर्माण के लिये



चित्र १३६--रो वेन, कार्डिगन की खाड़ी।

उपयुक्त वातावरण उपस्थित किया गया है। इसके अधिक पुराने भाग उपजाऊ बनाये जा चुके हैं।

साधारण स्पिट का एक और दूसरा उदाहरण कैलशॉट स्पिट (calshot spit) है जो साउथम्पटन की खाड़ी के प्रवेश द्वार पर है। यों तो उच्छृंगों के निचले भाग

में पत्थर और कंकड़ के ढेर स्टोन पॉयन्ट से लेकर स्पिट तक अविछिन्न रूप से पड़े हैं—लेकिन स्पिट के निकट पहुँचने पर यह और भी बहुतायत से पाया जाता है। अन्त में बालुकातट बन्ध में परिणत हो जाता है, बन्ध स्वच्छन्दता उस स्थान तक बढ़ता जाता है, जहाँ उच्छृंग रेखा साउथम्पटन की खाड़ी में उत्तर की ओर मुड़ जाती है। स्पिट मे दूर किनारे का निचला भाग काफी विस्तृत है, विशेषकर पूर्वी सीमा पर और इसमें मिश्रित बालू तथा कंकड़ हैं।

यही नहीं, सुरक्षित जल में स्पिट प्रतिघात या वृष्टिछाया वाले भाग में (Lee) नमक बढ़ता जाता है और वहाँ सबसे अधिक बहुतायत से पाया जाने वाला पौधा स्पार्टीना टाउनसेंडी (Spartina Townesendii) है। यह पौधा उस नम कीच में पनपता है जो अधिक समय तक नमक से ढँकी रहती है।

दक्षिणी-पश्चिमी तरंगें द्रव्य को बहाकर स्पिट तक ले जाती हैं और उनसे भी बड़ी दक्षिण पूरब तरंगें खुले चैनेल से स्पिट के ऊपरी भाग से बहती रहती हैं; वे (तरंगें) इस द्रव्य को बंध के ऊपर फेंक देती हैं? [illegible] उन अग्रभागों के [illegible] जल के कारण उत्पन्न होते हैं।

तट के भेद

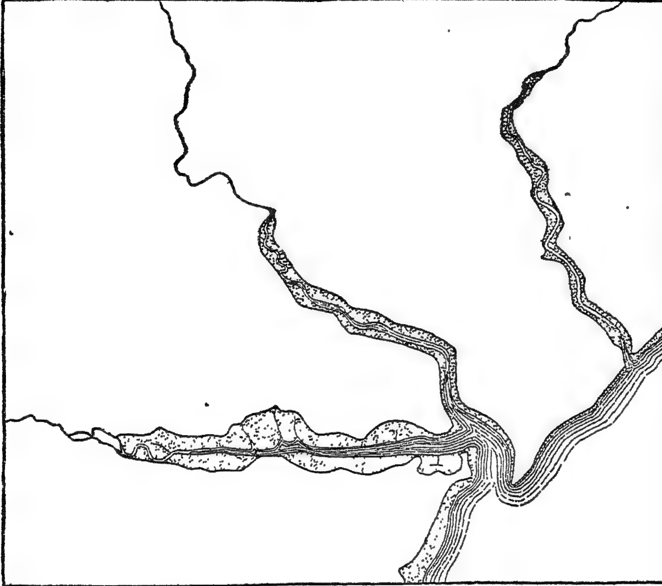
अवनमन द्वारा निर्मित तट :—जब पृथ्वी की पपड़ी के बड़े क्षेत्र का धीरे-धीरे अवगमन होता है तब पहले यानी प्राचीन काल में निर्मित महादेश शान्त भाव से अर्थात् धीरे-धीरे नीचे धँस जाते हैं; समुद्र स्थल के किनारे पर फैल जाता है, और नदियों की घाटियों में घुस जाता है। इसके बाद तट रेखा अनियमित हो जाती है और उसकी आकृति (form) जलमग्न स्थल के गुण (लक्षण) पर निर्भर करती है।

नीचे दबे हुए निम्न स्थलीय क्षेत्र की तट रेखा:—यदि स्थल निम्न हो और उसमें नर्म चट्टानें हों तो घाटियाँ चौड़ी, छिछली तथा प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी होंगी। स्थल के अत्यल्प अवनमन से समुद्र की घाटियों में ऊपर की ओर फैल जायगा तथा तटरेखा अत्यधिक टेढ़ी-मेढ़ी हो जायगी। जलमग्न स्थल की धीमी या कम ढालों के कारण तट निम्न होंगे तथा वहाँ पर बहुधा खारे जलवाले दलदलदार स्थल होंगे जो ज्वार के आने से ढँक जायेंगे और भाटा के समय अनावृत्त हो जायेंगे, एसेक्स तथा सफोक के दक्षिणी भाग में अधिकांश तट इसी प्रकार के हैं। आँरवेल, स्टॉर, ब्लैकवाटर तथा अन्य नदियों की घाटियों के ऊपर तक समुद्र फैल गया है और तट निम्न तथा प्रायः दलदली है (चित्र १३७)।

फिर भी इस प्रकार के तट की अपनी विशेषता बहुत दिनों तक कम ही रहती है। चट्टानों के नर्म रहने के कारण ऊँचे स्थानों को समुद्र तेजी से काट देता है; और इस प्रकार से उत्पन्न पदार्थ तथा नदियों द्वारा लाये गये निक्षेप दोनों मिलकर नदियों के मुहाने को धीरे-धीरे भर देते हैं।

तटीय अपवहन से अनियमित खाड़ियों के मुहाने पर स्पिट के निर्माण के लिये बालू तथा पत्थर के टुकड़े आते हैं। ये स्पिट इन खाड़ियों को खुले समुद्र से अलग कर देते हैं तथा इन्हें लैगून अथवा घिरे हुए जल (उल्टे जल-प्रवाह) के रूप में परिणत कर देते हैं। कालान्तर में ये घिरे हुए जल वाले स्थान निक्षेपों से भर जाते हैं जिससे वे

दलदली भूमि के रूप में परिणत हो जाते हैं और आगे चलकर निम्न समतल भूखंड के रूप में वदल जाते हैं। इस अवस्था में वे चरागाह के लिये उपयुक्त तथा उपजाऊ भूमि वनाने के योग्य होंगे।



चित्र १३७—डेबेन, ऑरवेल, और स्टावर नदियों के मुहाने। विन्दुयुक्त क्षेत्र नीचे ज्वार के समय अनावृत्त रहते हैं।

तटरेखा के सीधी होने की विभिन्न अवस्थाएँ थेम्स और वाश के बीच वाले तट पर अच्छी तरह दिखाई गयी हैं। एसेक्स तथा सफीक के दक्षिण भाग में समुद्र स्पष्टतः नदियों की घाटियों में प्रवेश कर गया है जिससे स्थल की रूपरेखा बहुत ही अनियमित हो गयी हैं। नाजे (Naze) जैसे ऊँचे स्थान धीरे-धीरे कटते जा रहें हैं लेकिन वहीं पर फेलिक्सस्टॉवे के निकट लैंडगार्ड नामक स्थान पर ऑरवेल तथा स्टॉर नामक नदियों के मुहाने पर पत्थर के टुकड़ों से अच्छी तरह बना हुआ स्पिट है। इससे और उत्तर स्पिट और भी पूर्णरूप से विकसित हैं जैसा कि अल्डे में पाया जाता है सभी अनियमित खाड़ियाँ कटकर समुद्र से अलग हो गयी हैं तथा समुद्र तट चिकना हो गया है। घिरे हुए जल वाले भागों में से कुछ तो पूर्ण रूप से भर गये हैं लेकिन कई ऐसी अवस्था में यह प्रक्रम पूर्ण नहीं हो पाया है और बेडॉनवाटर जैसे आंशिक रूप से भरा लैगून देश के इस प्रकार के भाग के गुण (विशेषता) है।

धँसे हुए उच्च स्थल वाले क्षेत्र की तटरेखा :—यदि स्थल ऊँचा है और समुद्र से एकाएक उठा हुआ है तथा चट्टानें कड़ी रहें तो घाटियाँ प्रायः सकीर्ण और गहरी होंगी। नियम के अनुसार वे टेढ़े-मेढ़े मार्ग बनाकर नहीं चलेंगी लेकिन वहाँ शाखा नदियाँ

अथवा सहायक घाटियाँ बनेंगी। इस प्रकार के क्षेत्र में अवनमन होने पर नयी तट रेखा (बहुत) गहराई तक कट-छँट जायगी। घाटियों के जलमग्न प्रवेश द्वार लम्बी तथा संकीर्ण खाड़ियों के रूप में परिणत हो जायेंगे जो भीतर की ओर शाखाओं में विभक्त रहेंगी। समुद्र के पुराने किनारे पूर्ण रूप से जल से घिरे हो सकते हैं तथा द्वीप-समूहों का निर्माण कर सकते हैं जो प्रमुख स्थल के तट के निकट रहेंगे। तट सभी जगह खड़ा तथा पथरीला होगा तथा वहाँ पर बालुकातट छोटा अथवा बिलकुल ही नहीं पाया जायगा। नार्वे तथा स्कॉटलैंड के पश्चिमी भाग में इस प्रकार का तट सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। कॉर्नवाल का तट इससे अधिक सरल उदाहरण उपस्थित करता है लेकिन पृष्टभूमि (hinterland) कुछ निम्न है।

इस प्रकार के तट की विशिष्ट रूपाकृतियाँ पर बहुत समय तक समुद्र का प्रभाव न पड़ने के कारण अपरिवर्तित रह सकती हैं। चट्टानों के कड़ापन के कारण, सबसे अधिक खुले स्थान भी तरंगों के धक्कों को जबर्दस्त तौर पर बहुत अधिक सहन करते हैं और इस प्रक्रम से उत्पन्न टुकड़ेदार पदार्थ की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है। अंशतः इस कारण से और अंशतः समुद्र की ओर वाली ढाल के खड़ापन के कारण या तो वहाँ बालुकातट बिलकुल है ही नहीं या अगर हैं तो वह बहुत संकीर्ण है। उन स्थानों को छोड़कर जहाँ हिम नदी के छाड़न (morains) कंकड़ीले फैन्स (gravel fans) अथवा डेल्टा पाये जाते हैं, बालू तथा पत्थर के टुकड़ों से स्पिट्स का निर्माण करने के लिये अल्प अबद्ध पदार्थ रहता है। फलतः तट का सामान्य गुण (लक्षण character) जहाँ का स्थल निम्न तथा अपेक्षाकृत अधिक नर्म तहों से बना है, उससे बहुत अधिक धीरे-धीरे बदलता है। तौभी यहाँ तक कि सबसे कड़ी चट्टानें कालान्तर में कटने लग जाती हैं, ऊँचे भाग धीरे-धीरे कट जाते हैं, भीतर की ओर दबे हुए रिक्त स्थान (re-entrants) नदियों द्वारा लाए गये निक्षेपों से भर जाते हैं, और अन्त में तटरेखा की अनियमितताएँ लुप्त हो जा सकती हैं।

बालुकातट के द्रव्य के थोड़ी मात्रा में रहने के बावजूद भी तटीय अपवहन तट की रूपरेखा को चिकनी बनाने में (घिसने) नदियों द्वारा लाए गये निक्षेपों को तट पर पाटकर अथवा किसी अन्य क्षेत्र से जहाँ की चट्टानें नर्म होती हैं, द्रव्य लाकर, मदद पहुँचा सकता है।

दबी हुई पर्वत श्रेणी की तटरेखाः—यदि नीचे दबता हुआ तट आल्प्स जैसे पर्वतों की श्रेणी से बना हो तो समुद्र पर्वत-श्रेणी का निर्माण करने वाली खास श्रृंखलाओं (chains) के बीच वाली अनुदैर्घ्य घाटियों में प्रवेश करेगा। बाह्य श्रृंखलाओं की अधिक ऊँची पहाड़ियों का प्रतिनिधित्व प्रमुख स्थल भाग से दूर पर अवस्थित द्वीप-मालाओं (lines of islands) से होगा तथा घाटियों से संकीर्ण खाड़ियाँ बनेंगी जो तटरेखा की सामान्य दिशा के प्रायः समानान्तर होंगी। डालमेशियन तट इस प्रकार की तटरेखा का सुन्दरतम् उदाहरण है। बंगाल की खाड़ी का आराकन तट जिसमें अनेक जलमग्न घाटियाँ (drowned valleys) हैं, हाल के निर्मित आराकान योमा नामक भंगिल पर्वत के पार्श्व पर जलमग्न तट का उदाहरण है। इस तट के तथा और दूर दक्षिण में मरगुई प्रायद्वीप अनेक द्वीप पर्वतों के अजलमग्न भाग ही हैं।

उसके पश्चात् अवनमन द्वारा निर्मित तटरेखा का विकास डब्ल्यू० एम० डेविस के सुविदित चित्रों में (चित्र १३८, १३९) सबसे अच्छी संक्षेप में दिखलाया गया है।

विभिन्न प्रकार की चट्टानों में प्रधानतः अथवा पूर्ण रूप से सिलिकायुक्त चट्टान रासायनिक परिवर्तन से सब से कम प्रभावित होने लायक रहती हैं। सिलिका अपने दानेदार (crystalline) रूप में यहाँ तक कि जल के कार्बन डाइ-आक्साइड अथवा नष्ट होते हुए वनस्पति से उत्पन्न अम्लों (acids) से युक्त रहने पर भी उससे यथार्थतः प्रभावित नहीं होता है। अपने बिना रवेदार (non-crystalline) रूप में रहने पर यह विलेय (soluble) रहता है लेकिन अल्प अंश में।

लेकिन सब से अधिक प्रतिरोधक चट्टानें भी धीरे-धीरे विघटित हो जाती हैं। ताप के परिवर्तन से जिससे चट्टान का बारी-बारी से प्रसरण तथा आकुंचन (expanssion and contraction) होता है (बारी-बारी से फैलती तथा सिकुड़ती है) सतह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। मरुभूमि वाले क्षेत्रों में अनावृत्तीकरण के प्रक्रमों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन समशीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में तुषार (frost) का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। कोई भी चट्टान जल के लिए पूर्ण रूप से अभेद्य नहीं है। अतः जब जल छिद्रों (pores) अथवा दरारों में जम जाता है तब यह फैल जाता है और जिस जगह (space) में यह घिरा रहता है, उसकी दीवारों पर काफी दाब (pressure) डालता है। बारी-बारी से पिघलने (thawing) तथा जमने के कारण दरारें धीरे-धीरे बड़ी हो जाती हैं और चट्टान टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। तुषार का कार्य प्रकृति में विघटन के लिए सब से अधिक शक्तिशाली दूत है। चट्टानों की तलहटी पर पत्थरों का ढेर (screes) अथवा चूर्ण चट्टान के ढेर जो ब्रिटिश द्वीप समूह की पहाड़ी क्षेत्रों में पहाड़ी की उबड़-खाबड़ चोटी के निम्न ढालुआँ भागों (crags) पर पाए जाते हैं, प्रमुखतः इसी कारण से होते हैं (11 a, b)।

बहते हुए जल के प्रभाव :—ऋतुअपक्षयण अधिकांशतः स्थिर जल के कारण होता है। अर्थात् उस जल के कारण जो छिद्रों अथवा दरारों में ठहरता है या मिट्टी या चट्टान में सूख गया हो। यह सतह को टुकड़े-टुकड़े कर देता है लेकिन अबद्ध पदार्थ को नहीं हटाता है और यदि दूसरे दूतों ने इसमें कार्य न किया हो तो भग्न अथवा नष्ट चट्टान की सतह की मुटाई तब तक बढ़ती जायगी जब तक आवरण पर्याप्त रूप से मोटा रहता है, जिससे नीचे वाली चट्टान जल का कार्य न हो। केवल गुरुत्व के कारण इस पदार्थ का कुछ भाग अपेक्षाकृत अधिक नीचे वाले स्तर पर गिरेगा, लेकिन जल की मदद के बिना घर्षण के कारण इसके प्रभाव निष्फलित (neutralised) हो जाते हैं।

जब वर्षा होती है तब यह गुरूत्व के कार्य में दो प्रकार से मदद पहुँचाती है। यह स्नेहक (lubricant) का कार्य करता है; अतः इससे टूटे टुकड़ों को एक दूसरे के ऊपर अधिक सरलता से फिसलने में मदद मिलती है। यह छोर के किनारे तथा स्लेट की खुदाई में चूर्ण के ढेरों से स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है। जब सुन्दर या उत्तम मौसम में बेकार पदार्थ खुदाई वाले गढ़े से ढेरों के भागों पर फेंका जाता है तब यह शीघ्र ही स्थिर हो जाता है, और जब तक मौसम शुष्क रहता है तब तक बहुत कम उथल-पुथल (disturbance) होता है। लेकिन जब वर्षा पड़ती है तब ढेर भिग जाते हैं; चट्टान के टुकड़े जो पहले स्थिर थे, नीचे की ओर फिसलने लगते हैं और जब तक ढेर पुनः शुष्क नहीं हो जाते तब तक इनका संचलन प्रायः जारी रहता है। इस प्रकार वर्षा चट्टान के बड़े टुकड़ों तक को भी नीचे आने में मदद पहुँचाती है।

अधिक छोटे टुकड़ों पर वर्षा का प्रभाव और अधिक पड़ता है, क्योंकि ढाल के नीचे की ओर जाते समय इसे अपने वेग से कीच को बहा कर ले जाने तथा बालू के दाने (grains) अथवा यहाँ तक कि छोटे कंकड़ को लुढ़का कर नीचे ले जाने में सहायता देती है। क्योंकि ब्रिटिश द्वीप पुंज की जलवायु में हवाओं को छोड़ कर परिवहन का कोई भी साधारण दूत कणों को ऊपर की ओर नहीं ले जाता है, इसलिए प्रत्येक बार होने वाली वर्षा का प्रभाव पहले वाली वर्षा के प्रभाव में मिल जाता है, जिसके फलस्वरूप मिट्टी धीरे-धीरे नीचे की ओर जाती है।

घास तथा वृक्ष जल के स्वच्छन्द प्रवाह को रोक कर और ढीले कणों को साथ आवद्ध करके मिट्टी के लिए संरक्षण (protection) का कार्य करते हैं। और एक तृणाच्छादित अथवा वनाच्छादित धीमी ढाल पर संचलन मन्द होगा तथा साथ ही यह अति सूक्ष्म भी हो सकता है। वर्षा का प्रत्यक्ष प्रभाव सब से अधिक पहाड़ी क्षेत्र में होता है, जहाँ ढालें बहुत खड़ी होती हैं तथा बनस्पति बहुत कम रहती है। ऐसी दशाओं में वर्षा की एक भी आँधी का प्रभाव स्पष्ट हो सकता है।

जब वर्षा पृथ्वी पर होती हैं, तो इसका कुछ भाग तो सूख कर वायुमंडल में उड़ जाता है, कुछ पृथ्वी में प्रवेश कर जाता है और कुछ सतह पर बहता है। जल का वह भाग जो अन्दर (पृथ्वी) प्रवेश करता है, नष्ट नहीं होता है, बल्कि जल्द वा देर से कम-से-कम अधिकांश दशाओं में यह प्रायः झरने के रूप में पुनः प्रकट होता है और स्रोत (stream) के निर्माण में मदद पहुँचाता है। वर्षा के जल का वह भाग जो सतह पर बहता है, बहुत थोड़े समय के लिए जल की चादर (sheet of water) के रूप में बह सकता है, लेकिन शीघ्र ही इससे छोटे झरनों का निर्माण होगा, जिनके मिलने से बड़े-बड़े स्रोत बनेंगे और अन्त में जल बह कर नदी में चला जायगा। इसलिए वर्षा के कार्य और नदियों के कार्य के बीच कोई खास भेद नहीं है। जल के निश्चित नालियों (definite channels) में सांद्रित होने के पूर्व सम्पादित कार्य तथा यहाँ तक कि उस नाली में सम्पादित कार्य जिसमें वर्षा वाली आँधी के समय जल भर जाता है, वर्षा का कार्य कहा जा सकता है। निश्चित नाली के नीचे न्यूनाधिक स्थायी जल-प्रवाह द्वारा सम्पादित कार्य स्रोत या नदी का कार्य कहला सकता है।

सातवाँ अध्याय

भूगर्भवर्ती जल

भूगर्भवर्ती जल की उत्पत्ति :—शुष्क भूमि पर होने वाली वर्षा का सर्वप्रथम कार्य जल के किसी भी मात्रा में नीचे जाने अथवा नीचे की अति भेदनीय चट्टान से बूँद-बूँद करके टपक कर नीचे जाने के पहले मिट्टी को तर (moist) बनाना रहता है। और यदि चट्टान अभेदनीय (impermeable) रहे तो ऊपर वाली मिट्टी के अपना हिस्सा भर वर्षा का जल अवशोषित (absorbed) कर लेने पर, अतिरिक्त जल (excess) नदी में मिलने के लिए चल पड़ता है। ह्यूमस वाली तह जो घास वाली भूमि की मिट्टी में कुछ इंचों तक ऊपर में रहती है, वह ६०% से ७०% तक आर्द्रता धारण कर सकती है, उपमृत्तिका (sub-soil) ४०% जल धारण कर सकती है जो खड़िया (chalk) तथा अन्य हल्की भेदनीय चट्टानों की जल रखने की शक्ति के बराबर है। यह आर्द्रता रंध्र वाली जगहों (porous spaces) में रहती है और जल-पटल (water-table) के अत्यधिक नीचे रहने पर भी केवल वाष्पीकरण द्वारा ही ऊपर आ सकती है। जल-पटल संतृप्ति (saturation) का वह स्तर है जिसके रंध्र, जोड़ तथा दरारें (fissures) जल से भरी रहती हैं। कुएँ में इसी स्तर तक जल रहेगा। मौसम के अनुसार यह ऊपर-नीचे उठता-गिरता है। ऊपर-नीचे उठने-गिरने का कार्य सब से अधिक पहाड़ियों की चोटियों के नीचे है और सब से कम झरनों के निकट। जल-पटल के ऊपर जल रंध्र वाली जगहों में ही पाया जाता है।

शीत ऋतु के उत्तरार्द्ध और वसंत में मिट्टी प्राकृतिक (normally) तथा पूर्ण रूप से तर रहती है, किन्तु ग्रीष्म में मिट्टी की नमी सूख कर उड़ जाती है तथा वहाँ पर उगने वाले पौधों द्वारा अवशोषित हो जाती है जिसमें मिट्टी की ऊपरी पर्तें शरद् ऋतु आते-आते दो-तीन फुट तक शुष्क हो जा सकती हैं। ग्रीष्म में हल्की अथवा साधारण वर्षा का जल का मिट्टी की ऊपरी पर्त से पूर्ण रूप से वाष्पीकरण हो जाता है अथवा पौधों द्वारा अवशोषित हो जाता है। केवल अविराम गति से पड़ने वाली वर्षा का काफी जल ही पर्याप्त होता है जिससे वाष्पीकरण हो सकेगा, मिट्टी पुनः तर होगी और बाद में जो अतिरिक्त जल रहता है वह नीचे जल-पटल तक जाता है। शारदीय वर्षा का पहला काम मिट्टी के ऊपरी भाग को कुछ फुट तक पुनः तर करना रहता है। एक बार ऐसा हो जाने पर उसके पश्चात् शीतकाल में होने वाली वर्षा का प्रायः सभी जल बूँद-बूँद करके टपक कर नीचे जल-पटल पर चला जाता है, और यदि पर्त अभेदनीय (impermeable) रहती हैं तो यह बह कर नदियों में चला जाता है।

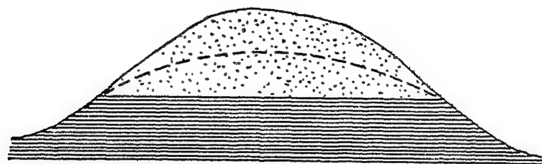
इस प्रकार झरनों तथा नदियों में जल की पूर्त्ति के लिए ग्रीष्मकालीन वर्षा का जल बहुत कम महत्व रखता है, लेकिन शीत ऋतु की वर्षा का जल इसके लिए पूर्ण रूप से महत्वपूर्ण है। शारदीय वर्षा का जल कुएँ के जल को ऊपर उठाने अथवा झरनों के बहाव को बढ़ाने में अत्यल्प अथवा बिल्कुल ही प्रभावोत्पादक नहीं मालूम पड़ता है, लेकिन तो भी इसका आवश्यक हाथ रहता है। यदि यह कम रहता है तो

शीत ऋतु के पूर्वार्द्ध में होने वाली वर्षा का जल मिट्टी की ऊपरी पर्तों में अवशोषित हो जाता है जिससे जल-पटल का ऊपर उठना तथा झरनों के बहाव में वृद्धि—दोनों शीत ऋतु के उत्तरार्द्ध तक रुके रहते हैं। बहुत शुष्क अल्प काल के समय, जैसा कि १९३३-४ तथा पुनः १९४२-३ में हुआ था, शीत ऋतु में होने वाली वर्षा का जल मिट्टी को संतृप्त करने में असफल रह जाता है तथा जल-पटल, झरने और नदियाँ फिर से नहीं भरती हैं, एवं इनका थोड़ा-थोड़ा बहते रहना पूर्णतः भूमि के नीचे वाले संग्रह पर निर्भर करता है।

दक्षिण-पूर्व इंगलैंड में स्थल की सतह पर वाष्पीकरण से होने वाली क्षति १४ और १६ इंचों के बीच रहती है तथा देश के अन्य भागों में भी यह ठीक इतनी ही रहती है। यह आश्चर्य का विषय है कि यह क्षति खुले जलाशय में होने वाले वाष्पीकरण के बराबर होती है। जल-पटल की ऊँचाई तथा नदियों के बहाव में होने वाला परिणमन (परिवर्तन) वाष्पीकरण में ऋतु सम्बन्धी परिणमन (परिवर्तन) द्वारा नियंत्रित होता है, वर्षा के जल से नहीं। इसलिए यह अनायास समझा जा सकता है कि क्यों देश के पश्चिमी तथा उत्तरी भागों में जहाँ ४० से लेकर १०० इंचों तक सालाना वर्षा होती है, समुद्र-स्तर से ऊँचाई और वर्षा देने वाली हवाओं की ओर खुले रहने के अनुसार जल के प्रबन्ध के लिए बहुत ही उपयुक्त है। दक्षिण-पूर्व में जहाँ वर्षा का जल वाष्पीकरण से होने वाली क्षति औसत से केवल थोड़ी ज्यादा ८ इंच तक हो सकती है, तथा सूखा वाले साल में अत्यल्प वर्षा होती है तथा परिस्थितियाँ बहुत ही भिन्न हो जाती हैं।

संसार के अधिक उष्ण तथा शुष्क भागों में स्थल की सतहों से वाष्पीकरण से होने वाली सम्भावित क्षति बहुत ज्यादा होती है जो भूमि के अविराम आर्द्र रहने से प्रायः ६०″ से भी ज्यादा होती है। लेकिन जब तक कि सिंचाई नहीं होती है, इतनी मात्रा में (६०″) वर्षा के सूख कर वायु में मिलने के बहुत पहले ही नमी प्रायः पुनः उड़-सी जाती है।

खड़िया अच्छे जोड़ वाली चट्टान है जो जल को अनायास बूँद-बूँद टपक कर नीचे जाने देती है। ग्रेनाइट जैसी चट्टान में भी, जो यथार्थतः अभेदनीय है, प्रायः खुले जोड़ पाए जाते हैं; ये जोड़ पर्याप्त गहराई तक चले जाते हैं जिनसे होकर जल अन्दर



चित्र १४५—सम्पृक्तता का धरातल।

प्रवेश कर सकता है। मिट्टी (clay), यद्यपि कि यह छिद्रदार है तथा जल अवशोषित कर सकती है, लेकिन फिर भी यह प्रायः अछिद्रदार है और अपने अन्दर से होकर जल को जाने नहीं देती है। मिट्टी की तह साधारणतया भूमि के नीचे वाले जल के संचलन के लिए अवरोधक का कार्य करती है।

ऐसा विश्वास करने का कारण है कि जल प्राय: पृथ्वी के तप्त आभ्यन्तरिक भाग में रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा उत्पन्न होता है ; और ज्वालामुखीय तथा अन्य क्षेत्रों में यह जल सतह तक उठ कर आ सकता है। लेकिन ब्रिटिश द्वीप समूह जैसे देश में भूमि के नीचे का जल प्राय: नितान्त रूप से वर्षा का जल रहता है जो ऊपर से बूँद-बूँद करके टपक कर आया है।

भूमि के नीचे का यही जल जल का स्रोत है जिससे झरनों तथा कुओं में जल आता है। एक साधारण-सी घटना उदाहरण का काम करेगी।

संतृप्त का स्तर :—चित्र १४५ एक ऐसी पहाड़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो मिट्टी (clay) की अनुप्रस्थ तहों से बनी हुई है तथा छिद्रदार बालू के पत्थर (sand stone) की पर्त से ढँकी है। जब वर्षा होती है तो इसका जल बालू के पत्थर से होकर बूँद-बूँद टपक कर अन्दर चला जाता है लेकिन यह मिट्टी में प्रवेश नहीं कर सकता। यदि वर्षा बहुत दिनों तक जारी रहे तो बालू के पत्थर के सभी रन्ध्र भर जा सकते हैं और बालू के पत्थर वाली तह संतृप्त हो जायगी, जब वर्षा रुक जाती है तब बालू का पत्थर जल को जलशोषक की भाँति सोख लेता है,लेकिन जल-शोषक की भाँति यह जल को अपने आधार तथा भागों से बूँद-बूँद करके टपक कर धीरे-धीरे बाहर निकलने भी देता है। इसलिए जल मिट्टी तथा बालू के पत्थर के स्थान पर पहाड़ी के भाग से निकलेगा जिससे झरनों या झरनों की श्रेणी का निर्माण होगा। लेकिन जब जल बालू के पत्थर के आधार पर बाहर निकलता है, तब इसके ऊपरी भाग पर वाला जल धीरे-धीरे नीचे की ओर जाता है तथा यह (बालू का पत्थर) ऊपर से नीचे की ओर सूखता जाता है। निष्कासन (outlet) के निकट बालू का पत्थर सब से आसानी से सिंचित हो (drained) जाता है तथा तदनुसार इसमें जल की सतह का रूप ठीक वैसा ही हो जाता है जैसा चित्र में भग्न रेखा से प्रदर्शित किया गया है। इस रेखा के नीचे बालू का पत्थर और भी संतृप्त हो जाता है, ठीक इसके ऊपर आर्द्र और इससे भी ऊपर दरारें तथा छिद्र (cracks and cavities) सूखे रहते हैं लेकिन बारीक रन्ध्र वाली जगहों में उस अवस्था में भी जल रहता है।

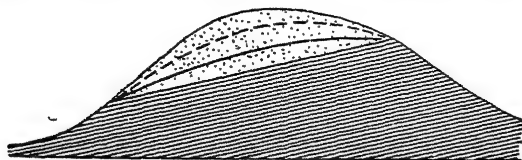
यदि मौसम सूखा रहे तो संतृप्ति का स्तर और भी नीचे गिरता जायगा जब तक जल को बाहर (की ओर) निकलने को प्रेरित करने का दाब ज्यादा न हो जाय ; और उसके पश्चात् झरने सूख जायेंगे। लेकिन यदि बालू के पत्थर की तह पर्याप्त रूप से विस्तृत रहती है तो जल तब तक आता रहेगा जब तक (दूसरे वर्ष) उसके बाद वर्षा न हो और बूँद-बूँद टपक कर पानी गिरने न लगे और संतृप्ति के स्तर को पुन: ऊपर उठा न दे।

इस प्रकार मौसम के अनुसार संतृप्ति का स्तर अविराम बदलता रहता है। सूखे मौसम में यह स्तर नीचे गिर जाता है और इसके विपरीत आर्द्र मौसम में ऊपर उठ जाता है। लेकिन महत्वपूर्ण परिवर्तन जितना ही अधिक होता है यह (स्तर) उतनी ही स्थिरता से ग्रीष्म के उत्तरार्द्ध में और शरद् ऋतु में गिरता है जिसके बाद शीत ऋतु तथा वसंत ऋतु के पूर्वार्द्ध में अधिक तेजी से ऊपर उठता है। प्राय: एक ऐसी सीमा होती है जिसके नीचे यह कभी भी नहीं जाता है ; इसी को संतृप्ति का स्थायी स्तर कहते हैं। साथ ही एक ऐसी भी सीमा होती है जिसके ऊपर यह कभी नहीं उठता है। यह सीमा भूमि की सतह ही हो सकती है, लेकिन ज्यादातर यह

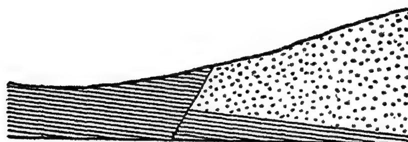
कुछ दूर नीचे रहता है। विशेष उदाहरण जिसका प्रदर्शन चित्र १४५ में किया गया है, जल इतनी स्वच्छन्दता से पहाड़ी के धरातलों से बाहर निकल सकता है कि आर्द्रतम ऋतुओं में भी यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण वालू का पत्थर संतृप्त हो जायगा।

संतृप्ति के स्तर के ऊपर नीचे उठने और गिरने से कुओं तथा झरनों की जल-पूर्त्ति में भी तदनुरूप वृद्धि और भी होगी।

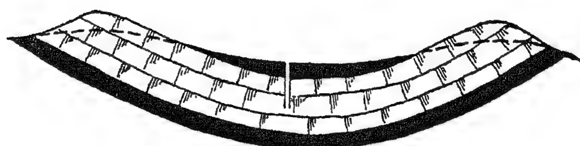
यदि एक कुआँ आर्द्र-ऋतु के स्तर तक खोदा जाता है, लेकिन यदि यह संतृप्ति के स्थायी स्तर तक नहीं खोदा जाता है तो आर्द्र ऋतु में ही इसमें पानी रहेगा, किन्तु सूखे मौसम में नहीं। और यदि यह खुदाई स्थायी स्तर तक पहुँच जाती है तो कुएँ में जल हमेशा रहेगा। चित्र १४६ में बालू के पत्थर के ऊपर वाले भाग की ढाल बायीं ओर है, इसलिए पहाड़ी की बायीं ओर वाली ढाल पर वाले झरने स्थायी होंगे क्योंकि वे संतृप्ति के स्थायी स्तर के नीचे रहते हैं; लेकिन दायीं ओर वाली ढाल पर



चित्र १४६—सदा और यदाकदा बहने वाले झरने।



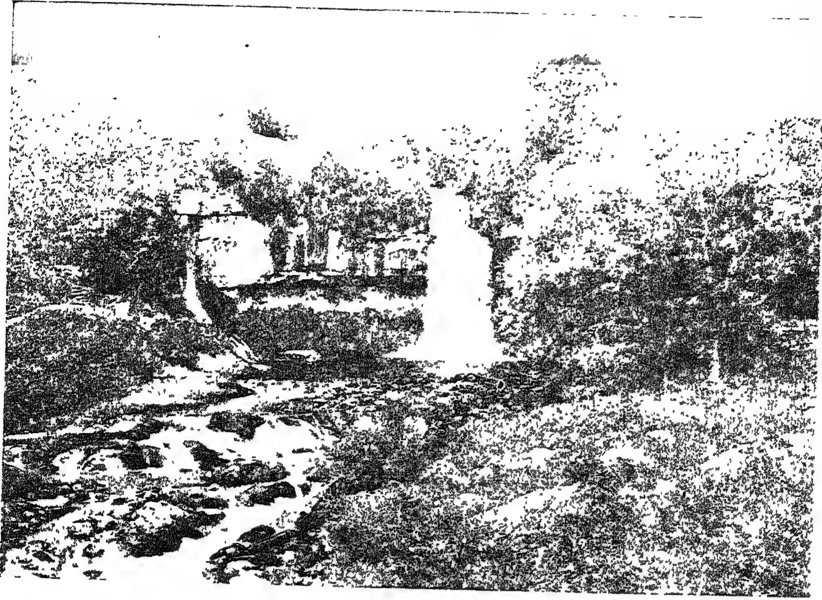
चित्र १४७—दराज के कारण उत्पन्न झरने।



चित्र १४८—आर्टीजियन कुएँ।

वाले झरनों से केवल आर्द्र ऋतु में ही जल निकलेगा; इसलिए ये सविराम झरने (intermittent springs) कहलाते हैं। ये झरने संतृप्ति के स्थायी स्तर से ऊपर रहते हैं और आर्द्र ऋतु के स्तर से नीचे।

झरने प्रायः छिद्रदार तथा अछिद्रदार तहों के मिलने के स्थान पर रहते हैं (बनते हैं)। ऐसा हो सकता है कि छिद्रदार तह अछिद्रदार तह पर रहती हो, जैसा कि



(अ) थौर्नटन फोर्स, इंग्लेटन, यौर्कशायर--कोयला युग की चूने की चट्टानों के मिचीलीनिया भाग के स्तर के झरने।



(ब) गिग्लैसविक--ब्लैकरिग्स वागाल के दक्षिण का दृश्य।



(अ) चेडार गॉर्ज, समरसेट। कठोर कोयला युग की चूने की चट्टानें कुछ स्थानों पर सीधी व सुन्दर क्लिफ ४०० फीट ऊँची बनाती हैं।



(ब) मालहम कोव के ऊपर, मा[illegible] [illegible]। ग्रेट स्कार चने की चटानों में क्लिन्ट की बनावट

चूने के पत्थर वाले क्षेत्रों के विशेष लक्षण (characters)—चूँकि वर्षा होने के बाद उसका जल बड़े समानुपात में तनु चट्टानों में प्रवेश कर जाता है और भूमि के नीचे वाली नालियों में बहता है, इसलिए चूने के पत्थर वाले क्षेत्रों की अपनी विशेष आकृति (character) होती है।

अधिक ऊँची जमीन हमेशा सूखी रहती है। बहुत कम नदियाँ इसकी सतह पर बहती हैं और यहाँ तक कि ये भी एकाएक भूमि के अन्दर जा कर लुप्त हो जा सकती हैं। ढालों के नीचे नदी पुनः ऊपर निकल कर बह सकती है जैसा कि चट्टानों में अचानक होने वाले छिद्रों से नदी निकला करती है।

घाटियाँ प्रायः संकीर्ण होती हैं और उनके पार्श्व प्रायः खड़े होते हैं जिनसे बहुधा बहुत खड़े (precipitous) उच्छृंगों (cliffs) का निर्माण होता है। चूँकि चूने का पत्थर मजबूत तथा ठोस चट्टान है और यद्यपि यह अनायास घुल जाता है, यह मौसम द्वारा होने वाले यांत्रिक क्षयीकरण को रोकता है। इसके अतिरिक्त चूँकि वर्षा का जल शीघ्र ही चट्टान में प्रवेश कर जाता है, इसलिए इसे सतह को काटने में बहुत थोड़ा समय मिलता है। अधिकांश चूने के पत्थरों में भी सुस्पष्ट जोड़ होते हैं; इसलिए उच्छृंगों के धरातल खड़े तथा स्पष्ट रूप से कटे होते हैं (प्लेट १३ a)।

चूने का कार्बोनेट विलयन के रूप में बह कर चला जाता है अतः केवल न घुलने वाले अपद्रव्य (impurities) रह पाते हैं जिससे चट्टान के ऊपरी आवरण का निर्माण होता है। इसलिए मिट्टी प्रायः पतली होती है और इसीलिए चूने के पत्थर वाले क्षेत्र प्रायः वृक्षहीन हुआ करते हैं। लेकिन उन घाटियों में जहाँ मिट्टी अधिक जमा हो सकती है, वे वृक्षहीन नहीं होतीं।

कार्स्ट वाले क्षेत्र की ये सामान्य स्थलाकृतियाँ (general features) हैं; ऐसा नाम युगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र के नाम पर पड़ा है जहाँ इन स्थलाकृतियों का सीमा से भी अधिक विकास हुआ है। इस प्रकार की स्थलाकृतियाँ पेनाइन पर्वत तथा इंगलैंड के अन्य भागों में भी पायी जा सकती हैं, लेकिन उन स्थानों में इनका उतना ज्यादा विकास नहीं हुआ है।

खड़िया के क्षेत्र में इस प्रकार की कुछ आकृतियाँ तो पायी जाती हैं लेकिन सब नहीं। खड़िया चूने के कार्बोनेट से बनती है लेकिन यह साधारण चूने के पत्थर से कई दृष्टियों से भिन्न होती है। यह अधिक नर्म तथा छिद्रदार होती है तथा यह साधारणतया उतनी मजबूती से जुड़ी हुई नहीं रहती है। खड़िया की पहाड़ियाँ चूने के पत्थर के समान ही सूखी रहती हैं और उनके ऊपर की मिट्टी भी उतनी ही पतली रहती है। लेकिन चूँकि चट्टान नर्म है और अनायास ही घिस कर नष्ट हो जाती है, घाटियाँ चौड़ी तथा खुली रहती हैं। उनकी धीमी ढालों वाले धरातलों पर उबड़-खावड़ भूमि नहीं दिखाई पड़ती है। तट को छोड़, जहाँ कहीं भी समुद्र अविराम गति से अपने आधार को काट कर भीतर घुसता जाता है, वहाँ पर खड़िया से शायद ही बहुत खड़े उच्छृंगों का निर्माण होता है।

सूखी घाटियाँ खड़िया के भूछवि (scenery) में पायी जाने वाली विशिष्ट-तम स्थलाकृतियों में हैं। आपेक्षतया नमन वाली धीमी ढालों (on relatively gentle dip-slopes) पर वे नदी की सामान्य घाटियों के रूप में ऊँची भूमि पर बनने लगती हैं और जब वे ढाल का अनसरण कर नीचे की ओर जाती हैं तब विभिन्न

सहायक नदियाँ मिल जाती हैं और घाटियाँ और नीचे धँस जाती हैं। नक्शे में वे प्रायः साधारण नदी-समूह के सदृश मालूम पड़ती हैं। ढाँचे में उनकी खड़िया वाली विशिष्ट गोल रूप-रेखाएँ बनी रहती हैं, विशेषकर उस स्थान में जहाँ एक तरह की खड़ी ढालें वक्र होकर पठार वाली सतह में मिल जाती हैं। अतः स्थल श्रृंगों की अधिक खड़ी ढालों पर वे गहराई तक कट जाती हैं तथा उनके किनारे एक दूसरे में घुस जाते हैं और प्रायः एकाएक उनकी ढाल खड़ी हो जाती है[1]। झरने प्रायः वहीं बनते हैं जहाँ वे मैदानों में मिल जाती हैं।

पहले प्रकार की घाटियाँ सम्भवतः हिम-युग[2] की पूर्व वाली परिस्थितियों में वनी थीं। उपमृत्तिका शीत काल में जम कर [illegible] अभेदनीय बन गयी जिसके फलस्वरूप विगलित बर्फ का जल, झरना तथा ग्रीष्म के पूर्वार्द्ध में होने वाली वर्षा का जल सतह पर वह कर चला गया। इन दिनों भी प्रचण्ड शीत काल के पश्चात् (जैसे १९४१ में) जल खड़िया की सूखी घाटियों की सतह पर वह कर चला जाता है। अन्तःस्थल श्रृंग में अधिक गहराई तक बनी अधिक छोटी घाटियाँ जल के स्तर के वर्तमान स्तर से अधिक ऊँचा रहने पर अन्तःस्थल श्रृंग में नीचे से ऊपर की ओर काटने वाले झरनों के कार्य से सम्बद्ध मानी जा सकती हैं।

---

१ कभी-कभी एकाएक बनने वाले कोण जिस पर खड़िया का पठार सूखी घाटियों की खड़ी ढाल से मिलता है, वह ऊँची भूमि में जल्द खेता होने से बनता है।

२ हिम-युग के पूर्व वाली परिस्थितियाँ उस समय मौजूद थीं जब वृहत् हिम-पुंज निकट में आ गये थे लेकिन उस क्षेत्र को आवृत्त नहीं किया था।

आठवाँ अध्याय

नदियाँ

केवल यदाकदा के प्रेक्षण (observation) मात्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि नदी तीन प्रकार का कार्य करती है। यह अपने किनारों तथा तल को काटती है ; यह क्षयीकरण (erosion) कहलाता है। यह वर्षा द्वारा लाये गये पदार्थ अथवा यह स्वयं जो (मिट्टी) पदार्थ काट कर लाती है—उसे ढोती है ; यह परिवहन (transport) कहलाता है। यह अपनी धारा के साथ जिस पदार्थ को ढो कर लाती है, कभी तो उसे अपने तल पर जमा कर देती है, कभी झील में और कभी समुद्र में। लेकिन जिस स्थान से पदार्थ को ढो कर लाती है, उसके स्तर से हमेशा निम्नतर स्तर वाले स्थान में ही यह उस पदार्थ को पाटती है ; यह निक्षेपण (deposition) कहलाता है।

जहाँ तक स्थल की आकृति का सम्बन्ध है, क्षयीकरण का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहता है, लेकिन क्षयीकरण बहुत अंशों में परिवाहित (transported) पदार्थ पर निर्भर करता है ; इसलिए परिवहन तथा क्षयीकरण पर एक साथ स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया जा सकता है।

परिवहन :—नदी द्वारा लाए गये पदार्थ का कुछ भाग तो जल में घुल कर मिला रहता है और शेष भाग में विभिन्न आकार तथा रूप के ठोस टुकड़े रहते हैं। लकड़ी के टुकड़े जल की सतह पर उतराते रह सकते हैं। चट्टान के सूक्ष्मतम कण धीरे-धीरे नीचे बैठते हैं, इसलिए यात्रा के अधिकांश भाग में वे जल में निलम्बित (suspended) रहते हैं। अधिक बड़े टुकड़े नदी के तल पर लुढक कर एक दूसरे के साथ टक्कर खाते हुए आगे बढ़ते हैं और मध्यम श्रेणी के आकार वाले टुकड़े उछलते-कूदते आगे बढ़ते हैं। ये टुकड़े (एक दूसरे के साथ) आपस में टकराने के कारण गोल हो जाते तथा कंकड़ के गोल टुकड़े (pebbles) के रूप में परिणत हो जाते हैं। और किनारों पर रगड़ खाने पर ये नदी के मार्ग (channel) को काट देते हैं।

जिन कंकड़ों को नदी ढोकर ले जा सकती है, उनका आकार धारा के वेग पर निर्भर करता है। यह बहुत अंशों में कंकड़ों के रूप तथा द्रव्य (material) पर भी निर्भर करता है। फिर भी यदि सभी कंकड़ गोलाकार हों और सबों का घनत्व बराबर हो तो जिन कंकड़ों को नदी ढोकर ले जा सकती है, उनके व्यास में नदी के वेग के वर्ग के बराबर परिवर्तन होता है तथा उनका आयतन नदी के वेग के छ: गुने के बराबर। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता है कि नदी का कुल बोझ वेग की शक्ति के छ: गुना बढ़ जाता है।

वह ठोस पदार्थ जिसे नदी ढोती है, बोझ कहलाता है। इस शब्द के प्रयोग में घुले हुए पदार्थ भी समाविष्ट रहते हैं। लेकिन वास्तव में यह आंशिक रूप से परिवहन के दूत का ही कार्य करता है और इसलिए कम-से-कम सम्प्रति इस शब्द को उन ठोस टुकड़ों तक ही सीमित करना अधिक सरल होगा जो नदी के जल की सतह पर

उतराते रहते हैं, या निलम्बित होकर आंशिक या पूर्ण रूप से परिवाहित होते अथवा नदी के तल पर लुढ़कते हुए आगे बढ़ते हैं।

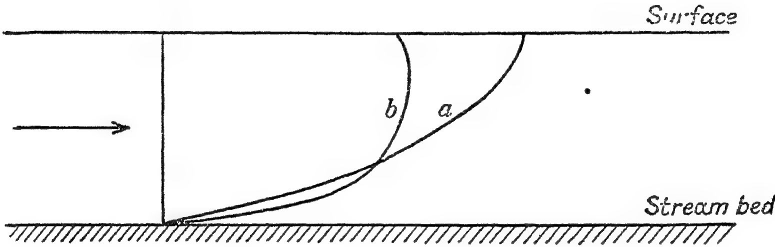
नदी की किसी पदार्थ को ढोकर ले जाने की ताकत स्पष्टतः इसके वेग तथा इसके जल (की मात्रा) के आयतन पर अथवा जल के निःसरण (discharge) पर और बोझ का आकार किस श्रेणी का है (grade) या उसकी शक्ति (calibre) पर निर्भर करती है। बारीक पदार्थ के बोझ को ढोना बड़े कण वाले पदार्थ के बराबर परिमाण वाले बोझ को ढोने से कहीं अधिक सरल है। जब नदी के जल का निःसरण बढ़ता है (बाढ़ के समय में) तब इसके ढोने की ताकत निःसरण की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। नदी की ताकत निश्चित रूप से निःसरण के समानुपात में रहती है, लेकिन निःसरण के साथ-साथ तल और किनारों पर घर्षण (friction) सूक्ष्म रूप से होता है। इस प्रकार परिवहन के लिए अपेक्षाकृत अधिक शक्ति रह जाती है। एक वेगवती नदी मन्द धारा वाली नदी की अपेक्षा अधिक पदार्थ तथा अधिक बड़े आकार वाले टुकड़ों को ढोकर ले जा सकती है। कोई भी नदी जिसकी प्रवणता (gradient) अथवा निःसरण की गति में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होता, वह बड़े कण वाले पदार्थ की अपेक्षा बारीक पदार्थ अधिक मात्रा में ढोकर ले जा सकती है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि किसी खास नदी या उसके भाग (अनुमान किया जाता है कि उसके वेग और जल की मात्रा (आयतन) बराबर एक-सी रहती है), के बोझ जिसे यह ढोकर ले सकती है, उसकी एक सीमा रहती है, और जब बोझ उस सीमा तक पहुँच जाता है, तो यह (बोझ) नदी का पूर्ण अथवा अधिकतम बोझ कहलाता है। लेकिन बिना किसी विशेष गुण (qualification) के कथन के वस्तुतः शुद्ध रहता है, इसमें बोझ के ढोने की सामर्थ्य रहती है। नदी के बोझ में अधिक पदार्थ नहीं हैं, चूँकि पदार्थ के पर्याप्त रूप से बारीक हो जाने पर, जब तक जल थोड़ा भी चलता रहता है, इसमें बोझ के ढोने की सामर्थ्य रहती है। नदी के बोझ में अधिक पदार्थ के मिलने से धारा का वेग कम हो जाता है, क्योंकि ठोस कणों को आगे की ओर बढ़ाने में काफी ताकत नष्ट हो जाती है। वेग कम होने से जिन कंकड़ों अथवा तत्थर के बड़े टुकड़ों को नदी ढो सकती है, उनका आकार छोटा हो जाता है। यदि इसके (नदी) प्रथम बोझ में ऐसे कंकड़ या कण रहें जिन्हें यह ढोकर नहीं ले जा सकती है, तो वे नीचे बैठ जायेंगे, लेकिन यदि वे चूर-चूर होकर पर्याप्त रूप से छोटे हो जाते तो नदी में उन्हें और दूर ढो कर ले जाने की सामर्थ्य रहेगी और वे (तब भी) अधिक समय तक इसके बोझ के भाग बने रहेंगे।

इस प्रकार नदी का पूरा बोझ केवल इसके वेग और आयतन पर निर्भर नहीं करता बल्कि बहुत अंशों में बोझ में रहने वाले कणों के आकार पर निर्भर करता है। निश्चित आकार वाले कणों के अलावे नदी के सम्भाव्य बोझ की कोई निश्चित सीमा नहीं रहती है। यदि कण काफी छोटे रहते हैं तो बोझ की अधिकतम मात्रा के पूर्व नदी प्रवहमान् कीच का पुंज बन सकती है। नदी में पहले से वर्तमान कण तथा बाहर से आने वाले कणों को विभिन्न आकार के रहने पर सम्भाव्य बोझ की सीमा अनिश्चित रहती है।

इस बात से इसमें और भी अधिक जटिलताएँ आ जाती हैं कि नदी के तल तथा

किनारे जैसे-जैसे सन्निकट होते जाते हैं, वैसे-वैसे इस के मार्ग के साथ घर्षण होने के कारण नदी का वेग अत्यधिक कम हो जाता है (चित्र १५०)। लेकिन फिर भी यह सत्य है कि जब बोझ के अधिकांश भाग में लगभग समान आकार वाले कण रहते हैं तो सम्भाव्य बोझ की सीमा पर्याप्त रूप से निश्चित रहती है और जब यह पहुँच जाती है तो नदी के बोझ में कुछ भी वृद्धि होने से प्रारम्भिक बोझ उतनी ही मात्रा में नीचे बैठ जाता है।



चित्र १५०—गहराई के अनुसार गति का वितरण ; *'a'* रेखा परतीय और *b* उद्वेलित या अधिक साधारण प्रवाह दिखाती है।

क्षयीकरण :—नदी द्वारा होने वाला क्षयीकरण, रासायनिक तथा यांत्रिक—दो प्रकार का होता है। जिन चट्टानों पर नदी बहती है, उनके उपयुक्त प्रकृति के होने पर, इसके द्वारा उनमें विलयन हो सकता है। इसे रासायनिक क्षयीकरण (chemical erosion) अथवा विलयन कहते हैं। जब नदी के तल तथा किनारों से टुकड़े टूट कर अलग हो जायें तो इसे यांत्रिक क्षयीकरण (mechanical erosion) अथवा घर्षण (corrasion) कहते हैं। अधिकांश दशाओं में घर्षण विलयन की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और तदनुसार यह घर्षण ही है जिससे हमारा विशेष प्रयोजन है।

घर्षण लम्बवत् (ऊर्ध्वाधर) अथवा पार्श्विक हो सकता है। लम्बवत् घर्षण या खड़े कटाव में नदी के तल का घर्षण या कटाव होता है जिससे इसका प्रवाह-मार्ग गहरा हो जाता है। पार्श्विक घर्षण किनारों का घर्षण है, और तल पर इसका कोई असर नहीं पड़ता है।

स्वच्छ जल से ठोस चट्टान का अत्यल्प घर्षण होता है, लेकिन तीव्र गति से चलने पर यह अत्यधिक जोड़ वाली चट्टान जो रासायनिक या अन्य विधि से नर्म हो गया है, उसके बड़े-बड़े टुकड़ों को हटा कर ले जा सकता है। तल तथा किनारों के नर्म या अबद्ध पदार्थों से बने रहने पर भी स्वच्छ जल वाली नदी घर्षण के प्रभावोत्पादक दूत का काम करती है। नदी द्वारा घर्षण का अधिकांश कार्य विशेषकर अत्यल्प जोड़ वाली विशाल तहों या तलागत भागों, और कंकड़ एवं बालू जिन्हें यह अपने तल पर लुढ़का कर ले जाती है—इन्हीं के द्वारा होता है।

यह जानने के लिए कि घर्षण और बोझ किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, सर्वप्रथम यह अनुमान करना सरल होगा कि सभी कण जिनसे बोझ बनता है तथा

जिन्हें नदी अपने तल और किनारों से काट कर लाती है, एक ही पदार्थ से बने रहते हैं और उनका आकार भी एक ही होता है। ऐसी परिस्थिति में जिस बोझ को नदी ढोकर ले जा सकती है, उसकी एक निश्चित सीमा होती है।

इन परिस्थितियों में जब नदी में कुछ भी बोझ नहीं रहता है तब यह घर्षण का कार्य अत्यल्प करती है या बिल्कुल नहीं करती है। जब इसमें पूरा बोझ रहता है तब यह अपने किनारे तथा तल का घर्षण करती है, लेकिन क्योंकि यह पहले ही से पूरा बोझ ढोती रहती है, इसलिए प्रत्येक कण जिसे यह त्यागती है, वह उन्हीं कणों में होगा जिन्हें नदी ढोती आ रही थी। अतः तब निक्षेपण घर्षण के बराबर होगा। लम्ववत् घर्षण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, लेकिन मोड़ के बाहरी भाग में घर्षण जारी रह सकता है और इसके भीतरी भाग में निक्षेपण होगा जैसा कि नदी के टेढ़े-मेढ़े मार्ग (meanders) में हुआ करता है।

इस प्रकार बोझ नहीं रहने पर अत्यल्प घर्षण होता है; और बोझ पूरा रहने पर निक्षेपण घर्षण के बराबर होता है। इसलिए इसमें कुछ अन्तःस्थल बोझ रहता है जिससे जबर्दस्त घर्षण सब से अधिक होता है।

बोझ वाले पदार्थ के विभिन्न प्रकार के बारीक कणों के रहने पर भी यह नियम लागू होता है। वैसी हालत में पूरा बोझ निश्चित मात्रा में नहीं रहता है, लेकिन जबर्दस्त घर्षण बोझ के साथ-साथ एक खास स्थान तक बढ़ता जायगा; और उस स्थान से आगे बढ़ने पर बोझ के बढ़ते जाने के कारण यह (जबर्दस्त घर्षण) कम होता जायगा तथा अन्त में यह बन्द हो जायगा। नदी द्वारा होने वाले क्षयीकरण का यह मूल सिद्धान्त है।

नदी के मार्ग की ढाल की क्रमबद्धता (grading of the river channel) :—यदि हम नदी के केवल एक भाग पर विचार करें और यह अनुमान कर लिया जा सकता है कि उसके तल की ढाल उसके (नदी) वेग और आयतन—सभी एक से हैं तो बोझ का प्रभाव स्पष्ट होगा। सरलता के लिए यह अनुमान करना आसान होगा कि बोझ के कण तथा वे कण जिन्हें नदी तोड़-फोड़ कर लाती है—वे सब-के-सब एक ही आकार के तथा एक ही पदार्थ के (द्रव्य) बने होते हैं।

यह बोझ जो नदी के मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग (reach) में प्रवेश करता है वह उपरोक्त बातों पर निर्भर करता है; वह इस (मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग) पर किसी भी प्रकार निर्भर नहीं करता। इसलिए नदी के मोड़ों के बीच के सीधे भाग में वेग और आयतन का ठीक-ठीक कारण पूर्ण बोझ ही हो सकता है, अथवा यह इससे न्यूनाधिक भी हो सकता है।

यदि मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करने वाला बोझ उस भाग में नदी के लिए ठीक-ठीक पूरा बोझ हो तो घर्षण ही होगा और न निक्षेपण ही या यथार्थता के लिये यों कहें कि घर्षण तथा निक्षेपण—दोनों बराबर होंगे। तल की ढाल अपरिवर्तित रहेगी। नदी के इस भाग को क्रमबद्ध या ढालुआँ (grade) कहते हैं (चित्र १५१ में AB)।

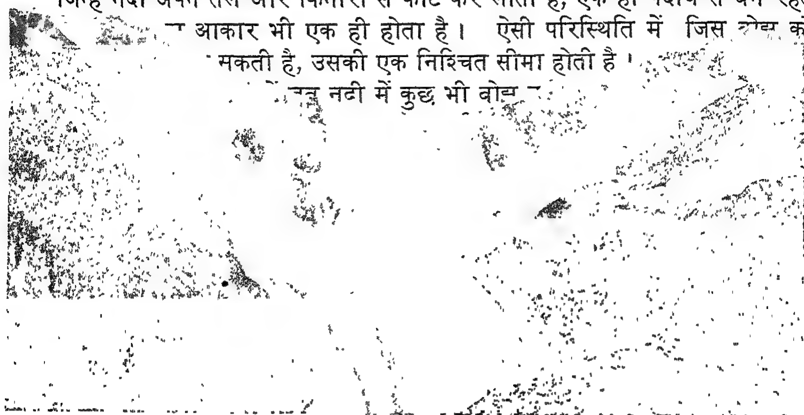
यदि नदी के मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करने वाला बोझ पूरा से अधिक रहे तो नदी इस पूरे बोझ को ढोने में असमर्थ सिद्ध होगी; अतः अतिरिक्त पदार्थ मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग के ऊपरी छोर पर जमा हो जायगा। इसलिए

नदी के तल की ढाल अधिक हो जायगी और नदी का वेग भी उस भाग में अधिक हो जायगा। यह कार्य तब तक जारी रहेगा जब तक कि नदी का वेग केवल इतना ही ... जाय कि वह इसे अपने मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्र... पहुँचाए। ऐसी दशा में यह कहा जाता ... (aggrading) ...



ईगर (Eiger), मॉन्च (Monch) व जंगफ्रौ (Jungfrau) का ढालू उत्तरी भाग। जहाँ बर्फ कुछ तादाद में जमा हो जाता है वहाँ चक्करदार हिमानी बन जाती हैं। वह U के आकार की लौटरब्रूनेन (Lauter-brunnen) घाटी कैमरा स्टेशन व कुछ पेड़युक्त आल्पाइन चरागाहों के बीच में रहती है।

जिन्हें नदी अपने तल और किनारों से काट कर लाती है, एक ही पदार्थ से बने रहते
... आकार भी एक ही होता है। ऐसी परिस्थिति में जिस बोझ को
... मकती है, उसकी एक निश्चित सीमा होती है।
... न्तु नदी में कुछ भी बोझ ...



(अ) मॉरटराश ग्रूप पृथ्वी व पर्वत की हिमनदी दर्शाते हुए। देखो बर्फ का झरना जहाँ हिमनदी बर्फ की झील छोड़ती है और मीडियल तथा लैटरल मोरेन भी।

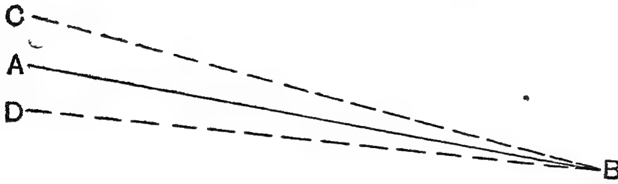


(ब) Heillstuggubreein का अन्त जॉतूनहीम (Jotunheim) मीडियन मोरेन व दो छोटे मोरेन दर्शाते हुए।

पृष्ठ ३१७ के सम्मुख

नदी के तल की ढाल अधिक हो जायगी और नदी का वेग भी उस भाग में अधिक हो जायगा। यह कार्य तब तक जारी रहेगा जब तक कि नदी का वेग केवल इतना ही पर्याप्त रह जाय कि वह इसे अपने मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करने वाले बोझ को ढोने में मदद पहुँचाए। ऐसी दशा में यह कहा जाता है कि नदी अपने तल को C B के स्तर तक ऊँचा (aggrading) करती है।

यदि मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करने वाला बोझ इसके पूरे बोझ से कुछ कम रहे तो नदी जितना निक्षेपण का कार्य करती है, उससे अधिक अपने तल



चित्र १५१—नदी तल की क्रमबद्धता।

को काटेगी। इस क्रिया से इसका बोझ बढ़ जाता है। इसलिए जबर्दस्त घर्षण (कटाव) मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग के ऊपरी छोर पर सब से अधिक होगा और नीचे की ओर कम होता जायगा, क्योंकि बोझ क्रमशः बढ़ता जाता है। तल की ढाल तथा इसके साथ-साथ नदी का वेग—दोनों कम हो जायँगे। यह कार्य तब तक जारी रहेगा जब तक कि वेग (नदी का) नदी को ठीक मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करने वाले बोझ ढोने भर समर्थ बनाये रहे। ऐसी दशा में नदी अपने तल को DB के स्तर तक काट कर नीचा (degrade) कर देती है।

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण मार्ग में नदी अपनी ढाल को (प्रवाह) मार्ग के प्रत्येक भाग, जिसमें बोझ प्रवेश करता है, के साथ अविराम समंजित (adjusted) करती रहती है।

यदि बोझ में विभिन्न आकार वाले कण रहें तो नदी अपनी ढाल को मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में पर्याप्त मात्रा में प्रवेश करने वाले सब से बड़े कणों के आकार के साथ समंजित कर देती है। यदि वेग मोड़ों के बीच सीधे भाग में ठीक उतना ही रहे जिससे नदी इन कणों को अपने तल पर लुढ़काते हुए ले जा सके तो ये कण आगे बढ़ जायँगे। और यदि उसके अन्दर उन्हें गतिशील बनाने भर पर्याप्त वेग न रहे तो वे (कण) नदी के मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग के ऊपरी छोर पर जमा हो जायँगे जिससे ढाल अधिक हो जायगी। इसके विपरीत यदि वेग सब से बड़े कणों का गतिशील बनाने के लिए जितने वेग की जरूरत होती है, उससे अधिक रहे तो घर्षण तब तक होता रहेगा जब तक कि ढाल और वेग—दोनों बहुत कम न हो जायँ।

फिर भी नदी के मोड़ों के बीच के एक सीधे भाग में आयतन और वेग एक से नहीं रहते हैं, और ये दोनों के दोनों बाढ़ के समय पर्याप्त रूप से बढ़ जाते हैं। यदि अधिकांश पदार्थ उसमें (नदी के सीधे भाग में) बाढ़ के समय प्रवेश करता हो और उसमें पत्थर के गोल टुकड़े अथवा कंकड़ इतने बड़े हों कि जिन्हें नदी बाढ़ के समय ढो

सके लेकिन साधारण अवस्था में न ढो सके तो ढाल बाढ़ वाली (के समय वाली) दशाओं के साथ समंजित हो जायगी। अन्य समयों में जल प्रायः स्वच्छ रहेगा और उससे शायद ही परिवहन अथवा घर्षण का कार्य हो सकेगा। यह बात प्रायः पहाड़ी नदियों में पायी जाती है।

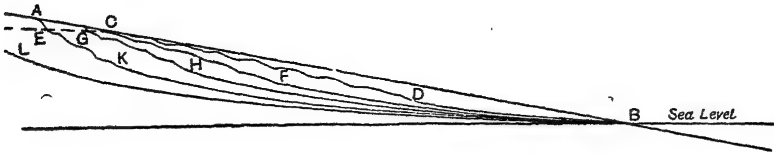
इसके विपरीत यदि पदार्थ का अधिकांश भाग जो मोड़ों के बीच वाले सीधे भाग में प्रवेश करता है, इतना बारीक रहे कि यह नदी द्वारा इसकी साधारण दशा में गतिशील हो सके तो ढाल साधारणतया इस दशा के साथ समंजित हो जायगी तथा सूखा के समय के अलावे नदी का तलछट को ढोने का काम कभी भी बन्द नहीं होगा। ऐसा प्रायः नदी के मार्ग के निचले भाग में होता है।

जल द्वारा क्षयीकरण का वक्र :—इसके पश्चात् हम इन सिद्धान्तों के प्रभाव पर विचार कर सकते हैं जो उद्‌गम स्थान से लेकर समुद्र तक नदी की साधारण ढाल पर पड़ता है। ऐसा मान लीजिए कि नदी AB ढाल (चित्र १५२) पर प्रवाहित होना प्रारम्भ करती है, जो (ढाल) जल विभाजक से लेकर समुद्र तक एक समान है और उसमें सब जगह समान रूप से कड़ी चट्टान पायी जाती हो। मान लीजिए कि जल-पटल EC सतह को C विन्दु पर काटती है और चूँकि नदी G से B की ओर बहती है, अतः समान रूप से वितरित वर्षा के फलस्वरूप इसका आयतन समान रूप से बढ़ जाता है। यह भी अनुमान कर लिया जाय कि नदी की ढाल तथा बाढ़ के समय इसके जल निःसरण—दोनों ऐसे हों कि यह उद्‌गम स्थान में भी कुछ क्षयीकरण का कार्य कर सके तथा ज्योंही नदी पदार्थ लाकर समुद्र में जमा करती है, त्योंही वह (समुद्र) उसे शीघ्रता से B से हटा लेता है।

नदी में नीचे की ओर यानी इसके निचले भाग में चूँकि जल का निःसरण बढ़ जाता है, इसलिए नदी की क्षयीकरण तथा परिवहन की शक्ति जल के निःसरणा की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है। नदी के उद्‌गम स्थान के निकट से आने वाले पदार्थ का कुछ भाग जब यह समुद्र की ओर बढ़ता है तब घिस कर छोटा हो जाता है और उसके पश्चात् और अधिक बारीक होने के कारण अधिक सरलता से परिवाहित होता है जिससे नदी की क्षयीकरण की ताकत और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार C D वक्र बनता है जो पहले सम्भवतः थोड़ा उतल रहता है। इस भाग पर क्षयीकरण होता है जिससे ढाल का विवरण प्रधानतया तलागत चट्टान की प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए C D वक्र थोड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है जिससे इस तथ्य पर ध्यान आकर्षित हो जो वास्तव में उतल वक्र के निर्माण की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाता और रोक देता।

सर्वप्रथम नदी के आधार स्तर का प्रभाव D पर मालूम होता है। D से B तक वक्र ऐसा रहता है कि बाढ़ के समय नदी ठीक अपने बोझ को समुद्र तक ले जा सकती है—अर्थात् यह क्रमबद्ध (प्रायः ढाल रहित) हो जाती है। यह वक्र नदी के निचले भाग की ओर चौरस (उथला) होता जाता है; लगातार बोझ के आते रहने तथा जल के निःसरण के बढ़ने के कारण समुद्र सतह कब्जा की तरह काम करता है। इस प्रकार यह क्षयीकरण का आधार स्तर का प्रभाव ही है जो ऊपर की ओर जो उतल वक्र बन सकता था, उसे सामान्य अवतल (concave) वक्र के रूप में परिणत कर देता है।

लगातार क्षयीकरण होते रहने के फलस्वरूप वह भाग प्रायः क्रमवद्ध ढाल रहित हो जाता है और यह नदी के ऊपर की ओर पीछे F तक हटता जाता है। क्षयीकरण को उस स्थान पर बन्द हो जाना चाहिए जहाँ से नदी के नीचे की ओर इसमें (नदी) ठीक उतनी ही ढाल रहती है कि यह ठोस बोझ को समुद्र तक ढोकर ले जा सके। नदी का उद्गम स्थान भी थोड़ा पीछे हटेगा जिससे जल-पटल C E रेखा पर कुछ दूर पीछे चला जायगा। चूँकि यह पीछे की ओर हटना सम्भवतः F स्थान



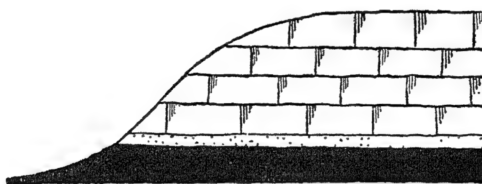
चित्र १५२—जल क्षरित वक्र के क्रमशः निर्माण की दशाएँ।

से कम होता, इसलिए CF ढाल CD से अधिक खड़ी तथा छोटी होती। क्षयीकरण तथा समंजन (adjustment)—दोनों GHB अवस्था तक जारी रहेंगे जिस समय तक शेष पदार्थ के कोण को प्रदर्शित करने वाली खड़ी ढाल उद्गम स्थान G पर बढ़ती है जिसके नीचे पदार्थ ऋतु अवक्षेपण तथा चट्टानों की तलहटी पर मिट्टी के ढेर के कारण खिसकता है। EKB और उसके बाद की अवस्था को प्रदर्शित करता है। उद्गम स्थान पर खड़ी ढाल AE की लम्बाई बढ़ गयी है, क्योंकि उद्गम स्थान पहाड़ी भाग की ओर पीछे हटता है जहाँ जल-पटल अधिक नीचे रहता है। नदी के द्वारा अधिक तीव्र प्रवाह तथा उच्च भूमि के विस्तार में कमी होने के कारण जल-पटल (तथा उद्गम स्थान भी) सम्भवतः मौलिक या मूल स्तर E पर पहुँच जाता है।

इसमें सम्भवतः कुछ और परिवर्तन होता। A पर का कुछ खड़ा कोण गोल बन जाता, क्योंकि खड़ी ढाल AE के नीचे धीरे-धीरे खिसकने वाली मिट्टी (soil creep) A के ऊपर अधिक धीमी ढाल के नीचे जितनी तेजी से पदार्थ आकर जमा होता उससे कहीं अधिक तेजी से A के आसपास से अतिरिक्त पदार्थ को हटा देती। इस प्रकार A पर तह वाली चट्टान हमेशा अनावृत रहेगी तथा उस पर ऋतु अपक्षयण का काफी असर पड़ेगा। समशीतोष्ण अक्षांशों में तुषार द्वारा चट्टानों का टूटना विशेषकर थोड़ी ऊँचाइयों पर जबर्दस्त तरीके से होगा। इसके फलस्वरूप उस स्थान की ऊँचाई कम होने से A के ऊपर की ढालें ज्यादा हो जायँगी तथा उसके नीचे वाली ढालें कम हो जायँगी; इस प्रकार कोण गोल हो जायगा। यह गोल आकृति पर्याप्त रूप से (काफी) स्थायी होगी, क्योंकि इसके ऊपर से अपेक्षाकृत अधिक समान गति से मिट्टी खिसक कर गिरेगी जिससे वहाँ पर चट्टान के चूर्ण से अविच्छिन्न तह पड़ जायगी जो नीचे वाली चट्टान की रक्षा करने में मदद करेगी।

दक्षिणी-पूर्वी इंगलैंड की खड़िया तत्थर वाली पहाड़ियों में झरनों के स्तर पर वक्र में परिवर्तन प्रायः बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। खड़िया (पत्थर),

स्वयं बहुत ही सरंध्र (porous) होती है और इसके नीचे प्रायः बालू के सरंध्र पत्थर की तह रहती है जिसे ऊपरी हरित बालू (Upper Greensand) कहते हैं, लेकिन यह मिट्टी की असरंध्र तह ऊपर रहती है। जो वर्षा खड़िया (पत्थर) पर पड़ती है उसका जल अधिक समानुपात में सतह पर बहने के बदले चट्टान में प्रवेश कर जाता है। लेकिन यह मिट्टी वाली तह को पार कर नहीं जा सकता है; इसलिए यह जल पहाड़ी के बगल से हरित बालू तथा मिट्टी वाली तह के मिलने के स्थान पर बाहर निकल कर बहता है और एक ही सीध में बहुत से झरनों के बनने से झरनों की



चित्र १५३—चाक-निर्मित पहाड़ियों का आकार।

एक लकीर-सी बन जाती है। इस स्तर के नीचे पहाड़ी की ढाल प्रायः अवतल (concave) रहती है लेकिन झरनों के ऊपर ढाल उतल (convex) रहती है। निचली ढाल की आकृति बहते हुए जल के कारण बनती है और पहाड़ी के ऊपरी भाग की आकृति खड़िया (पत्थर) के विलयन से बनती है (चित्र १५३)।

E बिन्दु पर का अन्तर्मुख कोण (re-entrant angle) बहुत दिनों तक इसलिए रहता है कि मिट्टी के ऊपर से नीचे खिसक कर आने के प्रक्रमों (विधियों) में चूर्ण पदार्थ लाने की जितनी ताकत रहती है नदी में उससे अधिक चूर्ण पदार्थ को जो ऊपर से नीचे अधिक धीमी ढाल पर आता है, बहा कर हटा ले जाने की ताकत रहती है। और उसके बाद भी उसमें नीचे (तल) को काटने की ताकत मौजूद रहती है। इस प्रकार नदी के उद्गम स्थान पर वाले जल की शक्ति पर्याप्त समानुपात में उद्गम स्थान की ओर मुड़ने में लग जाती है। इससे स्वभावतः नदियों के इन मुख्य भागों के सिर्फ नीचे वाली कटान रुक जाती है और इसके बाद भी मोटे तौर पर नदी में क्षयीकरण के अवतल वक्र के बनने में इससे मदद मिलती है।

प्रत्येक वक्र ऊपर वाले वक्र के नीचे खींचा जाता है, क्योंकि जब नदी EKB अवस्था में मुहाने से HB दूरी पर रहती है तब बोझ के कण अधिक बारीक रहते हैं; और सम्भवतः जल का निःसरण GHB अवस्था में H पर जितना जल का निःसरण होता है उससे अधिक होता है। अधिक धीमी ढाल पर से नीचे समुद्र में यह अधिक बारीक कण वाला बोझ परिवाहित हो सकता है। EKB अवस्था में K पर वाले बोझ कण उतने ही बड़े आकार के होंगे जितने बड़े आकार के GHB अवस्था में H पर वाले बोझ के कण रहते हैं बशर्ते कि EK करीब-करीब GH के बराबर हो। अन्त में जब उच्च भूमि बहुत कट जायगी तो नदी के मोड़ों के बीच वाला क्रमबद्ध सीधा भाग स्थल के अन्दर और पीछे हट जायगा लेकिन सम्भवतः यह नदी के उद्गम स्थान तक कभी नहीं पहुँचेगा। वहाँ पर हमेशा ऐसा भूभाग बनेगा जहाँ पर बोझ उठता रहेगा।

यह हमेशा स्पष्ट रूप से नदी के प्रत्येक नीचे की ओर वाले मोड़ों के बीच वाले सीधे भागों से अधिक खड़ा रहेगा जहाँ परिवहन खूब होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि नदी में अधिक खड़ी प्रवणता (gradient) का होना जरूरी है जिससे नदी में इतनी शक्ति रहे कि वह एक बार अबद्ध कणों को तल से उठा लेने के पश्चात् उन्हें गतिशील रखने के अलावे इतनी अधिक शक्ति रखे ताकि वह अपने तल से अबद्ध कणों को उठा ले। ठोस चट्टान अथवा पत्थर के बड़े गोल टुकड़े जो नदी के मार्ग में रहते हैं, उनसे बोझ के लिए पदार्थ ग्रहण करने के लिए उसकी (नदी की) प्रवणता को बहुत अधिक खड़ी होना चाहिए।

चूँकि क्षयीकरण का चक्र जारी रहता है, इसलिए बोझ के कम रहने तथा कणों के छोटे रहने के कारण यह (load) अधिकाधिक धीमी प्रवणता पर से नीचे समुद्र में बह कर चला जायगा ; और प्रवणता $\angle B$ अवस्था को प्राप्त करेगी (उस स्तर पर पहुँच जायगी), जो केवल आंशिक रूप से प्रदर्शित की गयी है। उस समय तक नदी युवावस्था से वृद्धावस्था में पहुँच जायगी। चित्र १५२ में प्रदर्शित नदी की बाद वाली अवस्थाओं के वैयक्तिक विकास के लिए अपेक्षाकृत अधिक लम्बे अरसे की जरूरत होती है जो समय से बनी पूर्व (की रूपरेखाएँ) के ढाँचे होंगे।

मान लीजिए कि ढाल, जल का निःसरण तथा पर्तों की प्रतिरोधकता (resistance) ये ऐसी थीं कि नदी में अपने उद्गम स्थान में क्षयीकरण के कार्य करने की सामर्थ्य न थी। ऐसी अवस्था में क्षयीकरण तब तक नहीं होगा जब तक जल के परिवर्द्धित निःसरण के द्वारा उसकी ताकत बढ़ न जाय ; यह क्षयीकरण नदी के निचले भाग की ओर अधिक दूर में जा कर प्रारम्भ होगा। यदि यह मान लिया जाय कि जल का निःसरण प्रधानतः कुछेक सहायक नदियों के कारण बढ़ गया है तो इसका सर्वप्रथम परिणाम यह होता कि प्रत्येक संगम पर एक कटाव (change) बन जाता। ये प्रायः निश्चित रूप से प्रत्येक सहायक नदी में ऊपर की ओर पीछे हटते। प्रत्येक संगम पर ढाल में थोड़ा अन्तर (change) बना रहेगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रत्येक सहायक नदी में बाढ़ के समय तरंगें बराबर संगम पर आया करती थीं अथवा वे वहाँ उसी अवस्था या सीढ़ी में पहुँचती थीं। इसके लिए और अधिक क्षेत्रीय प्रमाण की आवश्यकता है।

यदि वहाँ पर डेल्टा बनता है और नदी का मुहाना समुद्र की ओर बढ़ जाता है, तो निक्षेपण नदी के निचले भागों में होता है ताकि उसमें पर्याप्त रूप से ढाल बनी रहे जिससे कि उसमें बोझ को ढोकर समुद्र में जाने के सामर्थ्य वर्तमान रहे।

नदी की घाटी का विकास :—जैसे-जैसे जल द्वारा क्षयीकरण का चक्र विकसित होता जाता है वैसे-वैसे नदी के मार्ग के ऊपरी तथा निचले भागों के बीच का अन्तर अधिकाधिक सुनिश्चित (defined) होता जाता है। पहले में (ऊपरी भाग) घर्षण बढ़ जाता है जिससे यह निक्षेपण की अपेक्षा अधिक होता है ; और दूसरे (निचले भाग) में निक्षेपण बढ़ जाता है और अन्त में घर्षण की अपेक्षा अधिक हो जाता है। इसलिए अपने मार्ग के उपरी भाग में नदी अपने प्रवाह मार्ग को गहरा करती है और तदनुसार यह भाग प्रायः घाटी वाला प्रदेश (valley tract) कहलाता है। निचले भाग में नदी जिस पदार्थ को ढोकर लाती है, उसे फैला देती है और मैदानों का निर्माण करती है ; यह भाग प्रायः समतल मैदानी प्रदेश कहलाता है। वक्र

के निचले भाग के क्रमशः चौरस होते रहने के कारण समतल मैदान वाला प्रदेश धीरे-धीरे नदी के ऊपर तक फैल जाता है जिससे घाटी वाले प्रदेश का फैलाव घटने लगता है।

घाटी वाला प्रदेश :—नदी के मार्ग के ऊपरी भाग में घर्षण निक्षेपण की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए नदी अपने प्रवाह-मार्ग को गहरा कर देती है और घाटी का निर्माण करती है। यदि नदी ही केवल सम्बद्ध दूत रहती तो घाटी के पार्श्व या दोनों किनारे खड़े होते। लेकिन जिस समय नदी नीचे की ओर काटती रहती है उस समय घाटी के दोनों किनारे वर्षा, तुषार तथा अन्य दूतों के द्वारा कटते रहते हैं जिससे यह (घाटी) V के आकार की हो जाती है। दोनों किनारों का



चित्र १५४—नदी द्वारा घाटियों में परिवर्तन का पार्श्व चित्र।

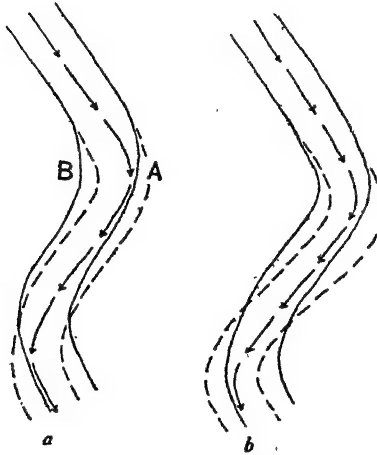
खड़ापन इसके गहरे होने की गति की तुलना में पार्श्विक कटान (lateral wearing) की गति पर निर्भर करती है। यदि वे चट्टानें जिनमें घाटी बनती है, कड़ी तथा प्रतिरोधक (hard and resistant)—अथवा भेदनीय रहें जिसमें थोड़ा ऋतुअपक्षयण (weathering) करते समय वर्षा का जल नीचे चला जाता है, तो इसके (घाटी के) किनारे खड़े होंगे तथा V संकीर्ण होगा। यदि चट्टानें नर्म रहें और सरलता से कट कर नष्ट हो जाती हों तो घाटी चौड़ी तथा खुले V का निर्माण करेंगी। किनारे का खड़ापन भी वर्षा की मात्रा द्वारा प्रभावित होता है। यदि वर्षा बहुत थोड़ी होती हो, तो घाटी के किनारे चट्टानों के अपेक्षाकृत नर्म रहने पर भी खड़े होंगे। इसके विपरीत यदि वर्षा प्रचुर होती हो, तो दोनों किनारों की ढाल धीमी होगी बशर्ते कि चट्टानें काफी प्रतिरोधक न हों (चित्र १५४)।

कोलोरेडो के प्रपाती खड्ड (Colorado Canyon) की दीवारें आंशिक रूप से जलवायु की शुष्कता के कारण ही प्रायः इतनी लम्बवत् हो गयी हैं और स्वयं प्रपाती खड्ड भी इतने संकीर्ण हैं।

समतल मैदान वाला प्रदेश :—अपने मार्ग के निचले भाग में नदी क्रमबद्ध (graded) हो जाती है और अपनी पूरी ताकत अपने बोझ के ढोने (परिवहन) में लगा देती है। फलतः घाटी गहरी नहीं होती है और लम्बवत् घर्षण भी नहीं होता है। लेकिन नदी में तब भी अपने किनारों को काटने की सामर्थ्य रहती है तथा पार्श्विक घर्षण उस अवस्था में भी जारी रहता है। घर्षण संतुलित हो जायगा, अथवा नदी के तल के किसी अन्य भाग में निक्षेपण द्वारा संतुलित होने से भी अधिक हो जायगा जिसके फलस्वरूप नदी का प्रवाह मार्ग खिसक सकता है (प्लेट 11 ab)।

यदि किसी कारण से किनारे का एक भाग शेष भाग की अपेक्षा अधिक सरलता से कट कर नष्ट हो जाता हो, तो नदी का मार्ग थोड़ा-सा वक्र हो जायगा और एक

तीरों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। धारा मोड़ के A के अवतल भाग की ओर उन्मुख की गयी है ; लेकिन तल पर वाली प्रत्यावर्तिनी धारा मोड़ के भीतरी भाग की ओर चलती है। यही धारा (है) तल पर बहने वाले पदार्थ को मोड़ के भीतरी

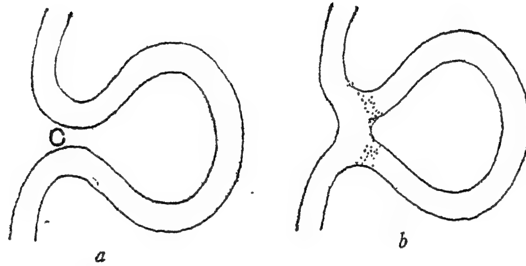


चित्र १५५—मिऐन्डर्स के निर्माण की विभिन्न दशायें।

भाग की ओर ठेल कर ले जाती है जहाँ यह स्थिर हो जाती है। फलतः किनारा A पर कट जायगा और इसके विपरीत B पर निक्षेपण होगा तथा मोड़ और अधिक स्पष्ट हो जायगा जैसा कि भग्न रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। नदी के मार्ग में पाये जाने वाले ऐसे वक्रों को मिऐन्डर (meander) अथवा टेढ़े-मेढ़े रास्ते कहते हैं। वही प्रक्रम तब तक जारी रहेगा जब तक कि मिऐन्डर से चित्र १५६ a के जैसा प्रायः पूरा वृत्त न बन जाय। अन्त में नदी इसके C पर वाले संकीर्ण भाग को काट कर उस पर बहेगी और तब पुनः नदी का मार्ग प्रायः सीधा हो जायगा। पहला मिऐन्डर कुछ समय तक घिरे हुए जल के रूप में रहेगा ; लेकिन इसके प्रवेश द्वारा क्रमशः पंक या बालू से भर जायेंगे (चित्र १५६ b) क्योंकि उसके बाद धारा सब से छोटे मार्ग से हो कर जाती है और मिऐन्डर में जल स्थिर रहता है। परिवेष्टित जल प्रमुख प्रवाह-मार्ग से पूर्ण रूप से कट कर अलग हो जायगा और यह ऐसी झील का निर्माण करेगा जिसे गोखुर की झील (ox-bow lake) कहते हैं। ऐसी झीलें मिसिसिपी नदी के किनारे तथा राइन नदी के मध्य भाग में प्रायः खूब पायी जाती हैं।

मिऐन्डर का अवतल किनारा नदी द्वारा लगातार भीतर की ओर कटता रहता है ; यही कारण है कि यह लम्बवत् हुआ करता है। उतल किनारा स्वयं नदी द्वारा लाए गये निक्षेप से बनता है। फलतः नीचे की ओर जल तक इसकी ढाल धीमी

होती है। चित्र १५७ मिएेन्डर वारली नदी का विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदर्शित करता है।



चित्र १५६—आक्स-बो लेक का निर्माण।



चित्र १५७—मीएेन्डर का पार्श्व चित्र।



चित्र १५८—मैदानी स्थान में नदी निर्मित घाटी का सन्मुख चित्र।

चूँकि समतल मैदान वाले भाग में नदी लगातार पार्श्विक रूप से घर्षण करती रहती है तथा मिएेन्डर बनाती और उन्हें काट कर अलग करती रहती है, इसलिए इसका मार्ग हमेशा बदलता रहता है; मानो यह एक किनारे से दूसरे किनारे तक हटती रहती है और इस प्रकार बहुत ही विस्तृत चौरस भू-भाग का निर्माण करती है। इसके पार्श्विक संचलनों (lateral movements) की सीमाएँ चौड़े तथा समतल भाग के प्रत्येक किनारे उठे हुए स्थल द्वारा बनती हैं जिससे होकर नदी मिएेन्डर बनाती है; इसलिए घाटी का रूप वैसा ही रहता है जैसा चित्र १५८ में प्रदर्शित किया गया है। नदी का प्रवाह-मार्ग समतल भू-भाग के अन्तर्गत बन जाता है। लेकिन चूँकि लम्बवत् घर्षण नहीं होता है, इसलिए यह इर्द-गिर्द के समतल भू-भागों से बहुत थोड़ा ही नीचे रहता है।

बाढ़ के समय जल उठ कर इसके किनारे से ऊपर चला आता है तथा घाटी के समतल भाग के ऊपर फैल जाता है जो तदनुसार प्रायः बाढ़ का समतल मैदान कहलाता है। जब ऐसा होता है तब प्रवाह-मार्ग के अन्दर धारा प्रबल रहती है, लेकिन जलप्लावित क्षेत्र पर यह प्रायः स्थिर रहती है। अधिकांश कीच तो धारा के किनारे पर जमा हो जाती है, क्योंकि वहाँ चाल धीमी पड़ जाती है; इसलिए

प्रवाह-मार्ग के किनारे पर कीच का (बन्ध) किनारा बन जाता है (चित्र १५९)। जब बाढ़ समाप्त हो जाती है तब प्रवाह मार्ग का जल गिर जाता है; जलप्लावित समतल मैदान का कुछ जल तो नदी में चला जाता है और कुछ जमीन के अन्दर घुस जाता है लेकिन प्रवाह-मार्ग के किनारे निक्षेपित कीच वहीं रह जाती है जिससे नदी के किनारे समतल मैदान के स्तर से ऊँचे उठ जाते हैं। अगर नदी अपने मार्ग का उन्नयन (aggrading) करती रहती है तो अपने प्रवाह-मार्ग में (लाये गये पदार्थ) को जमा करना शुरू कर देती है जिससे इसके तल[1] का स्तर ऊँचा हो जाता है।



चित्र १५९—बाढ़ के समय प्राकृतिक बन्धनों (काले रंग से दिखाये गये) का निर्माण।



चित्र १६०—नदी तल का जमाव के द्वारा बाढ़ निर्मित मैदान से भी ऊँचा हो जाना।

फलतः यद्यपि किनारे पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचे रहते हैं, तो भी उनकी ऊँचाई तल से एकदम ज्यादा नहीं हो सकती है और नदी की उमड़ने की सामर्थ्य तनिक भी कम नहीं होगी। अगर ऐसा प्रतिवर्ष हो तो नदी के किनारे पर्याप्त रूप से ऊँचे उठ सकेंगे तथा नदी का तल इर्द-गिर्द के समतल मैदान के स्तर से ऊपर हो जा सकेगा (चित्र १६०)।

प्राकृतिक बन्ध जिन्हें नदी इस तरह अपने लिए बनाती है, कृत्रिम रूप से परिवर्द्धित तथा मजबूत बना देने पर मिसिसिपी तथा अन्य स्थानों में बाँध (levees) कहलाते हैं।

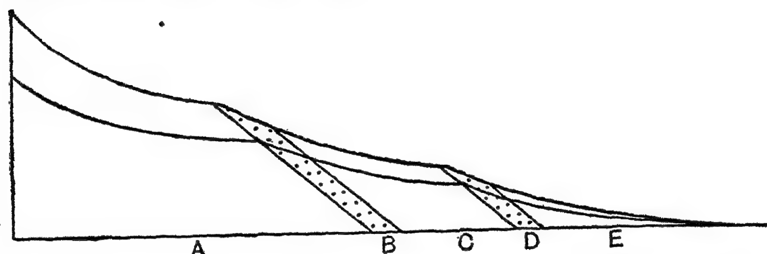
उन नदियों के उदाहरण जिनके स्तर इर्द-गिर्द के प्रदेश से ऊपर उठ गये हैं, बहुत से निम्न स्थित क्षेत्रों में पाए जाते स्हैं। फेन्स को बहुत-सी नदियों का तल इर्द-गिर्द के स्थल से ऊपर उठा हुआ है। अपने मार्ग के निचले भाग में पो नदी लूमबार्डी के समतल मैदान से ऊपर उठी हुई है और सैकड़ों मीलों तक ह्वांगहो नदी का प्रवाह-मार्ग (channel) उस समतल मैदान से ऊपर है जिससे होकर यह बहती है।

लेकिन ऐसी सभी दशाओं में, अब तक प्राकृतिक बन्ध कृत्रिम रूप से मजबूत नहीं बनाए जाते और बराबर उनकी मरम्मत नहीं होती तब तक नदी निश्चित चैनेल के

---

१ उन्नयन डेल्टा के समुद्र की ओर फैलने, समुद्र-स्तर के ऊपर उठने अथवा बोझ में वृद्धि होने के कारण हो सकता है।

अन्दर नहीं रहेगी, बाढ़ के समय में यह हमेशा ऐसी हो जाती है कि यह अपने किनारे को तोड़ देती है, इर्द-गिर्द के क्षेत्र पर फैल जाती है तथा नये मार्ग से बहने के लिए पुराने मार्ग को छोड़ देती है ? ह्वांगहो नदी में ऐसा कई बार हुआ है। एक समय यह पीले सागर में बहती थी, लेकिन सन् १८५२ में इसने अपने किनारे को तोड़ डाला, हजारों वर्ग मील भूमि को जलमग्न कर दिया ; गणना के मुताबिक लगभग दस लाख आदमियों को डुबा दिया और एक नये मार्ग से बह कर पेचिली की खाड़ी (Gulf of Pe-chi-li) में गिरने लगी। इसके पुराने तथा नये मुहाने के बीच की दूरी लगभग ३०० मील है। ऐसे अनेक अवसरों पर ह्वांगहो में इसी प्रकार की बाढ़ आयी और इसने अपना मार्ग वदल दिया।



चित्र १६१—जल द्वारा भू-भाग के क्षरण पर चट्टानों की विभिन्न कठोरता का प्रभाव।

नदी के चैनेल के विकास में कड़ापन के अन्तर के प्रभाव :—जल द्वारा क्षयीकरण के वक्र के विकास के वर्णन में ऐसा अनुमान किया जाता है कि वह ढाल जहाँ से नदी बहना प्रारम्भ करती है, वह सर्वत्र (शुरू से अन्त तक) समान कड़ापन वाली चट्टान से बनी रहती है। अगर, जैसा बहुधा हुआ करता है, इसमें कुछ नर्म (कमजोर) तहें और कुछ कड़ी तहें रहें तो वक्र का रूप परिवर्तित हो जायगा।

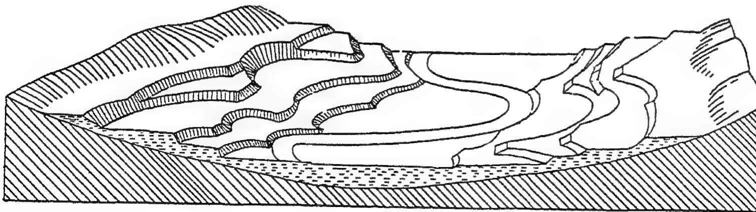
उदाहरणार्थ, ऐसा मान लीजिए कि ढाल की दो तहें तल पर आ जाती हैं जो शेष तहों से अधिक कड़ी रहती हैं (चित्र १६१), नदी जल द्वारा क्षयीकरण का वक्र बनाने की कोशिश करती है, लेकिन B तथा D नामक तहों के कड़ी होने के कारण, शेष तहों की भाँति उनके नर्म (कमजोर) रहने पर जितनी तीव्रता से उन पर घर्षण होता, उसकी अपेक्षा कम तीव्रता से घर्षण होता है और इसलिए वे अस्थायी आधार-स्तर (base level) का काम करती हैं। इसलिए इन तहों के तलागतों (outcrop) पर वक्र बाहर की ओर निकल जाता है और एक साधारण वक्र के बनने के कारण इससे तीन अलग-अलग वक्र वन जाते हैं।

अल्प विषमताओं (inequalities) वाले स्थानों को छोड़ और सभी जगहों में नदी के तल की ढाल का समुद्र की ओर रहना जरूरी है। इसलिए नर्म तह A का क्षयीकरण कड़ी तह B के तलागत (outcrop) के नीचे नहीं हो सकता है। लेकिन चूँकि नर्म चट्टानें अधिक सरलता से कट जाती हैं, इसलिए प्रत्येक कड़ी पट्टी (band) के तलागत से ऊपर नदी की ढाल कम हो जाती है। लेकिन इसके विपरीत कड़ी चट्टान के तलागत के आर-पार वाला ढाँचा अधिक खड़ा होता जाता है। उसके बाद नर्म तहों पर धारा मन्द पड़ जायगी और कड़ी तहों पर जल प्रपात

यदि कोई नदी पुनः युवावस्था को अच्छी तरह प्राप्त हो जाती है तो घर्षण लम्ब-रूप से इतना ज्यादा होने लगता है कि पार्श्विक घर्षण आपेक्षतया गौण हो जा सकता है। ऐसी अवस्था में नदी अपने प्रारम्भिक घुमावों तथा मोड़ों (turns and windings) को ठीक रखते हुए भी अपने प्रवाह-मार्ग (channel) को जमीन में काफी गहरा कर देगी। इस प्रकार रॉस के आगे वी (Wye) की, लैंगोलेन के निकट डी (Dee) की, डरहम के निकट वियर (Wear) की तथा अन्य नदियों में मिऐन्डर वाली गहरी घाटियाँ (deep meandering valleys) बन गयी हैं।

ऐसे मिऐन्डर (meanders) जो चट्टानों में बहुत नीचे तक गये हैं, गहरी घाटी (incised meanders) कहलाते हैं।

मिऐन्डर वाली सीढ़ीदार ढाल :—नदी की छोटी (साधारण) सीढ़ीदार ढालें (small river terraces) मिऐन्डर युक्त नदी के मार्ग के क्रमिक विकास के समय बन सकती हैं। वे प्रायः अस्थायी होती हैं ; लेकिन आवृत्ति (frequency) के कारण (बराबर बनते रहने से) वे प्रायः मिला करती हैं। वे सर्वोपयुक्त दशाएँ जिनसे ये बनती हैं, तब होती हैं जब (१) नदी अपने तल को नीचा ही करती जा रही हो, और (२) बाढ़ वाला समतल मैदान मिऐन्डर की पट्टी की अपेक्षा अधिक चौड़ा हो। दशा (२) का अर्थ यह है कि जब मिऐन्डर बाढ़ वाले समतल मैदान के एक ही तरफ में बढ़ कर चले जाते हैं तो ये इसके (मैदान) दूसरी तरफ नहीं जा पाते। फलतः कुछेक हजार वर्षों में ही चूँकि ये मिऐन्डर धीरे-धीरे नदी के नीचे की ओर बढ़ते जाते हैं जिसके फलस्वरूप बाढ़ वाले समतल मैदान का एक भाग दूसरे की अपेक्षा अधिक गहरा हो जाता है। अन्त में जब मिऐन्डर घाटी को पार कर इसके दूसरी तरफ खिसक कर चले जाते हैं तो नदी बाढ़ वाले समतल मैदान का अधोकर्त्तन करती है जिसके फलस्वरूप सीढ़ीदार ढालों (terraces) का निर्माण होता है। अगर नदी को एक किनारे से खिसक दूसरे किनारे जाने में किसी तरह की बाधा न हो तो सीढ़ीदार ढालें (अस्थायी) थोड़े दिनों तक रहेंगी। लेकिन यदि नदी के इस प्रकार पार्श्विक रूप से एक किनारे से खिसकर दूसरे किनारे जाने में कड़ी तलागत चट्टान (outcrop) से अथवा अन्य किसी प्रकार से बाधा पहुँचाती हो तो सीढ़ीदार ढालों की श्रेणी का विकास हो सकता है (चित्र १६७)। इससे यह निष्कर्ष निकलता



चित्र १६७—घुमावों से बने उत्तल।

है कि नदी साथ ही साथ अवश्य नीचे की ओर काटती रहेगी। इसलिए मिऐन्डर वाली सीढ़ीदार ढालों की श्रेणी के निर्माण के लिए उपयुक्त दशा तब

उपस्थित होती है जब कड़ी तलागत वाली चट्टान पर नदी की घाटी का कोई भाग हिमयुग में नदी द्वारा घिस कर आए हुए पत्थर के गोल टुकड़े की मिट्टी से भर गया हो। इस द्रव्य की फिर से होने वाली खुदाई कड़ी चट्टान वाले तलागत के पास इसकी (नदी की) नीचे की ओर काटने (अधोकर्त्तन) की गति (rate) द्वारा नियन्त्रित होती है जिससे इसके ऊपर दोनों किनारों की ओर खिसक कर जाने वाले मिऐन्डर का निर्माण सरलता से होता है।

नदी-घर्षित मैदान का निर्माण (Peneplanation) :—इस अध्याय में पहले प्रदर्शित किया जा चुका है कि नदी अपने मार्ग के प्रत्येक भाग में अपने प्रवाह-मार्ग (channel) की ढाल को समंजित करने का प्रयत्न करती है जिससे इसकी धारा के वेग में इतनी पर्याप्त शक्ति रहे कि इसमें (नदी में) इसके उस भाग में जो बोझ प्रवेश करता है, उसे ढोकर ले जाने की सामर्थ्य बनी रहे। जब ऐसी दशा उत्पन्न होती है तब घर्षण और निक्षेपण दोनों बराबर होते हैं तथा नदी क्रमबद्ध कहलाती है।

यह सम्भव है कि नदी के मोड़ों के बीच एक ही सीधे भाग में समंजन (adjustment) पूर्ण रूप से हो। लेकिन यदि उस भाग में कुछ भी बोझ आता है तो उसका अर्थ यह होता है कि इसके (मोड़ों के बीच सीधे भाग) ऊपर घर्षण निक्षेपण की अपेक्षा अधिक होता है और वहाँ पर समंजन (adjustment) पूरा नहीं होता। यह विचारने योग्य है कि समयानुसार प्रवाह-मार्ग सर्वत्र क्रमबद्ध हो जा सकता था। ऐसी दशा में घर्षण तथा निक्षेपण सभी जगहों में बराबर होता और प्रवाह-मार्ग के किसी भी भाग से कुछ भी बोझ उससे नीचे वाले भाग में नहीं जाता और नदी किसी भी पदार्थ को नीचे की ओर ढोकर ले जाना बन्द कर देती। लेकिन यह दशा तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती है जब तक नदी का वेग इतना कम नहीं हो जाय कि इसमें अबद्ध कणों को अपने किनारे तथा तल पर खिसका कर (नीचे की ओर) ले जाने की सामर्थ्य न रहे। इस दशा के प्राप्त होने के पहले तक कुछ घर्षण का होते रहना जरूरी है।

बहते हुए जल के साथ भी, यहाँ तक कि जब यह निश्चित जल-प्रवाह-मार्गों के अन्दर घिरा नहीं रहता बल्कि चादर की तरह फैल जाता है, ऐसा ही होता है जैसा कि कभी-कभी तड़ित्-झंझा के समय हुआ करता है।

इसलिए बहता हुआ जल स्थल को तब तक काटता जाता है जब तक कि यह इतनी धीमी ढाल नहीं बना ले जिसके (ढाल) नीचे इसके वेग में [illegible] या घर्षण द्वारा उत्पन्न कणों को ढोने की पर्याप्त सामर्थ्य न रहे। इस ढाल के ऊपर का उभरा हुआ भाग क्षयीकरण द्वारा नष्ट हो जायगा और (इसके विपरीत) इसके नीचे का गड्ढा निक्षेपण द्वारा भर जायगा।

भूसंचलन (earth movements), वर्षा के परिणमन (variations) तथा अन्य कारणों से ऐसी दशा वास्तव में कभी भी उत्पन्न नहीं होती है। लेकिन वर्षा तथा नदियों के द्वारा होने वाले क्षयीकरण के द्वारा करीब-करीब ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती है। वैसी दशा में जमीन की सतह (लगभग) प्राय: समतल सतह हो जायगी जो नदी-घर्षित मैदान (peneplane) कहलाती है। तौभी अपेक्षाकृत अधिक कड़ी चट्टानें जो पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती हैं वे समतल मैदान के बीच पहाड़ियों

के रूप में समुद्र के बीच वाले द्वीपों की भाँति खड़ी रहती हैं। लेकिन समय मिलने पर ये भी कट कर साधारण स्तर के बराबर हो जातीं।

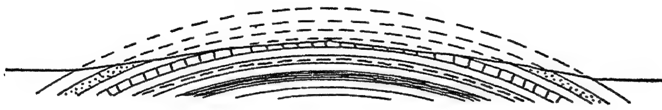
क्रिकमे (Crickmay) का मत है कि बड़े क्षेत्रों के कट कर समतल मैदान के रूप में, प्रायः समुद्र-स्तर के बराबर, परिणत होने की सब से अधिक सम्भाव्य विधि संलग्न नदियों के बाढ़ के समतल मैदानों के चौड़े होकर मिल जाना है।

नवाँ अध्याय

नदी-क्रम का विकास

साधारण सिद्धान्त :—अब तक हमने केवल उन परिवर्तनों पर विचार किया है जो एक नदी द्वारा उसकी घाटी में हुआ करते हैं। लेकिन एक ही ढाल पर कई नदियाँ हो सकती हैं और प्रायः ऐसा होता है कि एक नदी के विकास से दूसरी नदियों का विकास प्रभावित होता है। ये इस प्रकार से उत्पन्न परिवर्तन ही हैं जिनसे अभी हमारा प्रयोजन है।

अगर अनुप्रस्थ पर्तो की एक श्रेणी मेहराब के रूप में मुड़ जाती है जो समुद्र से ऊपर उठ जाता है तो मेहराब के जल से ऊपर होते ही वह तरंगों द्वारा कटने लग जायगा। अगर उन्नयन तथा क्षयीकरण की गति उचित रूप से समंजित रहे तो मेहराब का वक्र समतल हो कर निम्न छत के समान हो जायगा और इसके दोनों तरफ वाले भाग केन्द्रीय जल विभाजक से (थोड़ा-थोड़ा) धीमे रूप से ढालुआँ होते जायँगे। प्रत्येक भाग में तहें उसी दिशा की ओर झुकी रहेंगी जिस दिशा की ओर जमीन की सतह। लेकिन इनके झुकाव का कोण अपेक्षाकृत अधिक रहेगा।

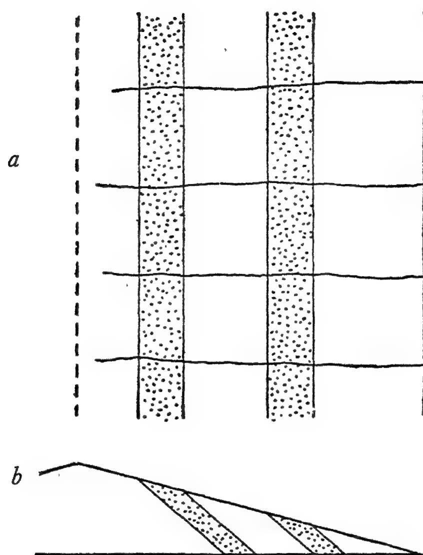


चित्र १६८—एक खनित अपनति।

प्रत्येक ढाल पर नदियों के क्रम का विकास होगा और चूँकि नदियों की दिशा प्रत्यक्ष रूप से उस उन्नयन (uplift) द्वारा निर्धारित होती है जिससे मेहराब बना था, इसलिए उन्नयन पर नदियाँ समानुवर्ती (consequent) कहलाती हैं और इन सबों से समानुवर्ती प्रवाह क्रम (consequent drainage system) बनेगा।

प्रायः स्थल के समुद्र से ऊपर आते ही उस पर नदियाँ बहने लगेंगी; लेकिन उनका विकास किस प्रकार होता है, यह प्रदर्शित करने के लिए यह मान लेना अधिक सरल होगा कि ढाल पूर्णतः नदियों के प्रारम्भ होने के पूर्व ही बन जाती है।

यह मान लीजिए कि पूर्वोक्त नियम के अनुसार जमीन के ऊपर उठने से एक क्षेत्र बनता है जो सीधे जलविभाजक से समुद्र तक सीधे और एक रूप से ढालुआँ होता जाता



चित्र १६९—नदी की अवस्थाओं का निर्माण : प्रारम्भिक अवस्था।
a सन्मुख चित्र, *b* पार्श्व चित्र।

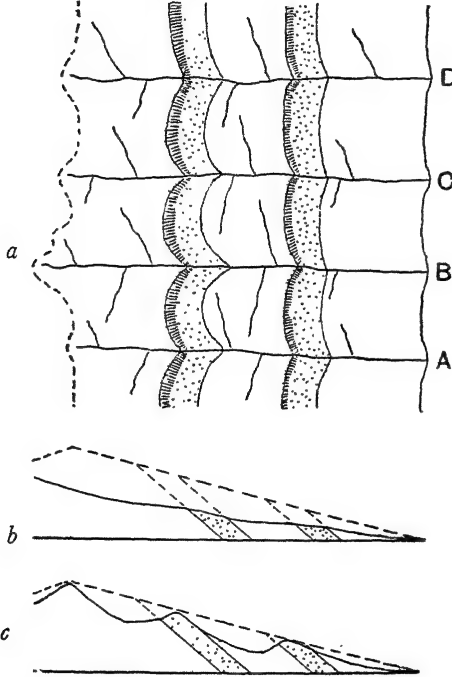
है तथा दो कड़ी तहों के तलागत भाग जलविभाजक के समानान्तर फैले हैं। तहों (की ढाल) भी उसी दिशा में झुकी रहती है जिस दिशा में ढाल रहती है, लेकिन इनके झुकने का कोण अपेक्षाकृत अधिक खड़ा रहता है। चित्र १६९ से ऐसे क्षेत्र का एक नक्शा (plan) तथा एक ढाँचे का प्रदर्शन होता है। सम्प्रति हमारे लिए इस बात पर विचार करने की जरूरत है कि जलविभाजक के दूसरे भाग में क्या होता है।

इस ढाल पर कई समानान्तर नदियाँ उत्पन्न होंगी जो जलविभाजक से सीधे समुद्र तक बहेंगी, ये नदियाँ प्रत्यक्ष रूप से स्थल के उठने के फलस्वरूप बनती हैं; इसलिए ये समानुवर्ती नदियाँ (consequent rivers) कहलाती हैं।

समानुवर्ती नदियों की घाटियों के बनते ही दोनों तरफ से उनमें जल आने लगेगा जिसके फलस्वरूप सहायक नदियाँ बनेंगी जो प्रायः समकोण पर प्रधान नदियों में बहेंगी। इस प्रकार की दिशा यथार्थतः मौलिक ढाल पर रहा करती है; अतः इसका बनना तब तक असम्भव है जब तक समानुवर्ती नदियों की घाटियाँ नहीं बन जातीं। इसलिए सहायक नदियाँ अनुवर्ती नदियाँ (subsequent rivers) कहलाती हैं—क्योंकि ये समानुवर्ती नदियों के उत्पन्न होने के बाद उत्पन्न होती हैं (चित्र १७०)।

समानुवर्ती नदियाँ झुकाव की दिशा में बहती हैं, और इसलिए ये कभी-कभी (अभिनति वाली) झुकाव वाली नदियाँ (dip streams) कहलाती हैं। अनुवर्ती नदियाँ (subsequent rivers) प्रायः करीब-करीब अभिनत्योपरि लम्ब

(strike) की दशा में बहती हैं और इसलिए ये कभी-कभी अभिनत्योपरि लम्ब वाली नदियाँ कहलाती हैं।



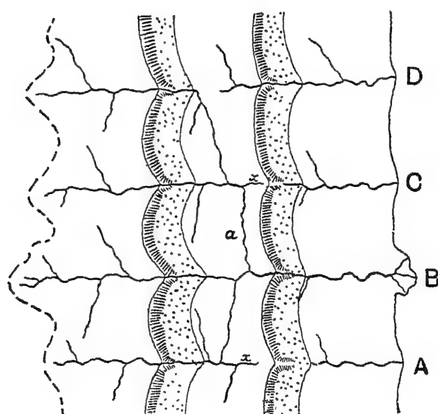
चित्र १७०—नदी की अवस्थाओं का निर्माण : द्वितीय अवस्था।
a सन्मुख चित्र, b एक फलित प्रवाह का पार्श्व चित्र,
c दो फलित प्रवाहों के बीच का पार्श्व चित्र।

चूँकि मुलायम तहों का क्षयीकरण कड़ी तहों की अपेक्षा अधिक सरलता से होता है, इसलिए सहायक नदियों की घाटियाँ मुलायम तहों पर बनेंगी ; और इसलिए अनुवर्ती नदियाँ इन तहों के तलागत भागों पर बहेंगी। समानुवर्ती नदियों के वास्तविक प्रवाह मार्गों (चैनेल) से हट कर कड़ी तहें नदी द्वारा होने वाले क्षयीकरण से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं होंगी ; अतः वे कगारों के रूप (ridges) में खड़ी रहेंगी जिनके ऊपर से अनुवर्ती नदियों की घाटियाँ दिखाई पड़ेंगी। चित्र १७० b में एक समानुवर्ती नदी के चैनेल का ढाँचा दिखाया गया है और चित्र १७० c एक ऐसा ढाँचा है जो एक समानुवर्ती नदी के समानान्तर है, लेकिन यह इसके उपर का ढाँचा नहीं है। कड़ी तह का उभरा हुआ किनारा अन्तःस्थल श्रृंग (escarpment) कहलाता है।

चित्र १७० c से पता चलगा कि चूँकि अनुवर्ती नदी अपनी घाटी को अधिक गहरी करती जाती है, इसलिए कड़ी तह के किनारे के नीचे मुलायम चट्टान की ढाल बनेगी जो धीरे-धीरे अधिक खड़ी होती जायगी। मुलायम चट्टान का (कमजोर) आधार जिस पर कड़ी तह रहती है कमजोर हो जाती है जिससे तह का किनारा बड़े-बड़े टुकड़ों के रूप में टूट जाता है जो (टुकड़े) सामने वाली ढाल पर धीरे-धीरे या तेजी से नीचे खिसकते जाते हैं जिसके फलस्वरूप स्थल श्रृंग पीछे की ओर हटता जाता है।

समानुवर्ती तथा अनुवर्ती—दोनों प्रकार की नदियाँ अपने शीर्षों पर पीछे की ओर स्थल को काटती जायँगी। पहली यानी समानुवर्ती नदियाँ प्रधान जलविभाजक को अन्दर की ओर काटने का काम करेंगी तथा दूसरी यानी अनुवर्ती नदियाँ समानुवर्ती नदियों के बीच के जलविभाजकों को। यदि, जैसा कि प्राय: हुआ करता है, समानुवर्ती नदियों में से एक नदी B अपेक्षाकृत अधिक बड़ी या तेज चलने वाली हो, या समुद्र के अधिक निकट कड़ी तह में इसे दौर्बल्य की रेखा मिलती हो, तो यह अपनी घाटी को काट कर अधिक गहरी बना देगी। इसलिए इसकी सहायक नदियों का पात (fall) अन्य समानुवर्ती नदियों की सहायक नदियों के पात की अपेक्षा अधिक खड़ा होगा तथा उनके शीर्षों पर क्षयीकरण (अपेक्षाकृत) अधिक तेजी से होगा। समयानुसार समीपवर्ती समानुवर्ती नदी की घाटी में पीछे की ओर इनकी घाटियाँ बन जायँगी, तथा दूसरी नदी के ऊपरी भाग का जल अधिक बड़ी नदी B में गिर जायगा (चित्र १७१)। इस प्रक्रम को शिरश्छेदन (beheading) या नदी का अपहरण (river capture) कहते हैं।

अपहृत नदी का निचला भाग जिसमें अपहरण बिन्दु के नीचे इसमें आकर मिलने वाली सहायक नदियों से जल आता है, उसमें एक क्षीण नदी के रूप में जल बहता रहेगा



चित्र १७१—नदी की अवस्थाओं का निर्माण : तृतीय अवस्था।

जैसा कि D में है। फिर भी C और D के शिरोभाग के जल के अपहरण के कारण अनुवर्ती नदी A द्वारा होने वाला क्षयीकरण तेज होता जाता है जो बहुत पहले ही

ही जिस मुलायम (चट्टान वाली) तह में यह बहती है, उसके स्तर को काट कर इतना नीचा कर देगी कि अन्तःस्थल शृंग का जो भाग इसकी ओर रहता है, उसका सम्पूर्ण जल बह कर इसमें चला आएगा। चित्र में A और C नदियों में यह बात पहले ही घट चुकी है। शैलानुसारी नदियाँ (obsequent streams) अथवा वे नदियाँ जो समानुवर्ती नदियों की विपरीत दिशा में बहती हैं x, x, में उत्पन्न हुई हैं जो अपहृत नदियों की प्रारम्भिक घाटियों में हैं। A और C के निचले भाग अब अन्तःस्थल शृंग के दूसरी तरफ से प्रारम्भ होते हैं; और वे दरारें जिनसे हो कर ये नदियाँ प्रारम्भ में बहती थीं, सूख जाती हैं जिनसे वात-दरारें (wind-gaps) बनती हैं। A और C नामक क्षीण नदियों की घाटियाँ जल के अपेक्षाकृत अधिक बहाव के लिए बनी थीं। अब ये अपनी इन वर्तमान नदियों के लिए अत्यधिक बड़ी मालूम पड़ती हैं और इसी लिए ये प्रायः मिसफिट (misfits) कहलाती हैं।

यदि भूसंचलनों या अन्य कारणों से इसमें बाधा उपस्थित न हो तो सब से बड़ी वास्तविक समानुवर्ती नदी एक-एक करके शेष सभी समानुवर्ती नदियों के ऊपरी भागों के जल को अपहृत कर ले सकती है। जिन सहायक नदियों के द्वारा अपहरण का कार्य होता है, वे उस वास्तविक समानुवर्ती नदी से जिसमें ये गिरती हैं बहुत बड़ी हो सकती हैं; और समानुवर्ती नदी नीचे तुलना की दृष्टि से सहायक नदियों के संगम तक प्रायः नगण्य नदी के रूप में परिवर्तित हो जा सकती है।

एक समानुवर्ती नदी प्रमुख जल-विभाजक के दूसरी तरफ से बहने वाली नदी के ऊपरी भाग के जल को भी अपहृत कर ले सकती है। यदि जल-विभाजक के दोनों तरफ की ढालें असमान हों तो अधिक खड़े भाग पर बहने वाली नदियों के शीर्ष भाग में क्षयीकरण अधिक तेजी से होगा। इस भाग में घाटियाँ धीरे-धीरे जलविभाजक को काट कर अपना रास्ता पीछे की ओर बनाती जायँगी और समयानुसार अधिक धीमी ढाल पर बहने वाली नदी के ऊपरी भाग के जल को अपनी ओर खींच लेंगी।

नॉर्थम्बरलैंड की नदियाँ :—नॉर्थम्बरलैंड की नदियाँ उक्त रीति से विकसित होने वाले नदी-क्रम का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करती हैं।

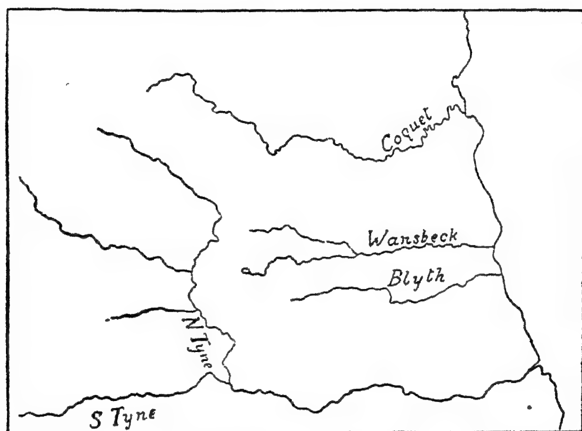
(इसके) पश्चिम में शिवियॉट तथा पेनाइन (Cheviots and Pennines) पर्वत श्रेणियाँ हैं जिनसे उत्तर सागर तथा आयरिश सागर के बीच का जलविभाजक बनता है। जलविभाजक से पूर्व की ओर साधारण ढाल है। इसी ढाल पर कॉकुयेट, वैन्सबेक, ब्लाइथ और टाइन नामक नदियाँ बहती हैं। कॉकुयेट तथा टाइन की शाखा, जो द० टाइन के नाम से मशहूर हैं, जलविभाजक के निकट उत्पन्न होती हैं और सीधे समुद्र की ओर बहती हैं। लेकिन वैन्सबेक तथा ब्लाइथ के उद्गम साधारण ढाल के बीच में हैं।

टाइन में एक सहायक नदी उत्तर से आ कर मिलती है जो उत्तरी टाइन कहलाती है और इसके पश्चिमी भाग में उत्तरी टाइन में सहायक नदियाँ सीधे जलविभाजक से आ कर मिलती हैं। इनमें से एक सहायक नदी, यदि इसका बहना जारी रहे तो इसका मार्ग वैन्सबेक में प्रवेश कर जाता और दूसरी ब्लाइथ में बहती।

प्रारम्भ में चार नदियाँ, कॉकुयेट, वैन्सबेक, ब्लाइथ और टाइन सम्भवतः जल-विभाजक से सीधे समुद्र की ओर बहती थीं। टाइन इन नदियों में सब से बड़ी थी। इसकी सहायक नदी उत्तरी टाइन पीछे की ओर तब तक काटती गयी जब तक इसने

ब्लाइथ और वैन्सबेक के शीर्ष भाग के जल को अपहृत नहीं कर लिया। फिर भी यह अभी तक कॉकुयेट तक नहीं पहुँच सकी। लेकिन कालान्तर में इस नदी का भी शीर्ष भाग कट जा सकता है।

हम्बर :—हम्बर वास्तव में आयर नदी का मुहाना है। लेकिन उत्तर में ऑसे (Ouse) तथा दक्षिण में ट्रेन्ट (Trent)—ये दोनों सहायक नदियाँ आयर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं।



चित्र १७२—नार्थम्बरलैण्ड की नदियाँ।

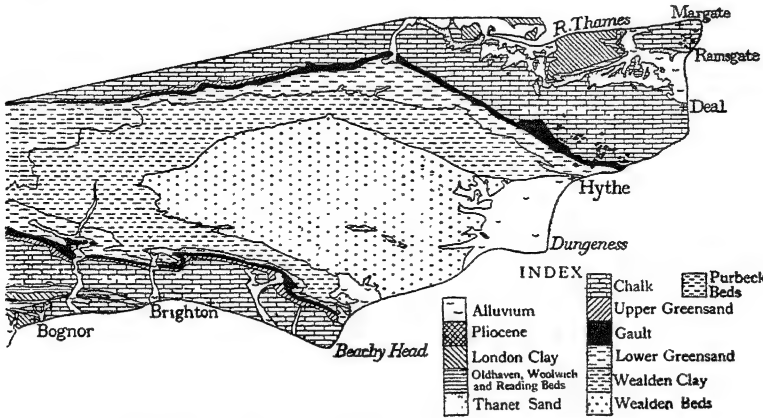
पेनाइन चेन पर्वत श्रेणी इसके पश्चिम में है जहाँ पूर्व की ओर धीमी ढाल है। बहुत-सी नदियाँ पेनाइन पर्वत में जलविभाजक के निकट उत्पन्न होतीं तथा पूर्व की ओर बहने लगती हैं; लेकिन केवल आयर ही ऐसी नदी है जो समुद्र तक बहती है। कैल्डर नदी आयर में आ कर मिल जाती है और शेष नदियाँ ऑसे या ट्रेन्ट में मिल जाती हैं तथा उनका जल वास्तविक दिशा से दूसरी ओर मुड़ जाता है।

प्रारम्भ में वहाँ पर बहुत-सी समानुवर्ती नदियाँ थीं जो पेनाइन पर्वत से सीधे उत्तर सागर में जा कर गिरती थीं। आयर उन्हीं में से एक नदी थी। इसकी सहायक नदियाँ—उत्तर में ऑसे तथा दक्षिण में ट्रेन्ट—ये दोनों चट्टान की मुलायम पट्टी से हो कर बहती थीं। ये नदियाँ पीछे की ओर काटती गयीं और अन्त में इन्होंने अन्य समानुवर्ती नदियों के शीर्ष भाग के जल को अपहृत कर लिया।

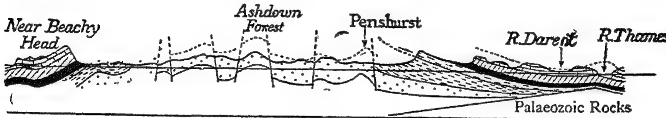
नॉर्थम्बरलैंड में सरकटी नदियों (beheaded streams) के पहले वाली प्रसरण (continuations) का पता लगाना सरल है, लेकिन यॉर्कशायर तथा लिंकॉन-शायर में ऐसा करना अधिक कठिन है। फिर यॉर्कशायर में एक बड़ी घाटी है जो पिकरिंग नदी की घाटी है। इसे देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि यह स्वाले तथा यूरे (Swale and Ure) की उस समय में घाटी रही हो जिस समय ये नदियाँ सीधे समुद्र में जा कर गिरती थीं। वर्तमान समय की विथम (Witham) नदी सम्भवतः

दक्षिण की वास्तविक समानुवर्ती नदियों में किसी एक नदी का प्रसरण (continuation) ही है। अब यह निम्न भूमि से निकलती और लिंकॉन के किनारे की एक दरार से हो कर बहती है। ऐसा कहा जाता है बाढ़ के समय ट्रेन्ट नदी के ऊपरी भाग का कुछ जल अभी भी बह कर विथम में चला जाता है।

वेल्ड (Weald) **की नदियाँ :**—वेल्ड (चित्र १७३ a) उत्तरी डाउन्स और दक्षिणी डाउन्स (North Downs, South Downs) के बीच अवस्थित है।



चित्र १७३ (a)—वील्ड (weald) का भूतत्वीय नक्शा (F. H. Edmunds ब्रिटिश रीजनल जियालजी से)।



चित्र १७३ (b)—वील्ड का सम्मुख चित्र।

डाउन्स तथा सेलिसबरी के समतल के मैदान दोनों खड़िया (पत्थर) के तलागत भाग से बने हैं। यह भाग अपेक्षाकृत अधिक कड़ा है; अतः इससे उच्च भूमि बनी है। इस पर एक अन्तःस्थल शृंग है। इस उच्च भूमि के ऊपर से वेल्ड दिखाई पड़ता है। खड़िया (पत्थर) में कड़ापन से अधिक महत्वपूर्ण गुण यह है कि यह सतह के जल को अपने अन्दर से टपक कर नीचे जाने देती है जिससे सतह पर वाली नदियों के द्वारा होने वाले क्षयीकरण से मुक्त रह जाती है।

वेल्ड के बीच में एक ऊँचा क्षेत्र है जो बालू पत्थरों की श्रेणी से बना है। दराजों के कारण ये बालू पत्थर बहुत अधिक टूट-फूट गये हैं। इस उच्च क्षेत्र तथा खड़िया के अन्तःस्थल शृंग के बीच एक विस्तृत (अवनमन) गड्ढा है जो हरित बालू (Green) वाले अन्तःस्थल शृंग से दो भागों में बँटा है। नक्शे में यह गड्ढा U के आकार का

है। इसमें U का मोड़ पश्चिम तरफ वाली खड़िया के सामने अवस्थित है और U का खुला हुआ छोर समुद्र के सामने। यह गड्ढा मिट्टी (clay) वाली तहों में बना है।

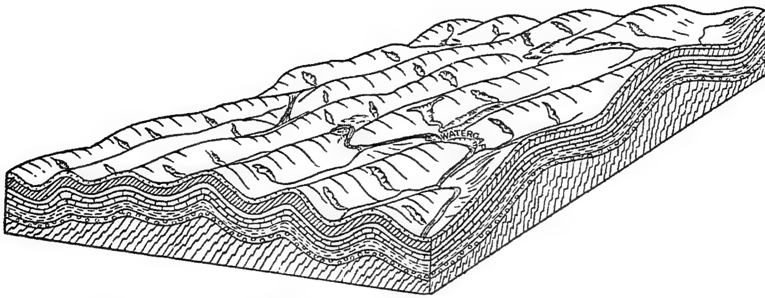
कुछेक नदियाँ तो उच्च स्थल के केन्द्रीय क्षेत्र से निकलती हैं और कुछ गड्ढे से। लेकिन प्राय: सभी नदियों ने अपनी घाटियाँ डाउन्स से हो कर ही बनायी हैं यद्यपि कि डाउन्स नदियों के उद्‌गम स्थान से अधिक ऊँचे हैं।

प्रथमत: दृष्टिपात करने पर यह समझना कठिन है कि एक नदी किस प्रकार उन पहाड़ियों को काट कर अपने लिए रास्ता बना सकती है जो इसके उद्‌गम स्थान से अधिक ऊँचे हैं। लेकिन यह कठिनाई भूतात्विक बनावट (Geological structure) के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। चित्र १७३b वेल्ड के ऊपर का उत्तर से दक्षिण तक का ढाँचा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि (चट्टानी) तहें जटिल मेहराब या लम्बे गुम्बज (dome) के रूप में हैं। नदियाँ मेहराव के शीर्ष के निकट से निकल उत्तर तथा दक्षिण की ओर बहने लगीं। धीरे-धीरे नदियाँ तथा इनकी सहायक नदियाँ केन्द्रीय क्षेत्र से अधिक ऊँची तहों को काट कर बहा ले गयीं जिससे नीचे की तहें दृष्टिगोचर होन लगीं। कालान्तर में समानुवर्ती नदियों की संख्या संभवत: बहुत कम हो गयी जिसके फलस्वरूप अनुवर्ती नदियों का विकास खूब हुआ। उस क्षेत्र के प्राय: नदी-घर्षित मैदान में परिवर्तित होने के पूर्व तक क्षयीकरण का काम जारी रहता है।

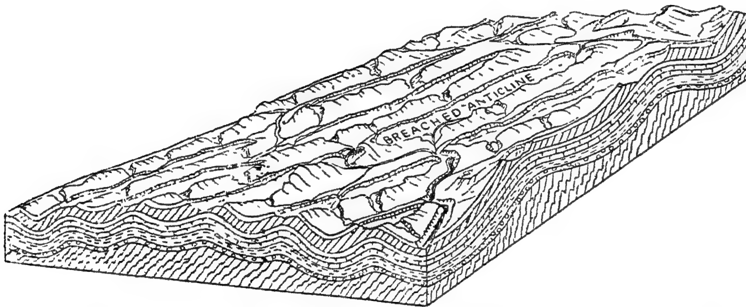
इस अवस्था में उस क्षेत्र के उत्तरी भागों के अति नूतन युग के समुद्र (Pliocene sea) के नीचे डूबने के कारण अभिलेख (record) में बाधा पड़ गयी। इसकी सतह तरंगों के कार्य के फलस्वरूप कट गयी और वहाँ पर बालू तथा अष्ठीलों की एक पतली परत पड़ गयी। यह समुद्र के केन्द्रीय भागों पर नहीं फैला था और इसके आक्रमण से स्थलाकृति के विकास के साधारण मार्ग में मुश्किल से कोई असर पड़ता है।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सम्पूर्ण क्षेत्र करीब ६०० से ले कर ८०० फुट तक ऊँचा उठ गया था। इस उन्नयन का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि नदियों के पुराने मार्गों में फिर से कटाव हुआ तथा अन्त:स्थल शृंगों का पुन: निर्माण हुआ। कुछ नदी का अपहरण हुआ ; अधिक मुलायम तहें कट कर निम्न स्थली बन गयीं, लेकिन अन्त:स्थल शृंग प्रधानतया खड़े हैं। तो भी क्षयीकरण के चक्र को अभी भी एक लम्बा रास्ता तय करना बाकी रह गया है।

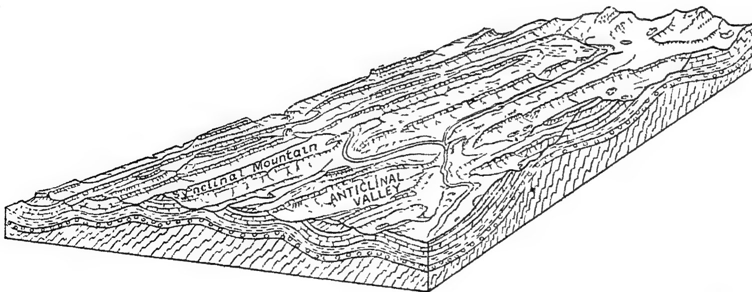
समानान्तर मोड़ों पर वाला प्रवाह-क्रम :—यदि समानान्तर मोड़ों के द्वारा प्रवाह-क्रम प्रारम्भ हुआ हो, जैसा कि जूरा पर्वत तथा अपालाचियन पर्वत में हुआ है, तो वहाँ पर प्रारम्भ से दो प्रकार की समानुवर्ती नदियाँ रहती हैं। सामान्य समानुवर्ती नदियाँ मोड़ों के दोनों ओर नीचे की ओर बहती हैं और उन अनुदैर्घ्य (longitudinal) समानुवर्ती नदियों में जा मिलती हैं, जो द्रोणियों के अक्षों (axes of synclines) का अनुसरण करती हैं। प्रत्येक निचला मोड़ धीमे रूप से ढालुआँ होगा या एक दिशा में झुकेगा और प्रारम्भिक नदियाँ इसी दिशा का अनुसरण करेंगी। इसलिए ये नमन नदी (dip stream) का एक रूप रहती हैं यद्यपि कि ऐसा भी हो सकता है कि नीचे वाली तहों का नमन (dip) उतना खड़ा न हो जितना खड़ा सामान्य समानुवर्ती



चित्र १७४—समानान्तर मोड़ों पर वहाव पद्धति का प्रारम्भ (Von Engeln से)।



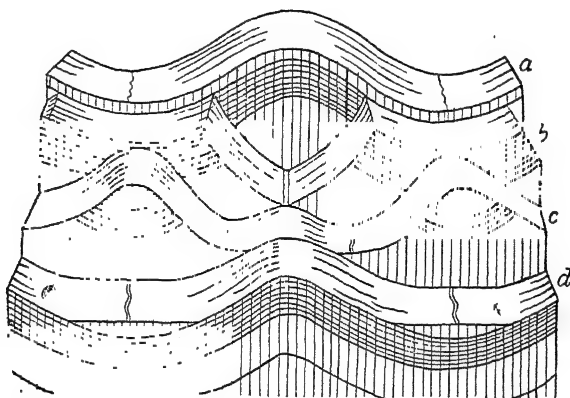
चित्र १७५—समानान्तर मोड़ों पर वहाव पद्धति के विकास की मध्य अवस्था (Von Engeln से)।



चित्र १७६—समानान्तर मोड़ों पर बहाव पद्धति के विकास की उच्च अवस्था (Von Engeln से)।

नदी के नीचे की तहों का नमन। उसके बाद प्रवाह-क्रम का विकास बहुत अंशों में वैसा ही होता है जसा केवल एक ही अपनति (anticline) के अक्ष (anticlinal axis) पर हुआ करता है जैसा कि चित्र १७४ में संक्षेप में प्रदर्शित किया गया है। नदियों की घाटियों को पृथक् करने वाले विभाजकों की प्रकृति नमन (dip) तथा साथ ही विभिन्न परतों के कड़ापन पर निर्भर करती है।

जब अभिनतियों (synclines) के तल समुद्र-स्तर से ऊँचे रहते हों या जब चक्र में नदी-घर्षित मैदान के निर्माण के द्वारा बाधा पहुँची हो जिसके बाद उस भूभाग का दूसरी बार उन्नयन हुआ हो तो प्रवाह-क्रम अपेक्षाकृत अधिक लम्बा तथा जटिल इतिहास हो सकता है। सवप्रथम अपनतियाँ क्षयीकरण के द्वारा कट कर अभिनतियों के स्तर के बराबर हो जाती हैं (चित्र १७५ देखिए)। तत्पश्चात् दूसरी बार होने वाले उन्नयन के बाद या नदी-अपहरण के फलस्वरूप क्षयीकरण का एक नया चक्र



चित्र १७७—अ—फलित; ब और स—उसके साथ;
और ड, इनसे बाद की बहाव पद्धति।

प्रारम्भ होता है। इस बार घाटियों का विकास सम्भवतः अपनतियों के अक्षों पर होता है। चूँकि अपनतियों के ऊपर मोड़ पड़ने के द्वारा चट्टानें स्थायी रूप से कमजोर हो जाती हैं; इसलिए इससे चट्टानों के ऋतु अपक्षयण के द्वारा टूटने-फूटने में मदद मिलती है। इस प्रकार पुरानी अपनतियों में घाटियाँ बनेंगी तथा अभिनतियाँ कगारों के रूप में छूट जायँगी। अपनति वाली घाटियों तथा अभिनति वाले पर्वतों का विन्यास अपालाचियन जैसे अत्यधिक पुराने मोड़दार पर्वतों में सब से अधिक मिलता है। जिन तहों से स्नोडन पर्वत का शिखर बना है, वे भी अभिनति में ही अवस्थित हैं।

इस अवस्था में, यदि एक बहुत ही कड़ी तह दृष्टिगोचर होती है, तो यह क्षयीकरण को अवरुद्ध कर देती है। उस अवधि के बाद जिसमें नदी-घर्षित मैदान के निर्माण के द्वारा बाधा पहुँचती है, या अपहरण जैसे किसी दूत के द्वारा नदी के ढाँचा में परिवर्तन होने के बाद ऐसा हो सकता था कि नदियाँ पुनः अभिनतियों में बहने लगें (चित्र १७७)।

इस प्रकार के ढाँचा वाला प्रवाह पुनर्समानुवर्ती अथवा स्वभावोद्भूत नवीन प्रवाह (resequent drainage) कहला सकता था।

पूर्ववर्ती प्रवाह :—पूर्वोक्त दशाओं में नदी-क्रम या प्रवाह-क्रम प्रधानतः उन भू-संचलनों के फलस्वरूप हुआ करता है जिनके कारण सतह तथा तहोंमें झुकाव उत्पन्न होता है। इसलिए यह समानुवर्ती प्रवाह कहलाता है, और इस प्रकार के प्रवाह में नदियों की दिशा भूतात्विक संरचना से अत्यधिक सम्बद्ध रहती है।

लेकिन ऐसा हो सकता है कि भू-संचलन प्रवाह-क्रम के स्थापित हो जाने के बाद उत्पन्न होते हों, और भू-संचलन इतना धीरे-धीरे उत्पन्न होते हों कि क्षयीकरण उन्नयन के बराबर या उससे अधिक तेजी से होता हो, तो नदियाँ अपने प्रारम्भिक मार्ग बनाए रख सकती हैं तथा कालान्तर में भू-संचलनों के द्वारा विकसित भूतात्विक संरचनाओं के साथ इनका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर न हो सके। इस प्रकार के प्रवाह को पूर्ववर्ती प्रवाह कहते ह।

उदाहरणार्थ, यदि एक अपनति नदी की रेखा पर उठी हो, लेकिन यह इतना धीरे-धीरे उठी हो कि नदी अपने तल को उतनी तेज गति से काटती है जिस गति से अपनति उठता है, तो नदी की दिशा अपरिवर्तित रहेगी और यह अपनति द्वारा निर्मित कगार से हो कर बहेगी।

ऐसा बतलाया गया है कि इसी कारण सिन्धु और ब्रह्मपुत्र—दोनों नदियाँ हिमालय की श्रृंखलाओं को काट कर बहती हैं। ये नदियाँ श्रृंखला के उठने के पूर्व भी रही होंगी और ये साधारणतया अपने प्रारम्भिक मार्गों (को बनाए रख सकी हैं) से बहती आयी हैं। लेकिन इसकी दूसरी व्याख्या भी सम्भव है। ऐसा हो सकता है कि ये पर्वतों के ऊँचे उठने के बाद दक्षिणी ढालों पर उत्पन्न हुई हों और पृष्ठ ३२७ पर वर्णित रीति से जलविभाजक को काट कर अपना रास्ता बनाया हो।

अरुण नदी में हिमालय पर्वत के उत्तरी भाग तथा नेपाल-तिब्बत के जलविभाजक के दक्षिणी भाग—दोनों से जल एकत्रित हो कर आता है। गोसाईंथान से निकल कर जो हिमालय की एक २६,२९१ फुट ऊँची चोटी है, यह करीब १५० मील तक द्रोणी वाली घाटी (synclinal valley) में बहती है और उसके बाद यह एकाएक दक्षिण की ओर मुड़ कर माउण्ट एवरेस्ट तथा कंचनजंगा पर्वत के बीच से पत्थरों को काट अपना मार्ग बनाती हुई सुन्दर गहरी घाटियों की श्रेणी से हो कर बहती है। एक दृष्टिकोण के मुताबिक प्रारम्भिक अवस्था में हिमालय में साधारण समानुवर्ती प्रवाह (consequent drainage) था और नदियाँ शीर्ष से उत्तर-दक्षिण की ओर बहती थीं। अधिक खड़ी प्रवणता तथा अधिक प्रचण्ड वृष्टि के कारण दक्षिण की ओर बहने वाली क्षयीकरण की अधिक शक्ति रखने वाली नदियों ने प्रधान जलविभाजक को काट कर अपने स्त्रोत वाले स्थानों को काट कर पीछे खिसका दिया है तथा तिब्बत की तरफ वाली नदियों को अपहृत कर लिया है। दूसरा दृष्टिकोण भी है जो अधिक व्यापक रूप से माना जाता है। इसके मुताबिक अरुण और उसके सदृश अन्य छोटी-छोटी नदियों के स्रोत एक समय प्रधान हिमालय पर्वत श्रेणी के उस पार थे जिस समय मूल हिमालय के पठार का ढाल दक्षिण की ओर थी। पर्वत का ऊपर की ओर बढ़ना एक मंद प्रक्रम था और नदियाँ अपनी प्रवणताओं के बढ़ने (उन्नयन) से पुनर्युवावस्था को प्राप्त कर गयीं और अपनी घाटियों को नीचे की ओर काटती गयीं जिससे दोनों

प्रक्रम साथ-साथ काम करते गये जिसके फलस्वरूप नदियों के आर-पार उच्च हिमालय पर्वत श्रेणी का निर्माण हुआ ।

अरुण की सब से ऊँची गहरी घाटी १७६८७ फुट ऊँचे यो री (Yo Ri) पर्वत के पार्श्व पर बनी है । जिस पर्वत श्रेणी पर यो री अवस्थित है, वह संरचना की दृष्टि से एक अपनति थी जिससे ऊपर की ओर उभरे हुए भाग का निर्माण हुआ था, जिस पर प्रवाह स्थापित हुआ । वेजर के मुताबिक अरुण एक समय उन परतों की मोटी तह (thick cover of strata) पर बहती थी जो क्षयीकरण के द्वारा नष्ट हो गयी हैं, लेकिन यो री को कड़ी नीस नामक चट्टानों ने इस पर्वत को अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने की क्षमता प्रदान की थी । गहरे खड्ड के ऊपर नदियाँ सर्वप्रथम पूर्व हिम्य काल के कंकड़ों (से निर्मित स्थल पर) पर बहती हैं लेकिन गहरे खड्ड में प्रवेश करने के पहले यह कंकड़ों को अधिक गहराई तक काट देती है ।

अरुण का प्रधान गहरा खड्ड या गॉर्ज यो री के गहरे खड्ड से करीब ११ मील नीचे ही शुरू होता है । यहाँ पर नदी कंकड़ के ऊँचे पुश्ते के बीच से हो कर बहती है । इन सबों से नदी के मार्ग में स्थल के उन्नयन का संकेत मिलता है ।

और पूरब बढ़ कर सिक्कम में तिस्ता की घाटी इसका दूसरा उदाहरण है । गहरे खड्डों के नीचे इन दोनों घाटियों के हिस्से क्रमबद्ध हो गये हैं लेकिन गहरे खड्डों के ऊपर उनकी रूपरेखाएँ घाटी के हिमालय वाले भाग में हिमालय के सम्पूर्ण क्षेत्र में साधारण उन्नयन के साथ-साथ उन्नयन होने के कारण उतल हैं । तिस्ता का तिब्बत वाला भाग छोटा है, लेकिन कंचनजंगा के पूर्व यह नदी लम्बी गहरी घाटी से हो कर बहती है ।

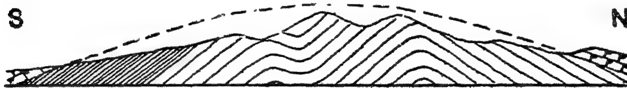
पूर्व आरोपित प्रवाह (superimposed drainage) :—एक और दूसरी विधि है जिसके द्वारा जिस प्रदेश से हो कर नदियाँ बहती हैं, उसकी भूतात्विक संरचना के साथ उनकी दिशा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता । नदियों के मार्ग उस भाग के उठने (उन्नयन) के फलस्वरूप निर्धारित हो सकते तथा सामान्य (प्रचलित) रीति के अनुसार सम्बद्ध किये जा सकते हैं । लेकिन कालान्तर में वे नोचे की ओर काटते हुए अपनी घाटियाँ प्राचीन श्रेणी की चट्टानों में बना लेती हैं । ये चट्टानें पहले के मोड़ों के बनने के उस क्रम से प्रभावित हुई हैं जिनका आगे चल कर होनेवाले संचलनों (भूगतियों) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है जिनके फलस्वरूप नदियों की उत्पत्ति हुई है ।

यह बात लेक डिस्ट्रिक्ट में पायी जाती है । जिन पुरानी चट्टानों से उस क्षेत्र का अधिक भाग बना है, उनसे मोड़ों की श्रेणी बन गयी है ; ये मोड़ पूर्व-उत्तर-पूर्व से पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम दिशा में फैले हैं । इनमें सब से पुरानी चट्टानें उस क्षेत्र के उत्तरी भाग में दिखाई पड़ती हैं । नदियाँ लेक डिस्ट्रिक्ट के बिचले भाग के निकट से निकलती हैं, और बाहर की ओर सभी दिशाओं में फैलती हैं । ये नदियाँ जिन तहों पर से हो कर बहती हैं, उनके विन्यास के साथ इनके बहाव का कोई सम्बन्ध नहीं है । लेकिन लेक डिस्ट्रिक्ट की अधिक पुरानी चट्टानें पूर्णरूप से (अपेक्षाकृत अधिक) नवीनतर तहों की मुंदरियों से घिरी हैं । प्रारम्भ में सम्पूर्ण क्षेत्र इन नवीनतर तहों से ढँका था जिससे एक गुंबज बना था जिसका केन्द्र हेलवेलिन (Helvellyn) की वर्तमान स्थिति (चित्र १७८) के पास था । नदियाँ गुम्बज के शिखर के निकट से उत्पन्न हो कर चारों (सभी) दिशाओं में बहने लगीं । क्षयीकरण के फलस्वरूप नवीनतर

तहें कट कर धीरे-धीरे नष्ट होती गयी हैं जिससे उनके नीचे की अधिक पुरानी मोड़दार चट्टानें अनावृत हो गयी हैं। नदियों के मार्ग, जिन नवीनतर तहों पर ये बहने लगी थीं, उनके गुम्बजाकार रूप से निर्धारित हुए थे ; और चूँकि वे नीचे की ओर काट कर अपनी घाटियाँ बनाती गयीं, इसलिए साधारणतः जिन चट्टानों को काट कर ये नदियाँ अपनी घाटियाँ बनाती हैं, उनकी संरचना भिन्न रहने पर भी, ये अपनी प्रारम्भिक दिशाओं में बहती रही ह।

इस प्रकार का प्रवाह-क्रम पूर्व आरोपित अथवा परिवर्द्धित (superimposed or superinduced) प्रवाह-क्रम कहलाता है। जिन चट्टानों से यह क्षेत्र बना है, उनके द्वारा इस पर आरोपित नहीं हुआ है, वल्कि उन नवीनतर तहों द्वारा आरोपित हुई हैं जो एक समय उन पर फैली थीं।

सोन का जल-विज्ञान (hydrography) विचित्र ढंग का है जिसके वर्णन में ओल्धम (Oldham) ने लिखा है कि यह ऐसा इसलिए है कि इसकी घाटी वर्तमान भूम्याकृति पर अध्यारोपित है। मध्य भारतीय (समुद्र की ओर उभरे हुए स्थल) आगे वाले



चित्र १७८—लेक डिस्ट्रिक्ट का सम्मुख चित्र
भग्न रेखा उन सतहों का तल दर्शाती है जो कभी पूरे जिले भर थे, पर अब केवल दो ओर ही रह गये हैं।

क्षेत्र (Indian foreland) में सोन एक अभिनति लम्ब वाली घाटी (strike-valley) में बहती है जो कैमूर पर्वत श्रेणी के दक्षिणी अन्तःस्थल श्रृंग के निकट है तथा समानान्तर है। यह (सोन) अमरकंटक के पठार से निकलने के बाद कैमूर पर्वत श्रेणी तक उत्तर-पश्चिम की ओर बहती है और वहाँ से एकाएक उत्तर-पूर्व की ओर मुड़ जाती है। करीब अपनी ३०० मील की सम्पूर्ण लम्बाई तथा नर्वदा की घाटी वाले आगे तक फैले भाग तक कैमूर पर्वत श्रेणी उत्तर की ओर बहने वाली नदी द्वारा कटी नहीं है और साथ ही छोटे-छोटे अपवादों (minor exceptions) को छोड़ कर उत्तर से आकर सोन में मिलने वाली किसी नदी से कटी है। इसलिए सोन में उत्तर से कोई सहायक नदी आ कर नहीं मिलती है, लेकिन इसके विपरीत इसमें बहुत-सी सहायक नदियाँ १०० मील से अधिक दूर तक बहने के बाद आकर मिलती हैं। इस प्रकार सोन का प्रवाह-क्रम एक तरफ वाला है जो इतने बड़े आकार वाली नदियों में अपवाद के रूप में है। देवालाद (२४° १२′ ; ८१° २०′) के पास इसके दक्षिण की ओर मुड़ने तथा क्वार्जाइट चट्टान के उन्नत कगार के आर-पार गहरे और संकीर्ण (दरार) कन्दरा (gap) से हो कर दो बार बहने का कारण यह है कि इसका मार्ग ऐसे समय में निर्धारित हुआ था जब कि कगार नहीं था। एक बार जब नदी का मार्ग निश्चित हो गया तो यह नीचे जमीन काट कर अपना रास्ता

बनाने तथा उस कगार में दो कन्दराएँ बनाने को बाध्य हुई जो दोनों ओर से मुलायम चट्टान के कट कर हट जाने के कारण कगार के रूप में परिणत हो गया। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि सोन का मार्ग ऐसे समय में निश्चित हुआ था जब कि जिन वर्तमान दशाओं पर उनकी धरातलीय आकृति निर्भर करती है, उनसे भिन्न दशाओं द्वारा धरातलीय आकृति निर्धारित हुई थी और इसलिए यह नदी वर्तमान धरातलीय आकृतियों पर पूर्व आरोपित हो गयी है।

सोन का साधारण पूर्व से पश्चिम तरफ का मार्ग अवश्य ही उन्नयन के अन्तिम जबर्दस्त संचलन के द्वारा निर्धारित हुआ है जिससे कैमूर के अन्तःस्थल शृंगों का निर्माण हुआ जब कि उच्चावयन (relief) निम्न था और नदी विन्ध्य पर्वत की मुलायम निचली शेल्स (shales) पर से हो कर बहती थी। स्वयं कैमूर के अन्तःस्थल शृंगों का भी निर्माण इन्हीं अधिकतर नर्म तहों के हटने तथा अवर विन्ध्य युगीन बालू के पत्थरों के बाहर निकल कर खड़े होने के कारण हुआ है। सोन में प्रवाह का केन्द्रण उत्तर की ओर बहने वाली उन नदियों के कारण हुआ जो अपेक्षाकृत अधिक मुलायम शेल्स से निर्मित जल-विभाजक को पीछे की ओर काटती जाती और सोन में बहती थी।

वर्तमान विराम की अवधि है। लेकिन सोन ने अपनी सीढ़ियों के स्तर से ३० फुट से भी ज्यादा नीचे काट चुकी है जिससे हाल में मिर्जापुर में निक्षेप जमा हुए हैं जिसके फलस्वरूप साल में स्तर में होने वाले परिवर्तन का पता चलता है।

सोन भी नदी अपहरण के स्पष्ट उदाहरण उपस्थित करती है। अधिक छोटी-छोटी सहायक नदियों में से कुछ (ऐसी हैं जो) अधिक बड़ी नदियों द्वारा अपहृत कर ली गयी है जिससे कगारों में वात-दरारें (wind-gaps) बन गयी हैं जो उन स्थानों को चिह्नित करती हैं जहाँ से एक समय नदियाँ बहती थीं। इसका सुन्दर उदाहरण [illegible]; खुशमहार भी भेलकी के निकट सोन से मिलती है तथा इसके शीर्ष भाग के जल को अपहृत कर लिया था।

राजस्थान की दो प्रमुख नदियाँ, चम्बल और बनास पूर्व आरोपित प्रवाह के दो मनोरंजक उदाहरण उपस्थित करती हैं। चम्बल दाहिने किनारे से आ कर मिलने वाली यमुना की एक महत्वपूर्ण सहायक नदी है। चम्बल विन्ध्य पर्वत के उन तीन अन्तःस्थल शृंगों को काट कर बहती है जो क्रमशः उच्चतर पठारों का निर्माण करते हैं। ये पठार क्रमशः एक दूसरे को परिवेष्टित करते हैं, जैसे कैमूर, रीवाँ और भंडेर तथा संरचना की दृष्टि से इन तीनों में कोई सम्बन्ध नहीं है यद्यपि कि इसकी सहायक नदियाँ इसके बालू के पत्थर वाले अन्तःस्थल शृंगों के निचले भाग में शेल्स चट्टान की अभिनति ढाल वाली घाटी में बहती है। चम्बल विन्ध्य पठार में मालवा के शेल तथा चूने के पत्थर के उस प्रदेश से प्रवेश करती है जो कैमूर के बालू के पत्थर में अपनति पर वाली घाटी के निकट है। नदी विन्ध्य पर्वत के नमन की दिशा का अनुसरण जहाँ ये [illegible] परिणत हो जाते हैं और वहाँ पर यह वास्तविक रूप से कोटा शहर तक पहुँचने के पहले करीब २० मील लम्बी प्रपाती खड्ड (canyon) का निर्माण करती है। चम्बल का मार्ग सम्भवतः तब स्थापित हुआ था जब कि मालवा प्रदेश में कैमूर अन्तःस्थल शृंग तक दक्षिणात्य का लावा फैल गया था और चम्बल के बहाव की दिशा निर्धारित की थी।

जयपुर में टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग बनाने के बाद बनास नदी दिल्ली की क्वार्जाइट (Delhi puartzite) नामक चट्टान के चौरस-शीर्ष वाले कगार से हो कर अपना मार्ग काट कर बनाती है तथा राजमहल में एक सुन्दर गहरी घाटी (gorge) का निर्माण करती है और उस गहरी घाटी में प्रवेश करने के पहले यह समकोण बना कर चक्कर काटती है।

दसवाँ अध्याय

बर्फ और हिम

(Snow and Ice)

तुषार और हिम :—जब जल किसी चट्टान की संकीर्ण दरार में प्रवेश करता है और आगे चल कर (बाद में) जम जाता है, तो इसके बर्फ में परिणत हो जाने के बाद इसके फैलाव से दरार चौड़ी होने लगती है। यदि यह क्रिया हमेशा होता रहे तो चट्टान का एक भाग टूट कर चूर-चूर हो जा सकता है। परिणाम यह होता है कि पहाड़ी क्षेत्रों में टीले (उभरे हुए ढालुएँ भाग—crags) धीरे-धीरे टूट-फूट जाते हैं और उनके टुकड़े पहाड़ी के किनारे फैल जाते हैं जिनसे तलहटी में स्क्री बनता है (प्लेट ११)।

इस प्रकार की क्रिया केवल उन्हीं स्थानों में होती है जहाँ पर ताप कभी तो हिमांक से कम रहता है और कभी अधिक। परिवर्तन जितनी ही तेजी से होता है, चट्टान का वियोजन (disintegration) उतनी ही तेजी से होता है। इसके विपरीत जहाँ ताप हमेशा हिमांक से अधिक रहता है, वहाँ पर जल कभी भी बर्फ के रूप में परिणत नहीं होता और जहाँ यह हमेशा हिमांक से कम रहता है वहाँ पर वर्फ कभी भी पिघल कर जल के रूप में परिणत नहीं होता है। इसलिए ध्रुवीय क्षेत्रों की सीमाओं तथा पर्वत-शिखरों के समीप इसका प्रभाव सब से ज्यादा होता है और यह प्रभाव वहाँ पर इतना स्पष्ट रूप से होता है कि कुछेक स्थानों में चट्टान के उस उभरे हुए भाग का पाना प्रायः असम्भव हो जाता है जो काफी मजबूत हो जिससे पर्वतारोहण में सहारा मिल सके।

हिम भी, चूँकि भूमि पर रहता है, इसलिए न तो वियोजक दूत का कार्य करता है और न घर्षक दूत का ही। इससे नीचे वाली चट्टानों की रक्षा हो सकती है। यह उष्मा के लिए खराब चालक है तथा कम्बल के जैसा कार्य करता है जिससे भूमि ताप द्वारा होने वाले परिवर्तनों से सुरक्षित रहती है। फिर भी जब वसंत ऋतु में वर्फ पिघलने लगती है तो नमी (moisture) सोख ली जाने पर भूमि में प्रवेश कर जाती है और रात में किनारे तथा जहाँ हिम की तह पतली रहती है, वहाँ जम जाती है। पिघलने तथा गलने का यह प्रक्रम तब तक जारी रहता है जब तक हिम लुप्त नहीं हो जाता। पहाड़ी की ढाल पर चूर्ण पदार्थ की गति बढ़ जाती है, क्योंकि जो हिम ग्रीष्म के उत्तरार्द्ध तक रहता है वह वनस्पतियों को नष्ट कर देता है जिससे जमीन साफ (bare) रहती है।

पहाड़ी की ढाल पर की नीचे की ओर के इस संचलन या धीरे-धीरे खिसकाव (creep) होने से उस स्थान की रूपरेखा साधारणतया बराबर होने लगती है और चट्टानों के टुकड़ों में से जो चट्टान बाहर की ओर उभरी रहती हैं वे गोल होने लगती हैं।

यदि एक स्थान में हिम्र दूसरे स्थान की अपेक्षा अधिक समय तक ठहरता हो, जैसा कि अत्यधिक छोटे गड्ढे (hollow) या चट्टान में बने छोटे गढ़े (ledge) में हिम की अपेक्षाकृत अधिक मोटी तह जम कर इकट्ठी हो जाती है, तो उस स्थान में हिम के पिघलने और (जल के) जमने तथा पहाड़ी के नीचे की ओर के संचलन से शनैः-शनैः घिसकर क्षय होना अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक जारी रहता है। पदार्थ तब तक टूटता जाता है जब तक वह इतना बारीक न हो जाय जिससे पिघलते हिम से निकलने वाले छोटे से छोटे सोते (runnels) इसे बहाकर ले जायँ। इस प्रकार गड्ढा प्रति वर्ष थोड़ा-थोड़ा बड़ा होता जाता है और पहाड़ी भाग के अन्दर बढ़ता जाता है। दूसरे वर्ष इसमें अपेक्षाकृत अधिक हिम बाहर से आकर एकत्रित हो जाता है; यह प्रक्रम बराबर जारी रहता है। कालान्तर में यह गड्ढा इतना बड़ा हो जाता है कि वह ग्रीष्म ऋतु भर ठहरने लायक पर्याप्त हिम ग्रहण कर सके। इसकी दूसरी अवस्था में ऐसा होता है कि निम्नतर परतें बर्फ के रूप में बदल जाती हैं जिससे इसकी मोटाई बढ़ जाती है; इसके फलस्वरूप इसमें गति आ जाती है जिससे (एक) छोटी हिम नदी (glacier) निकलती है। जिन क्षेत्रों का हिम नदी द्वारा एक बार क्षयीकरण हुआ था, उनमें ऐसी बहुत-सी स्थलाकृतियाँ—जैसे (छोटे गड्ढे) छेद (ledges), चौकीनुमा आकृतियाँ तथा विषमताएँ (irregularities) पायी जाती हैं जिनका वर्तमान नदियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता है; इनकी उत्पत्ति तो वास्तव में हिम या परिहिम्य युगों में हिम के टुकड़ों या हिम कटाव के द्वारा क्षयीकरण के फलस्वरूप हुई थी।

हिम के बर्फ के रूप में बदलने में वर्षा के उस जल तथा ग्रीष्म में बर्फ के पिघलने से प्राप्त नमी से मदद मिलती है जो हिम को पार कर नीचे चली जाती हैं और निम्नतर परतों में जाकर जम जाती हैं। अत्यल्प पतली तह वाला हिमखण्ड भी यदि ग्रीष्म ऋतु भर ठहरता हो, तो उसके नीचे बर्फ रह सकती है। हिम नदी में हिम बहुत अंशों में ठीक उसी प्रकार बर्फ के रूप में परिवर्तित होता है, यद्यपि इस दशा में (उदाहरण) दाब से बर्फ के रवों केलासों (crystals) के ठोस होने में बहुत ज्यादा मदद मिलती है।

बर्फ के पिघलने से जल के टपक-टपक कर नीचे जाने का परिणाम कुछ अप्रत्याशित और महत्वपूर्ण होता है। इससे सम्पूर्ण हिम नदी का ताप शून्यांश सेन्टीग्रेड[1] रहता है, यद्यपि वायु का मध्यमान वार्षिक ताप हिमांक से कई अंश नीचे रह सकता है। वसंत तथा ग्रीष्म के पूर्वार्द्ध में बर्फ के गलने से पानी टपक-टपक कर ठोस हिम या बर्फ (snow or neve) से हो कर नीचे हिम नदी के ऊपरी भागों पर गिरता और जम

---

१ बर्फ की ५०० फुट मोटी तह से हिमांक $\frac{१}{५०}$° सेन्टीग्रेड कम हो जाता है। इसलिए हिम नदी में काफी नीचे डूबी हुई बर्फ का ताप आंशिक रूप से शून्यांश सेन्टीग्रेड से कम रहता है। यदि ऐसा न हो तो बर्फ कुछ पिघलती है; उसके इर्द-गिर्द की बर्फ से अंतर्निहित उष्मा (latent heat) के निकल जाने से (डूबी हुई) बर्फ पर्याप्त रूप से ऐसी ठंडी हो कि जिससे यह ठोस अवस्था में रहे।

जाता है जिससे प्रत्येक घन सेन्टीमीटर में ८०° तापांक (calories) निकलते हैं। यद्यपि कि हिम नदी की ऊपरी पर्तों (तहों) का ताप जाड़े में शून्यांश सेन्टीग्रेड से काफी नीचे उतर आता है ; लेकिन उपरोक्त उष्मा से उनका (ऊपरी पर्तों का) ताप शीघ्रता से हिमांक तक ऊपर उठ जाता है।

ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे पर्वत की चोटी पर भी हिम पिघल जाता है। लेकिन हिम-रेखा के ऊपर सालभर में बर्फ पिघलने तथा वाष्पीकरण के कारण जितनी बर्फ जमती है, उससे कम क्षति होती है। यदि हिम के बाहर निकल जाने का दूसरा कोई साधन नहीं रहता तो हिम की मोटाई उसके मुताबिक अनिश्चित रूप से बढ़ती जाती। लेकिन हिम और दो तरीके से बाहर निकल जाता है। यदि भूमि की ढाल पर्याप्त रूप से खड़ी रहती है और जब हिम गहरा हो जाता है तब यह अपने बोझ के कारण तेजी से बर्फ के बड़े टुकड़े के रूप में फिसल कर नीचे गिर जाता है।

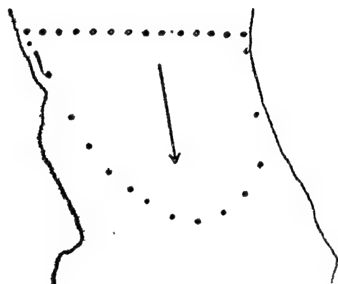
हिम नदियाँ :—यदि ढाल कम भी रहती है तो भी बर्फ फिसल कर नीचे जाती है, लेकिन ऐसी हालत में इसका फिसल कर नीचे जाना धीरे-धीरे तथा भिन्न तरीके से होता है। ऐसी ढाल पर हिम का एकत्रीकरण अपेक्षाकृत अधिक हो सकता है। यह हिमदाब (Pressure), पिघलने तथा इसके पुनः जमने के प्रक्रम के द्वारा दानेदार बर्फ के रूप में परिणत हो जाता है। और सम्पूर्ण हिमराशि या बर्फ धीरे-धीरे पहाड़ी के नीचे बहने लगती है। जल की तरह इसका बहाव भी स्वभावतः घाटियों से होकर होता है; और पहाड़ों पर वाले बहुत ऊँचे हिम-क्षेत्रों से जिह्वाओं की भाँति बर्फ हिम नदियों के रूप में धीरे-धीरे घाटियों से नीचे की ओर बहती है।

हिम नदी हिमरेखा से बहुत नीचे तक जा सकती है। इसके उद्‌गम-स्थान में अपेक्षाकृत अधिक तेजी से बर्फ जमती रहती है और यह मन्दगति से पिघलती है। हिम नदी चौड़ी तथा गहरी होती है, और ऊपर की ओर का इसका ढाँचा अवतल (concave) होता है, क्योंकि अधिकांश हिम पहाड़ी की ढालों के ऊपर से नीचे आकर हिम नदियों के दोनों ओर एकत्रित होता है ; तथा ऐसा इसलिए भी होता है कि (इसके) बिचले भागों में इसकी गति अधिक तेज रहती है। जैसे-जैसे हिम नदी नीचे की ओर बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इसे अधिकाधिक ताप मिलता जाता है और बर्फ का आना कम होता जाता है, क्योंकि इसका कुछ भाग तो ऊपर ही पिघल जाता है।

इसलिए उस स्थान पर पहुँचने के समय तक हिम नदी का आकार छोटा होता जाता है जहाँ पर बर्फ ठीक उतनी ही आती है जितना पिघलती है ; वहाँ पर हिम नदी लुप्त हो जाती है। इसलिए हिम नदियाँ प्रायः जिह्वा के आकार की हुआ करती हैं जिससे ये ऊपरी भागों में सब से अधिक चौड़ी तथा निचले भागों में सब से अधिक संकीर्ण होती है। हिम नदी अपने प्रवाह के मध्य में सब से अधिक तेजी से बहती है, इसलिए इसके मध्य भाग में सब से अधिक बर्फ आती है। इसके फलस्वरूप इसकी अन्तःसीमा उतल (convex) हुआ करती है।

संचलन की दर (गतिसीमा) :—हिम नदी का संचलन इसके मध्य भाग में सब से अधिक तेज रहता है, क्योंकि दोनों किनारों तथा तल में (अपनी)

सतह[1] (bed) से संघर्ष खाने के [illegible] जाता (retarted) है। यदि हिम नदी के आरपार सीधी रेखा में खूँटों (stakes) की कतार लगायी जाय, तो वे (खूँटें) हिम नदी के साथ-साथ नीचे की ओर गतिमान होंगे। लेकिन एक या दो वर्षों के अरसे में खूँटों की कतार टेढ़ी (वक्र) हो जायगी और इसकी उतलता (convexity) नीचे की ओर रहेगी (चित्र १७६)



चित्र १७९—हिमनदी का बहाव।

मेर डी ग्लेस (Mer de Glace) में जे० डी० फोर्बिस ने देखा कि ग्रीष्म और शरत् ऋतुओं में हिम नदी अपने मध्य भाग में प्रतिदिन २० से लेकर २७ इंच की चाल से और किनारे के पास १३ से लेकर १६।। इंच की चाल से बहती है। ग्रीनलैंड में इसकी गति प्रायः और तेज रहती है; और एक स्थान में इसे प्रतिदिन १०० फुट की चाल से भी बहते देखा गया है।

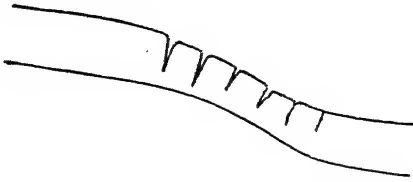
दरारें तथा बर्फ का गिरना :—यदि हिम नदी की चौड़ाई एक-सी रहती है तथा इसका तल चिकना और बराबर (नियमित) रहता है, तो बर्फ की सतह प्रायः समतल तथा अविच्छिन्न रहती है। लेकिन यदि इसके तल की ढाल में परिवर्तन होता है, अथवा इसकी घाटी संकीर्ण हो जाती है तो उसके बाद इसका संचलन बिल्कुल एक-सा नहीं रहता है तथा इसकी सतह छिन्न-भिन्न तथा असमतल हो जाती है, ठीक उसी तरह जिस तरह एक नदी की ऐसी परिस्थितियों में दशा होती है। और उदाहरणार्थ, यदि इसकी ढाल बढ़ जाती है, जैसा कि चित्र १८० में तो हिम नदी अधिक ढालुएँ भाग पर अधिक तेजी से बहती है। और जहाँ से ढाल में परिवर्तन होना शुरू होता है, वहाँ

---

१ इधर हाल में किए गये कार्यों से पता चलता है कि हिम नदी में केवल दो सौ फुट मोटी ऊपरी पर्त में ही पर्याप्त रूप से ठोस बर्फ रहती है। अधिक गहराइयों में प्रतिबल (stress) के अन्तर (differences) के कारण बर्फ की अवस्था (state) में परिवर्तन हो सकता है जिससे यह अधिक सुघट्य (Plastic) हो जा सकती है। यह निम्नस्थ सुघट्य बर्फ कभी-कभी ऊपर वाली ठोस बर्फ की अपेक्षा अधिक तेजी से चल सकती है। इस विषय में और अधिक अनुसंधान (Investigation) की जरूरत है।

पर इसके ऊपर दरार (crack or crevasse) बन जाती है। खड़ी ढाल के नीचे बर्फ बहुत ही छिन्न-भिन्न हो जाती है जिससे एक ऐसी आकृति का निर्माण होता है जिसे बर्फ-पात या बर्फ का गिरना कहते हैं (प्लेट १५)। निचले भाग (at the foot) में जहाँ ढाल कम हो जाती है इसके चलने की गति कम हो जाती है जिससे दरारें बन्द होने लगती हैं।

इस प्रकार से बनी दरारें हिम नदी के अनुप्रस्थ रहती हैं। हिम नदियाँ बीच में किनारों की अपेक्षा अधिक तेजी से चलती है, इसलिए वे चित्र १८० में प्रदर्शित खूँटों की कतार की तरह टेढ़ी हो जाती हैं।

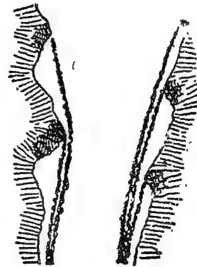


चित्र १८०—दरारों और हिम उतारों का निर्माण।

लेकिन ये दरारें हमेशा अनुप्रस्थ नहीं होतीं। यदि इसकी घाटी एकाएक चौड़ी हो जाती है तो हिम नदी बाहर की ओर फैलते समय दरारों का निर्माण कर सकती है जिनकी दिशा थोड़ी-बहुत अनुदैर्घ्य होती है।

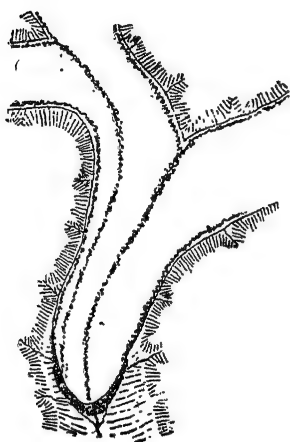
और यहाँ तक कि बिचले भाग के वेग तथा दोनों किनारों के वेग के अन्तर के कारण दरारें बनती हैं। चित्र १७९ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे खूँटों की कतार नीचे की ओर आगे बढ़ती और वक्र होती जाती है, वैसे-वैसे खूँटों के बीच की दूरी भी बढ़ती जाती है और ऐसा विशेषकर किनारों में हुआ करता है। खूँटों की रेखा पर बर्फ फैल जाती है, और दरारें उस रेखा पर बन सकती हैं जो हिम नदी के मार्ग से तिरछी रहती हैं।

मोरेन (Moraine) :—पहाड़ या पहाड़ी की ऊबड़-खाबड़ चोटी के ढालुएँ भाग (crags) जहाँ से हिम नदी दिखाई पड़ती है, तुषार (frost) तथा अन्य दूतों द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिससे वहाँ से चट्टान के बड़े-बड़े टुकड़े (blocks) नीचे वाली बर्फ पर आ गिरते हैं और धीरे-धीरे नीचे की ओर परिवाहित हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक ऊँचे उभरे तथा खड़े भाग से हिम नदी के किनारे में ऊपर से नीचे की ओर पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े नदी की धारा के रूप में फैल जाते हैं। और छिन्न-भिन्न चट्टान के इन स्रोतों से जो एक दूसरे से मिले रहते ह, पार्श्विक मोरेन (lateral moraines) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार का मोरेन हिम नदी के दोनों ओर जमा होता है। (चित्र १८१ तथा प्लेट १५a)। जब दो हिम नदियाँ मिलती हैं,



चित्र १८१—पार्श्व मोरेन्स।

तब एक हिम नदी का पार्श्विक मोरेन दूसरी हिम नदी के पार्श्विक मोरेन के साथ मिल जाता है जिससे मध्यवर्ती मोरेन (medial moraine) बनता (या जमा होता) है। और यदि बाद में और दूसरी-दूसरी सहायक हिम नदियाँ आकर उनमें मिलती हों तो वहाँ पर बहुत से मध्यवर्ती मोरेन जमा हो सकते हैं (चित्र १८२)।



चित्र १८२--पार्श्व, मध्य और अन्तिम मोरेन्स

चट्टान का बड़ा टुकड़ा जो बर्फ के ऊपर रहता है, वह नीचे वाली बर्फ को बचाए रहता है, लेकिन उसके चारों ओर सतह वाली बर्फ धूप लगने से पिघल जाती है। उसके बाद चट्टान का वह बड़ा टुकड़ा बर्फ के स्तम्भ (pedestal) पर खड़ा (ठहरा) रहेगा। परन्तु खुद स्तम्भ भी आगे या पीछे धीरे-धीरे पिघल कर नष्ट हो जायगा जिसके फलस्वरूप वह (स्तम्भ) एक या दूसरी ओर गिर जायगा। ठीक उसी प्रकार मोरेन वाला पदार्थ (material) भी धीरे-धीरे बाहर की ओर फैल जाता है और कभी-कभी तो यह हिम नदी को करीब-करीब पूरे तौर से ढँक लेता है। ऐसा प्राय: सब से अधिक हिम नदी के निचले भागों में होता है, क्योंकि वहाँ पर बर्फ के गलने से मोरेन वाले पदार्थ का समानुपात बढ़ जाता है। कभी-कभी हिम नदी का (छोर) अन्त वाला भाग इतनी मोटी परत से ढँक जाता है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि कहाँ पर हिम नदी का अन्त होता है और कहाँ से अन्तिम मोरेन (terminal moraine) जमा होना आरम्भ करता है। पत्थर के टुकड़े जो बराबर धूप से गर्म होते (रह सकते ह) रहते हैं, हिम नदी को पिघला कर अपना रास्ता बना लेते हैं, और इस तरह ये छोटे-छोटे गड्ढे बन जाते हैं।

जब धरातलीय पदार्थ छिटपुट खंडों में वितरित हो जाता है तो यह नीचे वाली बर्फ को धूप से बचाती है जिससे प्राय: शंकु (cones) तथा कगारों की श्रेणी का निर्माण होता है ; ये शंकु तथा कगार चट्टानों के टुकड़ों की पतली तह से ढँक जाते हैं।

जब हिम नदी अपने अन्तिम छोर पर पिघल कर समाप्त हो जाती है तो यह पूरा का पूरा पदार्थ वहीं पर जमा हो जाता है जिससे एक टीला बन जाता है जिसे अन्तिम मोरेन कहते हैं। यह इसकी घाटी के आर-पार बाँध के रूप में फैल जाता है। और चूँकि हिम नदी समाप्त हो जाती है, इसलिए यह प्राय: आकार में अर्द्ध चन्द्राकार हुआ करता है।

गोलाश्म बट्टिकाएँ (पत्थर के बड़े गोल टुकड़े) (boulders) जो हिम नदी में गिरते हैं, वे सब के सब इसकी सतह पर नीचे की ओर नहीं जाते। वे प्राय: नीचे में बनी दरारों में घुस जाते हैं जिससे उनकी यात्रा या तो बर्फ के मध्य भाग में समाप्त हो जाती है या इसके आधार पर। बर्फ की सतह के पिघलने से जो नदियाँ निकलती

हैं वे भी प्रायः दरार म ही गिर जाती हैं और धरातलीय (superficial) मोरेन के अधिक बारीक पदार्थ को भी अपने साथ लेती जाती हैं। इसके अतिरिक्त बहती हुई बर्फ भी अपने तल से चट्टान को काट कर टुकड़े-टुकड़े करके अलग-अलग कर देती है। इस प्रकार एक हिम नदी अपने अन्दर आधार पर, दोनों किनारों तथा सतह पर—अपने साथ प्रचुर मात्रा में पदार्थ को ढोकर ल जाती है।

वह पदार्थ जो हिम नदी के दोनों किनारे तथा आधार पर जम जाता है, वर्फ के संचलन के द्वारा घसीटा जाता है; और वह उसकी घाटी के किनारे तथा तल को पूरी तरह घिस देता है। अधिक बारीक पदार्थ सरेस पत्ता (sandpaper) का काम करता है; और इसलिए जिन चट्टानों के ऊपर यह घिसने का काम करता है, उनकी सतह को चिकनी और गोल बना देता है। लेकिन बड़े टुकड़े चट्टान को काट कर गहरी नालियाँ बनाते हैं। ये टुकड़े भी इस प्रक्रम से आपस में टकरा कर चूर-चूर हो जाते हैं; फलतः पत्थर के वे बड़े गोल और चिकने टुकड़े जो बर्फ के निम्न भाग में परिवाहित होकर आते हैं, उनके धरातल (faces) चिकने और यहाँ तक कि पॉलिश किए हुए मालूम पड़ते हैं जिनमें खरोच या लम्बे-लम्बे चिह्न (scratches or striations) अंकित रहते हैं। कभी-कभी इसके एक ही धरातल (side) पर इसका (रगड़) प्रभाव पड़ता है; लेकिन एक पत्थर का वड़ा गोल टुकड़ा नीचे की ओर जाने में प्रायः एक से अधिक बार लुढ़केगा जिससे इसके कई धरातल पिस जायँगे। फिर भी हिम नदी वाला पत्थर का बड़ा गोल टुकड़ा नदी वाले पत्थर के समान गोल नहीं होता। जिस बर्फ में यह जमता है, वह इसे स्वतंत्र रूप से घूमने में बाधा पहुँचाती है। यह तो प्रायः अपने उस अधिक बड़े अक्ष (axis) पर घसिटाता जाता है जो संचलन की दिशा के समानान्तर रहता है। इसके पिछले भाग अपेक्षाकृत रुखड़े रहते हैं। इसके (कोण) शंकु गोल हो जाते हैं तथा धरातल चिकने हो जाते हैं लेकिन उन पर खरोच रहती हैं जो थोड़ा-वहुत इसके लम्बे अक्ष के समानान्तर रहते हैं।

जिस स्थान पर हिम नदी का अन्त होता है, उस स्थान पर बर्फ के पिघलने के कारण यह सब का सब पदार्थ मुक्त हो जाता है। इसका कुछ भाग तो अन्तिम मोरेन में मिल जाता है और कुछ भाग को हिम नदी से निःसृत होने वाली नदी ढो कर ले जाती है। पिघलती हुई हिम नदी के अन्तिम भाग (छोर) से हमेशा ही नदी निकल कर बहती है। यह प्रायः बर्फ के नीचे की नाली से निःसृत हुआ करती है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार ग्रीष्म में सम्पूर्ण हिम नदी की सतह वाली बर्फ (पिघलती है) तथा यहाँ तक कि जाड़े में भी इसके निम्न भागों में सतह पर वाली वर्फ पिघला करती है। पृथ्वी के भीतरी भाग से आनेवाली उष्मा तथा दाव से भी अत्यल्प बर्फ पिघलती है।

गोलाश्म बट्टिकाओं (पत्थर के बड़े गोल टुकड़ों) के अतिरिक्त हिम नदी से निकलने वाली नदी के जल में काफी (प्रचुर) बारीक कण वाली कीच, तथा हिम नदी के तल और किनारे में पत्थर के बड़े गोल टुकड़े के रगड़ की क्रिया द्वारा चट्टानोत्पन्न धूल मिली रहती है। इसलिए हिम नदी से निकलने वाली नदी देखने में दूध के समान बहुत ही उज्ज्वल मालूम पड़ती है।

गिरिपाद हिम नदियाँ (Piedmont glaciers) :—आल्पस् पर्वत पर हिम नदियाँ पर्वतों के निम्न भाग में पहुँचने के पहले ही समाप्त हो जाती हैं। लेकिन अधिक ठंढी जलवायुओं में वे नीचे के समतल मैदानों में फैल जा सकती हैं। कभी-कभी कई हिम नदियाँ पर्वत श्रेणी के आधार पर मिल जाती हैं जिसके फलस्वरूप उसके) निम्नस्थ भूमि पर बर्फ की विस्तृत तह बन जाती है। (बर्फ की) इस प्रकार की तह गिरिपाद हिम नदी कहलाती है।

गिरिपाद वाली हिम नदी की चौड़ाई उन हिम नदियों की सम्मिलित चौड़ाई से अधिक रहती है जिनके मिलने से यह बनती है। इसलिए यह मन्द गति से बहती है और ऐसा ठीक उसी कारण से होता है जिस कारण से प्रवाह-मार्ग (channel) के चौड़े हो जाने पर नदी की धारा मन्द पड़ जाती है। कभी-कभी तो वास्तव में यथार्थतः इसकी संरचना या इसका बहना बन्द भी हो जाता है। इसलिए गतिहीन बर्फ की सतह को ढँकने वाले मोरेने पर पेड़ों को उगने का समय मिलता है।

अलास्का की मेलास्पाइना हिम नदी गिरिपद हिम नदी के सर्वाधिक विदित उदाहरणों में से एक है।

हिम आवरण :—ग्रीष्म में गलने के कारण जितनी बर्फ नष्ट होती है उससे बहुत अधिक जब जाड़े में हिमपात है तो इतना अधिक हिम जमा हो जायगा कि उससे क्या समतल मैदान और क्या पर्वत—सब के सब उसके नीचे ढँक आयँगे। वसी परिस्थिति में हिम नदियाँ अलग-अलग अपनी घाटी में नहीं वहेंगी, बल्कि वहाँ पर हिम तथा वर्फ की अविच्छिन्न तह बनेगी जो अपने उच्चतम स्थान से बाहर की ओर बहेगी।

इस तरह का उदाहरण ग्रीनलैंड में मिलता है जो प्रायः पूर्ण रूप से इस प्रकार की तह से ढँका है। किनारे के निकट कुछ गड़े हुए पहाड़ों की चोटियाँ आवरण में घुसी रहती हैं। और समुद्र के पास बर्फ पृथक्-पृथक् नदियों में विभक्त हो जाती है। उन नदिमों के बीच में चट्टानी कगार रहते हैं। लेकिन उसके भीतरी भाग में हिम और बर्फ के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

वर्फ की तह का अधिक भाग मोरेन से मुक्त रहता है, क्योंकि इसकी सतह के ऊपर चट्टान नीचे से निकल कर बिल्कुल नहीं आती। लेकिन इसके किनारे के पास बाहर की ओर उभरी हुई चोटियाँ[1] नजर आती हैं जिससे वहाँ पर मोरेन सामान्य रूप से बना करते हैं।

ऐंटार्कटिक प्रदेश का स्थलपुंज भी बर्फ की तह से ढँका है; लेकिन सतह के अपेक्षाकृत अधिक असमतल होने तथा संभवतः कुछ अंशों में कम हिमपात के कारण अधिक ऊँची पहाड़ियाँ पूर्ण रूप से ढँकी नहीं रहती हैं (प्लेट १६ a)।

हिमशैल :—जब हिम नदी समुद्र में प्रवेश करती है, तब बर्फ जल पर तैरने लगती है, और हिम नदी का छोर ऊपर उठ जाता है। इसलिए यह तरंगों द्वारा टुकड़े-टुकड़े हो जाता है जिससे बर्फ का पुंज वह कर दूर चला जाता है। [illegible] उच्छृंग के पास पहुँचती है जहाँ से समुद्र दिखाई पड़ता है। लेकिन फिर भी बर्फ आगे

---

१ इन चोटियों को (हिमस्था) हिमपर्वत की नोक (nunataks) कहते हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

हवा

(Wind)

ब्रिटिश द्वीप समूह में हवा प्राय: प्रबल रहा करती है। तट पर तो यह समुद्र में तरंग तथा धाराएँ उत्पन्न करने के कारण तटरेखा में बहुत परिवर्तन लाने का प्रत्यक्ष कारण बनती हैं; लेकिन देश के अन्दर धरातल के स्वरूप पर वर्षा और नदियों की अपेक्षा इसका प्रभाव कम पड़ता है। तौ भी वहाँ पर यह धूल तथा मिट्टी के अधिक बारीक कणों को एक जगह से ढोकर दूसरी जगह ले जाती है। रोम के और दूसरी-दूसरी पुरानी इमारतों के भग्नावशेष प्राय: मिट्टी के नीचे ढँक गये हैं और इनका ढँकना अंशत: हवा के कार्य द्वारा हुआ है।

फिर भी, इंगलैंड में स्थल प्राय: घास या अन्य वनस्पति से ढँका रहता है जिससे यह कदाचित ही पूर्ण रूप से सूखा रखता है। कण नमी के सहारे एक दूसरे से चिपके रहते हैं, पौधों की जड़ें मिट्टी को एक साथ बाँधे रहती हैं तथा उनके तनें और पत्तियाँ इसे हवा से बचाती हैं। केवल कुछेक अधिक खुली वन्यभूमि तथा उच्च-जल-चिह्न के ऊपर रेतीले किनारों पर ही हवा के प्रभाव बिलकुल स्पष्ट एवं महत्वपूर्ण होते हैं।

अधिक सूखे क्षेत्रों में परिस्थिति भिन्न हो जाती है। वहाँ पर धरातल पर वाली मिट्टी में तनिक भी नमी नहीं रहती है और न तो वहाँ कुछ वनस्पति रहती है जो हवा के कार्य में बाधा डाले। इसलिए वास्तविक मरुभूमि में हवा स्थलाकृति के निर्माण में सब से अधिक महत्वपूर्ण दूतों में अपना स्थान रखती है।

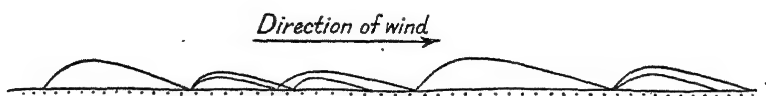
बहते हुए जल की भाँति हवा भी परिवहन, घर्षण तथा निक्षेपित करने का कार्य करती है; लेकिन यह (अपनी) क्रिया की विधि और प्रभावों की दृष्टि से बहते हुए जल से भिन्न है। इसमें तीव्रगामी नदी वाली शक्ति नहीं है तथा इसलिए यह ऐसे भारी टुकड़ों को बहा कर नहीं ले जा सकती। लेकिन जिस ढाल पर यह बहती है, उसका इसकी सामर्थ्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और यह पदार्थ को ऊपर तथा नीचे दोनों ओर ढो कर ले जा सकती है। संक्षुब्ध सरिता जल की साधारण सतह के ऊपर अपने किनारे पर बालू तथा कीच उछाल दे सकती है, लेकिन ऊपर उछालने की इसकी सीमा कुछेक फुट से कभी अधिक नहीं होती। इसके विपरीत हवा अधिक सूक्ष्म कणों को बहुत ऊँचाई तक तेजी से उड़ा ले जाती है। यही कारण है कि यह मरुभूमि वाले क्षेत्रों में धूल के बादलों को उड़ा कर पर्वत श्रेणी के पार ले जाती है।

परिवाहित पदार्थ :—हवा जमीन की सतह पर वाले काफी हल्के तथा बारीक किसी भी असम्बद्ध (टूटे-फूटे) पदार्थ को ढो कर ले जा सकती है। समशीतोष्ण जलवायु में ऐसा पदार्थ नदियों, समुद्र तरंगों अथवा ऋतु अपक्षयण (छीजन) की साधारण विधियों के द्वारा प्रादुर्भूत हो सकता है। शुष्क जलवायु में साधारणतया नदियाँ नहीं रहती हैं, इसलिए वहाँ पर ऋतु अपक्षयण प्रधानतया ताप और ओस (dew) के द्वारा होनेवाले परिवर्तनों के रूप में होता है। चट्टान की सतह ताप

के परिवर्तनों के द्वारा टूट-फूट जाती है ; और तब हवा भी स्वयं उड़ने वाले अधिक छोटे-छोटे टुकड़ों के सहारे जो आपस में एक दूसरे से टकराते हैं, इस कार्य में मदद दे सकती है। ओस के द्वारा बहुत प्रकार की चट्टानों में विच्छेदन (decomposition) होता है और विघटित पदार्थ प्रायः चिकने और चूर्ण[1] के समान होते हैं।

ऋतु अपक्षयण से उत्पन्न असम्बद्ध (टूटे-फूटे) पदार्थ की बारीकी अंशतः चट्टान की प्रकृति पर निर्भर करेगी ; लेकिन साथ ही कुछ हद तक हवा पर भी निर्भर करेगी क्योंकि जो कण हवा में उड़ते हैं वे आपस में तथा जमीन से टकराते हैं और इसलिए वे और अधिक टूट-फूट जाते हैं।

परिवहन :—परिवहन के दूत के रूप में हवा की शक्ति ब्रिटिश द्वीप पुंज के तटों पर नितान्त स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आँधी (gale) के समय हवा प्रायः अधिक छोटे-छोटे कंकड़ (pebbles) को बालू तट (beach) पर उड़ायेगी तथा आकस्मिक झोंकों के समय तो काफी बड़े आकार के टुकड़ों को भी उड़ा ले जा सकती



चित्र १९२—वायु द्वारा रेत के कणों का चलन

है। ढेर की ढेर बालू लगातार जमीन से उड़ा करती है और इसके अधिक बड़े कण जमीन की सतह पर लुढकते हुए (आगे) बढ़ते हैं। हरेक बार जो कण जमीन पर गिरता है वह या तो फिर उछल कर वायु में चला जाता है या दूसरे कणों को ऊपर (splash up) उठा देता है। ज्योंही कण जमीन की सतह से ऊपर उठता है त्योंही हवा द्वारा आगे बढ़ने को प्रेरित होता है। इसलिए बालू असंमित ढूहों की श्रेणी या क्रम में आगे की ओर बढ़ती है (चित्र १९०)। हवा द्वारा बने सुरंग में इसके मार्ग के चित्र बैगनोल्ड द्वारा लिए गये हैं जिनके प्रयोगात्मक कार्य (experimental work) बालू की गति तथा बालू के टीलों (dunes) के निर्माण एवं विकास सम्बन्धी हमारे ज्ञान में काफी वृद्धि हुई है। बालू के कणों के इस उछल-कूद से वायु को बड़ा धक्का लगता है जिससे जमीन पर पहुँचते ही इसकी चाल बहुत ही तेजी से गिर (मन्द हो) जाती है।

हवा अधिक छोटे कणों को ढो कर बहुत दूर तक ले जा सकती है, यही कारण है कि धूल प्रायः सहारा से उड़ कर दक्षिणी यूरोप में आया करती है और कभी-कभी यह ब्रिटिश द्वीप पुंज तक में भी (उड़ कर) पहुँच जाती है। सन् १९०३ ईसवी के फरवरी महीने में ग्रेटब्रिटेन में कई जगहों में लाल वर्षा हुई थी, जिससे पता चलता है कि हवा द्वारा अफ्रिका से उड़ा कर लाए गये धूल कणों के कारण उसका रंग वैसा हो गया था।

---

१ ब्लैकवैल्डर तथा हाल के अन्य कार्यकर्त्ता ताप के परिवर्तनों के द्वारा होनेवाले तोड़-फोड़ की अपेक्षा रासायनिक ऋतु अपक्षयण के महत्व पर अधिक जोर देते हैं।

ज्वालामुखीय उद्गारों से निकलनेवाली धूल उड़ कर और भी अधिक दूर चली जाती है। ऐसा अंशतः इसलिए होता है कि यह वहुत बारीक रहती है, और अंशतः इसलिए कि वह उच्छालित हो कर वायु में बहुत ऊपर चली जाती है जहाँ जमीन की अपेक्षा हवाएँ अधिक प्रबल रहा करती हैं। इसलिए आइसलैंड से ज्वालामुखी से निकली हुई राख उत्तरी स्कॉटलैंड में आ कर गिरी है। क्राकातुआ के ज्वालामुखीय उद्गार से निकली हुई सब से बारीक धूल जमीन पर जमा होने के पहले भूमंडल के चारों ओर कई बार उड़ कर घूम गयी थी।

क्षयीकरण :—नदी द्वारा परिवाहित बालू तथा गिटिका की तरह हवा द्वारा परिवाहित पदार्थ घर्षण के यंत्र का काम करते हैं और जिस सतह के सम्पर्क में आते हैं उसे घिस कर काटते जाते हैं। मरुभूमि वाले क्षेत्रों (मरुस्थलों) में अनावृत चट्टानें (exposed rocks) कट जाती हैं; अधिक कड़ी चट्टानों की पट्टियाँ बच कर खड़ी रह जाती हैं तथा अधिक मुलायम (कमजोर) चट्टान वाली पट्टियाँ अधिक गहराई तक कट जाती है। इसका प्रभाव मिश्र में स्फिन्क्स की मूर्ति में बहुत अच्छी तरह परिलक्षित होता है।

अधिकांश अवच्छेदक क्षयीकरण (differential erosion) वायु के झोंके के द्वारा बालू के उड़ने के कारण माना जा सकता है। चूँकि अधिक भारी पदार्थ जमीन पर ढुलकाये जाते हैं, और केवल छोटे-छोटे टुकड़े ही उड़ कर वायु में ऊपर जाते हैं, इसलिए जमीन के निकट ही घर्षण अधिक होता है और ऊपर की ओर तेजी से कम होता जाता है। इसलिए एक उभरा हुआ टीला आधार पर क्रमशः कटता (बनता) जायगा। यदि हवा की दिशा हमेशा एक-सी रहती है तो केवल उसका अनुपात पार्श्व (windward side) ही कट कर नष्ट होगा। लेकिन यदि इसकी दिशा (परिवर्तनशील) वदलती रहती है तो वह टीला चारों ओर कटेगा (चित्र १९३)।



चित्र १९३—वायुक्षरित चट्टान

चट्टान की अनुप्रस्थ सतह का क्षयीकरण सिनाई प्रायद्वीप में सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। वहाँ का एक वृहत् क्षेत्र बालू के पत्थर की तह से ढँका है जिसमें कभी-कभी मैंगेनीज के बहुत से समानुस्तरण (concretions) पाये जाते हैं। बालू का पत्थर तो धीरे-धीरे हवा द्वारा घिस कर नष्ट हो जाता है, लेकिन मैंगेनीज के समानुस्तरण अधिक कड़े होते हैं; अतः क्षयीकरण के आघातों को अधिक सहन करते हैं। यही कारण है कि वे जमीन की सतह के ऊपर खड़े रहते हैं, और प्रत्येक के प्रतिघात किनारे पर (leeward side) बलुआ पत्थर का छोटा ढेर रहता है, जिसकी हवा के आघातों से रक्षा समानुस्तरण से होती है (चित्र १९४)।

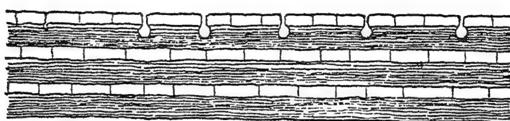
जहाँ कहीं भी हवा क्षयीकरण का कार्य ज्यादा होता है और निक्षेपण कम होता है, वहाँ ठोस चट्टान अनावृत हो जायगी जिससे चट्टानी मरुभूमि का निर्माण होगा। यदि

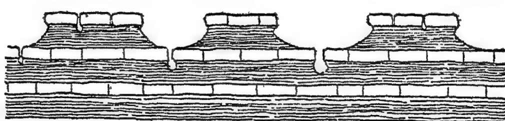
तहें अनुप्रस्थ रहें तो कड़ी तह के अनावृत होने के पहले तक मुलायम (कमजोर) तहें कटती जायँगी।

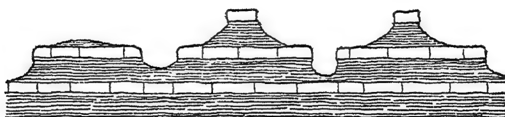


चित्र १९४--सिनाई पेनिन्सुला में वायुक्षरण

कड़ी चट्टान के क्षयीकरण में ओस (dew) से मदद मिलती है। इस प्रकार का क्षयीकरण प्रधानतः जोड़ों पर होता है, जहाँ ओस धूप से बची रहती है। कड़ी चट्टान जोड़ों पर ऊपर से नीचे तक जहाँ जाने वाली मुलायम (कमजोर) चट्टान स्थित होती है, कट जाती है। ओस तथा हवा की संयुक्त क्रिया के द्वारा कड़ी तह धीरे-धीरे नीचे से कट कर गिर जाती है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक कि अधिक मुलायम चट्टान के स्तम्भ पर इसके (कड़ी चट्टान) केवल थोड़े से भाग टोपी के रूप







चित्र १९५--धरातल के समानान्तर परतों में वायुक्षरण की अवस्थायें

में अटक नहीं जाते; अन्त में ये भी पूर्ण रूप से कट कर हट जाते हैं और उसके बाद कड़ी तह अनावृत हो जाती है तथा वह भी कट कर नष्ट हो जाती है (चित्र १९५)।

कभी-कभी क्षयीकरण विभिन्न प्रकार से होता है। चट्टान की सतह (धरातल) ताप के परिवर्तनों द्वारा टूट-फूट जाती है, जिससे जमीन टुकड़ों की तह से ढक जाती है जो नीचे वाली चट्टान के लिए बचाव का काम करती है। क्षयीकरण (concentrated) जोड़ों पर ही केन्द्रित नहीं होता। टुकड़े टूटते-फूटते जाते हैं तथा अधिक

छोटे कणों को हवा उड़ा ले जाती है। इस प्रकार से पत्थरों या पत्थर के टुकड़ों से बनी मरुभूमि सहारा तथा अरब[1] में विस्तृत रूप से फैली हुई है।

निक्षेपण :—उस पदार्थ को जिसे हवा उड़ा ले जाती है, जल्द या देर से अवश्य ही निक्षेपित हो जाना चाहिए। हवा का बहना समाप्त होने पर यह जमीन पर बैठ जा सकता है, यह या तो जमीन पर गिर सकता है या समुद्र में ; या यह सुरक्षित गढ़े में ही परिवाहित हो सकता है अथवा किसी प्रतिरोध (obstacle) के किनारे पर बाँध के रूप में जमा हो जा सकता है।

कुछ हद तक पदार्थ (कणों की) मोटाई (coarseness) के मुताबिक छँट जाते हैं। बारीक धूल बालू की अपेक्षा अधिक हल्की हवाओं द्वारा उड़ा कर ले जायी जा सकती है ; और यह दूर तक जाती है। पर्वत श्रेणी बालू के लिए बाधा होती है, लेकिन धूल तो पूर्ण रूप से उड़ा कर उसके पार ले जायी जा सकती है।

अंशतः इस छँटनी के कारण और अंशतः पदार्थ की आपूर्त्ति करने वाली चट्टान की प्रकृति के कारण बालू तथा दोमट दोनों की मरुभूमियाँ पायी जाती हैं। ये दोनों
की प्रकृति के कारण बालू तथा दोमट दोनों की मरुभूमियाँ पायी जाती हैं। ये दोनों
निक्षेपण के द्वारा बनी हैं और इस प्रकार ये पूर्व-वर्णित चट्टानी तथा पत्थर के टुकड़ों वाली मरुभूमियों से जहाँ क्षयीकरण का प्राबल्य रहता है, उत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न होती हैं। उदाहरण के लिए दक्षिणी अफ्रिका में ऐसी बहुत सी घाटियाँ हैं जो अंशतः हवा द्वारा ला कर जमा की गयी बालू से भरी गयी हैं।

जिन स्थानों में बालू नहीं रहती है उन स्थानों में बालू के टीले (sand dunes) प्रायः अलग-अलग बनते हैं। लेकिन जहाँ बालू प्रचुर मात्रा में पायी जाती है वहाँ ये टीले अत्यधिक सटे-सटे बनते हैं और ये प्रायः असमतल धरातल (सतह) के साथ मिल-जुल जाते हैं। इस असमतल धरातल (सतह) पर बालू के टीलों के ऐसे क्रम बन जाते हैं जिनके बीच गर्त अथवा धँसकन (गड्ढ़े) पाये जाते हैं। बालू के टीले के निर्माण के लिए हमें इस बात की कल्पना करनी चाहिए कि वहाँ पहले बालू का खण्ड रहता है, या वहाँ किसी अन्य प्रकार का प्रतिरोध है अथवा ठीक नीचे वाली चट्टान की तह में किसी प्रकार की भिन्नता है। हवा बालू के कणों को मरुभूमि के चट्टानी या प्रस्तरीय भाग के ऊपर उड़ कर दूसरी ओर जाने को बाध्य करती है। लेकिन उस खण्ड या प्रतिरोध के पास पहुँचने पर हवा की चाल इसके ऊपर उड़ती हुई बालू (drifting sand) के इसके साथ घर्षण से उत्पन्न खिंचाव (frictional drag) के कारण मन्द हो जाती है। इस तरह हवा उस खण्ड से आगे अत्यल्प धीमी गति से बढ़ती है ; इसलिए वह अत्यल्प या बिल्कुल ही बालू उड़ा कर आगे नहीं ले जाती है जिससे कि बालू आ कर यहाँ जमा हो जाती है। विभिन्न दिशाओं से बहनेवाली हवाएँ लगातार बालू उड़ा कर लाती और इसमें (बालू के टील में) मिलाती जाती है ; इसलिए हमें प्रत्यक्ष रूप से हवा की यह अनियमित दशा देखने को मिलती है कि

---

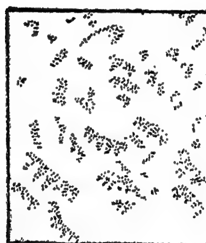
१ फिर भी सहारा में विस्तृत क्षेत्र जो रेग (Reg) या सेरीर (Serir) के नाम से विख्यात है, गोल गिट्टियों से ढँके हैं। ये गोल कंकड़ सम्भवतः जलोढ़ पदार्थ की तहों के भग्नावशेष हैं जो अतीत काल में अधिक वर्षा वाले समय आने वाली बाढ़ों द्वारा निक्षेपित हुए थे।

यह विस्तृत प्रस्तरीय मरुभूमि से बालू बटोर कर लाती तथा उसे किसी अन्य स्थान में जमा कर देती है जिससे बालू के टीले का निर्माण होता है।

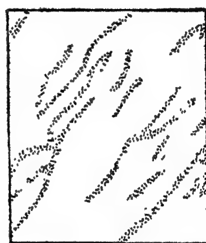
जब हवा केवल एक ही दिशा से चलती और काफी बालू उड़ कर आती है तो अर्द्ध चन्द्राकार टीले (crescentic clums or barkhans) का निर्माण होता है। हवा बालू को उड़ा कर केवल बालू के टीले पर ही नहीं ले जाती बल्कि उसके चारों ओर भी ले जाती है। इसलिए एकाकी बालू के टीलों के किनारे सींगों (horns) के रूप में जिस दिशा में हवा बहती रहती है उस दिशा में ही बढ़ते जाते हैं, इसलिए ढाँचे (plan) में ये अर्द्ध चन्द्राकार हो जाते हैं। बालू उड़ कर इसके अपेक्षाकृत धीमे (windward side) पवनाभिमुख ढाल पर जमा हो जाती है और खड़े ढाल वाले सुरक्षित प्रतिवाती किनारे (leeward side) में नीचे गिर जाती है जिससे इस ओर सरकने वाले उच्छृंग (slipping cliff) का निर्माण होता है। इस प्रकार बालू का टीला धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ता जाता है। (चित्र १९६)



चित्र १९६—बारखन



a



b

चित्र १९७—भारतीय मरुस्थल में रेत की पहाड़ियाँ

यदि हवाएँ परिवर्तनशील होती हैं तो बालू का टीला आकाररहित ढेर मात्र रह जाता है और इसलिए इसके संचलन भी टेढ़े-मेढ़े होते हैं।

जब एक ही जगह बहुत से बालू के टीले बन जाते हैं तो दो या तीन टीले एक साथ मिल जाते हैं जिसके फलस्वरूप उनका अर्द्ध चन्द्राकार रूप लुप्त हो जा सकता है। भारतीय मरुभूमि में बालू की विशेषत: दो प्रकार की पहाड़ियाँ महत्वपूर्ण हैं। एक प्रकार की पहाड़ी (चित्र १९७) में बालू का कगार (ridge) रहता है जो प्रचलित हवा की दिशा पर लम्बरूप होता है। इसके प्रतिवात में खड़ी ढाल और पवनाभिमुख में धीमी ढाल रहती है। लेकिन पवनाभिमुख ढाल एक समान (uniform) नहीं रहती, बल्कि यह छोटी घाटियों द्वारा विभिन्न प्रक्षेपों (spurs) में विभक्त हो जाती है; ये प्रक्षेप प्रधान कगार पर लम्बरूप रहते हैं। संभवत:

ये पहाड़ियाँ बालू के कई अर्द्ध-चन्द्राकार (barkhans) टीलों के मिल जाने से बनती हैं, और संभवत: प्रत्येक प्रक्षेप प्रारम्भ में बालू के एकाकी टीले की पवनाभिमुख ढाल रहा हो।[1]

दूसरे प्रकार की बालू की पहाड़ियों (चित्र १६७) का आकार नितान्त भिन्न होता है। प्रत्येक पहाड़ी लम्बा तथा संकीर्ण कगार के रूप में रहती है जो प्रचलित हवा की दिशा के अनुसार फैली रहती है। इसके दोनों तरफ वाले भाग तो खड़े रहते हैं, साथ ही प्रतिवात पार्श्व भी खड़ा रहता है। कगार का शीर्ष पवनाभिमुख पार्श्व से प्रतिवात वाले छोर की ओर मन्द गति से उठता जाता है। वास्तव में यह बालू के साधारण टीले के समान रहता है और इसका आकार हवा की दिशा में अत्यधिक लम्बा रहता है। जहाँ-तहाँ दो निकटवर्ती कगार छोटे अनुप्रस्थ कगार के द्वारा मिल जाते हैं।

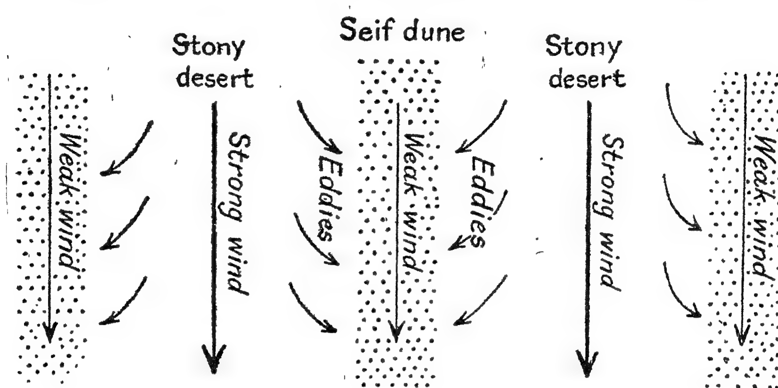
बालू की इन लम्बी पहाड़ियों का निर्माण कुछ दृष्टियों से हवा की सामर्थ्य से सम्बद्ध मालूम पड़ता है। सिन्ध के थार तथा पारकर जिले की ये मरुभूमि के पश्चिमी तथा समुद्र की ओर वाले पार्श्व में सीमित हैं जहाँ दक्षिणी-पश्चिमी मॉनसून अनुमानत: सब से ज्यादा सबल (force) रहता है। जोधपुर में बारमर के चारों ओर वाले क्षेत्र में सब के सब बालू के टीले अनुप्रस्थ की कोटि के हैं। उनसे बालू के टीले की खास ऊँचाई तक पहुँच जाने के बाद स्थायीरूप से रहने की प्रवृत्ति का निरूपण होता है। जोधपुर से उत्तर-पूर्व तथा पश्चिम और बीकानेर में बालू के टीले उतने ऊँचे नहीं हैं और साथ ही मॉनसून के समय वे स्थानान्तरित होते हैं, या अपना स्थान बदलते रहते हैं।

लिबिया की मरुभूमि में कभी-कभी बालू के अनुदैर्घ्य या लम्बे टीले लगातार एक सौ किलोमीटर या उससे भी अधिक दूर तक फैले रहते हैं। पहाड़ियों में गली होती है जिससे हो कर हवा बहती है। उस गली के प्रतिवात पार्श्व में ये टीले पाए जा सकते हैं। इसकी समानान्तर श्रेणियों के बीच अनावृत मरुभूमि रहा करती है। शीर्ष पर कभी-कभी एक तरफ वाला भाग खड़ा रहता है और कभी-कभी दूसरी तरफ वाला ; यह अन्तिम आर पार बहने वाली हवा की दिशा के मुताबिक ही होता है। बालू के ये टीले वहीं पर बनते हैं जहाँ बालू प्रचुर मात्रा में रहती है और जब शक्तिशाली आर पार बहनेवाली हवाएँ ऐसी दिशा से बहती हैं जो अधिक दृढ़ प्रचलित हवाओं की दिशा से भिन्न होती है जो बालू को साधारण रूप से इधर-उधर जाने को बाध्य करती है ; अर्थात् जब हवा एक दिशा से नहीं बहती है जैसा कि 'बरखान' के सम्बन्ध में होता है। वे प्रचलित हवायें जो बालू को उड़ाकर ले जाने के लिए काफी प्रबल होती हैं, खुले भूभागों में उनका वेग (velocity) बालू के टीलों पर बहने के (इनके) वेग से अधिक रहता है। इसलिए वहाँ बराबर बवंडर उठा करते हैं जो अनावृत भू-खण्डों से बालू उड़ा कर बलुग्राही भू-भागों की ओर ले जाते हैं। बालू के अनुदैर्घ्य टीले के विस्तृत क्षेत्र आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं।

---

१ यह ध्यान देने योग्य बात है कि छोटी-छोटी पहाड़ियों में से बहुत सी (पहाड़ियाँ) घोड़े के नाल के आकार की हैं तथा उत्तरी-पूर्वी मॉनसून द्वारा निर्मित बालू के अर्द्ध चन्द्राकार (barkhans) टीले के समान मालूम पड़ती है, यद्यपि यहाँ दक्षिणी-पश्चिमी मॉनसून अधिक प्रबल रहा करता है।

बालुकामयी मरुभूमि के किनारे पर बालू के टीलों के आगे की ओर बढ़ने से ऐसे क्षेत्र नष्ट हो गये हैं जो एक समय उपजाऊ थे। इसी तरह मिश्र तथा सीरिया में पुरानी इमारतें और नगर बालू के नीचे ढँक गये हैं ; यहाँ तक कि ब्रिटिश द्वीप-समूह में भी बलुआही तट के बालू के टीले बढ़ कर कभी-कभी फसल वाले क्षेत्रों में फैल जाते हैं ; और मोरे फर्थ (Moray Firth) के दक्षिणी तटों पर बालू की पहाड़ियाँ बढ़ कर जंगल में फैल गयीं। इसके अतिरिक्त बालू के इन टीलों ने कलबिन राज्य पर फैल कर उसे नष्ट कर दिया जो एक समय उपजाऊ था (प्लेट २० a)।



चित्र १९८--चलती हुई हवाओं के प्रभाव से सीफ-ड्यून्स में रेत का मिलना

गौसकौनी के झाड़ीदार मैदानों में बालू के टीलों के आगे बढ़ने पर क्षति इतने (भयंकर) जबर्दस्त रूप से होने लगी कि उनकी आगे की ओर बढ़ने के संचलन को रोकने के लिए उपाय किए गये थे। विशेष प्रकार के हरितकीय पौधे जिनकी जड़ फैलती हैं, बालू के टीलों पर बालू को आबद्ध करने तथा कोणधारी पेड़ों के पौधों को स्थायी रूप से लगाने के लिए उपाय के हेतु लगाए गये थे। यह विधि पूर्ण रूप से सफल हुई जिससे बालू के टीलों का आगे की ओर बढ़ना बिलकुल बंद हो गया है।

यहाँ तक कि वास्तविक मरुभूमियों में भी बालू का संचलन प्रायः नितान्त रूप से पृष्ठस्थ रहता है और ये बालू के विशाल टीले अपनी जगहों से नहीं हटते। राजस्थान की बारमर नामक मरुभूमि में इनसे भी बड़-बड़े बालू के टीले पाए जाते हैं जो वहाँ के मैदान से १५० से लकर २०० फुट तक ऊँचे हैं। बालू के ये टीले अपनी वर्तमान स्थिति में बहुत वर्षों से रहे हैं। ऐसा उनकी प्रतिवातीय ढालों पर वाले वृक्षों के आकार के निर्णय के आधार पर माना गया है। कुछेक परिस्थितियों में ऐसा इसलिए हो सकता है कि हवाएँ परिवर्तनशील होती हैं; कुछ में इसलिए होता है कि बालू के टींले जलाशय का काम करते हैं। मरुभूमि में वर्षा दुर्लभ होती है। लेकिन जब वर्षा होती है तो इसका जल तत्क्षण बालू में सोख लिया (प्रवेश) जाता है। वाष्पन (वाष्पीकरण) केवल धरातलीय तहों में ही होता है और बालू के नीचे जमीन

न्यूनाधिक रूप से आर्द्र रहती है। आर्द्र बालू हवा द्वारा सरलता से विचलित नहीं होती और इसलिए केवल पृष्ठस्थ बालू ही अपने स्थान से हटा करती है। बालू



चित्र १९९—वायुक्षरित मलानी रायोलाइट, जोधपुर के पास

का टीला जितना ही अधिक बड़ा रहता है उतनी ही सफलता से जल उसकी गहराई के अन्दर उतनी ही अधिक पूर्णता से सुरक्षित रहता है। इस तरह कुछेक क्षेत्रों में बालू के छोटे-छोटे टीले अपने स्थान बदलते रहते हैं। लेकिन बालू के अधिक बड़े टीले विशेषतः स्थायी होते हैं। बालू के वे टीले जो वनस्पति के कारण गति-रहित (स्थिर) हो गये हैं, (वे) उसके बाद चूनेदार पदार्थ के प्रवेश करने से ठोस हो जा सकते हैं, जिससे जलवायु में होनेवाले परिवर्तनों के बावजूद भी वे बचे रह जाते हैं। बालू के ऐसे टीले तथा साथ ही बालू के खरोच से गड्ढे या सूराखों का बनना (sand-blast pitting)—ये कभी-कभी जो क्षेत्र आज आर्द्र हैं अतीत कालीन मरुस्थलीय परिस्थितियों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

ला टोची (La Toche) के मुताबिक शुष्क क्षेत्रीय क्षयीकरण के परिणाम राजपूताने में भी उतनी ही स्पष्टता के साथ दिखाई पड़ते हैं, जितनी स्पष्टता के साथ मिश्र में। वहाँ रायोलाइट लावा के टुकड़ों (Malani rhyolite) को आरपार करनेवाली दरारें मिलती हैं (चित्र १९९)। बालू से लदी रहनेवाली हवा के कार्य के फलःस्वरूप मारवाड़ की पहाड़ियों में जो प्रचलित हवाओं में खुली रहती हैं, चिकनी

सतह तथा लम्बे चिह्न या धारियाँ (striations) दिखाई पड़ती हैं। काँच सदृश मलानी लावा में ये और भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

बालू से लदी रहनेवाली हवा के द्वारा नीचे से कटने तथा चिकने होने के कारण ग्रेनाइट के पृथक् पुंज (सहतियाँ) मशरूम (mushroom) का रूप धारण कर लेते हैं (चित्र २००)। ये सहारा मरुभूमि के 'गौर' या 'गारा' के समान मालूम पड़ते हैं। उन छोटे छिद्रों के जो बालू या समानुस्थित कंकड़दार पुंजों के ऋतु अपक्षयण



चित्र २००—मशरूम ग्रेनाइट, जोधपुर, राजस्थान मरुस्थल

के द्वारा मूलतः बने हैं चौड़े हो जाने से दण्डी उच्छृंगों के धरातलों पर बड़े गड्ढे या गर्त्त बन जाते हैं।

हवा के द्वारा होने वाले क्षयीकरण से विभिन्न प्रकार की चट्टानों पर विभिन्न प्रकार के असर पड़ते हैं। अर्वली पर्वत की अत्यधिक झुकी शिष्ट तथा स्फटिक शिलायें (क्वार्जाइट) लम्बे "हॉगबैक" रूपी कगारों के रूप में परिवर्तित हो गयी हैं जिनके दोनों ओर स्क्री की ढाल बराबर हैं। लावा के प्रवाह से ऐसी शंक्वाकार पहाड़ियों या लम्बे कगारों का निर्माण हुआ है जिनके पार्श्व खड़े, और रूपरेखाएँ ऊभड़-खाभड़ हैं तथा पादस्थल में क़ोणदार स्क्री पाया जाता है, और ग्रेनाइट के अधिक एक से उत्पिण्ड

बारहवाँ अध्याय

भूम्याकृतियों पर जलवायु का प्रभाव

जलवायु के कटिबन्ध :—पहाड़ियों तथा घाटियों के आकार बहुत हद तक अनावृत्तीकरण के दूतों के द्वारा निर्धारित होते हैं जो उन पर कार्य करते हैं। इन दूतों की प्रकृति प्रधानतः जलवायु पर निर्भर करती है। इसलिए उदाहरणार्थ जहाँ पर वर्षा अक्सर हुआ करती है, वहाँ अनावृत्तीकरण प्रधानतः जल के कारण होता है। इसके विपरीत जहाँ वर्षा बहुत कम होती है, वहाँ हवा और ताप के परिवर्तनों का बहुत ज्यादा महत्व होता है। फलतः किसी देश की भूम्याकृतियाँ इसकी जलवायु से बहुत ज्यादा प्रभावित होती हैं।

इसलिए भौगोलिक दृष्टि से भू-तक्षण के साधारण प्रक्रमों पर संक्षिप्त रूप से विचार करना लाभप्रद होगा। और इस प्रयोजन के लिए ताप तथा वर्षा के आधार पर भूमंडल निम्नांकित क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है :—

भूमध्य रेखीय कटिबन्ध तथा मौसमी वायु वाले प्रदेश—इन क्षेत्रों में ताप ऊँचा और वर्षा अधिक होती है।

उष्ण शुष्क प्रदेश—इसमें ताप ऊँचा तथा वर्षा थोड़ी होती है।

समशीतोष्ण कटिबन्ध—इन कटिबन्धों में ताप मध्यम रहता है और वर्षा भी थोड़ी ही होती है।

ध्रुव प्रदेश—इन प्रदेशों में ताप नीचा रहता है, तथा वृष्टि प्रधानतः हिम के रूप में होती है।

लेकिन इन प्रदेशों के बीच कोई स्पष्ट (निश्चित) सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त विशेषकर समशीतोष्ण कटिबन्ध एकरूपता से बहुत दूर रहते हैं। इसका कारण यह है कि इनके अन्तर्गत अल्प वर्षा वाले क्षेत्र भी आते हैं। इसके विपरीत पार्वतीय प्रदेशों में वर्षा अत्यधिक हो सकती है; औसत ताप हमेशा कम रहता है, लेकिन ताप का अन्तर अत्यल्प या अत्यधिक हो सकता है।

समशीतोष्ण कटिबन्धों में भू-तक्षण :—समशीतोष्ण प्रदेशों में जहाँ भी कम वर्षा होती है वहाँ क्षयीकरण का अधिकांश कार्य नदियों के द्वारा होता है। ऋतु अपक्षयण अंशतः जल के रासायनिक क्रिया के कारण होता है जिसमें कार्बनडाइऑक्साइड तथा अन्य तत्व बिलयन (घोल) के रूप में मिले रहते हैं, तथा अंशतः तुषार की यांत्रिक क्रिया के द्वारा जहाँ जल की रासायनिक क्रिया प्रबल रूप से होती है वहाँ चट्टानों का क्षय होता है जिसके फलस्वरूप उनके धरातल गोल हो जाते हैं और जहाँ (तुषार की) यांत्रिक क्रिया अधिक प्रबलता के साथ होती है वहाँ कोणदार टुकड़े टूटकर अलग हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप वहाँ पहाड़ या पहाड़ी विषम धरातलीय उबड़-खाबड़ टीले काफी बन जाते हैं। दोनों अवस्थाओं में अबद्ध (टूटे-फूटे) पदार्थ बहते हुए जल के सहारे बह कर नीचे की ओर चला आता है और जब तक यह समुद्र में नहीं चला जाता तब तक इसे स्थाई रूप से जमा होने की जगह नहीं मिलती है। इस प्रकार

केवल घाटियाँ ही नहीं बल्कि पहाड़ी के पार्श्वों में भी प्रायः जल द्वारा होने वाले क्षयीकरण का वक्र भी दिखाई पड़ता है; समशीतोष्ण जलवायु की यह सब से विशिष्ट आकृति है। पहाड़ियाँ मैदानों से क्रमशः ऊँची होती जाती हैं तथा उनकी ढाल क्रमश· चोटियों के पास अधिक होती जाती है। निम्न स्थलों में जहाँ रासायनिक ऋतुअपक्षयण होता है, वहाँ पहाड़ी की आकृतियाँ चिकनी तथा गोल हो जाती हैं। लेकिन पहाड़ों पर जहाँ तुषार का कार्य अधिक महत्वपूर्ण रूप से होता है. वहाँ नुकीली चोटियाँ तथा विषम ढालें बहुतायत से पायी जाती हैं (प्लेट १४ और १५)।

उष्णशुष्क प्रदेशों में भू-तक्षण :—उष्ण प्रदेशीय मरुभूमि में साधारणतया जल का अभाव रहता है। वहाँ मिट्टी को अबद्ध रखने के लिए बनस्पति नहीं रहती है; इसलिए वहाँ हवा ही क्षयीकरण तथा परिवहन का प्रधान दूत बन जाती है। चट्टानें प्रधानतः ताप में अन्तर होने के कारण ही टूटती-फूटती हैं; इसलिए क्षय (चट्टानों का) बहुत कम होता है। इसलिए भग्न टुकड़े कोणदार होते हैं तथा शैल जैसी किसी मलायम चट्टान से नहीं बने रहने पर पहाड़ियाँ असम होती हैं। समतल मैदान निक्षेप के फलस्वरूप बना हो अथवा ठोस चट्टान से लेकिन पहाड़ियाँ इसके (मैदान) धरातल से एकाएक खड़ी होती हैं। मैदान तथा पहाड़ी के बीच खड़ा कोण इसका विशेष लक्षण है लेकिन यह कोण पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं रहता। अबद्ध पदार्थ गुरुत्व, हवा तथा यदाकदा आनेवाली वर्षा की आँधियों के द्वारा नीचे चला आता है। लेकिन वहाँ पर नदियाँ नहीं रहतीं जो इसे ढो कर समुद्र में ले जायँ; इसलिए यह खाइयों में जमा हो जाता है और उन्हें धीरे-धीरे भर देता है। अधिक छोटी पहाड़ियाँ पूर्णरूप से ढँक जा सकती हैं और केवल अधिक ऊँची पर्वत श्रेणियों की चोटियाँ ही अनावृत्त रह सकती हैं और अबद्ध पदार्थ ताप के अन्तर के कारण और भी टूट-फूट जाते हैं तथा ये हवा द्वारा वितरित हो जाते और विस्तृत समतल मैदानों का निर्माण करते हैं। इनमें बालू के टीले पाए जाते हैं जिससे ये मैदान असम मालूम पड़ते हैं।

जल द्वारा होनेवाले क्षयीकरण का वक्र शायद ही दीख पड़ता है तथा वहाँ भग्न चट्टान या बालू या दोमट मिट्टी के विस्तृत समतल मैदान जैसी विशेष प्रकार की स्थलाकृतियाँ पायी जाती हैं जिनमें पहाड़ी श्रेणियाँ रहती हैं जो सामुद्रिक द्वीपों के समान धरातल से एकाएक उठते नजर आते हैं। (प्लेट २१ और २२ देखिए) (जो भार क्रमिक अवस्थाओं को निर्सपित करते हैं।

भूमध्य रेखीय कटिबन्ध में भू-तक्षण :—भूमध्य रेखीय प्रदेशों में वर्षा अत्यधिक होती है तथा वनस्पति की प्रचुरता रहती है। ताप ऊँचा तथा एक समान रहता है। उष्णता और आर्द्रता के कारण जिनमें मृत पत्ते तथा पौधों के सड़ गल (विदीर्ण) जाने से उत्पन्न अम्ल मिले रहते हैं, चट्टानों का क्षय तेजी से होता है जिससे मिट्टी अथवा चूर्ण चट्टान के आवरण की मोटाई प्रायः ज्यादा रहा करती है। सब से ऊँचे भाग सब से ज्यादा अनावृत्त रहते हैं; इसलिए इनका सब से अधिक तेजी से क्षय (नष्ट) हो जाता है जिससे सभी कोणात्मकताएँ कट कर पूर्णरूप से नष्ट हो जाती हैं। वनस्पति की बाढ़ सघन होने के कारण अबद्ध पदार्थ का परिवहन सरलता से नहीं हो पाता है और इसलिए बहते हुए जल के बावजूद भी पहाड़ियों का आकार प्रायः उतल रहता है जो रासायनिक [illegible] की विशेषता है।

ध्रुवीय कटिबन्धों में भू-तक्षण :—ध्रुव प्रदेशों में ग्रीष्म की प्रचण्डता के अतिरिक्त बहता हुआ जल कभी भी नहीं पाया जाता। इसलिये वहाँ चट्टानों का क्षय नहीं होता है। लेकिन ताप में अन्तर पड़ने के कारण अथवा (कुछेक) ऋतुओं में तुषार के द्वारा टूट-फूट जा सकती हैं। वनस्पति के अभाव के कारण हवा ही अनावृत्तीकरण का महत्वपूर्ण दूत बन सकती है। इसलिए बहुत अंशों में भूम्याकृतियाँ प्रायः उष्ण प्रदेश की मरुस्थलीय भूम्याकृतियों से भिन्न नहीं होतीं। पहाड़ियाँ भी समान रूप से खड़ी होती हैं तथा निम्नस्थ भूमि पर भी एक ही तरह के अवद्ध पदार्थ का एकत्रीकरण पाया जा सकता है।

फिर भी बहुत कुछ हिम की मात्रा पर निर्भर करता है। ग्रीनलैण्ड तथा स्पिट्-जबर्जेन के जैसा जहाँ हिमपात अधिक होता है वहाँ का सम्पूर्ण प्रदेश वर्फ की तह के अन्दर ढँक जा सकता है या हिमनदियाँ पहाड़ों से तट तक बह कर आ सकती हैं। अवद्ध पदार्थ का अधिक भाग बह कर समुद्र में चला जाता है और वर्फ के नीचे आवृत्त भूम्याकृतियाँ हिमघर्षित प्रदेश की भूम्याकृतियों के समान रहती हैं। फिर फिर भी वे चोटियाँ, जो वर्फ तथा हिम के आवरण को वेधती हैं, उनमें नुकीली चोटियाँ तथा कोणात्मक रूप रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जो तुषार की क्रिया की विशेषताएँ हैं (प्लेट १६ a,b देखिए)।

भू-तक्षण के साधारण प्रेक्षण :—इस प्रकार जलवायु के चार भेदों में प्रत्येक की अपनी अपनी विशेष प्रकार की भूम्याकृतियाँ होती हैं, लेकिन विशिष्ट आकृतियों में परिवर्तन की सम्भावना रहती है। एक प्रतिरोधक चट्टान हमेशा उभरी रहेगी जिससे प्रदेशों के आर्द्रतम भाग में खड़ी ढालों तथा पहाड़ या पहाड़ी की उबड़-खाबड़ चोटी के असम ढालुएँ भाग का निर्माण हो सकता है। वह चट्टान जो पानी को तेजी से नीचे जाने देती है, उसमें यहाँ तक कि समशीतोष्ण जलवायु में भी जल द्वारा होने वाले क्षयीकरण के वक्र का अत्यल्प चिह्न दिखाई पड़ सकता है और उसमें मरुस्थलीय प्रदेश की कुछ स्थलाकृतियाँ मिल सकती हैं। मिश्र की चौरस शीर्षवाली पहाड़ियाँ बलुचिस्तान की असम पर्वत श्रेणियों से बहुत भिन्न हैं यद्यपि दोनों में जलविहीन प्रदेश की एकाएक खड़ी ढालें दिखाई पड़ती हैं। पहली यानी, मिश्र की पहाड़ियों में तहें अनु-प्रस्थ हैं, लेकिन दूसरी, यानी, बलुचिस्तान की पर्वत श्रेणियों में मोड़दार (मंगिल)। हिम नदियाँ तथा हिम घर्षित घाटियाँ निम्न अक्षांशों में अधिक ऊँची पर्वत श्रेणियों पर पायी जाती हैं। यूरोप तथा अमेरिका के उत्तरी भाग में यहाँ तक कि निम्न स्थलों में ऐसी स्थलाकृतियाँ पायी जाती हैं जो वहाँ आर्कटिक जलवायु द्वारा बनी थीं।

यहाँ पर सम्भवतः इस बात का जिक्र कर देना चाहिए कि समशीतोष्ण कटिबन्ध का अधिक भाग जैसा कि इस शब्द का प्रायः अर्थ लगाया जाता है, कि जलवायु, समशीतोष्ण जलवायु से बहुत भिन्न है। मध्य एशिया में इसके अन्तर्गत संसार की कुछ सबसे बड़ी मरुभूमियाँ आती हैं और उत्तरी-पूर्वी साइब्रेरिया में सव से अधिक विषम जलवायु पायी जाती है। पहले (मध्य एशिया) में स्वभावतः मरुभूमि की जैसी भूम्याकृतियाँ पायी जाती हैं और दूसरे में (उत्तरी-पूर्वी साइबेरिया) बहुत हद तक ध्रुव प्रदेशीय जलवायु सदृश भूम्याकृतियाँ पायी जाती हैं जहाँ थोड़ा हिमपात हुआ करता है लेकिन नदियों के रहने के कारण उसका असर कम हो जाता है।

तेरहवाँ अध्याय

ज्वालामुखी पर्वत

पृथ्वी के अन्तरांश की अवस्था :—खान वाले गड्ढों तथा कुओं की खुदाई में गहराई के साथ-साथ ताप बढ़ता जाता है। ताप के बढ़ने की गति एकरूपता से बहुत दूर रहती है। लेकिन प्रेक्षणों के सिलसिले में इस बात का पता चला है कि नीचे जाने पर प्रत्येक ६४ फुट पर औसत करीब १° फारेनहाइट ताप बढ़ता है। नीचे कहाँ तक ताप का बढ़ना जारी रहता है, यह अभी तक अनिश्चित है। लेकिन यदि इसे परिर्वातित मान लिया जाय तो पृथ्वी के अन्दर का ताप पृथ्वी की सतह (धरातल) की किसी भी चट्टान के गलनांक से अवश्य ही ऊँचा होगा।

उपर्युक्त तथा अन्य मतों के आधार पर पहले के भूगर्भशास्त्रवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पृथ्वी का भीतरी भाग अवश्य ही तरल है तथा ठोस पटल अपेक्षाकृत एक पतली तह है जो (तरल) गलित पुंज पर तैर रही है। लेकिन पृथ्वी के अन्दर में ऊपर की चट्टान चाहे वह ठोस हो या तरल, उसके कारण दाब जरूर ही ज्यादा होगा; और दाब का परिवर्द्धन अधिकांश प्रकार के पदार्थों के गलनांक को बढ़ा देता है। भूकम्प की तरंगों की गति से पता चलता है कि पृथ्वी की बहुत गहराई में तरल पदार्थ के कुछेक महत्वपूर्ण गुण हैं। लेकिन पृथ्वी प्रधानतः इस प्रकार कार्य करती है कि मानो यह ठोस हो।

पृथ्वी के ठोस होने के पक्ष में सब से जबर्दस्त तर्क ज्वार-भाटों से मिलता है। यदि पृथ्वी का भीतरी भाग तरल रहता तो यह बहुत अंशों में चन्द्रमा द्वारा ठीक उसी तरह प्रभावित होती जिस तरह महासागर का जल; और बाहरी भूत्वक (पर्त) नीचे वाले तरल पदार्थ की गतियों की ओर झुक जाता। यदि यह ठीक उतना ही झुकता जितना कि जल झुकता है तो ज्वार-भाटा सम्भवतः अतिसूक्ष्म होते और यदि यह उससे कम झुकता तो ज्वार-भाटा की अपात ऊँचाई भूत्वक की गति के बराबर अर्थात् भूत्वक जितनी दूर झुक कर बढ़ता उतनी कम हो जाती। जैसा वास्तव में देखा गया है, ज्वार-भाटा की ऊँचाइयों के आधार पर इस बात की गणना की गयी है कि (भूत्वक के) झुकाव अत्यल्प होता है और पूर्णतः पृथ्वी एक ही आकार के लोहे की ठोस गेंद के बराबर दृढ़ है। स्वाभाविक निष्कर्ष तो यह दीख पड़ता है कि पृथ्वी के भीतर का बहुत अधिक भाग ठोस है।

फिर भी इतना निश्चित है कि गलित चट्टान या लावा कभी-कभी नीचे से निकल कर ऊपर आता है और जमीन पर उड़ेला जाता है। इसलिए धरातल (सतह) के नीचे गलित चट्टान का भण्डार है; वह (चट्टान) ऊपर के दाब के हट जाने पर पिघल जाती है।

ज्वालामुखी पर्वतों का निर्माण :—[illegible] पर्वतों का निर्माण इस पदार्थ (गलित चट्टान या मैगमा) के प्रयस्त निष्कासन के फलस्वरूप होता है। यह सम्भव है कि भूत्वक से चू कर आने वाला जल गलित अथवा सम्भाव्यतया गलित चट्टान के सम्पर्क में आता है जिससे जल का अकस्मात् भाप के रूप में परिणत होना लावा

को ऊपर की ओर आने को बाध्य करता है और इस प्रकार ज्वालामुखी का विस्फोट उत्पन्न करता है। इस दृष्टिकोण के पक्ष मे यह बतलाया गया है कि अधिकांश ज्वालामुखी पर्वत समुद्र के निकट अवस्थित हैं, और साथ ही ज्वालामुखीय विस्फोट (उद्‌गार) के साथ साधारणतया वृहत् बादलों के रूप में भाफ निकला करती है।

दूसरा अधिक सम्भव सुझाव यह है कि पृथ्वी की गतियों के कारण दाब का हटना ही गलित पदार्थ के निकलने का प्रधान कारण है और वास्तव में ज्वालामुखी पर्वत अधिकता से उन्हीं प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ पृथ्वी की गतियाँ जारी रहती हों। ज्वालामुखी पर्वत की उष्मा तथा उसका अविराम कार्य-कलाप (continued activity) उन रासायनिक प्रतिक्रियाओं के कारण होते हैं जो अधिक वाष्पशील (volatile gases) गैसों के द्वारा उत्पन्न होती हैं। ये (अधिक वाष्पशील) गैसें मैगमा या गलित पदार्थ के ऊपरी भाग पर उठ कर चली आती है। इससे भी अधिक उष्मा मैगमा तथा क्रेटर का निर्माण करनेवाली चट्टानों के होने वाली प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती है। पूरा-का-पूरा प्रश्न महान् जटिलता का है और इसलिए यहाँ इस पर इससे अधिक विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया जा सकता।

वास्तविक ज्वालामुखी पर्वत एक शंक्वाकार पहाड़ी है जिसके शीर्ष या पार्श्वों मे ज्वालामुखी के उद्‌गार रह -रह कर हुआ करते हैं। पहाड़ी ज्वालामुखी के उद्‌गारों से निकले हुए पदार्थों से बनी रहती है। यह उस बाहर निकले हुए पदार्थ मे बनती है जो स्वभावतः बहिर्मुख के पास सब से मोटी तह के रूप में जमता है और दूर में कम मोटी तह के रूप में (प्लेट २५)।

अधिकांश ज्वालामुखीय पर्वतों में शंकु के शीर्ष पर कीप के आकार का गड्ढा रहता है; इस गड्ढे को ज्वालामुखी का मुँह या क्रेटर (crater) कहते हैं। कीप के समान गढ़े का तल चैनेल या नली के साथ मिला रहता है जिससे हो कर उत्क्षेपित पदार्थ धरातल पर आता है। जब ज्वालामुखी पर्वत से उद्‌गार नहीं होता है तब नली प्रायः उन ठोस लावा या टुकड़ों से बन्द हो जाती है जो वायु में उड़ कर चले गये थे और पुनः ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में गिर गये हैं (प्लेट २५)।

कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वत का उद्‌गार इसके पार्श्वों में होता है जिससे छोटा या पराश्रयी शंकु का निर्माण होता है, इसका अपना मुँह होता है।

उद्‌गार से उत्पन्न पदार्थ :—ज्वालामुखी पर्वत के उद्‌गार के समय वाले निसृत पदार्थ ठोस, तरल, या गैसीय हो सकते हैं।

साधारणतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि बादल के विशाल पुंज जो सक्रिय ज्वालामुखी पर्वत से उद्‌गार के समय निकलते हैं, उनमें प्रधानतः संघनित होती हुई भाप रहती है; लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता। और इसलिए एम० बर्न के मतानुसार जावा तथा अन्य स्थानों में ज्वालामुखी पर्वत से होने वाले उद्‌गारों के समय निसृत बादलों में इर्द-गिर्द की वायु से बिलकुल अधिक भाप नहीं थी। उनका विश्वास है कि उनमें प्रधानतः अमोनियम क्लोराइड (ammonium chloride) रहता है।

फिर भी इस बात में बहुत कम ही संदेह हो सकता है कि कभी-कभी उनमें जलवाष्प अत्यधिक मात्राओं में रहा करता है। ज्वालामुखीय उद्‌गारों के पश्चात् प्रायः वर्षा की बाढ़ आ गयी है; और ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्षा ज्वालामुखी से

निसृत बाष्प के संघनन तथा ज्वालामुखी से प्रादुर्भूत उष्मा के द्वारा उत्पन्न शक्तिशाली संवाहनिक धाराओं के रूप में आपतित आर्द्रता के मिलने से हुई है। उद्गार के समय उत्क्षेपित बादलों की पूर्ण रूप से परीक्षा करना असम्भव है।

जिन गैसों का पर्याप्त मात्रा में पता लगा है, उनके अन्तर्गत उद-नीरिक अम्ल (hydrochloric acid), शुल्बेचित उद्जन (sulphuretted hydrogen), गन्धकडाइऑक्साइड, (sulphur dioxide)), उद्जन (hydrogen), तथा कार्बन डाइऑक्साइड (carbon dioxide) सम्भवतः सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं। ज्वलनशील गैसें, जैसे उद्जन और इसके कुछेक यौगिक कभी-कभी ही पर्याप्त मात्रा में रहा करती हैं जिससे उनसे ज्वालाएँ उत्पन्न हों। लेकिन अधिकांश उद्गारों में शंकु के शीर्ष पर ज्वालाओं का निकलना प्रधानतः वायु में उत्क्षेपित लाल सुर्ख अंगारों (red-hot fragments) तथा बादलों के स्तम्भ के रूप में ऊपर उठते बादल के ऊपर लाल लावा के परावर्तन के कारण हुआ करता है।

ज्वालामुखी पर्वत से निकलने वाली गैसें अधिकांशतः वायु में विलीन हो जाती हैं; अतः उनका ज्वालामुखी पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। फिर भी वे नली (channel). के आसपास की जिससे हो कर वे निकलती हैं, चट्टानों पर रासायनिक रूप से कार्य करती हैं अथवा वे [illegible] तथा अन्य धातुओं के निक्षेप क्रेटर के अन्दर या निकट उत्पन्न कर सकती ह।

ज्वालामुखीय उद्गार से निसृत द्रव पदार्थों का महत्व बहुत अधिक होता है। उनमें विगलित चट्टान रहती है जिससे वे लावा का स्रोत उत्पन्न करते हैं जिससे लावा निसृत होता है (प्लेट २३ b)। ये लावा स्रोत या तो ज्वालामुखी के मुंह से या ज्वालामुखी के पार्श्व की दरारों (fissures) से उमड़ कर बाहर निकलते हैं। कुछेक लावा में सिलिका अधिक समानुपात में रहती है; इसलिए उन्हें अम्लीय (acid) कहते हैं तथा शेष में सिलिका अपेक्षाकृत कम समानुपात में रहती है; अतः उन्हें भास्मिक (Basic) कहते हैं। अम्लीय लावा का उच्च गलनांक (melting-point) रहता है जिससे वे प्रायः चिपचिपे (viscous) हुआ करते हैं; इसलिए वे बहुत धीरे-धीरे बहते तथा दूर तक नहीं जाते। भास्मिक लावा अल्प ताप पर पिघलते हैं अतः वे प्रायः द्रव हुआ करते हैं। भास्मिक लावा का स्रोत तेजी से बहता है जिससे जमने के पहले यह बहुत मीलों तक बह कर जा सकता है।

कभी-कभी जमे हुए लावा की सतह चिकनी यानी सम (smooth) हुआ करती है; लेकिन अधिकतर यह रुखड़ी हुआ करती है। लावा के चिपचिपा रहने पर इसकी सतह बहते हुए डामर (pitch) के स्रोत जैसी लसदार (ropy) रहती है। प्रायः अम्लीय तथा भास्मिक—दोनों प्रकार के लावा में, निःसृत होती हुई गैसें स्रोत की ऊपरी पर्तों को फफोलेदार (vesicular) अथवा रोटी के टुकड़े के समान छोटे-छोटे छिद्रों से पूर्ण बना देती हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य सतह पहले ठंढ़ी होती तथा जम जाती है जिससे पपड़ी (crust) का निर्माण होता है जो लगातार टूटती रहती तथा नीचे बहते हुए स्रोत के द्वारा परिवाहित होती रहती है। पपड़ी के टुकड़ों को फफोलेदार रहने पर स्कोरिया (scoriae) कहते हैं।

फलतः हाल के लावा के प्रवाह की सतह प्रायः रुखड़ी तथा असम होती है तथा इसकी ऊपरी पर्त छिद्रों और दरारों से पूर्ण हो जाती हैं जिनमें वर्षा का जल प्रवेश कर

सकता है, अंशतः इस कारण से भी ऋतुअपक्षयण तेजी से होता है जिससे प्रायः बढ़िया तथा उपजाऊ मिट्टी की तह का निर्माण होता है।

कुछेक ज्वालामुखी पर्वतों से द्रवित लावा शान्ति के साथ नीचे से ऊपर आता है जिससे वह विना किसी बड़ी बाधा के क्रेटर (ज्वालामुखी के मुँह) को भर देता तथा उमड़ कर बाहर बहने लगता है। लेकिन अधिकांश उद्गारों के साथ विस्फोट हुआ करते हैं जो प्रायः भयंकर होते हैं। ऐसी दशाओं में भग्न चट्टानें प्रचुर मात्रा में वायु में उत्क्षेपित हो जाती तथा पुनः छिद्र में गिर जाती हैं या चारों तरफ प्रदेश को ढँक देती हैं। ज्वालामुखी के उत्पन्न होने पर उससे निकलने वाले टुकड़े उस चट्टान के टुकड़े रहते हैं जिससे हो कर ज्वालामुखी की नली गुजरती है; लेकिन आगे चल कर वे अधिकतर लावा के टुकड़े ही रहते हैं। जमा हुआ लावा प्रायः शान्त ज्वालामुखी पर्वत की नली को बन्द कर देता है जिसे नीचे वाली विगलित चट्टान के क्रेटर में उठ कर आने के पहले अवश्य ही बाहर उत्क्षेपित हो जाना चाहिए। कभी-कभी तो पहाड़ी का सम्पूर्ण शीर्ष भाग विस्फोट के द्वारा उड़ कर दूर चला जाता है और कभी-कभी इसके पार्श्वों की ओर नितान्त नयी नली बन जाती है। बहुत दशाओं में निःसंदेह नीचे वाले (विगलित) भण्डार में जिनमें विगलित चट्टान रहती है, आंशिक जमाव हुआ है तथा उसके फलस्वरूप बनी ठोस चट्टान विस्फोट के समय बाहर उत्क्षेपित हो जाती है।

इसलिए अधिकांश ज्वालामुखीय उद्गारों में टुकड़ेदार ठोस पदार्थ की विशाल राशि निकल कर बाहर आती है और इर्द-गिर्द के क्षेत्र में धूल एवं पत्थर के टुकड़े वर्षा की भाँति नीचे गिरते हैं। अधिक बड़े टुकड़ों से ब्रेशिया बनती है। यह नाम बड़े तथा कोणदार टुकड़ों के लिए प्रयुक्त होता है और अधिक छोटे टुकड़ों को ज्वालामुखीय अंगार या ज्वालामुखीय राख (cinders or volcanic ash) कहते हैं; और यदि वह पदार्थ अत्यधिक बारीक रहा तो उसे ज्वालामुखीय धूलि कहते हैं।

द्रवित लावा भी वायु में उत्क्षेपित हो सकता है तथा जमीन पर पहुचने के पहले बूंदों के रूप में जम जा सकता है। ज्वालामुखीय आग के गोले (volcanic bombs) ऐसे लावा पुंज हैं जो इस प्रकार कम या द्रवित अवस्था में बाहर उत्क्षेपित हो गये हैं तथा वे गिरने पर गोल अथवा नाशपाती के आकार के हो गये हैं।

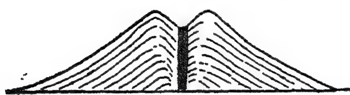
प्रचण्ड वृष्टि के कारण जो कभी-कभी उद्गारों (ज्वालामुखीय) के साथ हुआ करती हैं, ज्वालामुखीय धूल कीच के स्रोत के रूप में बह कर नीचे चली जा सकती है जिससे उतनी ही क्षति हो सकती है जितनी लावा के प्रवाह से। सन् ७९ ईसवी में बिसूबियस के विशाल उद्गार के कारण हरकुलेनियम नगर ज्वालामुखीय कीच के स्रोत से तहस-नहस हो गया था। वह ज्वालामुखीय कीच उस समय से घनीभूत हो कर ठोस चट्टान बन गयी है।

ज्वालामुखी पर्वतों की आकृतियाँ :—ज्वालामुखी पर्वत की आकृति ज्यादातर उस पदार्थ पर निर्भर करती है जिससे इसका निर्माण होता है।

ज्वालामुखी पर्वत के मुँह के वलय :—कुछेक दशाओं में वहाँ केवल एक छिद्र रहता है जो, विस्फोट के द्वारा बनता है। इस छिद्र के चारों ओर बलयाकार ढूह रहता है जिसमें बाहर उत्क्षेपित चट्टान के टुकड़े रहते हैं। ज्वालामुखी पर्वत के

मुँह के इस प्रकार के बलय जिनके अन्दर वाले गड्ढे में छोटी-सी झील रहती है, इफेल जिले में पाए जा सकते हैं।

अंगार एवं राख के शंकु (cinder and ash cones) :—(चित्र २००) चट्टान के टुकड़े तथा लावा तब तक जमा होते जाते हैं जब तक उनसे बड़े आकार की पहाड़ी का निर्माण नहीं हो जाता। स्वभावतः छिद्र (vent) के ठीक चारों ओर ये पदार्थ सब से ज्यादा संचित होते हैं तथा बाहर की ओर इनका संग्रह कम होता जाता है और इस प्रकार से बना हुआ ज्वालामुखी पर्वत आकार में कोणदार होता है। उत्तरोत्तर होने वाले उद्गारों से शंकु के पार्श्वों में राख का निक्षेप तह पर तह जमता जाता है, और इसलिए ज्वालामुखी पर्वत के पार्श्वों पर तहें बाहर की ओर ढालुआँ रहती हैं। लेकिन ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में राख इसके अन्दर ही गिरती है जिससे ऐसी तहों का निर्माण होता है जिनका ढाल केन्द्र की ओर होता है।



चित्र २०२—राख से बनी त्रिकोण पहाड़ी

इस प्रकार के ज्वालामुखी पर्वत जिनमें नितान्त या प्रायः नितान्त रूप से टुकड़ेदार पदार्थ रहता है, राख या अंगार के शंकु के नाम से अभिहित हैं। आकार में ये प्रायः पूर्ण शंकु होते हैं। लेकिन शंकु आधार के पास बाहर की ओर फैलता जाता है जिससे रूपरेखा में इसके पार्श्व सीधे होने के बदले वक्र होते हैं (प्लेट २४)। वक्र ऊपर की ओर अवतल (concave) और इसका आकार स्पष्ट रूप से जल के द्वारा होने वाले क्षयीकरण द्वारा प्रादुर्भूत आकृति के समान होता है। छिद्र के निकट रुखड़े टुकड़ों की इतनी मोटी तह जम जाती है कि शंकु की ढाल ३०° से ४०° तक रहती है अर्थात् सब से खड़ी ढाल होती है जहाँ ऐसे अबद्ध पदार्थ आ कर जमा हो सकते हैं तथा इसके शीर्ष या पार्श्वों पर गिरने वाले टुकड़े लुढ़क कर ढाल के नीचे चले जाते हैं। छिद्र से अधिक दूर जाने पर संचय कम होता जाता है जिससे ऐसी पहाड़ी का निर्माण होता है। पहाड़ी उन टुकड़ों से नहीं बनती है जो इसके पार्श्वों के नीचे लुढ़क कर चले गये हैं बल्कि यह ऐसे पदार्थ से बनी है जो ज्वालामुखी पर्वत से उत्क्षेपित हुआ तथा वायु से नीचे गिरा है।

उद्गार के समय प्रबल हवा के बहने पर अंगार या राख (cinders and ashes) छिद्र के प्रतिवातीय पार्श्व में अधिकता के साथ गिरेगी जिससे शंकु का विकास असमान रूप से होगा। जिन क्षेत्रों में हवा नियमित रूप से बहती है वहाँ बेडौल ज्वालामुखी पर्वतों का निर्माण इस प्रकार हो सकता है या यहाँ तक कि उन स्थानों में भी जहाँ हवाएँ परिवर्तनशील होती हैं, बशर्ते शंकु एक ही ज्वालामुखीय उद्गार के फलस्वरूप बना हो, तो बेडौल ज्वालामुखी पर्वतों का निर्माण इसी प्रकार हो सकता है।

लावा से बने ज्वालामुखी पर्वत :—(चित्र २०३, २०४) ज्वालामुखीय उद्गार फिर भी हमेशा विस्फोटक नहीं होते हैं। कुछेक ज्वालामुखी पर्वतों में लावा धीरे-धीरे ऊपर उठता तथा शान्तिपूर्वक बाहर में फैल जाता है। गैसीय धुँआ तथा भाप विगलित चट्टान से निकल सकते हैं और वे बहुत कम उलट-पुलट करते हैं।

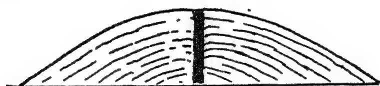
जब उद्गार स्वाभाविक प्रकार का होता है तब टुकड़ेदार निक्षेप नहीं जमा होते हैं; और ऐसी दशा में ज्वालामुखी पर्वत पूर्ण रूप से लावा के स्रोत से बनता है।

ऐसे ज्वालामुखी पर्वत प्रायः शंक्वाकार न हो कर गुम्बद के आकार के हुआ करते हैं। लेकिन गुम्बद की आकृति लावा की प्रकृति के अनुसार बदला करती है।

यदि लावा अम्लीय तथा चिपचिपा रहे तो यह नली से दाब कर बाहर निकाली जाने वाली लेई के समान ही कार्य करती है; इसलिए गुम्बद अत्यधिक उतल हुआ करता है तथा इसके पार्श्व खड़े होते हैं और (ऐसे ज्वालामुखी पर्वत में) उसमें प्रायः क्रेटर (मुँह) नहीं होता है (चित्र २०३)।

और यदि लावा भास्मिक तथा तरल (basic and fluid) रहे तो यह अनायास बहता है और बहुत दूर तक जाता है। इसलिए ज्वालामुखी पर्वत का व्यास बड़ा होता है, लेकिन इसके पार्श्व का ढाल धीमा होता है तथा इसकी आकृति अत्यधिक चौरस गुम्बद के समान होती है। इसलिए ज्वालामुखी पर्वत का मुँह नली में से लावा के नीचे चले जाने पर साधारणतः त्यक्त गढ़े के रूप में रह जाता है (चित्र २०४)।

सैंडविच द्वीप में मौना लुआ तथा किलुई ये दोनों लावा से बने ज्वालामुखी पर्वत के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मौना लुआ १३,६७५ फुट ऊँचा है, लेकिन इसके ढाल का कोण केवल ६०° के लगभग है। किलुई ४०४० फुट ऊँचा है तथा मौना लुआ के पार्श्वों पर अवस्थित है। फिर भी यह गौण शंकु नहीं है जिसमें लावा एक ही स्रोत से आता हो, क्योंकि मौना लुआ के उद्गार उस तरल लावा में कोई उलट-फेर उत्पन्न नहीं करते जो किलुई ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में करीब १०,००० फुट नीचे हमेशा दृष्टिगोचर होता है। इसलिए किलुई अवश्य ही एक पृथक ज्वालामुखी पर्वत है जो मौना लुआ के प्रवाहों के नीचे दब गया है।



चित्र २०३—तेजाबीय लावा से बना ज्वालामुखी



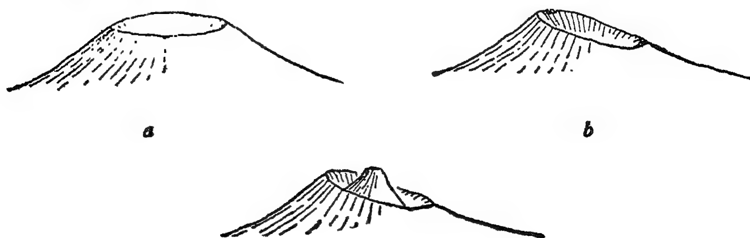
चित्र २०४—क्षारीय लावा से बना ज्वालामुखी

दोनों प्रकार के ज्वालामुखी पर्वतों का मुँह चौड़ा तथा सापेक्षतया छिछला गड्ढा रहता है जिसके पार्श्व खड़े होते हैं तथा तल सीढ़ीदार। किलुई (ज्वालामुखी पर्वत) के निम्नतम चौरस भाग में तरल लावा की झीलें हैं जो बराबर खौलती रहती हैं। जब तब सतह पर कुछ समय के लिए पपड़ी का निर्माण होता है, लेकिन वह शीघ्र ही टूट जाता है तथा पूरी तरह से विलीन हो जाता है। खुद ज्वालामुखी पर्वत के मुँह का तल एक अधिक मोटी तह की पपड़ी है जो नली के लावा पर ठहरी है और झीलें वास्तव में इस पपड़ी की सूराखें हैं जिनसे लावा दिखाई पड़ता है। तल का स्तर हमेशा एक-सा नहीं रहता बल्कि यह नली के लावा के साथ-साथ उठता-गिरता रहता है।

लावा या तो ज्वालामुखी पर्वत के मुँह से या इसके पार्श्वों से निकल कर प्रवाहित हो सकता है। लेकिन यहाँ तक कि दूसरी दशा में भी नियम के मुताबिक भयंकर

विस्फोट नहीं होता है। लावा जब तक खुली वायु में नहीं पहुँच जाता तब तक यह शान्तिपूर्वक जिस चट्टान से हो कर आता है उसे पिघला कर अपनी राह बनाता जाता है। इस दृष्टि से लावा से बने इस प्रकार के ज्वालामुखी पर्वत विसूवियस तथा एटना जैसे ज्वालामुखी पर्वतों से बहुत भिन्न होते हैं।

समिश्र ज्वालामुखी पर्वत :—बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वतों में अंशतः राख और अंशतः लावा वर्तमान रहते हैं और ये दोनों के दोनों बारी-बारी से अनियमित तहों में पाए जाते हैं। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में उनकी आकृति शंकु के आकार की होती है जैसा कि साधारण ज्वालामुखी पर्वत में हुआ करती है, लेकिन इनका आकार प्रायः उतना पूर्ण नहीं होता है, क्योंकि लावा स्रोत बाहर की ओर असमान रूप से प्रवाहित होते हैं। ज्यों-ज्यों ज्वालामुखी पर्वत की ऊँचाई बढ़ती जाती है त्यों-त्यों लावा केन्द्रीय नली में इसके (ज्वालामुखी पर्वत के) मुँह तक पहुँचने के लिए ऊपर उठने को बाध्य होता है। वह दाब जिसे यह नली की दीवारों पर डालता है तब तक बढ़ता जाता है जब तक कि अन्त में लावा के लिए ज्वालामुखी पर्वत के मुँह तक पहुँचने की अपेक्षा पहाड़ी के पार्श्वों से हो कर निकलना अधिक सरल नहीं हो जाता। इसलिए



चित्र २०५—विसूवियस की ऐतिहासिक दशायें
a—७९ ए. डी. से पूर्व का सम्भावित आकार, b—७९ ए. डी. के विस्फोट के बाद
c—नये कोण का निर्माण

बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वतों में लावा के स्रोत प्रायः उनके किनारे की दरारों से होकर निकलते हैं जिससे प्रायः गौण शंकुओं का निर्माण होता है (प्लेट २६)।

ज्वालामुखी के उद्गार :—यदि कोई ज्वालामुखी पर्वत बहुत दिनों तक शान्त रहा हो तो वे नलियाँ जिनसे हो कर लावा निकला था, या तो ठोस लावा या गिरे हुए टुकड़ों के द्वारा बन्द हो जाती हैं। उसके बाद उद्गार उत्पन्न होने पर पुरानी नलियों को अवश्य ही साफ हो जाना चाहिए या नयी नलियाँ बन जानी चाहिए। प्रायः अन्दर में दाब तब तक बढ़ता जाता है जब तक कि अन्त में भयंकर विस्फोट न हो। पहाड़ी का शीर्ष टूट कर उड़ जा सकता है अथवा उद्गार पहाड़ी के पार्श्वों के किनारे पर उत्पन्न हो सकते हैं। दोनों दशाओं में एक विशाल छिद्र बनता है और इसके बीच में (लावा के एकत्रित होने से) एक नये शंकु का निर्माण हो सकता है। इस बड़े छिद्र को कभी-कभी खड़े उच्छृंगावृत गड्ढे के आकार का क्रेटर (ज्वालामुखी पर्वत का मुँह) कहते हैं।

विसूवियस का इतिहास इन परिवर्तनों को निदर्शित करता है। रोमनों के समय में पहाड़ की आकृति ऊपर से कटे हुए शंकु के समान थी, जिसका शीर्ष एक विशाल मण्डलाकार (amphithatre) बन जाता है (चित्र २०५ b)। उस समय किसी उद्गार के अभिलेख विलकुल नहीं थे, लेकिन अनुमानतः शंकु के शीर्ष पुरा इतिहास काल में विस्फोट के द्वारा उड़ गये थे। सन् ७९ ईसवी में ज्वालामुखी पर्वत पुनः सक्रिय हो उठा और उसके उद्गार से मण्डलाकार की दीवार का आधा भाग नष्ट हो गया (चित्र २०५), जिससे पॉम्पियाई तथा हरकुलेनियम जैसे नगर ज्वालामुखीय राख और कीच के नीचे दब गये। दीवार का शेषार्द्ध भाग अभी तक अर्द्धवृत्ताकार कगार (ridge) के रूप में खड़ा है और भग्न गढ़े के मध्य में एक नया शंकु बन गया है जिसका मुँह (crater) शीर्ष पर है (चित्र २०५ c)। नये शंकु के एक पार्श्व के चारों ओर वाले अर्द्धवृत्ताकार कगार को सोमा पर्वत (Monte Somma) कहते हैं।

एटना में भी आदि काल में इसी तरह विस्फोट अवश्य हुआ है और यह सम्भवतः भूमण्डल पर मानव जाति के आविर्भाव के पहले की बात है फिर भी यह पहाड़ी का शीर्ष नहीं था जो उड़ कर दूर चला गया था बल्कि यह उसके पार्श्व का एक भाग था जिसके उड़ जाने से वहाँ पर ज्वालामुखी पर्वत के किनारे पर वाल डेल वोभ नामक val del Bove एक विशाल गड्ढा बन गया था।

सन् १८८३ ईसवी में क्राकातुआ का ज्वालामुखीय उद्गार हुआ था जो वर्तमान समय के सब से बड़े उद्गारों में है। क्राकातुआ जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा के मुहाने के छोटे समह का प्रधान द्वीप है। सम्पूर्ण समूह एक उस विशाल खड़े उच्छृंगावृत्त गड्ढे के आकार के मुँह (a great caldera) का भग्नावशेष है जो प्राचीन कालीन विस्फोट के फलस्वरूप बना था तथा अंशतः जल-मग्न है। खड़े उच्छृंगावृत्त गड्ढे के आकार के मुँह के घेरे तथा उसके (caldera) बीच में गौण शंकुओं का निर्माण हुआ था लेकिन सम्पूण समूह करीब दो सौ वर्षों तक शान्त था। १८७८ में तथा उसके बाद भी पूर्वोद्गार सूचक भूकम्प हुए और १८८३ के मई महीने में उद्गार (ज्वालामुखीय) प्रारम्भ हुए जिनकी तीव्रता धीरे-धीरे बढ़ती गयी। २६ अगस्त को प्रबल विस्फोटों का अनुक्रम उत्पन्न हुआ जो २७ अगस्त के प्रातः काल तक जारी रहा। उससे ऊपर उत्क्षेपित राख एवं अंगार (ashes and cinders) से आकाश चारों ओर मीलों तक काला हो गया और इनके समुद्र में गिरने से नौ-चलन (navigation) का कार्य कई दिनों तक बन्द रहा। विस्फोटों की आवाज प्रायः चारों ओर करीब २००० मील की दूरी तक सुनाई पड़ी थी ; यही नहीं यहाँ तक कि लगभग ३००० मील दूर अवस्थित रॉड्रिग्वेज में भी यह आवाज सुनाई पड़ने योग्य थी। द्वीप का लगभग दो तिहाई भाग लुप्त हो गया।

द्वीप समूह में लोग स्थायी रूप से नहीं बसे थे ; इसलिए वास्तविक उद्गार से अल्प प्राणहानि हुई थी। लेकिन उलट-पुलट से समुद्र में विशाल तरंगें उत्पन्न हुईं, जो जावा और सुमात्रा के तटों पर पहुँचीं जिससे वहाँ के कई हजार निवासी डूब गये।

बारीक राख उड़ कर बहुत मीलों तक दूर ऊपर की ओर चली गयी थी और अधिक ऊँची हवाओं के क्षेत्र में पहुँचने पर यह भूमण्डल के चारों ओर कई बार चक्कर काटती

रह गयी थी। यही नहीं, यहाँ तक कि यह ब्रिटिश द्वीप-समूह तक भी पहुँच गयी थी जिससे वहाँ १८८३ में सूर्यास्त के समय असाधारण रूप से देदीप्यमान दृश्य उपस्थित हुआ था।

वर्तमान समय का दूसरा विध्वंसक उद्गार पीली पर्वत (Mont Pelee) का है, जो १६०२ में मार्टिनिक द्वीप में हुआ था। करीब उसी समय उसी प्रकार का विध्वंसक उद्गार विन्सेन्ट के समीपवर्ती द्वीप में हुआ। दोनों उद्गारों की प्रमुख विशेषता यह थी कि उनसे अचानक काला तथा भारी बादल जिसमें गर्म गैसें तथा तापोज्वल धूल मिली हुई थी जो बहुत तेजी से पहाड़ी पार्श्व (mountain side) के नीचे लुढ़क कर चली गयी। जो कुछ भी इसके मार्ग में पड़ा वह जल कर भस्म हो गया। पीली पर्वत के निम्न भाग में अवस्थित सेंट पीरी (St Pierre) नामक शहर चन्द मिनटों में तहस-नहस हो गया। कई महीनों तक कम प्रबल उद्गार रह-रह कर उत्पन्न हुए और जब बन्द होने लगे तब पीली पर्वत के मुँह से मेरुदण्ड के आकार का उभरा हुआ भाग धीरे-धीरे उठ खड़ा हुआ जो शंकु से करीब ७०० फुट या इससे भी अधिक ऊँचा था। यह नली के अन्दर के उस अंशतः जमे हुए तथा लसदार लावा से बना था जो नीचे के दाब के कारण धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठ गया था। फिर भी मेरुदण्ड में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह ऋतुअपक्षयण की क्रिया के आघात को सह सके; इसलिए वह तेजी से टूट-फूट गया।

दरार वाले ज्वालामुखीय उद्गार:—वालामुखीय उद्गार कभी कभी केवल एक ही छिद्र से उत्पन्न नहीं होते, बल्कि वे एक ऐसी लकीर पर उत्पन्न होते हैं जो काफी लम्बी होती है। ऐसी दशाओं में अन्दर तक जाने वाली नली स्पष्टतः नली नहीं रहती, बल्कि एक दरार रहती है और उद्गार एक ही समय सम्पूर्ण दरार से या उसके ऊपर कई स्थानों में हो सकता है। १७८३ में आइसलैंड के लॉकी (Laki) में इस प्रकार का उद्गार हुआ था जिसमें दरार करीब २० मील लम्बी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि १८८६ में न्यूजीलैंड में तारावेरा (Tarawera) का उद्गार एक ऐसी दरार से हुआ था जो लगभग ६ मील लम्बी थी।

तारावेरा का उद्गार भीषण रूप से विस्फोटक था। उससे विशाल मात्रा में राख निकली थी। किन्तु साधारणतया दरार वाले उद्गारों की विशेषता यह होती है कि उनमें विस्फोट की क्रिया का अभाव रहता है। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि उनसे शान्तिपूर्वक गलित लावा निकलता रहता है जो उस प्रदेश में कई मीलों तक फैल सकता है (प्लेट २६le)।

वर्तमान समय में दरार वाले उद्गार प्रायः नहीं होते हैं। लेकिन अतीत काल में बहुत बड़े पैमाने पर ऐसे उद्गार उत्पन्न हुए हैं। भारत के दक्कन का बैसाल्ट वाला लावा जो करीब दो लाख वर्गमील को आच्छादित किए हुए है, तथा संयुक्तराज्य की स्नेक नदी में होने वाला लावा प्रवाह जो करीब दो लाख से ले कर ढाई लाख वर्गमील भूमि में फैला है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों के दोनों प्रकार के लावा दरारों से ऊपर आ कर फैल गए हैं। ब्रिटिश द्वीप-समूह में उत्तरी-पूर्वी आयरलैण्ड तथा हेब्राइड्स में होने वाले लावा-प्रवाह इसी प्रकार के हैं, और ये केवल उस विशाल लावा क्षेत्र के भग्नावशेष हैं जो सम्भवतः ग्रीनलैण्ड तक फैला था।

एक समय ग्रीनलैंड तक फैला था। इनमें प्रवाह (लावा का) स्पष्टतः दरारों से हुए थे ; पृथक्-पृथक् ज्वालामुखी पर्वतों से नहीं।

राइन के पश्चिम इफेल जिले (क्षेत्र) (Eifel district) में तथा ग्रौबर्न में, जो फ्रांस के मध्य पठार का एक भाग है, बहुत से ज्वालामुखीय शंकु हैं जो ग्राज भी उसी रूप में हैं जिस रूप में उद्गार के समय थे। शेष शंकुग्रों पर ग्रनावृत्तीकरण का प्रभाव पड़ा है।

वर्तमान भूतात्विक समय के ऐसे कई मृत ज्वालामुखी पर्वत हैं जो राइन के पूर्वी भाग में ग्रवस्थित हैं। बोहेमिया में तथा कार्पथियन की भीतरी सीमा पर भी ऐसे मृत ज्वालामुखी पर्वत पाए जाते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

झीलें

साधारण आवश्यक दशाएँ :—प्रचण्ड वृष्टि के समय जमीन की सतह वाल छोटे-छोटे गड्ढे प्रायः जल से भर जाते हैं जिससे ग्रस्थायी तालाब बन जाते हैं। वर्षा के समाप्त हो जाने पर ये तालाब लुप्त हो जाते हैं, क्योंकि कुछ जल तो वाष्प बन कर उड़ जाता है ग्रौर कुछ पृथ्वी के ग्रन्दर नीचे घुस जाता है। लेकिन जब तक इस प्रकार से जल के निष्कासित होने वाले जल की ग्रपेक्षा ग्रधिक जल गड्ढे में जाता रहता है, तब तक गड्ढा भरा रहेगा।

ब्रिटिश द्वीप-समूह की जैसी जलवायु में वार्षिक वर्षा की मात्रा वार्षिक वाष्पीकरण की ग्रपेक्षा ग्रधिक होती है। इसलिए साधारणतया प्रत्येक गड्ढा, बशर्ते कि यह भेद्य चट्टान में न हो या जब तक जल के जमीन के ग्रन्दर समा जान की स्थिति में न हो, जल के उमड़ कर बाहर निकल जाने के पहले तक जल से भरता जाता है। गड्ढे के छिछला रहने पर उसमें उसके क्षेत्र के समानुपात में ग्रधिक जल नहीं रह पा सकता है ग्रौर इसलिए यह ग्रीष्म में पूर्ण रूप से सूख जा सकता है। ग्रौर यदि यह (गड्ढा) गहरा रहे तो शुष्कतम ऋतुग्रों में भी सारा का सारा जल बाष्प बन कर नहीं उड़ेगा (सूखेगा) जिससे स्थायी झील का निर्माण होगा।

फिर भी स्थायी झील के निर्माण के लिए यह ग्रावश्यक नहीं है कि झील में इससे होने वाले बाष्पन से ग्रधिक वर्षा होनी चाहिए, क्योंकि वह जल जो प्रत्यक्ष रूप से झील में गिरता है, वह सब का सब वर्षा से ही नहीं ग्राता। इर्द-गिर्द से वर्षा का ग्रधिकांश जल बह कर गड्ढे में चला ग्राता है ; गड्ढे का जल कभी भी लुप्त नहीं होगा बशर्ते कि वर्षा से प्राप्त जल की मात्रा वाष्प रूपी क्षय के बराबर हो। फलतः ऐसे स्थानों में भी जहाँ वाष्पन (evaporation) वर्षा के जल से ग्रधिक होता है, स्थायी झीलें रह सकती हैं तथा मौजूद हैं।

उष्ण कटिबन्ध की शुष्क पट्टी में वर्षा कम होती है ग्रौर बाष्पन तेजी से होता है ; ग्रतः दीर्घतर गड्ढे भी सूखे रहते हैं। फिर भी, यदि वहाँ विस्तृत क्षेत्र का प्रवाह ग्रा कर गिरता हो ग्रौर विशेषकर यदि उसके चारों ग्रोर पर्वत हों, तो उनमें कुछेक

ऋतुओं में जल भरा हो सकता है। लेकिन यहाँ तक कि इन दशाओं में भी प्रायः वाष्पन तथा अन्य कारणों से होने वाले क्षय से जल की वार्षिक आय ज्यादा नहीं होती है। ज्यादातर पर्वतों पर हिम के पिघलने से अस्थायी झील का निर्माण होता है, लेकिन शुष्क ऋतु में झील दलदल में परिणत हो जाती है अथवा पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है। स्थायी झील के बनने पर भी गड्ढे शायद ही कभी भरते हैं तथा उनसे शायद ही कभी जल उमड़ कर बाहर गिरता है; अतः झील से पानी बाहर निकलने का रास्ता नहीं रहता।

झील के बनने के पूर्व वहाँ स्पष्टतः एक वास्तविक गड्ढा आवश्यक रूप से रहना चाहिए जो पूर्ण रूप से अधिक ऊँची जमीन से घिरा हो। यदि जल की आय पर्याप्त हो, तो गड्ढा लबालब जल से भर जायगा और अतिरिक्त जल उमड़ कर बह जायगा।

पहले से (मौलिक) वहाँ की सतह सम रही हो या असम लेकिन निक्षेपण, क्षयीकरण (शब्द का प्रयोग व्यापकतम अर्थ में करते हुए) अथवा भूसंचलन के द्वारा गढ़े का निर्माण हो सकता है। और इसलिए इन उपरोक्त तीन विधियों में से किसी भी विधि से झीलों का निर्माण हो सकता है।

निक्षेपण के द्वारा बनने वाली झीलें :—निक्षेपण हमेशा एक-सा नहीं होता है, इसलिए हाल के पड़े निक्षेप (deposit) की सतह असम होती है। यदि यह (सतह) वायु में खुली रहे तो गड्ढे जल से भर जायँगे जिससे ऐसी झीलों का निर्माण होगा जो पूर्ण रूप से निक्षेपित पदार्थ से घिरी रहेंगी।

फिर भी, गड्ढे की उत्पत्ति ज्यादातर जटिल हुआ करती है। नदी की घाटी में बाँध बना कर कृत्रिम जलाशय (reservoir) बनाए जाते हैं। इसी प्रकार बहुत-सी प्राकृतिक झीलें भी बनी हैं। हिम नदियाँ या अन्य दूतों ने नदी की घाटी में पदार्थ ला कर इस तरह से पाट दिया है कि उससे प्राकृतिक बाँध बन गया है। ऐसी परिस्थिति में गड्ढा अंशतः तो नदी के द्वारा होने वाले क्षयीकरण के कारण बनता है और अंशतः निक्षेपण द्वारा बाँध के बनने के कारण। चूँकि बाँध से गड्ढा बनता है, इसलिए ऐसी झीलों को निक्षेपण के द्वारा बनने वाली झीलों की कोटि में रख सकते हैं।

कुछेक दशाओं में निक्षेपित पदार्थ ठोस चट्टान के रूप में रहता है। उदाहरणार्थ, यह या तो लावा का स्रोत रह सकता है जो अब जम गया है या गर्म जलाशयों में जमी हुई मिट्टी या झरने से निकला हुआ चूर्णांग स्फटिज (travertine) रह सकता है। लेकिन यह पदार्थ प्रायः पूर्वस्थित चट्टानों के अनावृत्तीकरण होने से आता है तथा [illegible] विभिन्न आकार के टुकड़ों के संचय के फलस्वरूप जमा होता है। इसमें शंकाकार बड़े-बड़े प्रस्तर-खण्ड, पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े, कंकड़ बालू या मिट्टी (angular blocks, boulders, pebbles, sand or clay) रह सकती हैं। इसके पूर्णरूप से बड़े-बड़े टुकड़ों से बना रहने पर उनके अन्दर जल घुस कर निकल जायगा जिससे झील का निर्माण बिलकुल नहीं होगा; तौ भी मिट्टी का अल्प समानुपात भी अन्तरालों (interstices) को बन्द कर देने के तथा सम्पूर्ण संचय को अभेद्य बना देने के लिए पर्याप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त ऊपर से बूँद-बूँद टपक कर नीचे गिरने वाले जल के द्वारा टुकड़ों के बीच पंकीली मिट्टी निक्षेपित हो सकती है और यदा-कदा इसके द्वारा यह चूनेवाले बाँध (leaky barrier) को ऐसे बाँध में परिणत कर सकता है

जो जलरुद्ध (water-tight) रहता है। टुकड़ों के छोटे रहने पर केशिकाकर्षण (capillary attraction) कणों के बीच जल को अटकाए रखता है; इस तरह बालू तट भी जल के इससे हो कर बहने में काफी प्रतिरोध उत्पन्न करता है।

सामुद्रिक निक्षेपः—समुद्र प्रायः उच्च-जल-चिह्न के पास गोल पत्थरों (shingles) का बाँध (bank) खड़ा कर देता है और कभी-कभी बाँध तथा समुद्रोच्छ्रंग (sea-cliff) के बीच छोटा लैगून (lagoon) या खारा पानी की झील रहती है। गोल पत्थरों की पारगम्यता (permeability) के कारण लैगून प्रायः भाटा के समय सूखा रहता है, लेकिन कभी-कभी पंकीली मिट्टी या सड़ने वाली सामुद्रिक घास (sea-weed) इसके तल (तह) को पर्याप्त रूप से अपारगम्य बना देती है जिससे यह जल को स्थायी रूप से रोके रहता है।

तीसरे भाग के चौथे अध्याय में वर्णित विधि से खाड़ियों में एक किनारे से दूसरे किनारे तक या नदियों के मुहाने पर एक तरफ से दूसरी तरफ तक समुद्र में घुसता हुआ बालू का या गोल पत्थरों का स्थलीय भाग (spit) वन जाता है। येअर (yare) के मुहाने की ब्रेडॉन नामक जलराशि (Breydon Water), जैसा कि पहले ही वर्णित किया जा चुका है, इस विधि का एक उदाहरण उपस्थित करती है।

बालू की पहाड़ियाँ समुद्र की बाहुओं को अलग करके उन्हें लैगून के रूप में परिणत कर दे सकती हैं या नदियों के मुहाने को बन्द कर दे सकती हैं। गैस्कॉनी के लैन्डिस, हॉलैण्ड तथा अन्य निम्नस्थित क्षेत्रों में (समुद्र) तट पर बालू के टीले की लकीर के पीछे बहुत-सी झीलें तथा दलदलदार जमीन इस तरह बनी है। उड़ीसा की चिल्का झील तथा नीलोर की पुलिकट झील—ये दोनों के दोनों बंगाल की खाड़ी में खाड़ियों के मुहाने के आरपार तरंगों के द्वारा ऊपर की ओर जमा की गयी बालू के कगारों के निक्षेप से बनी हैं।

जलोढ़ निक्षेपः—डेल्टाओं के लैगून और टेढ़ी-मेढ़ी नदियों की गोखुर की झीलों का वर्णन पहले ही हो चुका है। लेकिन कभी-कभी नदी भी दूसरी तरह से झील का निर्माण कर सकती है।

पहाड़ी प्रदेशों में घाटी के भागों के नीचे बहनेवाली तीव्रगामी नदियाँ (torrents) प्रायः अपने साथ, विशेषकर बाढ़ के समय में, मिट्टी तथा भग्न चट्टान को काफी मात्रा में ढो कर ले जाती हैं। जब तीव्रगामी नदी घाटी के तल पर बह कर फैल जाती है तब इसका वेग वन्द हो जाता है और यह अपने बोझ को डेल्टा के रूप में जमा कर देती है। ज्यादातर डेल्टा प्रमुख नदी को अपने प्राकृतिक मार्ग से किसी अन्य घाटी में मोड़ देती है। कभी-कभी तो बोझ की मात्रा इतनी ज्यादा रहती है कि नदी उसे ढो कर ले जाने में असमर्थ हो जाती है जिससे समय पर डेल्टा पूरी तरह से नदी की घाटी के आरपार बन जाता है। तव यह (एक) बाँध हो जाता है। उसके पीछे ऊपर में जल बन्द हो जाता है जिससे प्राकृतिक जलाशय या झील बन जाती है। उदाहरणार्थ, स्टी हेड टार्न (Sty Head Tarn) का अस्तित्व गेबुल्स के बने डेल्टा के कारण ही है। गोदावरी तथा कृष्णा (नदियों) के डेल्टाओं के बीच वाली कोलेयर झील (Lake Colair) इन दोनों नदियों के परिवर्द्धन के फलस्वरूप बनी थी।

स्क्री (Screes) :—ठीक उसी तरह से घाटी करीब-करीब पूर्ण रूप से ऊपर के पहाड़ या पहाड़ी की उबड़-खाबड़ चोटियों के ढालुएँ भागों से नीचे गिरने वाले पत्थरों

के टुकड़ों से बन्द हो जा सकती है। हेलवेलीन (Helvellyn) के पार्श्वों पर अवस्थित हार्ड टार्न (Hard Tarn) तथा स्नोडन पर्वत (Snowdon) पर अवस्थित फीनॉन फ्रेच (Ffynnon Frech) पत्थरों के टुकड़ों से बँधे हुए हैं।

शैलपात (Landslips) :—उपरोक्त झीलों से बहुत बड़ी-बड़ी झीलें प्राय: शैलपात के द्वारा नदी की घाटी के बन्द होने से बनी हैं लेकिन ऐसी झीलें ब्रिटिश द्वीपपुंज में नहीं पायी जातीं। ऐसी झीलें प्राय: बिलकुल अस्थायी हुआ करती हैं, क्योंकि बाँध में अबद्ध टुकड़े रहते हैं जो जैसे-तैसे जमा हो जाते हैं; इसलिए उसमें (बाँध) अधिक सामर्थ्य नहीं रहती। जब उसके पीछे जल ऊपर उठता है तब उसके ऊपर का दाब बढ़ जाता है। जब जल उमड़ कर बाहर जाता है तब बाँध क्षयीकरण के द्वारा तेजी से कमजोर हो जाता है तथा अचानक फूट पड़ता है जिससे उससे जल (उमड़ कर) बाहर निकल कर नीचे घाटी में बाढ़ का दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये अप्रत्याशित बाढ़ें जो साधारणतया सिन्धु नदी के ऊपरी भाग में आया करती हैं, इसी कारण से आती हैं। गोहना झील गंगा की सहायक नदी अलकनन्दा के आरपार १८९३ में शैलपात होने से बनी थी। यह झील कई महीनों तक तब तक थी जब तक कि जल का स्तर बाधाओं के ऊपर न उठ गया और झील का एक बड़ा भाग जल के द्वारा बह नहीं गया।

हिमनदीय संचय :—अधिक झीलें सम्भवत: अन्य किसी कारण की अपेक्षा हिमनदियों के कार्य के द्वारा बनती हैं। ब्रिटिश द्वीप समूह में जहाँ प्राचीन काल में होने वाले हिमघर्षण के चिह्न सब से ज्यादा स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं वहाँ झीलें सब से ज्यादा पायी जाती हैं। लेकिन यहाँ तक कि कम्बरलैंड या उच्च स्थल तक भी झीलों की संख्या तथा आकार की दृष्टि से फिनलैंड की बराबरी नहीं कर सकते। दक्षिणी फिनलैंड में झीलें देश के करीब आधे भाग को ढँके हुई हैं। नॉवगोरोड के शासनकाल में की गयी गणना के मुताबिक वहाँ ३२०० झीलें थीं और रूस का यही भाग है जहाँ मोरेन तथा प्राचीनकालीन बर्फ की तह के अन्य चिह्न आज कल भी सब से अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

हिम नदी द्वारा बने क्षेत्र में कुछ दशाओं में तो झीलें निक्षेपण के कारण बनी हैं। ये पहले प्रकार की झीलें हैं जिनसे हमारा यहाँ प्रयोजन है।

मोरेन की मौलिक सतह गोलाश्म बट्टिकाओं से युक्त मिट्टी (boulder clay) के जमाव की सतह प्राय: बहुत असम रहा करती है और इसलिए जब इसका पहली बार अपावरण होता है तो जल गड्ढों में जमा हो जाता है और ऐसी झीलों का निर्माण करता है। नियमानुसार ऐसी झीलें आकार में अनियमित होती हैं और ये कुछ भी गहरी नहीं होतीं। स्वयं ब्रिटिश द्वीप समूह तक में भी अधिकांश झीलें बहुत पहले ही पंकीली मिट्टी से भर गयी हैं, लेकिन उत्तरी-पूर्वी जर्मनी में गोलाश्म बट्टिकाओं से युक्त मिट्टी से बने पठार पर आज तक भी सैकड़ों झीलें मौजूद हैं।

ये झीलें पूर्णतया हिमनदीय निक्षेपों से परिवेष्ठित हैं, लेकिन अधिकतर हिमनदीय पदार्थ नदी की घाटी को बाँधकर झील का निर्माण करता है। हिमनदी के अन्तिम छोरवाला मोरेन या हिमोढ़ प्राकृतिक बाँध का काम करता है; इसलिए जब हिम नदी पीछे लौटने लगती है तब यह अपने ऊपर जल को रोक कर रख सकती है जैसा कि

कृत्रिम जलाशय में हुआ करता है। फिर भी, कई कारणों से अन्तिम छोर वाला मोरेन शायद ही कभी जबर्दस्त बाँध का काम करता है। मोरेन के जमा होते समय हिमनदी के अन्तिम छोर से निकलने वाली नदी रास्ते को खुला रखती हैं, अतः बाँध प्रायः अपूर्ण रहा करता है। इसके अतिरिक्त अन्तिम छोरवाले मोरेन में प्रधानतः शंकाकार (angular) पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े रहा करते हैं जो अबद्ध रूप से एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। यह प्रायः जलरुद्ध नहीं हुआ करता है और न यह काफी ठोस रूप से बना ही रहता है जिससे यह अधिक दाब या क्षयीकरण को रोक सके। फलतः बड़े आकार या अधिक गहराई की बहुत कम ही झीलें अन्तिम छोर वाले मोरेन के द्वारा बाँध बँधने से बनती हैं; लेकिन छोटी झीलें बड़ी संख्या में इस तरह से बनी हैं। उदाहरणार्थ, लेक डिस्ट्रिक्ट में ब्लीवाटर नामक झील (Bleawater Tarn) अर्द्धवृत्ताकार मोरेन द्वारा जिस हिम गह्वर में यह अवस्थित है, उसके मुँह पर बाँध बँधने से बनी है।[१]

'हिमनदी या हिमचादर (ice sheet) के नीचे निक्षेपित गोलाश्म बट्टिकाओं से युक्त मिट्टी से प्रायः कहीं अधिक जबर्दस्त बाँध (barrier) बनता है। यह समूची घाटी में एक रूप से जमा नहीं होती है बल्कि कुछ स्थानों में और स्थानों की अपेक्षा इसके निक्षेप की तरह अधिक मोटी होती है। बर्फ के लुप्त होने पर घाटी अंशतः बंद हो जाती है और जहाँ इसके जमाव (accumulation) की तह सबसे अधिक मोटी होती है उन स्थानों के ऊपर जल जमा हो जाता है। विन्डर मियर अल्सवाटर (Windermere and Ullswater) लैनबेरीज की झील तथा और भी बहुत-सी झीलें सम्भवतः कमसे कम अंशतः जिस घाटी में वे अवस्थित हैं, उसके गोलाश्म मृत्तिका से बन्द होने पर निर्मित बाँध के कारण बनी हैं।

नियम के मुताबिक वह नदी जो झील से निकलती है, आजतक भी मौलिक घाटी से नीचे की ओर बहती है लेकिन कभी-कभी घाटी इतनी पूर्णता के साथ बन्द हो जाती है कि जल उसके किनारे से उमड़कर बहने लगता है। यही नहीं, यहाँ तक कि वह घाटी के शीर्ष पर से भी उमड़कर बहने लगता है जिससे वह समुद्र में जाने के लिए कोई दूसरा रास्ता अपना लेता है। इस दशा में वास्तविक बहिर्मार्ग ठोस चट्टान पर रह सकता है और सर्व प्रथम ऐसा मालूम पड़ सकता है कि झील ऐसे गड्ढे में अवस्थित है जो चट्टान के क्षय होने से बना है।

खुद हिमनदी भी ऐसे बाँध का निर्माण कर सकती है जो जल को ऊपर में रोक कर रखे रहता है। जहाँ दो हिमनदियाँ मिलती हैं वहाँ कभी-कभी उनके मध्य के कोण के अन्दर छोटी त्रिभुजाकार झील बन जाती है। ग्रीनलैंड में उभरे हुए हिमपर्वत की चट्टान की नोकों (Nunataks) के कारण बर्फ की सतह में बनी असमानताएँ प्रायः ऐसे तालाबों के निर्माण का कारण बनती हैं (निर्माण करती हैं) जो बड़े आकार के हो सकते हैं। ग्रीनलैंड और अन्य स्थानों में जहाँ हिमनदी ऐसी घाटी के मुँह को पार करती है जो बर्फ से मुक्त रहती है, वहाँ कभी-कभी बहुत बड़ी-बड़ी झीलें पायी जाती हैं। जब तक ताप साल के अधिक दिनों तक हिमांक से ऊँचा नहीं रहता तब तक एक भी झील का निर्माण नहीं होगा। लेकिन

---

१ हाल के खनन से सबसे अधिक २०७ फुट की गहराई का पता चला है जिससे इस बात का अनुमान होता है कि गड्ढे का निम्नतर भाग ठोस चट्टान पर अवस्थित है।

बहुत-सी हिमनदियाँ हिमरेखा (snowline) से बहुत नीचे तक आती हैं। हिमनदी की घाटी स्वयं बर्फ से भरी रह सकती है ; किन्तु इसके विपरीत इसके अगल-बगल वाली घाटियाँ प्रवाहिनी नदियों का क्रीड़ास्थल रहती है। नियम के मुताबिक ये नदियाँ हिमनदी पर पड़ती हैं तथा बर्फ की दरारों से होकर नीचे चली जाती हैं लेकिन कभी-कभी पार्श्विक घाटी का जल-प्रवाह (drainage) पूर्णरूप से बन्द हो जाता है जिससे झील का निर्माण होता है। आल्पस् पर्वत-स्थित मारजीलेन सी (Marjelen See) इसका सुविख्यात उदाहरण[1] है।

यह एक ऐसी पार्श्विक घाटी में अवस्थित है जो एंलेस्टेय नामक हिमनदी (Aletsch glacier) में गिरती है। कभी-कभी जल हिमनदी के छिद्रों से बह निकल सकता है। लेकिन बर्फ का बाँध प्रायः इतना ऊँचा और पक्का रहा है कि झील का जल गिरि-पथ (col) को आप्लावित कर विस्च नामक हिमनदी (Viesch glacier) की समीपवर्ती घाटी में चला गया है। चूँकि गिरि-पथ पर हमेशा बहिर्मार्ग रहता है, इसलिए जल कभी भी उससे कुछ भी अधिक ऊँचाई तक नहीं उठ सकता, जिससे गिरि-पथ पर बालूतट (beach) या पुश्ता (terrace) बन जाता है।

बेन नेविस पर्वत के उत्तर-पूर्व में पायी जाने वाली ग्लेन रॉय (Glen Roy) की समानान्तर सड़कें इसी प्रकार बनी थीं। वे पुश्ते या बालूतट हैं जो स्पष्टतः तरंगों के कार्य के द्वारा तथा उस ऊँचाई के चिह्नीकरण के द्वारा बने जहाँ तक जल पहुँचा था। प्रत्येक पुश्ता (terrace) उस गिरिपथ (col) के स्तर पर अवस्थित है जिस पर जल बहकर निकल सकता था। नदी की घाटी में बर्फ के द्वारा बाँध बन गया जिससे वहाँ पर झील का निर्माण हुआ। जब बर्फ सबसे अधिक विस्तृत रूपसे फैली थी, तब उच्चतम गिरिपथ को छोड़ और सभी गिरिपथ बन्द हो गये थे ; इसलिए वहाँ पर जल उच्चतम पुश्ते के स्तर पक पहुँच गया था। बर्फ के पीछे हटने पर दूसरा गिरिपथ खुल गया (बर्फ से मुक्त हो गया) ; जल अपने स्तर में नीचे गिरकर चला गया जिससे दूसरे पुश्ते का निर्माण हुआ। उसके बाद दूसरा तथा निम्नतम गिरिपथ बर्फ से मुक्त हुए जिससे निम्नतम पुश्ते का निर्माण हुआ। अन्त में मुहाने पर का बाँध लुप्त हो गया जिसके फलस्वरूप झील लुप्त हो गयी। झीलों में प्रवेश करने वाली नदियों से डेल्टों का निर्माण हुआ जो स्तर में बालूतटों के अनुरूप लगते हैं। उसके बाद नदियों ने डेल्टों को काटकर अपने मार्ग बनाए तथा उन्हें डेल्टों को पहाड़ी भाग (hillside) की ओर खुला (अनावृत्त कर दिया) छोड़ दिया (प्लेट 10b)

ज्वालामुखीय निक्षेप :—ज्वालामुखीय क्षेत्र में लावा-स्रोत का प्रवाह घाटी के आर-पार हो सकता है जिससे नदी में बाँध बन जा सकता है। क्लेरमॉन्ट फिरैन्ड (Clermont-Ferrand) के निकट लैक डी ऐडट (Lac d' Aydat) का निर्माण इसी प्रकार हुआ था।

---

१ अब एक आप्लाव-सुरंग (overflow tunnel) बनाई गयी है जो उस ऊँचाई को सीमित करती है जहाँ तक झील का पानी उठकर ऊपर जा सकता है ; इसलिए नियत काल पर जल के हिमनदी के नीचे से बह निकलने पर बाढ़ों का आना बहुत कम हो जाता है।)

ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में बनने वाली झीलें (crater-lakes) तो बहुत ज्यादा पायी जाती हैं। ज्वालामुखी पर्वत का मुँह एक प्राकृतिक गड्ढा होता है जिसमें जल के एकत्रित होने की प्रत्याशा की जा सकती है। लेकिन अधिकांश दशाओं में उनकी दीवारों में इतनी अधिक (अत्यधिक) अवद्ध राख रहती है कि वे जलरुद्ध नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त चूँकि ज्वालामुखी पर्वत का मुँह प्रायः पहाड़ी के शीर्ष पर रहा करता है इसलिए इसके (ज्वालामुखी पर्वत) मृत हो जाने के बाद एक-मात्र जल जो उसमें पहुँच पाता है, वह वर्षा का जल रहता है जो सीधे उसमें गिरता है। फलतः ज्वालामुखी पर्वत के अधिकांश मुँह शुष्क रहते हैं। तौभी इफेल, ऑवर्न तथा अन्य स्थानों में ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में बनने वाली झील पर्याप्त संख्या म पायी जाती हैं लेकिन उनमें अधिकांश झील ज्वालामुखी के ऐसे मुँह में हैं जो ज्वालामुखीय राख के एकत्रित होने से नहीं बल्कि विस्फोट के फलस्वरूप बनी हैं।

जैविक निक्षेप :—जानवरों तथा वनस्पति के अवशेषों के निक्षेपों से भी कभी-कभी झीलों का निर्माण हो सकता है। एटॉल पर वाला लैगून भी एक प्रकार की झील है जिसका निर्माण प्रवाल बहुपाद प्राणियों (coral polyps) के द्वारा निर्मित शैलमालाओं से हुआ है। वनाच्छादित प्रदेशों में नदियाँ कभी-कभी बाढ़ों के समय बहकर नीचे आए हुए उपलाते हुए वृक्षों से बन्द हो जाती हैं। यदि उनमें से कोई नदी इस प्रकार बन्द हो जाय जिससे कि वह बह न सके तो इससे लकड़ी के भारी कुन्दे (logs) एकत्रित हो सकते हैं जिससे कुछ समय के लिए बाँध बन जायगा। बाँध के ऊपर स्थायी झील बनेगी; लेकिन आगे या पीछे बाँध नष्ट हो जायगा तथा जल बह निकलेगा। उसी प्रकार की अधिक स्थायी झीलें उत्तरी-पश्चिमी कनाडा की कुछेक नदियों में ऊदबिलावों (beavers) द्वारा बनाए बाँधों के द्वारा बनती हैं।

क्षयीकरण के द्वारा बनने वाली झीलें :—झीलें कभी-कभी ऐसे गड्ढों में पायी जाती हैं जो पूर्णरूप से ठोस चट्टान से परिवेष्टित रहते हैं। अवद्ध पदार्थ के एकत्रित होने से उनमें बाँध नहीं बँधते बल्कि वे वास्तविक चट्टानी गड्ढों में रहती हैं। ऐसी झीलें नदी के मार्ग में अवस्थित रह सकती हैं; लेकिन यह स्पष्ट है कि गड्ढा खुद नदी के समपघर्षण सम्बन्धी कार्य के फलस्वरूप नहीं बना था। चूँकि जब तक गड्ढा काफी छिछला न रहे और नदी यथार्थ में काफी भयंकर न हो तो उसके तल का जल यथार्थतः अवश्य ही शान्त रहेगा; इसलिए समपघर्षण के बदले निक्षेपण का कार्य होगा। ऐसा केवल जलप्रपात के निम्नभाग में या जहाँ जल आवर्त के रूप में चक्कर काटता हुआ आगे बढ़ता है, वहीं होता है कि नदी अपने तल की साधारण ढाल के नीचे गड्ढा बना सकती है। ऐसे गड्ढे हमेशा छोटे होते हैं और इसलिए ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कोई भी बड़े आकार या काफी गहराई वाला चट्टानी-गड्ढा बहते हुए जल के समपघर्षण सम्बन्धी कार्य के फलस्वरूप नहीं बन सकता है।

फिर भी यदि नदी ऐसी चट्टान के तलागत पर से होकर बहती हो जो जल में विलेय (soluble) हो, तो यह विलयन (solution) के द्वारा गड्ढे का निर्माण कर सकती है। यहाँ तक कि यदि यह अपने तल में वास्तविक गड्ढा नहीं भी बनाती हो, तो भी वर्षा के जल तथा नदी के विलायक कार्य का असर इसके दोनों किनारे पर पड़ने से नदी का प्रवाह-मार्ग इतना अधिक चौड़ा हो जायगा कि वहाँ पर जल की एक तह बन जायगी जो झील कहला सकती है। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है कि शैनॉन के

फैलाव जो लाफ्स री तथा डर्ग (Loughs Ree & Derg) के नाम से अभिहित हैं, उस चूने के पत्थर के विलयन के कारण बने हैं जिस पर नदी बहती है।

हवा के द्वारा (होने वाला) क्षयीकरण :—यद्यपि गड्ढे में रहने पर जल समपघर्षण का कार्य बन्द कर देता है तथापि और ऐसे अन्य दूत हैं जो उसी हद तक सीमित नहीं हैं। हवा तथा हिमनदियाँ दोनों टुकड़ों को ढोकर ऊपर की ओर ले जा सकती हैं जिसके फलस्वरूप वे किसी ढाल के ऊपर की ओर चलते समय समपघर्षण का कार्य कर सकती हैं। इसलिए इन दोनों में से कोई दूत अधिक बड़ा या छोटा चट्टानी-गड्ढा काट कर बना सकते हैं।

वनस्पति के न रहने पर हवा के अनियमित क्षयीकरण सम्बन्धी कार्य के द्वारा प्रायः छोटे-छोटे गड्ढों का निर्माण होता है और प्रचण्ड वृष्टि (storm of rain) के समय वे जल से भर जा सकते हैं। फिर भी, ऐसा मरुभूमि वाले क्षेत्रों में होता है, इसलिए स्थायी झीलें नहीं बनेंगी। अधिक आर्द्र जलवायुओं में हवा का प्रभाव कम होता है; इसलिए चट्टानों की सतहों का ऋतुअपक्षयण प्रायः बहुत ही असमान रूप से होता है। और चूँकि ऋतु अपक्षय पदार्थ प्रायः मुलायम हुआ करता है इसलिए, वह हवा द्वारा उठाकर ले जाया जा सकता है जिससे वहाँ गड्ढे बन जाते हैं जिनमें जल धारण करने की क्षमता रहती है। फिर भी, ये गड्ढे छोटे और छिछले होते हैं; अतः यहाँ तक कि किसी भी छोटे आकार के चट्टानी गड्ढे के बारे में यह कहना सम्भव नहीं है कि वह इस प्रकार बना है।

हिमनदियों द्वारा होने वाला क्षयीकरण :—कुछ लेखकों का मत है कि हिमनदियाँ क्षयीकरण के दूतों के रूप में प्रायः प्रभावोत्पादक नहीं होतीं। लेकिन वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिमनदी किसी भी अबद्ध तथा ऋतुअपक्षयण पदार्थ को जिस पर वह बहती है, बहाकर ले जा सकती है। लेकिन वे इस बात को नहीं मानते हैं कि सम्भवतः छोटे चट्टानी गड्ढे को छोड़ उसमें चट्टानी गड्ढे बनाने की सामर्थ्य नहीं रहती। फिर भी इस बात का जिक्र पहले ही किया जा चुका है कि हिमघर्षित क्षेत्रों में सब से ज्यादा झीलें पायी जाती हैं। उनमें से बहुत-सी झीलें तो नदियों की घाटियों में हिमनदीय-निक्षेपों के द्वारा बाँधों के बनने से बनती हैं, लेकिन बहुत-सी झीलें ठोस चट्टान में बने गड्ढों में अवस्थित हैं। स्काई (skye) स्थित लॉच कोरुइस्क (Loch Coruisk) इसका उदाहरण हो सकता है। यह पूर्णरूप से चट्टान से घिरा है तथा ध्वनन से पता चलता है कि उसमें दो पृथक गड्ढे हैं जो चट्टानी दीवार द्वारा पृथक् हैं। जल द्वारा बनी हुई किसी भी घाटी का ऐसा रूप नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसी घाटी के तल को लगातार समुद्र की ओर झुका रहना चाहिए। लम्बे हिमनदीय चिन्ह (glacial striations), अविपृष्ठों (roches moutonnees) तथा अन्य चिन्हों से इस बात को प्रमाणित करते हैं कि घाटी में एक समय हिमनदी बहती थी। इसलिए गड्ढों के क्षयीकरण को हिमनदी के कार्य के फलस्वरूप होना मानना स्वाभाविक है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ऐसी दशाओं में, जैसी कि ये हैं, स्वयं घाटी का निर्माण बर्फ के द्वारा नहीं हुआ था, बल्कि वहाँ पर सर्वप्रथम नदी की घाटी थी। हिम्य काल में उसमें हिमनदी बहती थी। हिमनदी ने घाटी का निर्माण नहीं किया था; लेकिन इसने उसके रूप में केवल हेरफेर किया था। इसने विशेष कर दोनों चट्टानी गड्ढों को गहरा कर दिया जो प्रारम्भिक नदी के कार्य के फलस्वरूप नहीं हो सकता है।

विलयन :—जब कोई नदी उस चट्टान से होकर बहती हो जो जल में विलेय रहती है तो जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, चट्टान के विलयन से झील का निर्माण हो सकता है। लेकिन विलयन केवल सतह पर ही नहीं होता। भूमि के अन्दर के स्रोत चूने के पत्थर, नमक तथा अन्य विलायक पदार्थ को घुला देते हैं जिससे इनसे प्राय: लम्बी एवं चौड़ी कन्दराएँ बनती हैं। यदि किसी कन्दरा की छत गिरकर नीचे चली जाय तो वहाँ ऊपर जमीन पर अवनमन होगा और (उसके फलस्वरूप बने) उस गड्ढे में जल झील के रूप में एकत्रित हो सकेगा।

चेशायर की झीलों में बहुत-सी झीलें सम्भवत: इसी कारण से बनी हैं। सतह के नीचे नमक की तहें हैं। लवण-जल वाले झरने की मौजूदगी से इस बात का पता चलता है कि नमक भूमि के नीचे के जल द्वारा हटता जा रहा है। जहाँ लवण-जल को पम्प द्वारा निकालकर इस विधि को तेज कर दिया जाता है वहाँ प्राय: अधोगमन (subsidences) हुआ करते हैं जिससे समय-समय पर नयी झीलें बना करती हैं या पुरानी झीलें आकार में बड़ी हो जाती हैं।

नमक के निक्षेप अपेक्षाकृत विरले ही जमा होते हैं और ऐसा केवल चूने के पत्थर वाले क्षेत्रों में ही हुआ करता है कि भूमि के अन्दर के जल का सबसे ज्यादा प्रेक्षण होता है। लेकिन हालांकि चूने का पत्थर घुल जाता है और उसके ऊपर की जमीन में अधोगमन होता है, पर ऐसा प्राय: नहीं होता कि झीलें बनती हों क्योंकि अधिकांश चूने के पत्थरों के दरारी प्रकृति वाले होने के कारण जल प्राय: भूमि के अन्दर के किसी मार्ग द्वारा निकल कर चला जा सकता है। फिर भी, कभी-कभी प्रवाह-मार्ग का मुँह हिमनदीय तथा अन्य पदार्थ के द्वारा बन्द हो जा सकता है तथा जल गड्ढे में एकत्रित हो जायगा। या यदि वहाँ शेल तथा चूने के पत्थर—दोनों की तहें मौजूद रहें तो जल को ग्रहण करने लायक अभेद्य गड्ढे बन सकते हैं।

ज्वालामुखीय विस्फोट :—इफेल क्षेत्र (जिले) में जमीन में बहुत-से वृत्ताकार छिद्र हैं जो ज्वालामुखीय विस्फोटों के द्वारा उत्पन्न हुए थे। कभी-कभी तो वे ज्वालामुखीय राख से परिवेष्टित रहते हैं और कभी-कभी विस्फोट द्वारा बाहर उत्क्षेपित टुकड़ों से। वे ज्वालामुखी पर्वत के मुँह होते हैं और ज्वालामुखी पर्वत के ऐसे मुँह होते हैं जो छिद्रों के बनने से बने हैं, स्वाभाविक रूप से नहीं बने हैं। और चूँकि उनकी दीवारें ठोस चट्टान की होती हैं, इसलिए वे जल धारण कर सकते हैं।

ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में बनने वाली अधिकांश झीलें इसी प्रकार के ज्वालामुखी पर्वत के मुँह में पायी जाती हैं। इफेल क्षेत्र की लैचर सी (Laacher See) तथा नेपुल्स के निकट आवर्नस झील (Lake Avernus) इसके सुविख्यात उदाहरण हैं।

लोनार झील बरार के बुल्दाना जिले में उस वृत्ताकार खड़े उच्छृंगावृत्त गड्ढे के आकार के (ज्वालामुखीय) मुँह (circular) के चौरस तल पर अवस्थित है जो उन उच्छृगों की मंडलाकार स्थलाकृति से घिरा है जो कि झील के चारों ओर करीब ५०० फुट ऊँचाई तक उठे हुए हैं। गड्ढे का व्यास एक शीर्ष से दूसरे शीर्ष तक सवा मील है। एक गहरी कन्दरा जिसमें झरने से जल आता है, उसके द्वारा कटकर किनारे के उत्तरी-पूर्वी भाग में लोनार गाँव के निकट एक जलमार्ग (channel) बन गया है; झील में जाने का एकमात्र रास्ता यही है जो अपने क्षार पदार्थ (alkali

content) के लिए महत्वपूर्ण है। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य कुछ अंशों में प्रसिद्ध झील आवर्नस (celebrated Lake Avernus) के समान है। झील के ठोस चट्टानी तल की समतल प्रकृति तथा दीवार के निकट निकली हुई इष्टकाओं (blocks) से पता चलता है कि झील की उत्पत्ति जमीन के धँसने से हुई है। प्रारम्भ में अधश्शैल (laccolithic) के प्रकार या मेहराब के आकार का उन्नयन हुआ होगा लेकिन पार्श्विक दरारों से लावा या भाप के निकलने के साथ-साथ मेहराब के बिना आधार वाला मध्य भाग त्रिज्या वाली दरारों पर नीचे धँस गया और साथ-साथ इसके दोनों पार्श्वों को ऊपर की ओर झुकाता भी गया। सभी एक तरफ से स्वच्छ जल के झरने से जल के बहकर अन्दर आने से इस बात का पता चलता है कि आधार के चारों ओर वृत्ताकार दरार मौजूद है (प्लेट २७ देखिए)।

छिन्दबारा जिले में शिकारपुर नामक गाँव के सामने कुलबेरा नदी के तल (b) में लावा-प्रवाह की सतह पर ऐसे वृत्ताकार गडढे बड़ी संख्या में पाए जाते हैं जो छोटे ज्वालामुखीय मुँखों के रूप में वर्णित हुए हैं। ये गड्ढे ऐसे हैं जो पहले सूराखों के रूप में थे और उनसे गैस तथा भाप निकलती थी। और कुछ गड्ढे ऐसे हैं जो लावा के भूपटल के अन्दर के गलित लावा के गर्त में गिर जाने के कारण बने हैं। इन गडढों का व्यास ३ फुट से लेकर २० फुट तक है तथा ये १ फुट से लेकर ३ फुट या यहाँ तक कि ५ फुट तक गहरे हैं (प्लेट २८ देखिए)।

भू-संचलन के कारण बनने वाली झीलें :—यह देखना सरल है कि जल धारण करने योग्य गड्ढा भूपटल के नवने या टूटने के कारण बन सकता है। और इस बात में कोई संदेह नहीं कि कुछ झीलों की उत्पत्ति इसी कारण से हुई है।

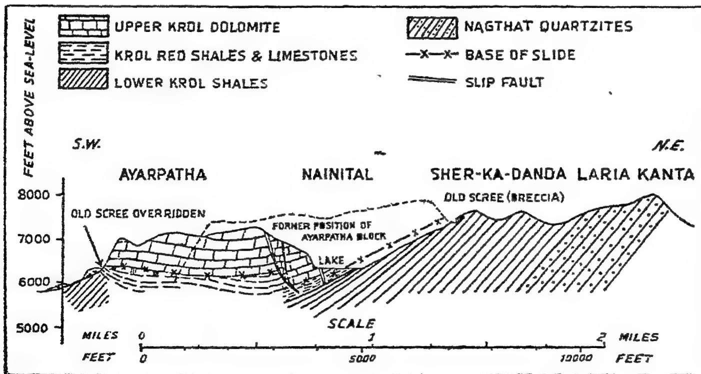
मृत सागर इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में से एक है। यह अबद्ध पदार्थ से बँधा नहीं है बल्कि यह वास्तविक चट्टानी गड्ढे में अवस्थित है। इसके जल की सतह भूमध्य-सागर के स्तर से १२९२ फुट तथा तल २५९२ फुट नीचे है। इसके समान कोई भी अवनमन (depression) नहीं है, जो केवल भूतलिक क्षयीकरण (subaerial erosion) के कारण बन सकता है क्योंकि क्षयीकरण सम्बन्धी कोई भी दूत इतने गहरे गड्ढे से पदार्थ को काटकर अलग कर सकता था। जॉर्डन की घाटी एक संकीर्ण प्रदेशीय पट्टी (a narrow strip of country) है जो समानान्तर दराजों या दरारों के बीच दब गयी है। मेरॉम की खाड़ी (waters of Merom) से लेकर दक्षिण की ओर १५० मील से भी अधिक दूर तक यह पट्टी अब समुद्र-स्तर से नीची है लेकिन यह समान रूप से नीचे नहीं धँसी थी। अवनमन का गम्भीरतम भाग मृत स गर में हैं और यह वही स्थान है जहाँ जल इकट्ठा होता है।

पूर्वी अफ्रिका की न्यासा, टैंगनिका तथा बहुत-सी अन्य छोटी-छोटी झीलें इसी प्रकार दराज वाली पट्टियों में अवस्थित हैं और वे इसी प्रकार से बनी भी हैं।

सम्भवतः उत्तरी अमेरिका की बड़ी झीलें अंशतः पृथ्वी की गतियों के कारण बनी हैं किन्तु पृथ्वी की ये गतियाँ दूसरी तरह की थीं। तटों के चारों ओर पुश्ते या सीढ़ी-नुमा ढालें (terrace) हैं जो उस समय बनी थीं जब जल अधिक ऊँचे स्तर पर था। प्रारम्भ में ये पुश्ते अवश्य ही अनुप्रस्थ रहे होंगे, लेकिन अब अनुप्रस्थ नहीं हैं। भूपटल इनके बनने के दिन से दब गया है। इस प्रकार के मोड़ से झीलों के रूप में अवश्य ही परिवर्तन होगा, और यही मोड़ उनके निर्माण का प्रधान कारण रहा होगा।

इस बात के कुछ प्रमाण भी मिलते हैं कि आल्प्स पर्वत पर अवस्थित अधिक बड़ी झीलें अंशतः सतह के मुड़ने से बनी हैं। कुछेक झीलों को छोड़कर वे नदियों की घाटियों के ठीक उन भागों में अवस्थित हैं जहाँ घाटी मैदानों में फैल जाती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ये घाटियाँ नदियों की सामान्य घाटियों की तरह एक समय अविच्छि-रूप से (continuously) समुद्र की ओर झुकी हुई थीं लेकिन पर्वत समूह के कारण भूपटल उसके नीचे धँस (sagged) गया। इस प्रकार धँसान (sagging) के कारण पहाड़ियों के निम्नभाग में घाटियों की ढाल उल्टी हो गयी जिसके फलस्वरूप झीलों का निर्माण हुआ। इस दृष्टिकोण के समर्थन में ऐसा कहा जाता है कि झीलों के निकट नदियों के पुश्ते (सीढीनुमा ढाल) जो एक समय समुद्र की ओर झुके हुए थे, वे अब पर्वतों की ओर झुके हुए हैं।

कुमायूँ की झीलों के अन्तर्गत काश्मीर की झीलों के अलावे हिमालय क्षेत्र की झीलों का एक मात्र विशाल समूह आता है। ये झीलें उप हिमालय के बाहरी पार्श्व के निकट १५ मील लम्बी और दो मील चौड़ी पट्टी में अवस्थित हैं। इन झीलों की उत्पत्ति की व्याख्या के लिए (विभिन्न सिद्धान्त, जैसे, हिमनदीय शैलपात, भेदीय उच्चयन (differential uplift) और चूने के पत्थर के विलयन द्वारा सहाय्यित धँसान जैसे विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तावित किए गये थे। हाल के कार्य से पता चला है कि ये झीलें प्रधानतः विभिन्न भूसंचालनों तथा रुकावट पड़ने के कारण बनी हैं। नैनीताल के उत्तर-पश्चिम में डोलोमाइट नामक चट्टान की एक पहाड़ी है जो आर्यपथ के नाम से विदित है। यह पहाड़ी अपनी प्रारम्भिक स्थिति से नीचे खिसक गयी है। इसके लिए प्रधान प्रमाण निम्नस्थ क्रौल शेल्स नामक चट्टानों के साथ इसकी विस्वरता (discordance) है। नैनीताल के उत्तर-पूर्व में शेर-का डंडा की ढाल पर



चित्र २०६—नैनीताल लेक की खाड़ी।

डोलोमाइट चट्टान के नीचे सिमेंट ब्रेशिया (cemente breccia) है। आर्यपथ के उत्तर-पश्चिम में डोलोमाइट चट्टान का दूसरा ढेर है जिसे देवपथ कहते हैं।

वह बड़ी दरार जो इन दो बड़े खंडों के बीच बनी थी, उस पर केवल तेजी से क्षयीकरण ही नहीं हुआ था बल्कि शैलपात भी खूब हुए थे और इसलिए असमतल सतह पर बने गड्ढों में झीलों का निर्माण हुआ जिनमें से कुछ, जैसे सूखा ताल तथा सरिया ताल अस्थायी थे। खुरपा ताल का निर्माण बगल की घाटी के चट्टानों की तलहटी पर पत्थरों के ढेर वाले पदार्थ से बन्द होने से हुआ था। नैनीताल का निर्माण भी इन्हीं शैलपातों द्वारा हुआ था जिनसे इसका उत्तरी-पश्चिमी छोर बन्द हो गया था; इसी प्रकार इसका दक्षिणी-पूर्वी छोर नीचे घिसके हुए बड़े खंड के द्वारा बन्द हो गया था। डोलोमाइट चट्टान के पृथक खंड से नैनीताल झील के बीच में उभरा भाग (rise) बना हुआ है।

भीम ताल समूह के अन्तर्गत भीम ताल, नौकचिया ताल, सत ताल और कम ऊँचाई पर कुछेक छोटे-छोटे सूखे तलों के साथ-साथ पूना ताल आते हैं। नौकचिया ताल की वर्त्तमान सतह भीम ताल की सतह से १०० फुट नीचे है लेकिन एक समय दोनों जुटे हुए थे और दोनों के बीच निम्न तथा कटी सीढ़ी अवस्थित है। वहाँ पर चारों ओर ४५० फुट की ऊँचाई पर हाल में बनी सीढ़ियों का बलय है। भीमताल की बेसिन पहाड़ों के मध्य के समतल मैदान या दून के गहरे क्षयीकरण के द्वारा और आगे चलकर कड़ी ज्वालामुखीय चट्टानों के शैलपात के द्वारा बनी होगी। दूसरा अनुमान यह है कि यह उन स्लेटों के अनियमित रूप से अकस्मात् नीचे गिर जाने के कारण बनी होगी जो झील के तल का निर्माण करती हैं और आड़ कड़े ठोस तथा हरे पत्थरों से बनी है।

आसाम की बड़ी नांग यांग झील (Nawng yang Lake) जो विस्तृत दलदल में है तथा और बहुत-सी छोटी-छोटी झीलें और दलदलदार जमीन स्थानीय उच्चयन के कारण बनी थीं।

छोटी-छोटी झीलें, जो भूकम्प के द्वारा दराज के नीचे खिसकने तथा शैलपात से बनी आड़ों के कारण बनी थीं, कुमायूँ और गढ़वाल में बाहरी हिमालय में खूब पायी जाती हैं। वे भूकम्प सम्बन्धी झीलों के नाम से विदित हैं।

[illegible] की पश्चिमी सैन्ध पर्वत श्रेणी (Salt Range) के सोन पठार पर अवस्थित नमकीन (लवण) झीलें अन्तःकृत उत्पत्ति (tectonic origin) के हैं। सैन्ध पर्वत श्रेणी के उच्चतम स्थान सकेसर पहाड़ी के निम्नभाग में सोन पठार पर चार स्थायी झीलें हैं। इन झीलों में, सोन सकेसर या समुन्दर सबसे बड़ी झील है जो करीब तीन मील लम्बी और एक मील से कुछ अधिक चौड़ी है। ये झीलें उस लोयस के अनियमित रूप से जमा होने के कारण बनी थीं जिससे अन्तः कृत बेसिनों (प्लेट २९) में एकत्रित जल बन्द हो गया था। सोन सकेसर का तल अंशतः पहाड़ी के उस आधार की ओर पठार की साधारण ढाल है जहाँ दराज के कारण बेसिन गहरी हो गयी है। चूने के पत्थर के अन्तः स्थल जल के किनारे से एकाएक उठे हुए हैं और पहड़ी ऊपरी प्रहार वाले भाग की ओर अवस्थित प्रतीत होती है। दूसरी कबाकी कलर झील लम्बी तथा संकीर्ण द्रोणी के एक भाग में है और जलावर झील चाप (anticline) के शीर्ष पर बनी उस घाटी में अवस्थित है जिसके बनने में सम्भवतः दराज के बनने से मदद पहुँची थी।

साँभर झील सबसे बड़ी झील है और साथ ही यह राजपूताने की सभी नमकीन झीलों में सब से अधिक महत्वपूर्ण है। अन्य महत्वपूर्ण झीलें डिडवाना तथा पंचभद्रा

हैं जो जोधपुर में हैं। साँभर झील का क्षेत्रफल मॉनसून के समय ९० वर्गमील रहता है, जब कि इसमें अधिकतम जल रहता है और इसकी गहराई ४ फुट रहती है। साल के वाकी समय में इसकी सतह सूखी रहती है तथा उजले नमक और नमकीन सिल्ट से ढकी रहती है। ऐसा समझा गया था कि खारापन हवा के द्वारा लाए गये नमक के कारण है जो कच्छ की खाड़ी से मॉनसून हवाओं के द्वारा लाया गया था। हाल के अध्ययनों से पता चला है कि विभिन्न झीलों के जल की रचना एक दूसरे तथा समुद्र के जल की रचना से भिन्न है; इसके अतिरिक्त झीलें उस हवा के मार्ग में नहीं पड़ती हैं जो कच्छ की खाड़ी की दिशा से चलती है। यह झील १२०० फुट की ऊँचाई पर अवस्थित है और अर्वली पर्वत श्रेणी के पूर्व भाग पर है। साँभर झील, सम्भवतः उस समुद्र का शेष भाग है जो प्रारम्भिक टरशियरी युग (Tertiary period) में पश्चिमी राजपूताने में फैला हुआ था। इसका कारण यह है कि ऐसे शेष भाग या अवशेष जल के एकत्रीकरण को सहायता पहुँचाने वाले गड्ढों या अवनमनों में छिछली झीलों के रूप में रह सके हैं।

काश्मीर घाटी के झील वाला प्राचीन निक्षेप करेवा के नाम से विदित हैं; ये इस का निर्देश करते हैं कि प्लेस्टोशीन युग की पुरानी झीलें संरचना या बनावट वाली अभिनतियों के गर्तो (tectonic synclinal troughs) में थीं। वर्तमान झीलें नदियों के असम तलछट तथा परित्यक्त सम्पूर्ण शाखा (loop) के द्वारा बने जलोढ़ वाले बेसिन में हैं।

पन्द्रहवाँ अध्याय

नदी का रेजीम

(River Regimes)

रेजीम की परिभाषा :—रेजीम का अर्थ नदियों तथा स्रोतों (streams) के जल की आपूर्ति और उनके बहिर्प्रवाह (outflow) के अन्तर सम्बन्धी पूर्णता की घटनाओं से है। नदी के जल के आयतन में साल के अरसे में बहुत अन्तर (variations) हो सकते हैं। ऋतु, मिट्टी की दशाएँ, उच्चावचन (Relief), चट्टान के विन्यास तथा वनस्पति के साथ विसर्जन के सम्बन्ध जितने मनोरंजक हैं उतने ही जटिल भी हैं। ये (सम्बन्ध) भूगोलवेत्ता के लिए प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक दिलचस्पी की समस्यायें प्रस्तुत करते हैं। जल विज्ञान शास्त्र (hydrology) वास्तव में बहुत तरह से भूगोल के प्राकृतिक तथा मानवीय पक्षों (sides) के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी (link) का काम करता है।

नदियों के जल के विसर्जन की माप :—नदी के रेजीम को नियंत्रित करने वाले कारणों पर विचार करने के पूर्व हम इसकी गति (rate) की नाप और प्रवाह के आयतन (volume of flow) पर दृष्टिपात करें। नदी के कृत्रिम तल (artificial bed) के सीमित रहने पर जब उसमें ताला या बाँध रहते हैं तब ऐसी विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, पूरी शुद्धि के साथ इसके प्रवाह को नापना असम्भव है,

लेकिन ऐसे अनेक तरीके हैं जिनके सहारे सन्निकट मान (approximate value) निकाला जा सकता है। सरलतम तथा प्रायः सर्वाधिक सम्भव तरीका नदी के एक ऐसे भाग को चुनना है जो २०० या ३०० गज तक सीधा और बाधाओं से मुक्त हो। ध्वन्यात्मक लकीर या दण्ड के सहारे उपयुक्त स्थान पर नदी का सुन्दर खाका तैयार कीजिए। प्रवाह की चाल के मुताबिक ऐसे दो खाका तैयार करना सरल हो सकता जो ५ से ५० गज तक पृथक् होंगे। उसके बाद प्लवन के सहारे मापित भाग में नदी के सतह वाले प्रवाह की गति का प्रेक्षण कीजए—जो दो मापित भागों के बीच की दूरी हो सकती है। अधिक शुद्धि तभी सम्भव हो सकती है जब कि अनेक प्लवन की वस्तुएँ काम में लायी जायँ जिसमें किनारे के निकट तथा नदी के बीच में प्रवाह की गति का पता लग सके। प्लवन की वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए कि वे हवा द्वारा या अन्य बाहरी बातों से कम-से-कम प्रभावित हो अर्थात् (उसे) कुछ ऐसी वस्तु सर्वोत्तम है जो जल के ऊपर इस प्रकार उपलायेगी जिसमें उसका केवल छोटा भाग जल की सतह के ऊपर रहेगा। दोनों स्थानों के प्लवन करने वाली वस्तुओं के द्वारा लिए गये समय मालूम कर लेने के बाद और यदि आवश्यक हो तो उसका औसत निकाल लेने पर केवल इस बात की जरूरत होती है कि चाल को (यों कहिए कि प्रत्येक मिनट में फुट की इकाई में) ढाँचा के वर्गफुट के क्षेत्रफल द्वारा गुणा कर दिया जाय ताकि प्रत्येक मिनट में उस विशेष ढाँचा से गुजरने वाला आयतन (जल का) निर्धारित हो जाय। इस विधि से इस बात का अनुमान होता है कि किसी भी गहराई में नदी का प्रवाह बराबर ही रहा करता है। वास्तव में किसी भी नदी में इसके तल तथा किनारे के साथ होने वाले घर्षण (friction) से प्रवाह धीमा पड़ जाता है जो (प्रवाह) फलतः केन्द्र-रेखा के पास अधिक तेज रहता है। नदी की सतह और उसकी मध्यमान चाल (mean speed) के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। लेकिन अधिकांश दशाओं में मध्यमान चाल की सतह की चाल के ०.७ तथा ०.९ के बीच रहती है। पार्वतीय छिछली नदियों में यह अन्तर सब से कम (अत्यल्प) होता है और समतल मैदानों की गहरी तथा अधिक धीमी गति से बहने वाली नदियों में सब से अधिक।

सुग्राही धारा-मीटर (sensitive current meter) के व्यवहार करने पर उससे अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। सिद्धान्त तो एक ही है लेकिन मीटर द्वारा अतिरिक्त चाल की (माप होगी) तथा साथ-साथ किसी भी गहराई की चाल की माप होगी बशर्ते कि वहाँ वह (मीटर) रखा जा सके।

जहाँ नदी का आयताकार ढाँचा वाला बाँध (weir) रहता है वहाँ बहुत अधिक सुधार कार्य करना सम्भव होता है। यदि नदी के बाँध या नदी के तल (weir or sill) की लम्बाई नापी जाय और यदि साथ ही नदी के तल का ऊपरी भाग (अनुमानित समतल भाग) जहाँ जल नदी के तल पर गिरता है, ठीक उसके ऊपर जल की सतह के बीच के स्तर का अन्तर मालूम हो तो एक अपेक्षाकृत सरल सिद्धान्त या सूत्र (simple formula) द्वारा स्वाभाविक दशाओं में विसर्जन (discharge) का पता लग जाता है।

$$Q = m.Lh \sqrt{2gh}$$

(L=नदी के तल की लम्बाई ; h=नदी के तल का ऊपरी भाग तथा जल के स्तर के बीच का अन्तर ; g=गुरुत्व का त्वरण (acceleration of gravity) ; m=परवर्ती गुणांक जिसका मान (value) अधिकांश दशाओं में ०·४२५ माना जा सकता है।

इसके और भी अधिक स्पष्ट सूत्र हैं लेकिन चूँकि वे केवल विशेष दशाओं में ही व्यवहृत होने लायक हैं, इसलिए इसके लिए यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन देना आवश्यक नहीं। भूगोलवेत्ता के लिए यह बहुत ही सम्भव है कि वह उस (किसी) क्षेत्र की दशाओं में कार्य करे और यदि समय का जबर्दस्त तकाजा हो तो उसे किसी नदी के केवल अनुप्रस्थ (transverse) खाका तथा जिस चाल से नदी बह रही हो, उसकी कम-से-कम संख्या में ली गई मापों से ही संतुष्ट होना पड़ेगा।

विसर्जन को प्रभावित करने वाली भूतात्विक बातें:—नदी का बहिर्प्रवाह उस नदी की बेसिन में होने वाली सम्पूर्ण वृष्टि (precipitation) के केवल (एक) समानुपात का प्रतिनिधित्व करता है। वाष्पन का प्रभाव प्रायः अधिक हुआ करता है और यह स्वाभाविक रूप से ताप तथा साल की ऋतुओं के मुताबिक बदलता रहता है। वर्षा का कुछ भी जल टपक-टपक कर जमीन के अन्दर नहीं जाता है जिससे कि वह झरनों के रूप में पुनः प्रकट हो। इसके उच्चावचन (fluctation) प्रायः झरनों के बहाव में कुछ सप्ताहों या यहाँ तक कि वर्षा की मात्रा में महीनों पहले उत्पन्न होने वाले अन्तर पर प्रकाश डालते हैं। जमीन के अन्दर टपक-टपक कर जाने वाली आर्द्रता समानुपात में पौधों के छिद्रों के द्वारा रिस-रिस कर पुनः वायुमंडल में चली आती है। स्थानीय तथा क्षेत्र की प्रवणताओं (gradients) का इसके (नदी) बहिर्प्रवाह पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। और बातों के समान रहने पर निम्नस्थ समतल मैदानों की अपेक्षा अधिक ढालुएँ भागों में अधिक जल सीधे नदियों में बहकर जायगा।

नदियों की अनुदैर्घ्य रूपरेखा के क्रमिक विकास का वर्णन तीसरे भाग के आठवें अध्याय में किया जा चुका है; अतः यहाँ पर इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन करना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत इस प्रकरण में नदी का अनुप्रस्थ खाका बड़े महत्व का है। निम्न-जल तल जो संकीर्ण तथा अल्युवियल किनारे के अन्दर सीमित रह सकता है और बाद वाला तल जो इससे बहुत चौड़ा रह सकता है—इन दोनों के बीच अवश्य ही अन्तर रहना चाहिए। पहाड़ी और अधिक खड़ी ढाल वाले प्रदेश में ये दोनों एक ही समान रह सकते हैं लेकिन केवल बाढ़ों के समय में जल का स्तर अधिक ऊँचा उठ जाता है; परन्तु घाटी के खड़े तथा चट्टानी किनारे के कारण जल, पार्श्विक रूप से फैलने में असमर्थ रहता है। नदी के मार्ग में झीलें रहती हैं जो विशेषकर किसी भी आकार की हो सकती हैं। ये झीलें बाढ़ या निम्न-जल की चरमावस्थाओं को विफल कर देती हैं; इसलिए ये बाढ़ के जल को रोक लेती हैं और उसे शनैः-शनैः छोड़ती जाती हैं।

---

१ V के आकार का कटाव (V-notch) जब तब न्यूनतम प्रवाह के समयों में नदी के आयताकार बाँध से अधिक सुग्राही होता है। लेकिन दोनों दशाओं में जल को नीचे नदी में बाँध पर स्वच्छन्द रूप से गिरना चाहिए। V आकार के ढाँचे के लिए दूसरे सूत्र को अवश्य ही काम में लाना चाहिए।

नदी के बेसीन का नक्शा (plan) विभिन्न बातों पर निर्भर करता है, विशेषकर उस क्षेत्र की संरचना (structure) तथा चट्टानों की प्रकृति पर। अगले अध्याय में इस बात को निरूपित करने वाले उदाहरण दिए जा चुके हैं। यहाँ पर उदाहरण के लिए, खड़िया (पत्थर) या चूने के पत्थर वाले क्षेत्र की अधिक दूर-दूर पर रहने वाली नदियों से भिन्न अनेक झरने तथा नदियों के बीच के व्यतिरेक (contrast) की ओर ध्यान आकर्षित करना ठीक है। इसके अतिरिक्त प्रधान नदी तथा सहायक नदियों के नक्शे का बाढ़ों पर गहरे प्रभाव पड़ सकते हैं। यदि पारगम्य चट्टानों वाले क्षेत्र की बहुत-सी नदियों में एक ही समय में अत्यधिक वर्षा हो तो प्रधान नदी में भयंकर बाढ़ें आ सकती हैं। उच्चावचन की तुंगता और उसके बढ़न से भी (जल) प्लवन की क्रिया प्रभावित होती है। साधारणतया उच्चावचन जितना ही अधिक होगा और पहाड़ी या पार्वतीय श्रेणियाँ वृष्टिवाहक हवाओं के मार्ग में जितनी ही आरपार अवस्थित रहेंगी, अधिक बर्हिप्रवाह की उतनी ही अधिक सम्भावना रहेगी।

चट्टानों की आपेक्षिक पारगम्यता सब से अधिक महत्व की है। (दानेदार) (crystalline rocks) रवेदार चट्टानें, जैसे, ग्रेनाइट, नीस, सिस्ट और इनके अलावे, क्ले, मार्ल्स (clays, marls) तथा कुछेक अन्य चट्टानों का भी वर्गीकरण प्रायः अपारगम्य चट्टानों में किया जाता है। ऐसा प्रायः तभी हो सकता है जब चट्टानें बिना मिट्टी या क्षय से आए हुए पदार्थ के आवरण (detrital cover) के तल पर आ गयी हों। ग्रेनाइट का टुकड़ा अवश्य ही अपारगम्य होता है लेकिन ग्रेनाइट का तलागत (भाग) (outcrop) प्रायः हमेशा एक ओर से दूसरी ओर जोड़ों से भरा होता है, और आर्द्र जलवायुओं में इसकी ऊपरी सतह का बहुत अधिक क्षय हो जाता है जिससे कभी-कभी काफी गहराई तक यह चट्टान सरंध्र तथा पारगम्य चट्टान की तरह कार्य करती है। यह बात सभी रवेदार चट्टानों के साथ सत्य है। कुछेक पर्तदार चट्टानें इस माने में अपारगम्य होती हैं कि वे अपने अन्दर से हो कर अधिक या किसी भी मात्रा में जल को टपक कर जाने नहीं देती हैं लेकिन वे प्रायः जल के कारण बहुत ही संतृप्त रहती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी (धरातल) सतहें संभवतः ऋतु अपक्षयण द्वारा घर्षित रहा करती हैं जिन पर खेती का काम हुआ करता है और अधिकांश क्षेत्रों में ये अधिकतर या पूर्णतः वनस्पति से ढँकी रहती हैं। ये सभी बातें कुछ हद तक जल के टपक-टपक कर नीचे जाने में मदद पहुँचाती हैं और इसलिए ये बहिर्प्रवाह (run-off) को रोकतीं या कम-से-कम उसमें बहुत कुछ परिवर्तन लाती हैं।

वास्तविक रूप से अधिक पारगम्य चट्टानें जिनके अन्तर्गत बालू के पत्थर तथा चूने के पत्थर दोनों आते हैं जल को प्रायः बहुत गहराई तक अन्दर प्रवेश करने देते हैं। किन्तु वह जल चट्टान पुंज से हो कर उतनी अधिक मात्रा में अन्दर प्रवेश नहीं करता बल्कि वह उन असंख्य दरारों तथा जोड़ों से हो कर उनके अन्दर जाता है जो चट्टानों में बहुत नीचे तक रहते हैं। ऐसी चट्टानों में होने वाली प्रचण्ड वृष्टि का उनकी सतह पर अत्यल्प या बिलकुल प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन इससे (वृष्टि) प्रत्यक्ष रूप से झरनों में जल आता रहेगा (पृष्ठ ३१७ देखिए) जिनके जल के आयतन में एकाएक अत्यधिक वृद्धि होगी। यदि इसके विपरीत जल जमीन के अन्दर वाले बड़े-बड़े जलाशयों में चला जाय तो इसके प्रभाव आपेक्षतया कम होंगे। चूने के पत्थर के क्षेत्र में होने वाले क्षयीकरण (karst erosion) की प्रकृति तथा टपक-टपक

कर नीचे गिरने वाले जल के साधारण प्रभावों का वर्णन तीसरे भाग के सातवें अध्याय में हो चुका है।

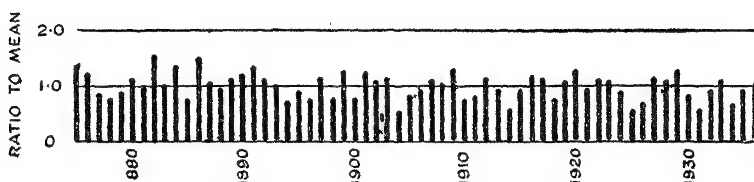
उपर्युक्त विचारों से पारगम्य, अपारगम्य, सरंध्र या असरंध्र जैसे शब्दों के व्यवहार में लाने का खतरा प्रस्तुत क्षेत्र की सावधानी से परीक्षा किए बिना ही दृढ़ हो जाता है। यहाँ तक कि चूने के पत्थर के ऊपर वाला मिट्टी का पतला आवरण भी पूर्ण रूप से चूने के पत्थर के क्षेत्र वाली स्थलाकृतियों के विकास को पूर्णतः रोक सकता है। भूमध्य-रेखीय तथा अन्य आर्द्र क्षेत्रों में ऋतुअपक्षयण से प्रायः क्षय के द्वारा कूड़ा-करकट (deitrital waste) की मोटी तह बन जाती है। यद्यपि कि यह सरंध्र हो सकती है, लेकिन फिर भी यह पारगम्य चट्टानों के ऊपर आपेक्षतया अपारगम्य तह का कार्य कर सकती है। घास से अच्छी तरह आच्छादित भूमि या जंगल से आच्छादित ढालें, यहाँ तक कि खड़ी ढाल वाल प्रदेश में काफी मात्रा में आर्द्रता धारण कर सकती हैं। उस आर्द्रता का अधिकांश भाग पौधों के छिद्रों के द्वारा रिस कर वायुमंडल में चला जाता है। वानस्पतिक आवरण के नष्ट हो जाने पर प्रचण्ड वृष्टि के प्रभाव भयंकर हो सकते हैं। संसार के बहुत-से भागों में मिट्टी के क्षयीकरण के परिणाम इतने सुविदित हैं कि उन पर और अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं। पेड़ तथा अन्य वनस्पति ही केवल नष्ट नहीं होते बल्कि क्षय से उत्पन्न पदार्थ भी लुप्त हो जाते हैं; और अनावृत्त चट्टानों पर पड़ने वाली का जल सीधे नदियों में चला जाता है जिससे नदियाँ तत्काल ही उपला जाती हैं; फलतः उनमें भयंकर बाढ़ आ जाती है। इनकी रोक, जो प्रायः बहुत ही लम्बी अवधि की चीज है, पुनः वन लगाने के कार्य (reafforestation) पर निर्भर करती है लेकिन अतिरिक्त निक्षेप के नष्ट हो जाने पर, ऐसा करना यदि असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन होगा।

यद्यपि कि रेजीम की हमारी व्याख्या मौसमी विसर्जन के अन्तरों पर जोर देती है तौ भी लम्बी अवधि के प्रभावों की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। चित्र २०५ संयुक्त राज्य के कुछेक उदाहरणों को निरूपित करता है। टेनीसी नदी तथा रेड नदी (Tennessee and Red River) के २४·३४ इंच और १·२१ इंच के बीच के बेसीन प्रत्येक इकाई सम्बन्धी बहिर्प्रवाह का विशाल अन्तर (जल) विसर्जन (discharge) पर जलवायु के प्रभाव को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त एक साल से दूसरे साल के (जल के) विसर्जन की परिवर्तनशीलता सब से ज्यादा तब होती है जब (अ) बहिर्प्रवाह सब से कम होता है क्योंकि अर्द्ध-सूखे क्षेत्रों में वर्षा का होना अनिश्चित रहता है और (ब) जहाँ वर्षा तथा वाष्पन प्रायः दोनों बराबर होते हैं जिसमें दोनों में अल्प परिवर्तन होने से नदियों में बड़े प्रभाव उत्पन्न हो सकें। चित्र २०७ में प्रदर्शित दृष्टिगोचर होने लायक अत्यल्प ह्रास अंशतः सिंचन-कार्य के लिए जल के निकल जाने के कारण होता है।

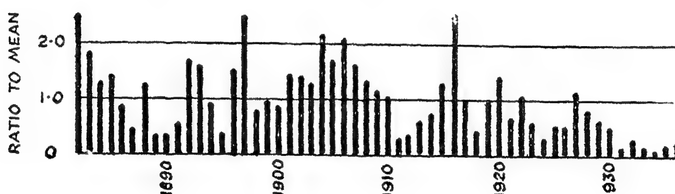
मौसम विज्ञान-सम्बन्धी कारण तथा नदी बहाव के साथ उनका सम्बन्ध—नदियों के रेजीम को प्रभावित करने वाले प्रधान मौसम विज्ञान सम्बन्धी कारण ताप, वार्षिक वृष्टि, इसका वार्षिक वितरण, इसकी प्रकृति अर्थात् हिम (वर्षा) तथा वर्षा का भेद आदि हैं। ताप प्रधानतः अक्षांश और ऊँचाई के साथ-साथ तथा साल की ऋतु के साथ भी बदलता रहता है। यह बड़े महत्व का कारण है क्योंकि यह बहुत हद तक वाष्पन की मात्रा तथा गति को नियंत्रित करता है; वाष्पन के प्रायः वर्षा



मॉस (Mass), लारेंस पर मेरीमेक नदी।
(औसत, २०·१३ इंच। समय १८८०-१९३४)



टेन, चट्टनूगा पर टेनेसी नदी
(औसत, २४·३४ इंच। समय १८७५-१९३६)



उत्तर डेकोटा, ग्रांड फोर्क्स पर रेड नदी।
(औसत, १·२१ इंच। समय १८८२-१९३६)



ओरेगन, डेलीज़ पर कोलम्बिया नदी।
(औसत, ११·४४ इंच। समय १८७९-१९३६)

चित्र २०७—वर्षा के जल का बहाव क्षेत्र से जाने का लम्बी अवधि का ब्योरा। गहराई इंचों में नापी गई है। (डेवनपोर्ट से)
[०=कोई बहाव नहीं; १·०=औसत बहाव; २·०=दूना औसत बहाव]

की अपेक्षा बहिर्प्रवाह पर कहीं अधिक जबर्दस्त प्रभाव (decisive effects) पड़ सकते हैं।

सारे संसार में वर्षा के मौसमी तथा क्षेत्रीय वितरण पर इस पुस्तक के प्रथम भाग में पहले ही विचार किया जा चुका है। यहाँ पर किसी क्षेत्र में हो सकने वाली सम्पूर्ण वार्षिक वर्षा तथा साथ ही उन विभिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों के परिणमनों पर ध्यान देना जरूरी है जहाँ साल के विभिन्न समयों में वर्षा सम्बन्धी भूयिष्ठताएँ (rainfall maxima) उत्पन्न होती हैं, जैसे मौसमी वर्षा, पश्चिमी यूरोपीय वर्षा, भूमध्य सागरीय आदि प्रकार की वर्षा की भूयिष्ठताएँ। वहाँ के उच्चावचन (relief) यानी प्राकृतिक बनावट तथा वर्षा वाहक हवाओं को ध्यान में रखते हुए इन पर विचार करना चाहिए, जैसे-जैसे अक्षांश तथा तुंगता (की वृद्धि) बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अधिकाधिक समानुपात में वृष्टि हिम के रूप में होती है जिससे बाद में बारी-बारी से हिम नदियों तथा हिमाटोपों का निर्माण होगा। समशीतोष्ण जलवायुओं में जहाँ ऊँचे पर्वत रहते हैं वहाँ ग्रीष्म के प्रारम्भ में शीतकालीन हिम के गलने से नदियों पर काफी प्रभाव पड़ता है जैसा कि वसंत ऋतु में हिम के गलने से रूस के विस्तृत मैदानों पर पड़ता है।

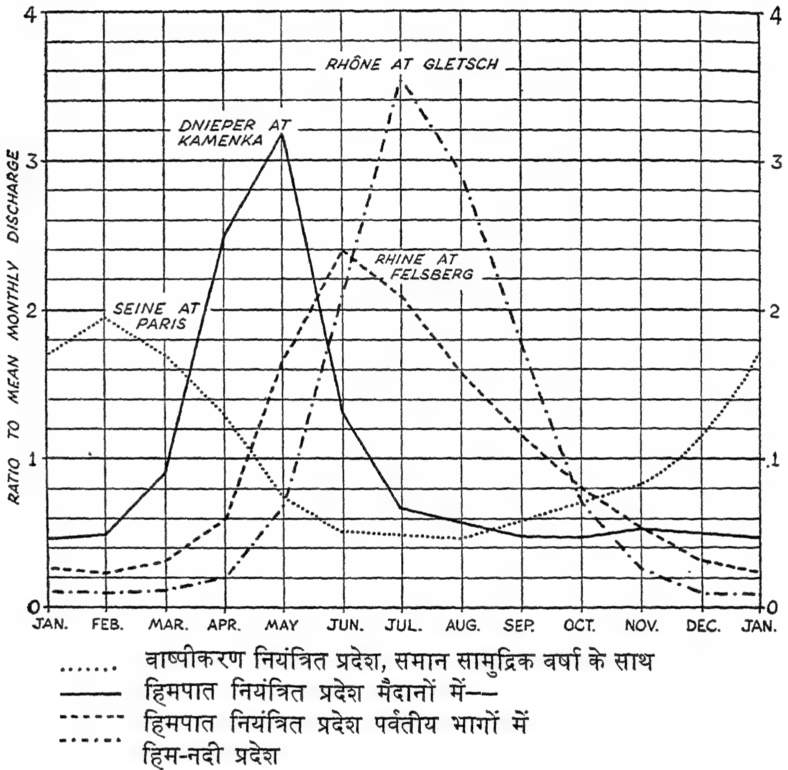
नदी के रेजीम की परीक्षा करने में चट्टानों तथा उनके विन्यास (rock structure) स्थिति एवं उच्चता (orientation) और हवा, वर्षा, तुंगता तथा वानस्पतिक आवरण के विचार से उसके बेसिन की प्रकृति पर ध्यान देना चाहिए। अपेक्षतया छोटे मार्गों वाली नदियाँ,छोटी नदियाँ, जो सम्पूर्ण रूप से एक ही प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्र में बहती हैं, वे प्राय: सरल रेजीम प्रदर्शित करती हैं जिसमें साल में एक अवधि में जल ऊँचा उठ जाता है। दूसरी प्रकार की नदियाँ वे होती हैं जो अधिक बड़ी होती हैं तथा उनमें परिवर्तनशील जलवायु वाले क्षेत्रों से आकर सहायक नदियाँ मिलती हैं। ऐसी नदियों का वहिर्प्रवाह जटिल हो सकता है या सम्भवत: सहायक नदियों में ऐसा परिवर्तन हो सकता है जिससे प्रधान नदी के निम्न मार्ग में सरल रेजीम बन जाता है।

रेजीम के भेद : पार्दे का वर्गीकरण :—पार्दे ने काम चलाने लायक लाभदायक वर्गीकरण उपस्थित किया है। उन्होंने इसके तीन भेद किए हैं : सरल रेजीम एक साल के अन्दर एक उच्च जल की तथा एक निम्न जल की दो जलीय ऋतुएँ होती हैं; दूसरे सब से जटिल रेजीम हैं। इस वर्ग में दो या इससे अधिक प्रधान तथा पृथक् आपूर्त्ति के स्रोत वाली नदियाँ आती हैं। दूसरे दर्जे के जटिल रेजीम, इस वर्ग के अन्तर्गत वे जल मार्ग आते हैं जिनमें उपरोक्त वर्ग की भाँति या यहाँ तक कि सरल रेजीम की भाँति उनके ऊपरी भागों में आपूर्त्ति के दो पृथक् स्रोत हो सकते हैं। इसके विपरीत आगे नदी के निचले भाग में वे अधिकाधिक अनेक कारणों के प्रभाव में चले आते हैं जिनमें से कुछ ऐसे हैं जो एक दूसरे को रद्द कर देते हैं क्योंकि इन दोनों के प्रभाव उलटे होते हैं।

सरल रेजीम :—प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे नदियाँ आती हैं जिनमें हिम नदियों से जल आता है, वे जो पर्वत पर या समतल मैदानों में बहती हों लेकिन उन पर हिम के गलने का प्रभाव पड़ता है, और अन्त में वे नदियाँ हैं जिनकी आपूर्त्ति के प्रधान स्रोत महासागरीय वर्षा तथा उष्ण कटिबन्धीय वर्ग वाली वर्षा हो (चित्र २०८)।

जब कोई नदी हिम नदी से निकलती है तो उच्च जल की अवधि ग्रीष्म में होती है

जिस समय बर्फ सब से ज्यादा गलती है। उसमें दैनिक परिणमन भी होगा क्योंकि अपराह्न के प्रारम्भ में यह (बर्फ) सब से अधिक तेजी से गलती है। ये परिणमन

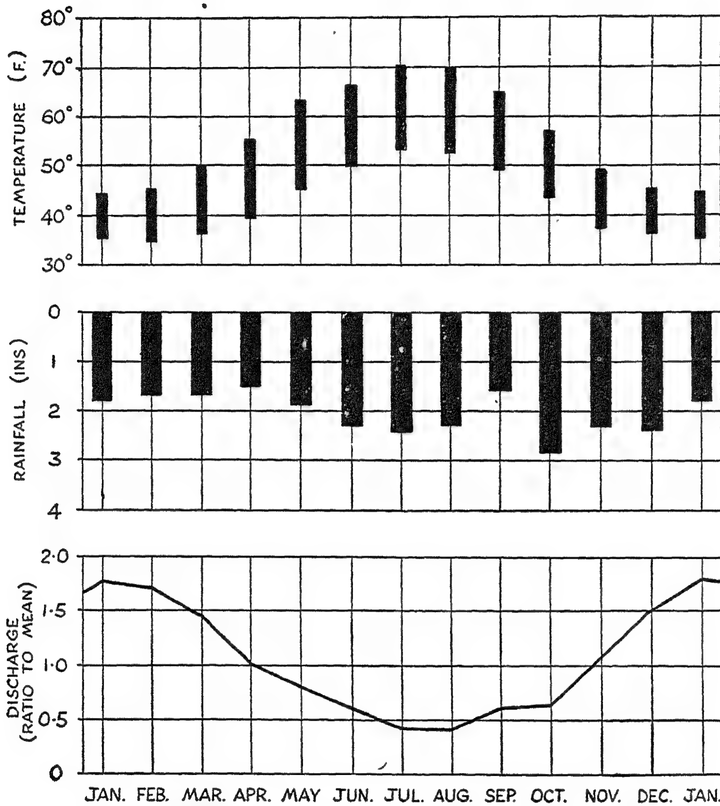


चित्र २०८——सादे प्रदेश (पार्दे से)

ऊँचाई पर भी निर्भर करेंगे क्योंकि कम ऊँचाइयों पर मौसम के प्रारम्भ में गलने की क्रिया का होना सम्भव है जिससे उच्च-जल की अवधि उत्पन्न होती है। शीत काल में बहाव सब से कम होता है तथा स्थानीय कारणों पर अधिक निर्भर करने के कारण वसंत ऋतु के उत्तरार्द्ध तथा ग्रीष्म के पूर्वार्द्ध में बहाव धीरे-धीरे अधिक होने लगता है। और ठीक इसी प्रकार ग्रीष्म के उत्तरार्द्ध और शरद् ऋतु के पूर्वार्द्ध में बहाव धीरे-धीरे कम होने लगता है।

ऐसी नदियाँ जो जल की आपूर्त्ति के लिए प्रधानत: महासागरीय वर्षा पर निर्भर करती हैं उनमें बहुत ही भिन्न प्रकार के रेजीम परिलक्षित होते हैं। इस वर्ग के

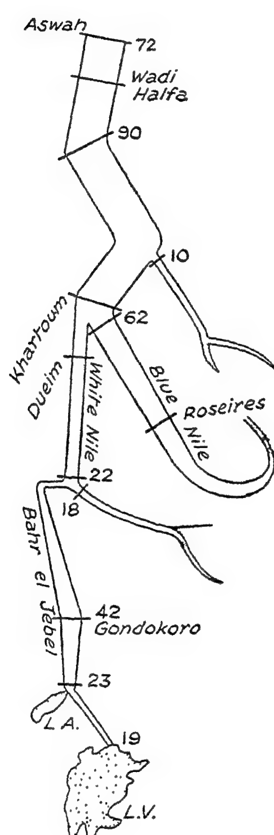
अन्तर्गत बृटिश द्वीप-समूह तथा फ्रांस की प्रायः सभी की सभी नदियाँ आती हैं (चित्र २०९)। शीत काल, साल का आधा भाग उच्च जल का समय रहता है, और भूयिष्ठताएँ प्रायः फरवरी या मार्च में हुआ करती हैं। यह

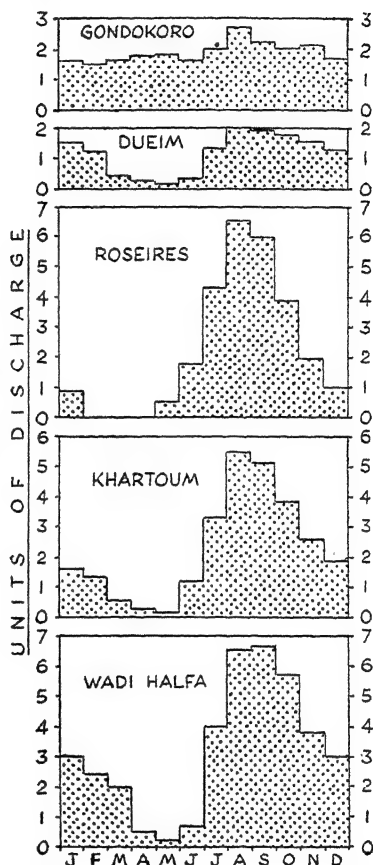


चित्र २०९—आक्सफोर्ड पर माहवारी तापक्रम एवं वर्षा : टेडिंगटन पर थेम्स का औसत माहवारी बहाव।
(सबसे ऊपर के चित्र में मोटी काली रेखायें उच्चतम और निम्नतम तापमान की सीमायें बताती हैं।)

शीत कालीन उच्च जल किसी भी प्रकार उस समय में होने वाली प्रचण्ड वर्षा के प्रत्यक्ष फलस्वरूप नहीं होता है। वास्तव में बहिर्प्रवाह प्रधानतः ताप द्वारा नियंत्रित होता है जो यहाँ तक वर्षा के काफी मात्रा में होने पर भी ग्रीष्मकाल में बाष्पन की अत्यधिक तेज गति को नियंत्रित करता है (चित्र २०९)। इसके अतिरिक्त इन

नदियों में प्रायः जल उन झरनों से आता है जिनका बहिर्प्रवाह जल के टपक-टपक कर नीचे गिरने की क्रिया से सम्बद्ध है। चूँकि जल के टपक-टपक नीचे गिरने तथा छिद्रों





नील नदी पर किलोमीटर में औसत वार्षिक बहाव : (पीच (Pietsch) के आधार पर)

(लियान के आधार पर)

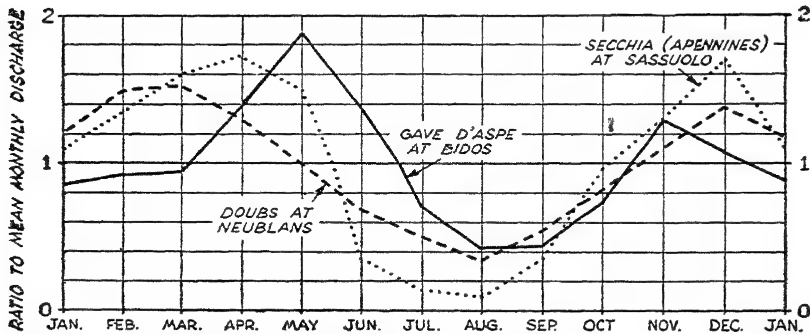
चित्र २१०—नील नदी का प्रदेश और बहाव।

से हो कर बाहर निकलने की गति धीमी होती है, इसलिए वर्षा के अन्तर के सम्बन्ध में उनके बहिर्प्रवाह में होने वाले अन्तर कई सप्ताहों तक रुके रह सकते हैं।

मॉनसून जलवायु में भी ग्रीष्म में जल ऊपर उठ जाता है। उस समय काफी वाष्पन

होने पर भी वर्षा इतनी अधिक होती है कि केवल वर्षा ही बहिर्प्रवाह को नियंत्रित करती है। जहाँ आपूर्त्ति के स्रोत किसी नदी के निम्न भागों से बहुत ही भिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों में अवस्थित रहता है, वहाँ बड़ी नदियों में वाष्पन के कारण जल की बहुत क्षति हो सकती है। नील तथा नाइजर—ये दोनों नदियाँ (चित्र २१०) इस बात को बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपित करती हैं। मॉनसून जलवायु वाले देशों में भी स्पष्ट रूप से सूखा मौसम होता है, और उस समय वाष्पन की गति भी तेज रहा करती है। फलतः सूखे मौसम में बहाव बहुत कम हो जाता है और यहाँ तक कि बहाव प्रायः बन्द भी हो जाता है।

समशीतोष्ण अक्षांशों के पहाड़ी क्षेत्रों में जहाँ हिम नदीय बर्फ से भिन्न अत्यधिक हिम उच्च स्थल पर जमा होता है, वहाँ ऐसा रेजीम उत्पन्न होता है कि जिसमें भूयिष्ठता प्रायः ग्रीष्म के पूर्वार्द्ध में सम्भवतः जून में हुआ करती है और इसके विपरीत



चित्र २११—मिश्रित प्रथम प्रदेश। (पार्डे से)

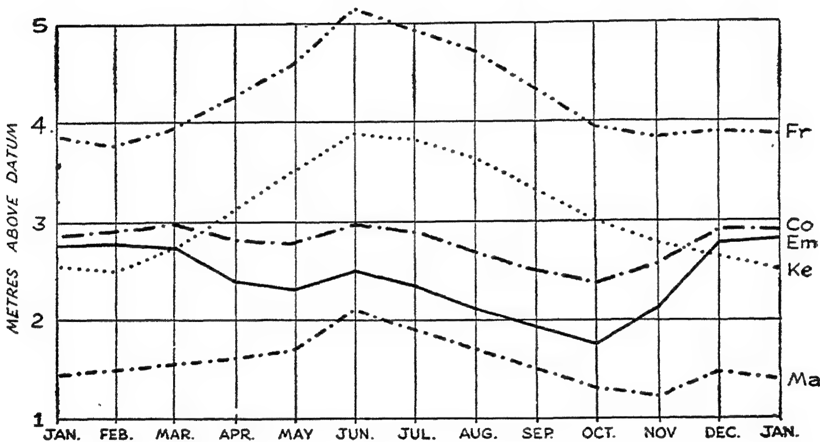
साल के ठंडे समयों में जल का बहाव और भी काफी हो जा सकता है। इस वर्ग (type) की नदियाँ उन नदियों के समान जिनमें हिमनदियों से जल आता है तथा साथ ही उन नदियों के समान मालूम पड़ती हैं जिनमें महासागरीय वर्षा से जल आता है। फिर भी ये नदियाँ यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका के समशीतोष्ण और ध्रुवीय समतल मैदानों की बड़ी नदियों से बहुत भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, रूस के प्रजातंत्र राष्ट्रसंघ में हिम अप्रैल या मई में गलते हैं अथवा उससे और उत्तर में और बाद में गलते हैं। इसलिए वसंत ऋतु के उत्तरार्द्ध में उन नदियों में भयंकर बाढ़ आया करती है जो धीरे-धीरे उत्तर की ओर बहती हैं और उत्तरोत्तर आगे चल कर इन बेसिनों में हिम गलने के कारण फूल उठती हैं। इस वर्ग की नदियों में भी वाष्पन के फलस्वरूप ग्रीष्म के उत्तरार्द्ध में सब से कम बहाव दृष्टिगोचर होता है। यह न्यूनतम बहाव भी कुछ स्थितियों में शीत कालीन न्यूनतम बहाव से भी कम हो जाता है।

अधिकतम जटिलता वाले रेजीम (Regimes of the first degree of complexity):—उदाहरणार्थ, द्वितीय बड़ी श्रेणी के अन्तर्गत वे नदियाँ आती हैं जिनमें वसंत ऋतु में हिम के गलने के कारण बाढ़ आती है और उसके बाद साल में उच्च जल की दूसरी अवधि आती है। इसलिए ऐसी नदी में दो पृथक् भूयिष्ठाताएँ और दो पृथक् न्यूनताएँ (two distinct maxima and two distinct minima) होती हैं (चित्र २११)। इसके उदाहरण आल्पस् पर्वत से पुराने पर्वतों तथा पायरनीज में पाए जाते हैं। उच्च जल की प्रारम्भिक अवधि प्रायः अधिक निश्चित हुआ करती है, लेकिन आल्पस् के दक्षिणी भाग में दूसरी श्रेणी उतनी ही महत्वपूर्ण होती है तथा यह भयंकर भूमध्यसागरीय आँधियों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस प्रकार का अपेक्षाकृत दूसरा सरल रेजीम भूमध्य रेखा के निकट उत्पन्न होता है। वहाँ वाष्पन की गति सालभर कठिनता से घटती-बढ़ती है, लेकिन वर्षा की दोहरी भूयिष्ठता से आपेक्षतया उच्च विसर्जन की दो अवधियाँ उत्पन्न होती हैं। पाठक महसूस करेंगे कि इन दो अवधियों का परिणमन भूमध्य रेखा से इनकी दूरी के मुताबिक होता है। ऐसे दूसरे-दूसरे बहुत से तरीके हैं जिनके द्वारा दो भूयिष्ठताएँ उत्पन्न की जा सकती हैं; इनके अन्तर्गत वसंत ऋतु के पूर्वार्द्ध में हिम का गलना तथा महादेशीय ग्रीष्म-कालीन वर्षा का मिश्रण आता है; अथवा जैसा कि जूरा पर्वतों में जहाँ हिम के गलने के फलस्वरूप अप्रैल में भूयिष्ठता उत्पन्न होती है, वहाँ वाष्पन के कारण ग्रीष्म में स्पष्ट निम्न-जल की अवधि होती है तथा दिसम्बर में आपेक्षतया अधिक वर्षा और कम वाष्पन के द्वारा प्रादुर्भूत उच्च-जल की अवधि होती है।

द्वितीय श्रेणी की जटिलता वाले रेजीम (Regimes of the Second degree of complexity)) :—तीसरा वर्ग और अधिक जटिल है, और साधारणतया यह संसार की बड़ी नदियों के साथ लागू होता है। चूँकि उनकी बेसिन लाखों वर्गमील में फैल सकती है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रधान नदी के विभिन्न भाग, यहाँ बड़ी सहायक नदियों के बारे में कुछ भी नहीं कहना है, नितान्त भिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों में अवस्थित रह सकते हैं। राइन अपने ऊपरी भागों में एक ऐसी नदी के रूप में बहती है जिसमें हिम नदी से जल आता है लेकिन यह अपने निचले भागों में एक ऐसी नदी के रूप में बहती है कि यह उच्च स्थलों तथा समतल मैदानों से हो कर बहती है और इसमें पूर्व एवं पश्चिम से आ कर मिलने वाली बड़ी सहायक नदियों से जल आता है (चित्र २१२)। डैन्यूब ब्लैक फॉरेस्ट के पास से निकलती है। इसका अधिक भाग महादेशीय जलवायु में पड़ता है, लेकिन इसकी कुछ व सहायक नदियों पर आल्पस् के जबर्दस्त प्रभाव पड़ते हैं और शेष सहायक नदियों पर भूमध्यसागरीय प्रभाव पड़ते हैं। रोन का रेजीम जटिल है क्योंकि इसकी कुछ सहायक नदियाँ हिम नदियों से निकलती हैं, कुछ महासागरीय वर्षा से उत्पन्न होने वाली सहायक नदियों के वर्ग की हैं और कुछ भूमध्य-सागरीय क्षेत्र की हैं। इस प्रकार हमें लियॉन में जुलाई के महीने में सरल भूयिष्ठता मिलती है, दो भूयिष्ठताएँ गिवौर्स में मार्च तथा दिसम्बर में मिलती हैं, दो भूयिष्ठताएँ भेलन्स में जून तथा दिसम्बर में मिलती हैं, और दो भूयिष्ठताएँ बिउकेयर में मई एवं नवम्बर के महीने में मिलती हैं। नील का रेजीम जटिल है। अपने मार्ग में यह भूमध्य रैखिक पट्टी से हो कर गुजरती है तथा इसमें दो भूयिष्ठताएँ होती हैं। उष्ण

कटिवन्धं में इसमें ग्रीष्म में एक बार भूयिष्ठता होती है तथा इसमें सूखा मरुस्थल होता है। इसके अतिरिक्त रेजीम विक्टोरिया और अलबर्ट न्यान्जा द्वारा अत्यधिक परिवर्तित हो जाता है जिससे नितान्त विपरीत दशाएँ विफल हो जाती हैं; और साथ ही ब्लू नील के प्रभाव से भी यह (रेजीम) परिवर्तित हो जाता है क्योंकि इसमें अबीसीनिया से जल आने के कारण उष्ण कटिबन्धीय बाढ़ आती है (चित्र २१०)।

बृटिश द्वीप-समूह में नदी का रेजीम :—इन द्वीपों की नदियों के बारे में एक शब्द कहा जा सकता है। यहाँ तक कि शैनॉन, सेवर्न तथा थेम्स जैसी लम्बी नदियाँ फ्रांस की बड़ी नदियों की तुलना में छोटी हैं और बृटिश द्वीप-समूह की अधिकांश नदियाँ वास्तव में बहुत छोटी हैं। फिर भी, इन सबों में ग्रीष्म में स्पष्ट रूप से निम्न-जल



चित्र २१२—मिश्रित द्वितीय प्रदेश। राइन पर चित्र में पाँच अनसंधानशालायें दिखाई गई हैं। केहल (Ke) स्ट्रेसवर्ग के सामने बर्फ और हिम प्रदेश राइन के कान्सटेंस तालाब और उसका स्विस रास्ता छोड़ने के बाद। फ्रैन्कथाल (Fr), नेकार-संगम के पूर्व, अभी भी ग्रीप्म उच्चतर के साथ दिसम्बर में भारी वर्षा बताती है। मेन्ज़ (Ma) पर दिसम्बर का उच्चतम और जून का निम्नतम अभी भी है। इसीलिये शीघ्र शिशिर बहाव नदी और उसकी शाखाओं से होता है। कोवलेन्ज़ (Co) पर पूर्व और बाद का शिशिर बहाव दिखाया है और ग्रीष्म उच्चतम बहुत कम विदित होता है। एमरिच (Em) पर डच सीमा के निकट शिशिर प्रभाव बहुत अधिक है, पर ग्रीष्म उच्चतम भी दृष्टिगोचर होता है।

की अवधि दृष्टिगोचर होती है। प्रेक्षणों की सोलह वर्षों की अवधि (१९२१-३६) से इस बात का पता चलता है कि बिउडले में सेवर्न में निन्यून (minimum) जुलाई में होता है और भूयिष्ठता जनवरी में। टेडिंगटन में थेम्स (१८८३-१९१७ और १९२५-३४) के लिए दूसरे वर्ष आने वाले तदनुरूप महीने अगस्त तथा जनवरी हैं और किलालो में शैनॉन के लिए (१८९३-१९३४) जुलाई तथा जनवरी। एर्बाडिनशायर की डी नदी में शरत् के उत्तरार्द्ध और शीत काल के पूर्वार्द्ध में भूयिष्ठता दृष्टिगोचर

होती है तथा वसंत ऋतु के पूर्वार्द्ध में स्पष्ट किन्तु कम उच्च-जल की अवधि आती है। यदि इस नदी को उत्तरी-पूर्वी स्कॉटलैंड की अन्य नदियों के लिए नमूने के रूप में लिया जाय तो इससे इस बात का पता चलता है कि प्रारम्भ में हिम के गलने से (इन पर) गहरा प्रभाव पड़ता है। फिर भी इन द्वीपों में स्पष्ट मौसमी परिणमन दृष्टिगोचर होने लायक रहते हैं ; और जब तक प्रेक्षण की तीस या इससे अधिक वर्षों की अवधि उपलब्ध नहीं होती तब तक औसत दशाओं में आपेक्षतया अत्यल्प महत्व दिया जाता है। इस अनिश्चितता का कारण प्रधानत: ब्रिटिश द्वीप-समूह की विशाल अनियमितता ही है। अन्य जगहों की भाँति यहाँ भी वाष्पन का बहुत महत्वपूर्ण हाथ रहता है और ग्रीष्म में निम्न-जल का होना ज्यादातर इसी पर निर्भर करता है यद्यपि कि ब्रिटिश द्वीप-समह की बहुत-सी अधिक छोटी नदियों में बड़े तूफान से ग्रीष्म में भयंकर बाढ़ आ सकती है और प्राय: आती भी है। शनॉन अपनी चरम निम्नूनता के लिए प्रसिद्ध है। ऐसा अंशत: इस कारण से होता है कि जो चूने के पत्थर जिनसे हो कर ये बहुत दूर तक बहती हैं उनसे निम्न भूमि का निर्माण होता है जिसमें जिस जल से वे पूर्ण रहते हैं, वह वाष्पन के द्वारा सूखने को बाध्य रहा करता है। और अंशत: उस विस्तृत जीर्ण काष्ठ-खण्ड वाली काई (peat mosses) के कारण होता है जो बहुत हद तक एक ही तरह कार्य करती है। फिर भी यह निश्चितता से बहुत दूर की बात है कि ये दोनों उपरोक्त कारणों से इसकी पर्याप्त व्याख्या हो जाती हो।

साधारणत: जल-शक्ति तथा जल-स्रोत के चरम महत्व पर जोर देने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन जलविद्युत योजनाओं की सफलता, अन्तत: नदी के रेजीम के व्यापक ज्ञान पर निर्भर करती है। यहाँ पर नौचालन सम्बन्धी और अन्य दिलचस्प बातों के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। साथ-साथ बाढ़ों का क्रम तथा वह शुद्धि, जिसके आधार पर उनके आगमन की चेतावनी दी जा सकती हैं दोनों महत्वपूर्ण हैं। पहाड़ी प्रदेशों में शैलपात के द्वारा निर्मित अस्थायी बाँध के बनने के कारण अथवा हिम नदी के छिद्रों से हो कर घिरे हुए जल के अचानक बह जाने के कारण उत्पन्न होने वाली आपत्तियाँ (catastrophes) सावधानी के साथ जल-सम्बन्धी माप (survey) के महत्व के केवल दो उदाहरण हैं। प्राकृतिक या मानवीय दृष्टि-कोण से नदियों का अध्ययन हमेशा प्रधान भौगोलिक महत्व की बात है।

[संयुक्त राज्य के पूर्वी भागों में तथा पश्चिमी आल्पस् में ग्रीष्म कालीन बहिर्प्रवाह की गणनाएँ बहुत हद तक शीत कालीन हिमपात की गणनाओं पर आधारित की जा रही ह। हिम-मापन ऐसी जगहों में हिम की गहराइयों की प्रत्यक्ष माप के द्वारा किया जाता है जो बड़े क्षेत्रों में हिम की औसत गहराई को प्रदर्शित करने के लिए अपनी ज्ञात विश्वस्तता के लिए चुनी जाती हैं। हिम के घनत्व का भी नमूना लिया जाता है। इन मापों का प्रयोजन जलविद्युत तथा सिंचन कार्यों के लिए होता है लेकिन इनसे बाढ़ की चेतावनियों के लिए स्वीकृत आँकड़े (data) भी मिलते हैं।]

विस्तृत अध्ययन के लिए :—

MEINZER, O. E. (Editor) . *Physics of the Earth*: IX Hydrology. McGraw-Hill. 1942.

PARDE, M. *Fleuves at Riviéres*, Armand Colin. 1947.

MEYER, A. F. *The Elements of Hydrology*, John Wiley. 1928.

दैनिक ज्वारभाटे के होने के कारण पर टिप्पणी

(पृष्ठ १८६ देखिये)

दैनिक ज्वारभाटा के होने के कारण—चन्द्रमा द्वारा डाला गया ज्वारभाटा सम्बन्धी बल एक चान्द्र दिन में दो बार सब से ज्यादा होता है; और इसी प्रकार सूर्य का बल भी एक सौर दिवस में दो बार पड़ता है। जब चन्द्रमा का दिक्पात ऐसा होता है कि यह भूमध्य रेखा से कुछ उत्तर या दक्षिण सिर के सामने ऊपर रहता है, तो किसी खास अक्षांश में चाँद्र ज्वारभाटा सम्बन्धी बल की दैनिक भूयिष्ठता अन्य (शेष) भूयिष्ठताओं से बड़ी होती है। यही बात सूर्य के ज्वारभाटा सम्बन्धी अधिक कमजोर बल के साथ भी सत्य (लागू) है। यही ज्वारभाटे में दैनिक असमानता उत्पन्न करती है (पृष्ठ १७८ देखिए)। यह असर केवल किसी खास महासागर तक ही सीमित नहीं है और साथ ही चन्द्रमा या सूर्य के भूमध्य रेखा पर सिर के सामने ऊपर रहन पर यह लुप्त भी हो जाता है। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि दनिक ज्वारभाटा जो चन्द्रमा और मूर्य की सभी अवस्थाओं में अटलांटिक महासागर की अपेक्षा प्रशान्त महासागर में अधिक प्रबल रहा करता है, वह इस कारण से नहीं हो सकता है। दिन के चतुर्थांश अधिक छोटे ज्वारभाटा जो साउथम्पटन के दोहरे ज्वारभाटे जैसी अनियमितता के कारण बतलाने में मदद पहुँचा सकते हैं; इनके समान वास्तविक कारण प्रतिध्वनि ही है।

किसी भी जलराशि में उसकी लम्बाई और गहराई के अनुसार दोलन की अपनी स्वाभाविक अवधि होती है (पृष्ठ १८५ देखिए)। कोई जलराशि जैसे, फण्डे की खाड़ी, जिसकी स्वाभाविक अवधि करीब-करीब चान्द्र ज्वारभाटा वाला बल के बराबर है, वह अनायास विशाल ज्वारभाटावाले अन्तर के साथ दोलित होती है; और ऐसा तब होता है जब इसमें अटलांटिक महासागर से अर्द्ध-दैनिक आवेग (impulse) आता है। किन्तु यदि किसी जलराशि की स्वाभाविक अवधि चान्द्र ज्वारभाटों की आधी रहे, तो इसमें उसी कारण से डोलने की प्रवृत्ति भी रहती है। लेकिन यह ऐसा बहुत ही छोटे आयाम (amplitude) के साथ करेगी। इससे और भी कम अंशों में यह बात ऐसी जलराशियों के लिये सत्य (लागू) है जिनकी अवधि ज्वारभाटा के बलों के चतुर्थांश या आठवें भाग के बराबर है। इस तरह, यहाँ तक कि अर्द्ध-दैनिक ज्वारभाटा वाले बल के साथ, खास जलराशियाँ, विशेषकर यदि वे अंशतः सामुद्रिक तटों या जलमग्न किनारे से घिरी हों, तो प्रतिदिन, दिन के चतुर्थांश या आठवें भाग में दोलित होंगी। अनुमानतः प्रशान्त महासागर में अवश्य ही ऐसी बहुत-सी जलराशियाँ होंगी जिनकी स्वाभाविक अवधि लगभग एक दिन की होती है, और यही कारण है कि दैनिक ज्वारभाटा उस महासागर में विस्तृत रूप से उठा करता है।

BIBLIOGRAPHY

PART I. THE ATMOSPHERE

BRUNT, D. *Weather Study*. Nelson. 1941.
KENDREW, W. G. *Climate*. Oxford University Press. 1938.
KENDREW, W. G. *Climates of the Continents*. Oxford University Press. 1937.
MILLER, A. A. *Climatology*. Methuen. 1943.
BOTLEY, C. M. *The Air and its Mysteries*. Bell. 1938.
PETTERSSEN, S. *Introduction to Meteorology*. New York: McGraw-Hill. 1941.
The current editions of the following:
SUTCLIFFE, R. C. *Meteorology for Aviators*. H. M. Stationery Office.
Admiralty Weather Manual. H.M. Stationery Office.
The Weather Map. H. M. Stationery Office.
The Meteorological Glossary. H. M. Stationery Office.

PART II. THE OCEAN

SVERDRUP, H. V., JOHNSON, M. W. & FLEMING, R. H. *The Oceans, Their Physics, Chemistry, and General Biology*. New York: Prentice Hall. 1942.
UMBGROVE, J. H. F. *The Pulse of the Earth*. The Hague: M. Nijhoff. 2nd ed., 1947.
Oceanography. National Research Council, Bulletin No. 85. Washington, D.C. 1932.
SVERDRUP, H. V. *Oceanography for Meteorologists*. Allen and Unwin. 1945.
SCHOTT, G. *Geographie des Atlantischen Ozeans*. Hamburg: C. Boysen. 1926.
SCHOTT, G. *Geographie des Indischen und Stillen Ozeans*. Hamburg: C. Boysen. 1935.
MARMER, H. A. *The Tide*. New York: D. Appleton. 1926.
Admiralty Manual of Tides. H.M. Stationery Office. 1941.
DAVIS, W. M. *The Coral Reef Problem*. American Geographical Society Special Publication, No. 9. 1928.

Geology of Coral Reefs. Snellius Expedition, Vol. v, pt. 2. P. H. Kuenen. 1933.

The Great Barrier Reefs of Australia. See papers in the *Geographical Journal*, 74, 1929, pp. 232—57 and 341—70; 76, 1930, pp. 193—214 and 273—97; 89, 1937, pp. 1—28 and 119—46.

BOURCART, J. *Géographie du Fond des Mers*. Paris: Payot. 1949.

PART III. THE LAND

LAKE, P. & RASTALL, R. H. *Textbook of Geology*. Arnold. 1941.

HOLMES, A. *Principles of Physical Geology*. Nelson. 1944.

EARLE, K. W. *The Geological Map*. Methuen. 1936.

JEFFREYS, H. *Earthquakes and Mountains*. Methuen. 1935.

FLINT, R. F. *Glacial Geology and the Pleistocene Epoch*. New York: J. Wiley. 1947.

STEERS, J. A. *The Coastline of England and Wales*. Cambridge. 1948.

JOHNSON, D. W. *Shore Processes and Shoreline Development*. New York: J. Wiley. 1919.

COTTON, C. A. *Climatic Accidents*. New Zealand : Whitcombe and Tombs. 1942.

MARTONNE, E. DE. *Traité de Géographie Physique*, Vol, II. Paris: Armand Colin. 1935.

ENGELN, A. D. VON. *Geomorphology: Systematic and Regional*. New York: Macmillan. 1942.

UMBGROVE, J. H. F. *The Pulse of the Earth*. The Hague: M. Nijhoff. 2nd ed., 1947.

BAGNOLD, R. H. *The Physics of Blown Sand and Desert Dunes*. Methuen. 1941.

KING, L. C. *South African Scenery*. Oliver and Boyd. 1942.

COTTON, C. A. *Volcanoes as Landscape Forms*. New Zealand: Whitcombe and Tombs. 1944.

COLLET, L. W. *Les Lacs*. Paris: Doin. 1925.

अनुक्रमणिका तथा नक्शे

अनुक्रमणिका

च

छ

ज

झ

फ

ब

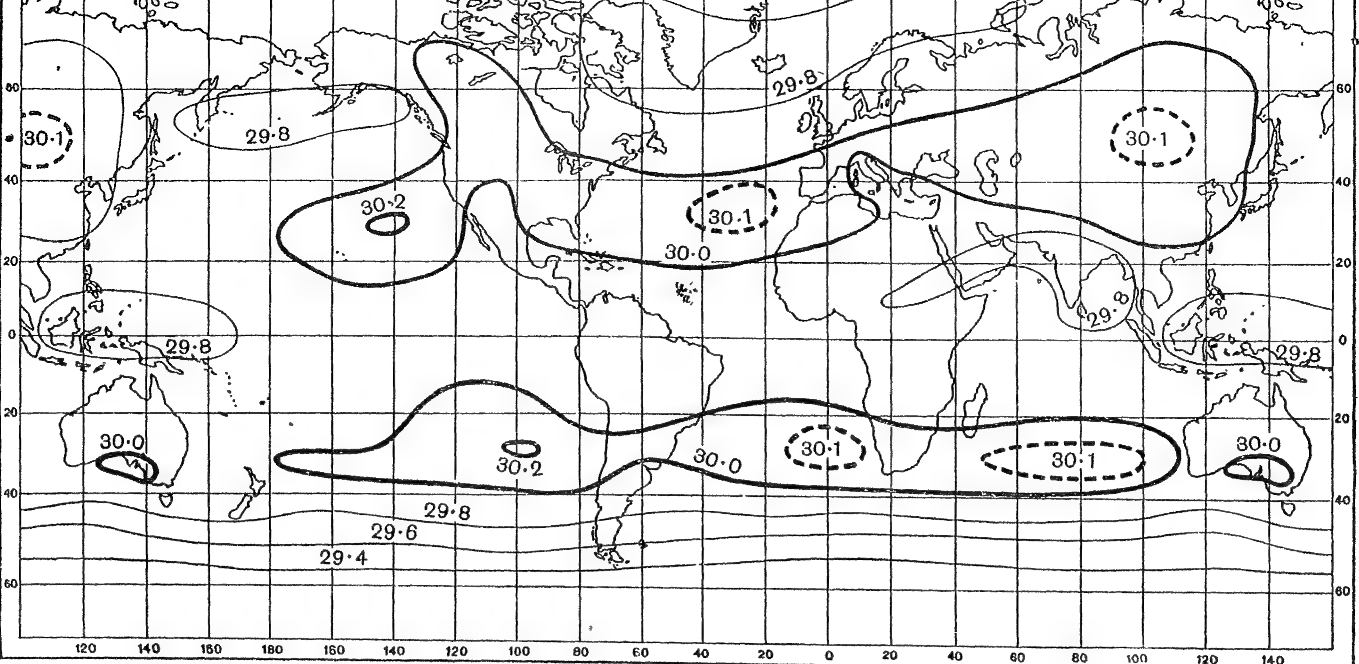
भ

श

स

ह

MAP 1

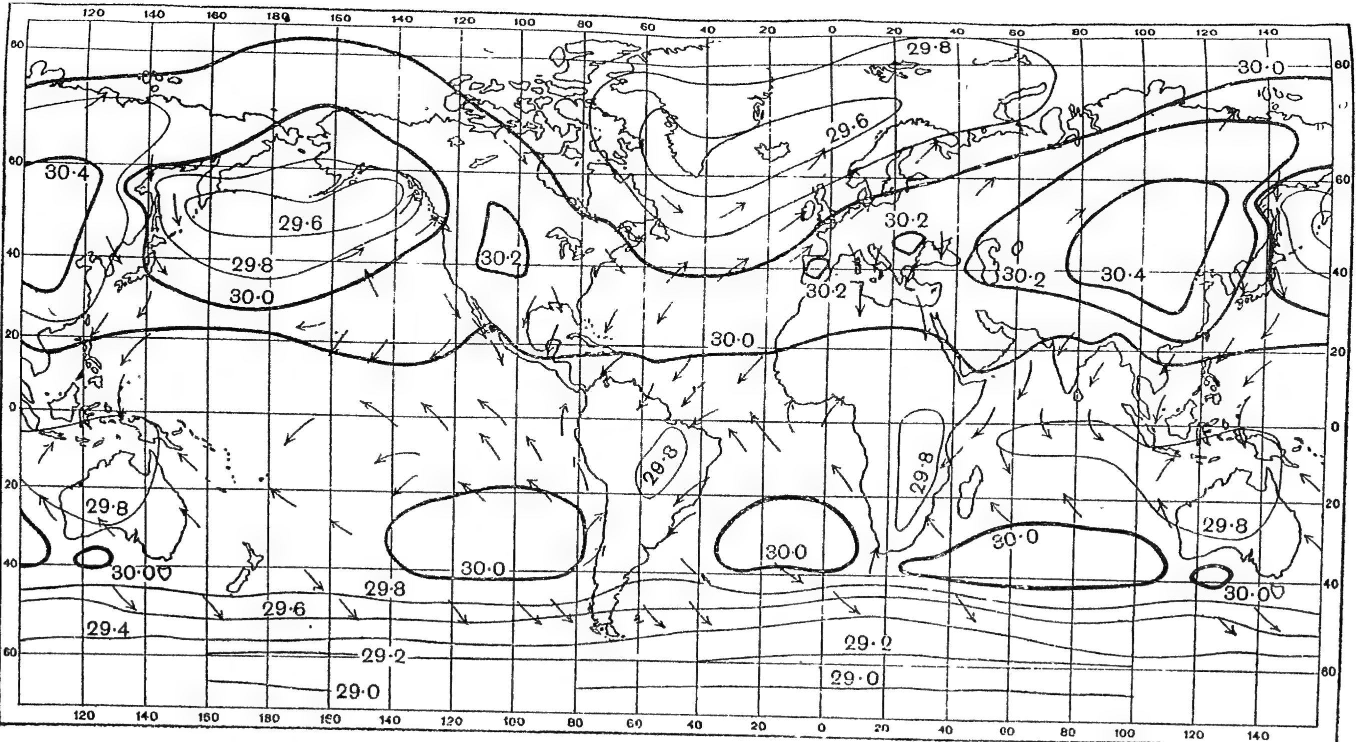


Mean annual isobars

(After Buchan. and others)

(Isobars shown are approximatcly 995, 1002, 1009, 1016, 1019, 1023 millibars)

MAP 2

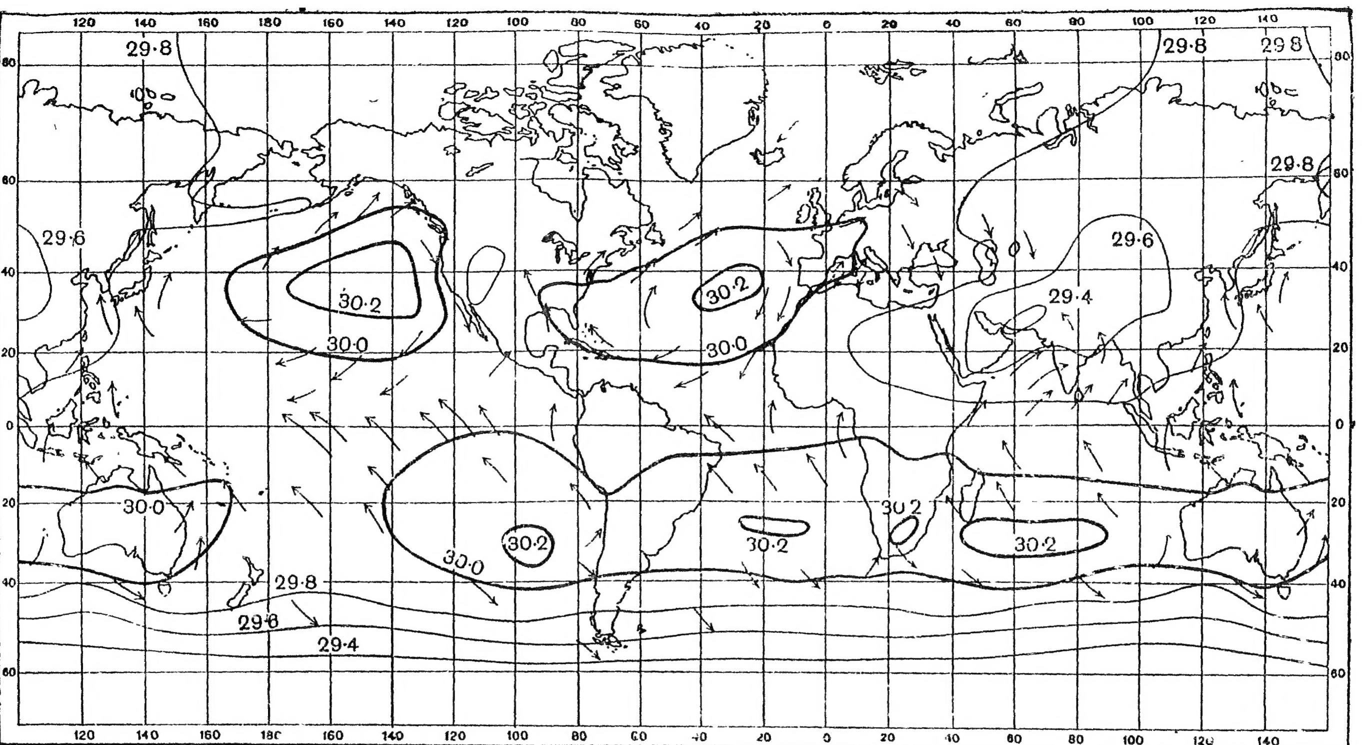


January isobars and winds

(After Buchan, Mohn and others)

(Isobars shown are approximately 982, 989, 995, 1002, 1009, 1016, 1023, 1030 millibars)

MAP 3

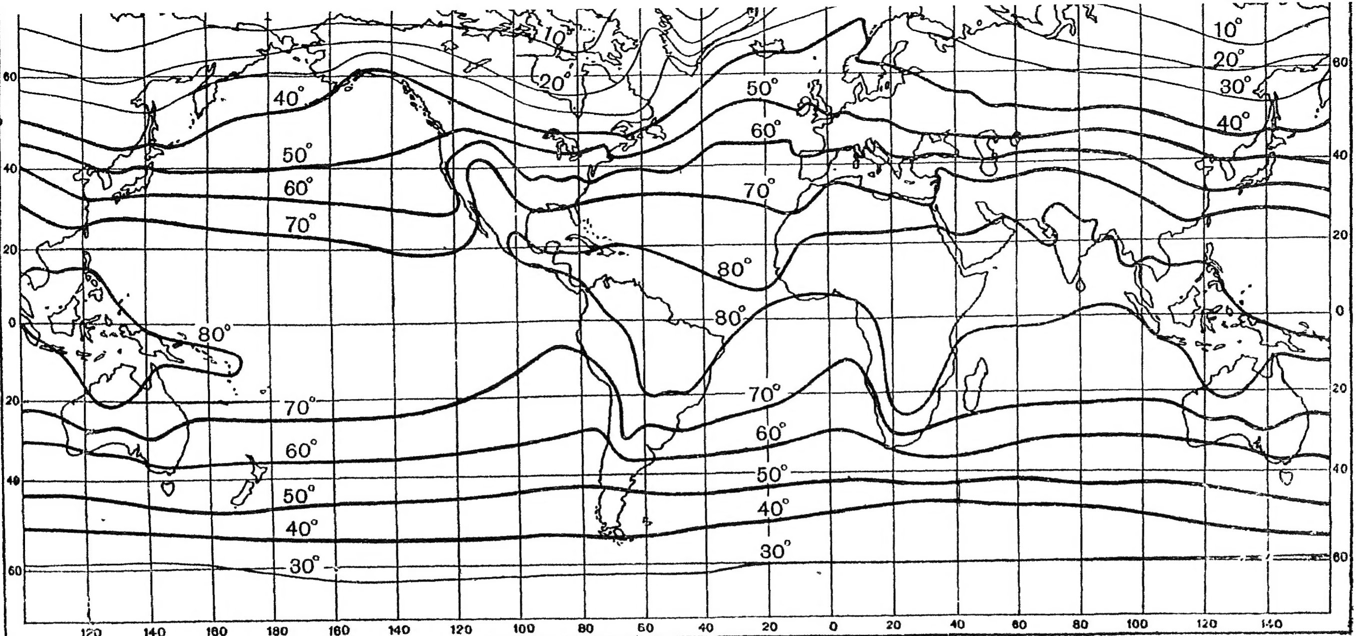


July isobars and winds

(After Buchan, Mohn and others)

(Isobars shown are approximately 995, 1002, 1009, 1016, 1023 millibars)

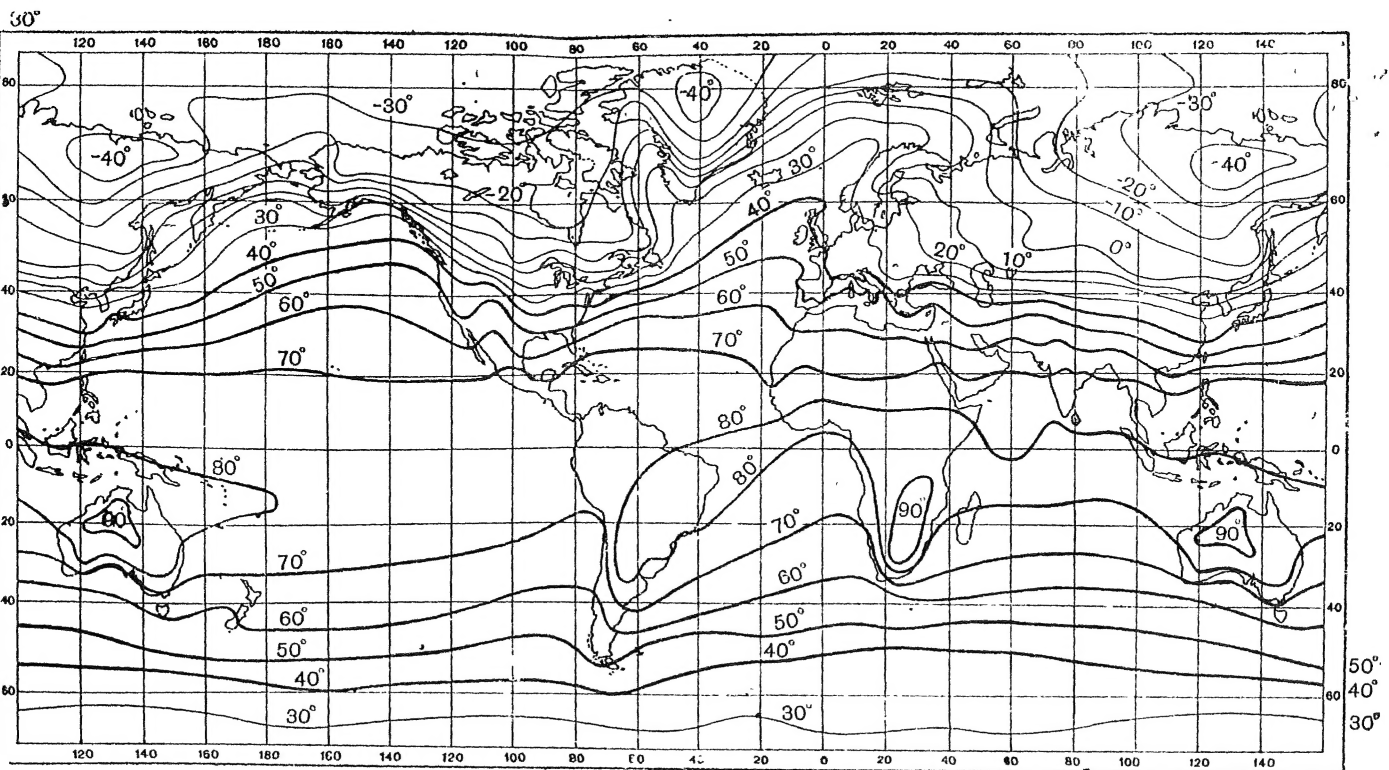
MAP 4



Mean annual isotherms

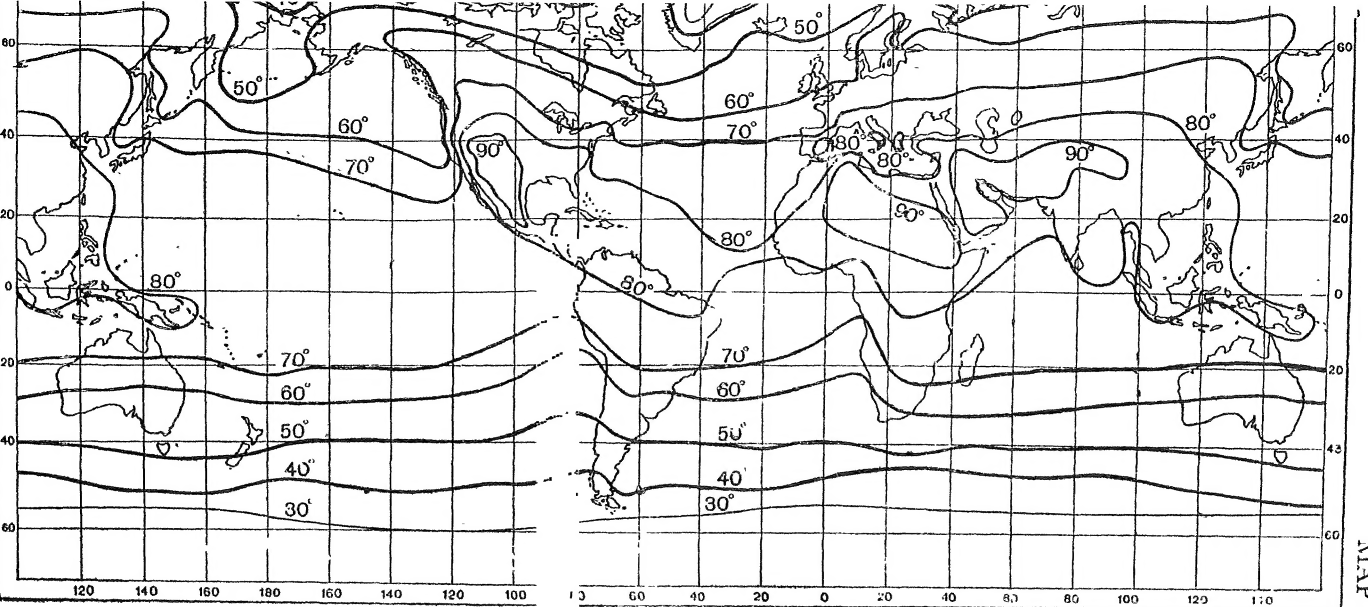
(After Buchan, Mohn and others)

MAP 5



January isotherms
(After Buchan. Mohn and others)

MAP 6



July isotherms
(After Buchan, Mohn and others)